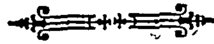
प्रकाशक—

लाला खज़ानची राम जैन,
व्यवस्थापक—जैन शास्त्र
माला कार्यालय, जैन स्ट्रीट,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक—

लाला खज़ानची राम जैन,
मैनेजर मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

उत्तराध्ययनसूत्रम्



विषय-सूची

उनतीसवाँ अध्ययन

तीसवाँ अध्ययन

इकतीसवाँ अध्ययन

बत्तीसवाँ अध्ययन

तेतीसवाँ अध्ययन

चौंतीसवाँ अध्ययन

पैंतीसवाँ अध्ययन

छत्तीसवाँ अध्ययन

विनीत विज्ञप्ति

इस भीषण विश्वव्यापी महायुद्ध के कारण छपाई की प्रत्येक सामग्री—विशेषतः कागज के किसी भी मूल्य पर दुर्लभ होने के कारण, हमें बाध्य होकर प्रस्तुत पुस्तक के मूल्य में जो वृद्धि करनी पड़ी है वह लागत से अधिक नहीं है।

प्रकाशक—

श्रीः

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दीभाषाटीकासहितं च

तृतीयो भागः

अह सामायारी छव्वीसइमं अज्झयणं

अथ समाचारी षड्विंशतितममध्ययनं

गत पच्चीसवें अध्ययन में ब्रह्मगुणों का प्रतिपादन किया गया, सो ये गुण सम्यक् रूप से संयमशील साधु में ही संघटित हो सकते हैं; और संयमशील साधु वही कहला सकता है, जो कि सम्यक्तया अपनी समाचारी का पालन करे। अतः इस छव्वीसवें अध्ययन में साधु की समाचारी का वर्णन किया जाता है, तथा समाचारी का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम भी सामाचारी अध्ययन रक्खा है, इसकी आद्यगाथा इस प्रकार है—

सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
जं चरित्ताण निग्गन्था, तिण्णा संसारसागरं ॥१॥

समाचारीं प्रवक्ष्यामि, सर्वदुःखविमोक्षणीम् ।
यां चरित्वा निर्ग्रन्थाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—सामायारिं—सामाचारी को पवक्खामि—कहूँगा सव्वदुक्ख—सर्वदुःखों को विमोक्खणिं—दूर करने वाली जं—जिसको चरित्ताण—आचरण करके निग्गन्था—निर्ग्रन्थ संसार सागरं—संसार सागर को तिण्णा—तर गये ।

मूलार्थ—मैं सर्व दुःखों से मुक्त करने वाली सामाचारी को कहूँगा जिसका आचरण करने से निर्ग्रन्थ संसार सागर से तर गये ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सामाचारी के वर्णन की प्रतिज्ञा और उसकी फलश्रुति का उल्लेख किया गया है। श्रीसुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि मैं सामाचारी का वर्णन करता हूँ जो, सर्वप्रकार के—शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के—दुःखों का विनाश करने वाली है। तथा जिसके अनुष्ठान से बहुत से निर्ग्रन्थ, इस संसार सागर से पार हो गये। तथा उपलक्षण से वर्तमान और भविष्यत् का भी ग्रहण कर लेना, अर्थात् वर्तमानकाल में बहुत से पार हो रहे हैं, तथा आगामी काल में पार होंगे। अतएव यह सामाचारी प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा को आचरण करने योग्य है। साधुओं की अवश्यकरणीय क्रियाओं को सामाचारी कहते हैं॥ तथा 'प्रवक्ष्यामि' यह भविष्यत् काल की क्रिया, अपनी असमर्थता प्रकट करने के लिए प्रयुक्त की गई है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रकार कहते हैं कि मैं इसके कथन करने की चेष्टा करूँगा, परन्तु मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं इसको सम्पूर्ण रूप से वर्णन कर सकूँ।

अब सामाचारी के, संख्या और भेदों का वर्णन करते हैं—

पढमा आवस्सिया नाम, बिइया य निसीहिया।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥२॥
पंचमी छन्दणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठओ।
सत्तमो मिच्छाकारो उ, तहक्कारो य अट्ठमो ॥३॥
अब्भुट्ठाणं च नवमं, दसमी उपसंपदा।
एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया ॥४॥
प्रथमाऽऽवश्यकी नाम्नी, द्वितीया च नैषेधिकी।
आप्रच्छना च तृतीया, चतुर्थी प्रतिप्रच्छना ॥२॥
पंचमी छन्दना नाम्नी, इच्छाकारश्च षष्ठी।
सप्तमी मिथ्याकारस्तु, तथाकारश्चाष्टमी ॥३॥
अभ्युत्थानं च नवमी, दशमी उपसंपद्।
एषा दशांगा साधूनां, समाचारी प्रवेदिता ॥४॥

पदार्थान्वयः—**पढमा**–प्रथमा **आवस्सिया**–आवश्यकी **नाम**–नामवाली है **बिइया**–द्वितीय **निसीहिया**–नैषेधिकी है **य**–तथा **तइया**–तीसरी **आपुच्छणा**–आप्रच्छना और **चउत्थी**–चतुर्थी **पडिपुच्छणा**–प्रतिप्रच्छना है।

पंचमी–पाँचवीं **छन्दणा**–छन्दना **नाम**–नामवाली है **य**–और **इच्छाकारो**–इच्छाकार **छट्ठओ**–छठी है **य**–तथा **सत्तमो**–सातवीं **मिच्छाकारो**–मिथ्याकार है **उ**–और **तहक्कारो**–तथाकार **अट्ठमो**–आठवीं सामाचारी है। **अब्भुट्ठाणं**–अभ्युत्थान करना **नवमं**–नवमी **च**–और **उपसंपदा**–उपसम्पदा **दसमी**–दसवीं सामाचारी है **एसा**–यह **दसंगा**–दश अवयवरूप **साहूणं**–साधुओं की **सामायारी**–सामाचारी **पवेइया**–प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—प्रथमा आवश्यकी, द्वितीया नैषेधिकी, तृतीया आपृच्छना और चौथी प्रतिप्रच्छना नामवाली सामाचारी है। तथा छन्दना नाम की पाँचवीं, छठी इच्छाकार, सातवीं मिथ्याकार और आठवीं तथाकार नामवाली है। एवं अभ्युत्थान नामा नवमी और दसवीं उपसम्पदा है; सो यह साधुओं की दश अवयवरूप सामाचारी तीर्थंकरों ने वर्णन की है। [यह तीनों गाथाओं का सम्मिलित अर्थ है]।

टीका—प्रस्तुत गाथाओं में सामाचारी के दशविध नामों का निर्देश मात्र किया गया है। इनमें पहली सामाचारी का नाम आवश्यकी है। जब से दीक्षा ग्रहण की हो तब से लेकर आयु पर्यन्त गुरुजनों की आज्ञा में रहना, आशातना के भय से कोई भी काम गुरुजनों की आज्ञा के विना न करना, तथा जब किसी कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर अन्यत्र कहीं जाना पड़े तब गुरुओं की आज्ञा लेकर और उपाश्रय से निकलते समय 'आवस्सही—आवश्यकी'—ऐसे कहकर निकलना इसको आवश्यकी सामाचारी कहते हैं। दूसरी का नाम नैषेधिकी है। तथा जब कहीं अन्यत्र प्रवेश करे तो 'निसिहि—नैषेधिकी'—कहकर प्रवेश करे, यह दूसरी नैषेधिकी सामाचारी है। तीसरी सामाचारी का नाम आप्रच्छना है। आहार विहार आदि क्रियाओं में गुरुजनों को पूछकर प्रवृत्ति करने का नाम आप्रच्छना है। चौथी सामाचारी का नाम प्रतिप्रच्छना है। एक बार किसी कार्य के लिए गुरुओं को पूछ लिया, परन्तु यदि कोई उसमें और क्रिया करने की आवश्यकता पड़े अथवा कोई अन्य साधु

किसी कार्य के लिए कहे तो फिर गुरुजनों को पूछने का नाम प्रतिप्रच्छना है। पाँचवीं का नाम छन्दना है। उसका अर्थ यह है कि लाये हुए आहार में से समविभाग करके गुरुजनों ने जो आहार दिया है उसमें से अन्य यतियों को निमंत्रण करना छन्दना कहलाती है। और उस आहार के लिए साधुओं के प्रति इस प्रकार कहना कि आप कृपा करके मेरी प्रार्थना को स्वीकार करो, यह इच्छाकार नाम की छठी सामाचारी है। सातवीं मिथ्याकार नामा सामाचारी का अर्थ यह है कि साधु किसी स्थान पर स्खलित हो गया हो अथवा किसी स्थान पर दोष लग गया हो तब साधु अपने आत्मा की निन्दा करे और अपनी भूल स्वीकार करे। तात्पर्य यह है कि प्रमादवश किसी प्रकार स्खलना या दोष लग जाने से अपने आत्मा की निन्दा करना और उक्त भूल के लिए पश्चात्ताप करना मिथ्याकार सामाचारी है। 'यथा-मिच्छामि दुक्कडं' इस प्रकार कहना। अष्टमी सामाचारी का नाम तथाकार है। किसी प्रकार का दोष लग जाने से गुरुओं के पास आलोचनार्थ जाना और वे जो आदेश करें उसको प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करना तथाकार सामाचारी है। तथा नवमी सामाचारी का नाम अभ्युत्थान है। करणीय कार्यों में सदैव उद्यक्त रहना, अर्थात् गुरुजनों की पूजा में और बाल, वृद्ध और ग्लानादि की सेवा में तत्पर रहना अभ्युत्थान कहलाता है। एवं उपसम्पत् नाम की दसवीं सामाचारी का अभिप्राय यह है—कि ज्ञानादि के सम्पादनार्थ अन्य गच्छादि में संक्रमण करना, अर्थात् अपने गुरुजनों की आज्ञा लेकर विद्या ग्रहणार्थ अन्य गच्छ के आचार्य के समीप जाना और विनय शुश्रूषा पूर्वक श्रुत विद्या का सम्पादन करना उपसम्पत् सामाचारी है। इस कथन से ज्ञान विषयक उत्सुकता और गच्छान्तर के साथ प्रीतिभाव का रखना बतलाया गया है, कारण कि प्रत्येक गच्छ के साथ प्रीतिभाव होगा तब ही ज्ञानादि के ग्रहणार्थ वहाँ जाने की उत्कण्ठा उत्पन्न होगी। इस प्रकार साधुओं की सामाचारी के ये दस नाम तीर्थंकर भगवान ने प्रतिपादन किये हैं। यह उक्त तीनों गाथाओं का भावार्थ है।

अब प्रत्येक सामाचारी के अर्थ और विषय का प्रदर्शन कराते हैं। यथा—

गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणं सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणं ॥५॥

छन्दणा दव्वजाएणं, इच्छाकारो य सारणे।
मिच्छाकारो य निन्दाए, तहक्कारो पडिस्सुए ॥६॥
अब्भुट्ठाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपदा।
एवं दुपंचसंजुत्ता, सामायारी पवेइया ॥७॥

गमन आवश्यकीं कुर्यात्, स्थाने कुर्यान्नैषेधिकीम्।
आप्रच्छना स्वयंकरणे, परकरणे प्रतिप्रच्छना ॥५॥
छन्दना द्रव्यजातेन, इच्छाकारश्च सारणे।
मिथ्याकारश्च निन्दायां, तथाकारः प्रतिश्रुते ॥६॥
अभ्युत्थानं गुरुपूजायां, अवस्थाने उपसंपद्।
एवं द्विपंचसंयुक्ता, समाचारी प्रवेदिता ॥७॥

पदार्थान्वयः—गमणे–गमन करने के समय आवस्सियं–आवश्यकी कुज्जा–करे ठाणे–स्थिति करने के समय निसीहियं–नैषेधिकी सयंकरणे–स्वयं—अपने कार्य करने में आपुच्छणं–आप्रच्छना करे परकरणे–परके कार्य करने के समय पडिपुच्छणं–प्रतिप्रच्छना करे। छन्दणा–निमंत्रणा करनी दव्वजाएणं–द्रव्य जाति से य–और इच्छाकारो–इच्छाकार सारणे–अपने और पर के कार्य के विषय में य–तथा निन्दाए–अपने आत्मा की निन्दा के विषय में मिच्छाकारो–मिथ्याकार करना, पडिस्सुए–गुरुओं के वचन की स्वीकारता में तहक्कारो–तथाकार करना। गुरुपूया–गुरुओं की पूजा में अब्भुट्ठाणं–अभ्युत्थान-उद्यम करना अच्छणे–ज्ञानादि की प्राप्ति के वास्ते उवसंपदा–उपसम्पदा–गुरुजनों के पास रहना एव–इस प्रकार दुपंच–द्विपंच संजुत्ता–संयुक्त सामायारी–सामाचारी पवेइया–प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—चलने के समय आवश्यकी और स्थिति करते समय नैषेधिकी कहना, तथा अपने कार्य के समय पूछने को आप्रच्छना और पर के कार्यार्थ पूछने को प्रतिप्रच्छना कहते हैं। द्रव्य की—जाति की निमंत्रणा का नाम छन्दना, अपने और पर के कार्य में इच्छा प्रकट करनी इच्छाकार है, आत्मनिन्दा

करनी मिथ्याकार और गुरुजनों के वचनों को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार क तथाकार सामाचारी है। एवं गुरुजनों की पूजा में उद्यत रहना अभ्युत और ज्ञानादि की शिक्षा के लिए उनके पास रहना उपसम्पदा है। इस तरह दश प्रकार की सामाचारी कथन की गई है।

टीका—जब किसी कारणवशात् साधु अपने स्थान से बाहर गमन तब गमन करते समय 'आवस्सही' कहे। उक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वाध आदि पवित्र क्रियाओं को छोड़कर मैं किसी आवश्यक कार्य के लिए ही उपाश्र बाहर जाता हूँ। और जब किसी अन्य स्थान पर स्थिति करे तब 'निसिही' क इसका अर्थ यह है कि मैं, पापानुष्ठान से अर्थात् गमनागमनादि क्रियाओं से पापानुष्ठान हो जाता है उससे निवृत्ति पाकर, अब एक स्थान पर स्थिति करता हूँ पापों से अपने आत्मा को बचाता हूँ। जब स्वयं कोई कार्य करना हो, तब गुरु से आज्ञा की प्रार्थना करनी। जैसे कि—हे भगवन्—क्या मैं अमुक कार्य अथवा न करूँ? इस पर गुरुजनों की आज्ञा से उनकी इच्छानुसार कार्य क आप्रच्छना है। तथा जब किसी पर कार्य में प्रवृत्ति करनी हो, तब भी गुरुजनो आज्ञा लेनी चाहिए। जैसे कि—हे भगवन्! मैं अमुक मुनि का अमुक कार्य क इस प्रकार प्रत्येक कार्य गुरुजनों की आज्ञा से ही करना चाहिए। यह प्रतिप्रच्छना तात्पर्य यह है कि श्वासोच्छ्वास को छोड़कर अपने कार्य के लिए वा पर के कार्य लिए गुरुजनों से वार बार आज्ञा लेनी चाहिए, इसीको आप्रच्छना और प्रतिप्रच कहते हैं। तथा अशन, पान, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ जो भिक्षा माँगकर लाये हुए हैं, उनकी अन्तःकरण से अन्य भिक्षुओं को निमंत्रणा कर जैसे कि—हे भिक्षुओ! आप मुझ पर अनुग्रह करो, मुझसे अमुक पदार्थ का ग्रहण इत्यादि छन्दना सामाचारी कहलाती है। और जिस समय अपना या पर का कार्य करना हो, उस समय गुरुओं के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करना तथा उ आज्ञा मिलने पर ही कार्य करना इच्छाकार सामाचारी है। जैसे कि पात्रले और सूत्रदानादि क्रियाएँ हैं। एवं यदि कोई साधुवृत्ति से प्रतिकूल कार्य किया तो उसके लिए आत्मनिन्दा करना, अर्थात् मुझे धिक्कार है कि जो मैंने अमुक अपनी साधुवृत्ति के विरुद्ध किया है—इस प्रकार आत्म-विगर्हा करना मिथ्या

सामाचारी है। तथा जब गुरु वचनादि देते हों, तब उनके वचनों को सत्कार पूर्वक ग्रहण करना, जैसे कि वचनादि लेते समय 'तथास्तु' इत्यादि कहना, इसका नाम तथाकार सामाचारी है। नवमी सामाचारी अभ्युत्थान है। गुरु, आचार्य, वृद्ध और ग्लानादि की प्रतिपत्ति—सेवा के लिए सदा उद्यत रहना, अर्थात् सेवा-शुश्रूषा के अतिरिक्त अन्न और ओषधि आदि के द्वारा उनकी परिचर्या में प्रवृत्त रहना अभ्युत्थान कहलाता है। यद्यपि छन्दना में ही अभ्युत्थान का अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि दोनों में कुछ अन्तर है। यथा—छन्दना सामाचारी में तो भिक्षावृत्ति से लाये हुए द्रव्य की निमंत्रणा मात्र है, और अभ्युत्थान सामाचारी में गुरुजनों की सेवा में उद्यत रहने का आदेश है। दशवीं सामाचारी उपसम्पत् नाम की है। उसका अर्थ यह है कि ज्ञान, दर्शन और चरित्र विधायक सद्ग्रन्थों के अध्ययनार्थ किसी अन्य आचार्यादि के पास स्थिति करना और उनसे यह कह देना कि मैं अमुक कालपर्यन्त आपकी सेवा में स्थिति करूँगा। इस कथन से गच्छों का पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति भी प्रदर्शित होती है, जोकि सर्व प्रकार से उपादेय और स्पृहणीय है। इसके अतिरिक्त—'गुरुपूया-गुरूपूजायाम्' दुपंचसंजुत्ता—द्विपंच संयुक्तां' ये दोनों प्रयोग आर्ष समझने चाहिएँ। और 'पवेइया' भी आर्ष प्रयोग ही है।

अब ओघ सामाचारी के विषय में कहते हैं। यथा—

पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए।
भण्डयं पडिलेहित्ता, वन्दित्ता य तओ गुरुं ॥८॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, आदित्ये समुत्थिते।
भाण्डकं प्रतिलेख्य, वन्दित्वा च ततो गुरुम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—पुव्विल्लम्मि—पहिले चउब्भाए—चतुर्थभाग में आइच्चम्मि—आदित्य के समुट्ठिए—उदय होने पर भण्डयं—भांडोपकरण को पडिलेहित्ता—प्रतिलेखन करके य—और गुरुं—गुरु को वन्दित्ता—वन्दना करके तओ—प्रतिलेखनाऽनन्तर।

मूलार्थ—दिन के प्रथम चतुर्थभाग में सूर्य के उदय होने पर भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना करके—तदनन्तर गुरु को वन्दना करके—हाथ जोड़कर पूछो, यह अगली गाथा के साथ अन्वय करके अर्थ करना।

टीका—पूर्व की गाथाओं मे दशविध सामाचारी का वर्णन किया गया है, अव प्रस्तुत गाथा में ओध सामाचारी का निरूपण करते हैं। दिन के चार भाग चार पहर कहे जाते हैं। एक भाग या पहर आठ घड़ी का होता है, इस प्रकार विभागों की कल्पना करने पर प्रथम पहर का चतुर्थ भाग दो घड़ी मात्र होता है। तब गाथा के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ हुआ कि प्रथम के चतुर्थ भाग में सूर्य के उदय होने पर अर्थात् दो घड़ी प्रमाण सूर्य के उदय होने पर भांडोपकरण आदि की प्रतिलेखना करे। इसी समय को जैन परिभाषा में 'पादोन पौरुषी' कहते हैं। यहाँ पर भांडोपकरण से प्राचीन गुजर भाषा मे मुखवस्त्रिका से लेकर पात्र आदि सब उपकरणों का ग्रहण किया है। प्रतिलेखना यह पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—चक्षुओं द्वारा देखकर फिर रजोहरण आदि से प्रमार्जन करना। फिर गुरुओं को वन्दना करके—हाथ जोड़कर इस प्रकार कहे, यह आगामी गाथा से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि सूत्र में तो प्रथम चतुर्थभाग ही लिखा है; परन्तु यह सामान्य वाक्य है, जिससे कि 'पादोन पौरुपी' को पौरुपी कहा गया है। जैसे कि लोक व्यवहार मे कुछ न्यूनता होने पर भी वस्तु को वस्तु ही कहा जाता है और यथा अपूर्ण पट को भी पट ही कहते हैं, इसी प्रकार कुछ न्यून चतुर्थभाग को भी चतुर्थभाग ही कहा गया है। सारांश यह है कि कुछ न्यून चतुर्थभाग अर्थात् पादोन पौरुपी में भांडोपकरणादि की प्रतिलेखना करे, और तदनन्तर गुरु को वन्दना करके हाथ जोड़कर उनके प्रति इस प्रकार कहे।

अव उसीका वर्णन करते हैं—

पुच्छिज्ज पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इह।
इच्छं निओइउं भन्ते, वेयावच्चे व सज्झाए ॥९॥
पृच्छेत्प्राञ्जलिपुटः, किं कर्तव्यं मयेह।
इच्छामि नियोजयितुं भदन्त!, वैयावृत्ये वा स्वाध्याये ॥९॥

पदार्थान्वयः—पंजलिउडो—हाथ जोड़कर पुच्छिज्ज—पूछे मए—मैं इह—इस समय किं कायव्वं—क्या करूँ भन्ते—हे भदन्त इच्छं—मैं चाहता हूँ निओइउं—नियुक्त करने को वेयावच्चे—वैयावृत्य में व—अथवा सज्झाए—स्वाध्याय मे—अपनी आत्मा को।

मूलार्थ—हाथ जोड़कर पूछे कि हे भगवन् ! इस समय मैं क्या करूँ ? हे भदन्त ! मैं चाहता हूँ कि अपने आत्मा को आपकी वैयावृत्य में अथवा स्वाध्याय में नियुक्त करूँ।

टीका—जब प्रतिलेखना कर चुके तब वन्दना करने के अनन्तर हाथ जोड़कर गुरुओं से पूछे कि भगवन्! अब इस समय मुझे आप किस काम में नियुक्त करना चाहते हैं—वैयावृत्य में अथवा स्वाध्याय में ? तात्पर्य यह है कि जिस काम में आप मुझे नियुक्त करना चाहें मैं उसीमें नियुक्त हो जाऊँ। इस प्रकार आज्ञा माँगने पर गुरु जिस कार्य के लिए आदेश करें उसीमें प्रवृत्त हो जावे। तथा च बृहद्वृत्तिकारः—'यद्वा पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्थभागे आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते बहुतर प्रकाशी भवनात् तस्य, भांडमे व भांडकं ततस्तदिव धर्म-द्रविणोपार्जना-हेतुत्वेन मुखवस्त्रिका वर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत् प्रतिलेख्य वंदित्वा च ततो गुरुं पृच्छेत् शेषं प्रागवत्। उपलक्षणं चैतत्—यतः सकलमपि कृत्यं विधाय पुनरभिवन्दनापूर्वकं प्रष्टव्या एव गुरवः इत्यादि'।

अब कर्तव्य के विषय में कहते हैं—

वेयावच्चे निउत्तेण, कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥१०॥

वैयावृत्ये नियुक्तेन, कर्तव्यमग्लान्या ।
स्वाध्याये वा नियुक्तेन, सर्वदुःखविमोक्षणे ॥१०॥

पदार्थान्वयः—वेयावच्चे-वैयावृत्त में निउत्तेणं-नियुक्त करने से अगिलायओ-ग्लानिभाव को छोड़कर कायव्वं-करना चाहिए वा-अथवा सज्झाए-स्वाध्याय में निउत्तण-नियुक्त करने से सव्व-सर्व दुक्ख-दुःखों से विमोक्खणे-विमुक्त करने वाले में।

मूलार्थ—वयावृत्य में नियुक्त किया जाकर ग्लानि से रहित होकर वैयावृत्य में प्रवृत्त होवे, अथवा स्वाध्याय में नियुक्त किये जाने पर सर्व दुःखों से छुड़ाने वाले स्वाध्याय में ग्लानिभाव से रहित होकर प्रवृत्ति करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गुरु की आज्ञा के अनुसार वैयावृत्त अथवा स्वाध्याय में भावपूर्वक प्रवृत्त होने का आदेश किया गया है। जैसे कि—आज्ञा माँगने पर गुरु ने यदि वैयावृत्त में नियुक्त होने की आज्ञा दी हो तो विना किसी प्रकार की ग्लानि के, अर्थात् अपने शारीरिक बल का कुछ भी विचार न करते हुए विशुद्ध भाव से वैयावृत्त सेवा में लग जाना चाहिए, और यदि गुरुओं ने स्वाध्याय की आज्ञा प्रदान की हो तो प्रेमपूर्वक स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। स्वाध्याय-तप सर्व तपों में प्रधान और सर्व प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाला है। सारांश यह है कि स्वाध्याय के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है; सो जब अज्ञान नष्ट हुआ, तब मोहनीय आदि कर्म भी नहीं रह सकते; और मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से अवशिष्ट सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं; इसलिए स्वाध्याय के आचरण से दुःखों का समूलघात हो जाता है। अतएव स्वाध्याय में वा वैयावृत्त में गुरुजनों की आज्ञा के अनुसार ही प्रवृत्त होना चाहिए।

अब औत्सर्गिक भाव से साधु की दिनचर्या के विषय में कहते हैं। यथा—

दिवसस्स चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥११॥

दिवसस्य चतुरो भागान्, कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षणः।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, दिनभागेषु चतुर्ष्वपि ॥११॥

पदार्थान्वयः—दिवसस्स—दिन के चउरो—चार भागे—भागों को वियक्खणो—विचक्षण भिक्खू—भिक्षु कुज्जा—अपनी बुद्धि से कल्पना करे तओ—तदनन्तर उत्तरगुणे—उत्तरगुणों को—करे चउसु वि—चारों ही दिणभागेसु—दिन भागों में।

मूलार्थ—विचक्षण (बुद्धिमान) भिक्षु, दिन के चार भाग कल्पना करके, उन चारों में ही उत्तर गुणों की आराधना करे।

टीका—अब ओघ सामाचारी के प्रस्ताव में दिनचर्या का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—विद्वान् साधु अपनी बुद्धि से दिन के चार विभाग कर लेवे; उन चारों ही विभागों में स्वाध्याय आदि उत्तम गुणों का आराधन करे, अर्थात् जिस जिस

विभाग में जिन जिन गुणों का अनुष्ठान विदित हो उस उसमें उनका आचरण करे। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि दिन के विभाग की कल्पना का तात्पर्य यह है कि दक्षिणायन और उत्तरायण में दिन की न्यूनाधिकता होती रहती है। अतः उसके अनुसार ही विभाग में न्यूनाधिकता कर लेनी, जैसे कि—बत्तीस घड़ी के दिन—मान में आठ घड़ी का चतुर्थ भाग होगा और अठाईस घड़ी के दिन-मान में सात घड़ी का चतुर्थांश होगा।

अब निम्नलिखित गाथाओं में विभागानुसार गुणों के धारण करने के विषय का उल्लेख करते हैं कि—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं ॥१२॥

प्रथमायां पौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां भिक्षाचर्यां, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—**पढमं**—प्रथम **पोरिसि**—पौरुषी में **सज्झायं** स्वाध्याय करे **बीयं**—दूसरी पौरुषी में **झाणं**—ध्यान करे **झियायई**—ध्यावे-करे **तइयाए**—तीसरी में **भिक्खायरियं**—भिक्षाचारी करे **पुणो**—फिर **चउत्थीइ**—चौथी पौरुषी में **सज्झायं**—स्वाध्याय करे।

मूलार्थ—प्रथम पहर (पौरुषी) में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचारी और चौथे पहर में फिर स्वाध्याय करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु की दिनचर्या का वर्णन किया गया है, जैसे कि प्रथम पौरुषी—प्रथम पहर में, पाँचों प्रकार का स्वाध्याय करे, दूसरी में स्वाध्याय किये हुए पदार्थ का चिन्तन अथवा आत्म-ध्यान करे, तीसरी पौरुषी में भिक्षा को जावे और चौथी में फिर स्वाध्याय करे। परन्तु यह समय का विभाग सामान्य अथवा स्थूल दृष्टि से किया गया है। और विशेष रूप से तो प्रतिलेखना आदि का समय भी इसीमें प्रथम पौरुषी में ही ग्रहण किया हुआ है। इसी प्रकार तीसरी पौरुषी में उच्चार भूमि में जाना आदि क्रियायें गृहीत हैं। तथा अपवाद मार्ग में भी यह समय व्यवस्थित नहीं रहेगा—जैसे कि रोगी वा वृद्ध साधु की सेवा शुश्रुषा में

प्रवृत्त होने से समय की व्यवस्था नहीं रह सकती। तथा चतुर्थ पौरुषी में भी स्वाध्याय के अतिरिक्त स्थंडिल, प्रतिलेखना और वृद्ध ग्लानादि के लिए आहारादि लाना आदि व्यापार का समावेश कर लेना।

अब पौरुषी के विषय में कहते हैं कि—

आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया।
चित्तासोएसु मासेसु, तिप्पया हवइ पोरिसी ॥१३॥

आषाढे मासे द्विपदा, पौषे मासे चतुष्पदा।
चैत्राश्विनयोर्मासयोः, त्रिपदा भवति पौरुषी ॥१३॥

पदार्थान्वयः—आसाढे मासे—आषाढ़ मास में दुपया—दो पाद से पोसे मासे—पौष मास मे चउप्पया—चार पाद से चित्तासोएसु—चैत्र और आश्विन मासेसु—मास में तिप्पया—तीन पाद से पोरिसी—पौरुषी हवइ—होती है।

मूलार्थ—आषाढ़ मास में दो पाद से, पौष मास में चार पाद से और चैत्र तथा आश्विन मास में तीन पाद से पौरुषी होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस रहस्य का उद्‌घाटन किया गया है कि जिस पौरुषी में स्वाध्याय आदि क्रियाओं का विधान किया गया है, उस प्रथम पौरुषी के जानने की विधि क्या और किस प्रकार से है? सो अब उसका उत्तर बतलाते हैं। यथा—अपना दक्षिण कर्ण सूर्य के सम्मुख करके और जानु के मध्य में तर्जनी उँगुली रख कर उस उँगुली की छाया को देखे, यदि वह छाया दो पाद प्रमाण आजावे, तब आषाढ़ी पौर्णमासी में एक पहर प्रमाण दिन आ जाता है। अर्थात् आषाढ़ पूर्णिमा में जब चौबीस अंगुल प्रमाण छाया तृण अथवा जानु पर अंगुली रखने से आजावे तब दिन का चतुर्थ भाग—एक पहर प्रमाण दिन आ जाता है। इसी क्रम से पौष मास में जब चार पाद प्रमाण अर्थात् अड़तालीस अंगुल प्रमाण छाया आजावे तब एक पहर होता है। तथा चैत्र और आश्विन मास में तीन पाद प्रमाण छत्तीस अंगुल प्रमाण छाया आने से एक पहर होता है। प्राचीन समय में राज्य कर्मचारी लोग तो नालिका—जलमय घटिकायंत्र के द्वारा समय का निर्णय किया करते थे, और मुनि लोग अपनी निरवद्य-वृत्ति के अनुसार उक्त प्रकार से पौरुषी आदि के समय का निर्णय किया करते हैं।

अब शेष मासों में पौरुषी के जानने का उल्लेख करते हैं। यथा—

अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेणं च दुरंगुलं।
वड्ढए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं ॥१४॥

अङ्गुलं सप्तरात्रेण, पक्षेण च द्व्यंगुलम्।
वर्धते हीयते वापि, मासेन चतुरंगुलम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—**अंगुलं**—एक अंगुल **सत्तरत्तेणं**—सात अहोरात्र से **च**—और **पक्खेणं**—पक्ष से **दुरंगुलं**—दो अंगुल **वा**—अथवा **वड्ढए**—वृद्धि होती है—दक्षिणायन में **हायए**—हीन होता है—उत्तरायण में **अवि**—संभावना में **मासेणं**—मास से **चउरंगुलं**—चार अंगुल प्रमाण।

मूलार्थ—सात अहोरात्र में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और मास में चार अंगुल प्रमाण दिन दक्षिणायन में वृद्धि और उत्तरायण में हानि को प्राप्त होता है। अर्थात् दक्षिणायन में बढ़ता और उत्तरायण में घटता है।

टीका—इस गाथा में शेष मासों की पौरुषी जानने की विधि का वर्णन किया गया है। यथा—जब सूर्य दक्षिणायन में होता है, तब छः मास तक दिन की वृद्धि होती रहती है। अर्थात् कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन इन छः राशियों में जब सूर्य होता है तब दिन बढ़ता है, और मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन राशियों में घटता है। परन्तु इतना विचार इसमें अवश्य है कि मिथुन—आषाढ़ के तेरह अंश से दक्षिणायन और धन के—पौष के—तेरह अंशों से उत्तरायण का आरम्भ होता है। अब हानि और वृद्धि का प्रमाण बतलाते हैं। यथा—सात अहोरात्र मे एक अंगुल की वृद्धि होती है, एक पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल प्रमाण दिन बढ़ता है। इसी प्रकार हानि के विषय में समझ लेना चाहिए, अर्थात् एक, दो और चार अंगुल की कमी होती है। तथा इस कथन का संकलित भावार्थ यह हुआ कि आषाढ़ी पौर्णमासी को चौवीस अंगुल प्रमाण छाया के आजाने पर एक पहर होता है, और श्रावण कृष्णा सप्तमी को पच्चीस अंगुल की छाया आने पर एक पहर होता है। तथा श्रावण कृष्णा चौदह को छब्बीस अंगुल पर श्रावण शुक्ला सप्तमी को सत्ताईस अंगुल और श्रावण शुक्ला चौदह को अट्ठाईस अंगुल प्रमाण छाया के आने पर एक

पहर दिन आजाता है। इसी क्रम से भाद्रपद में बत्तीस, आश्विन में छत्तीस, कार्तिक में चालीस, मार्गशीर्ष में चवालीस और पौष में अड़तालीस अँगुल प्रमाण छाया आजाने पर एक पहर या पौरुषी होती है। ऐसे ही वृद्धि की जगह चार चार अंगुल प्रमाण छाया को कम करते जाना चाहिए, तब आषाढ़ मासमें चौवीस अंगुल प्रमाण छाया के आजाने से पौरुषी हो जाती है। तथा गाथा में जो सात अहोरात्र लिखे हैं, वे तब होते हैं जब कि चौदह दिन का पक्ष होवे, अपितु पंद्रह दिन का जब पक्ष हो तब तो साढ़े सात अहोरात्र का ही प्रमाण जानना चाहिए।

अब यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि चौदह दिन का पक्ष किस किस मास में होता है? सो इसका उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

आसाढबहुले पक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुणवइसाहेसु य, बोद्धव्वा ओमरत्ताओ ॥१५॥

आषाढे पक्षबहुले, भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च।
फाल्गुने वैशाखे च, बोद्धव्या अवमरात्रयः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—आसाढ—आषाढ़ बहुले—कृष्ण पक्खे—पक्ष में भद्दवए—भाद्रपद मे कत्तिए—कार्तिक में य—और पोसे—पौष मे य—तथा फग्गुण—फाल्गुन य—और वइसाहेसु—वैशाख मे ओम—न्यून रत्ताओ—अहोरात्र बोद्धव्वा—जानना चाहिए।

मूलार्थ—आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाखमास के कृष्णपक्ष में एक अहोरात्र की न्यूनता जाननी चाहिए, अर्थात् चौदह दिन का पक्ष जानना चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे चौदह दिन का पक्ष बतलाते हुए यह कहा है कि आषाढ़ प्रभृति मासों के कृष्ण पक्ष मे एक अहोरात्र का क्षय कर देना चाहिए। इस प्रकार एक अहोरात्र के कम होने से चौदह दिन का पक्ष स्वतः ही सिद्ध होजाता है। सो यह विधि क्षय का जो प्रतिपादन किया गया है, वह व्यवहार को लेकर किया गया है; और निश्चय से तो गणना का प्रकार बृहद्वृत्तिकार ने निर्युक्ति गाथा की व्याख्या में इस रीति से दिया है। यथा—'अयणाईय दिनगणे अट्ठगुणे गट्ठि भाइए लद्धुं। उत्तर दाहिणमाई उत्तर पयसोज्झ पक्खेवो'—अत्र चायनं, उत्तरायणं दक्षिणायने च

तस्यातीतदिनानि अतिक्रान्तदिवसास्तेषां गणः—समूहोऽयनातीतदिनगणः सचोत्कृष्टत स्त्र्यशीतिशतं, तच्चाष्टगुणितं जातानि चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि, तत्र चैकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि चतुर्विंशतिरंगुलानि । तत्रापि द्वादशभिरंगुलैः पदमिति जाते द्वेपदे एतयोश्च । 'उत्तर दाहिण माई' त्ति—उत्तरायणादौ दक्षिणायनादौ च 'उत्तरपद' त्ति—उत्तरपदयोः । 'सोज्झ' त्ति—शुद्धि प्रक्षेपश्च, तत्र हि उत्तरायण-प्रथम-दिने चत्वारि पदान्यासन्, ततस्तन्मध्यात् पदद्वयोत्सारणे जाते कर्कट-संक्रान्ति-दिने द्वे पदे, दक्षिणायनाद्यदिने तु द्वे पदे अभूतां, तन्मध्ये च द्वयोः क्षिप्तयोर्जातानि मकर-संक्रान्तौ चत्वारि पदानि । इदं चोत्कृष्ट-जघन्य-दिनयोः पौरुषी यानं मध्यम दिनेष्वप्यभिहितं नीतितः सुधिया भावनीयमिति । इसका अर्थ सुगम है, इसलिए यहाँ पर नहीं लिखा गया ।

इस प्रकार यह प्रथम पौरुषी में प्रतिलेखना आदि क्रिया का विधान, और पौरुषी के प्रमाण की विधि आदि के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है । अब उसके परिज्ञान के विषय में कहते हैं । यथा—

जेट्ठामुले आसाढसावणे, छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा ।
अट्ठहिं बीयतयम्मि, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥१६॥
ज्येष्ठामूले आषाढे श्रावणे, षड्भिरंगुलैः प्रतिलेखा ।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके , तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जेट्ठामुले—ज्येष्ठमूल आसाढ—आषाढ़ सावणे—श्रावण में छहिं—छः अंगुलेहिं—अंगुलों से पडिलेहा—प्रतिलेखना का समय होता है बीय—द्वितीय तयम्मि—त्रिक में अट्ठहिं—आठ अंगुलों से तइए—तृतीय त्रिक में दस—दश अंगुलों से चउत्थे—चतुर्थ त्रिक में अट्ठहिं—आठ अंगुलों से—पादोन पौरुषी का कालमान होता है।

मूलार्थ—प्रथम त्रिक में छः अंगुल के प्रक्षेप करने से, द्वितीय त्रिक में आठ अंगुल के प्रक्षेप करने से, तीसरे में दस और चौथे त्रिक में आठ अंगुलि के प्रक्षेप करने से पादोन पौरुषी होती है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पादोन पौरुषी के ज्ञान का प्रकार बतलाया गया है । यथा—सर्व साधारण के ज्ञानार्थ सूत्रकार ने बारह महीनों के चार विभाग कर

किये हैं, जोकि प्रथम त्रिक, द्वितीय त्रिक, तृतीय और चतुर्थ त्रिक के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक त्रिक मे तीन तीन मासों का समावेश किया गया है। प्रथम त्रिक में ज्येष्ठ आषाढ़ और श्रावण ये तीन मास परिगणित किये हुए हैं, द्वितीय त्रिक में भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक ये तीन मास हैं, इसी प्रकार तीसरे त्रिक में मार्गशीर्ष, पौष और माघ, तथा चौथे त्रिक में फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन मासों का ग्रहण अभिमत है। जो प्रथम पौरुषी के प्रमाण में यावन्मात्र अंगुलियों के प्रमाण का कथन किया गया है, उस प्रमाण से यदि छः अंगुल छाया अधिक बढ़े तब पादोन पौरुषी का समय हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे त्रिक में जो पौरुषी के प्रमाण की छाया है उससे यदि आठ अंगुल छाया बढ़ जावे, तब पादोन पौरुषी का समय हो जाता है। तथा तीसरे त्रिक में पौरुषी के प्रमाण की छाया से यदि दस अंगुल प्रमाण छाया अधिक पड़े तब पादोन पौरुषी का समय होता है। इसी प्रकार चौथे त्रिक मे आठ अंगुल छाया अधिक बढ़े, तब पादोन पौरुषी होती है। यही समय पात्रादि के प्रतिलेखन का बतलाया गया है। तथा ज्येष्ठा और मूल इन दो नक्षत्रों का नाम निर्देश इसलिए किया गया है कि उक्त मास में इनका परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार यह पादोन पौरुषी के काल ज्ञान का शास्त्रकार ने वर्णन किया है। तथा बृहद्वृत्तिकार ने सुगमता के लिए इसका यंत्र भी दे दिया है, जोकि इस प्रकार है—

ज्येष्ठे पदे— २—४—६ अंगु.—२—१०	भाद्रपदे— २—८ अंगु. ८—३—४	मार्गशीर्षे पदे— ३—८ अंगु. १०—४—६	फाल्गुने पदे— ३—४ अंगु. ८—४
आषाढ़े पदे—२ अंगु. ६—२—६	आश्विने पदे— ३ अंगु ८—३—८	पौषे पदे—४ अंगु. १०—४—१०	चैत्रे पदे—३ अंगु. ८—३—८
श्रावणे पदे— २—४ अंगु. ६—२—१०	कार्तिके पदे— ३—४ अंगु. ८—४	माघे पदे—३—८ अंगु. १०—४—६	वैशाखे पदे— २—८ अंगु. ८—३—४

यह सब पादोन पौरुषी के जानने व देखने की विधि का वर्णन किया गया है, अपितु प्रतिलेखना-सम्बन्धी विषय का वर्णन कुछ तो पीछे आ चुका है और कुछ आगे वर्णन किया जावेगा।

इस प्रकार दिनकृत्य के वर्णन करने के अनन्तर अब रात्रिकृत्य का वर्णन करते हैं कि—

रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभाएसु चउसु वि॥१७॥

रात्रावपि चतुरो भागान्, भिक्षुः कुर्याद् विचक्षणः।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, रात्रिभागेषु चतुर्ष्वपि॥१७॥

पदार्थान्वयः—**रत्तिं पि**—रात्रि के भी **चउरो भागे**—चार भाग **वियक्खणो**—विचक्षण **भिक्खू**—भिक्षु **कुज्जा**—करे **तओ**—तदनन्तर **चउसु वि**—चारों ही **राइभाएसु**—रात्रि भागों में **उत्तरगुणे**—उत्तरगुणों का आराधन **कुज्जा**—करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् भिक्षु रात्रि के चार भाग कल्पना करके उन चारों ही भागों में यथाक्रम उत्तर गुणों की आराधना करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु के रात्रिकृत्य का निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से साधु को दिन में अपने धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करना पड़ता है, उसी प्रकार रात्रि में भी उसको कतिपय उत्तर गुणों के आराधन की आवश्यकता रहती है। इसलिए दिनचर्या की भाँति रात्रि के भी चार विभाग करके उनमें यथाक्रम आवश्यक कृत्यों का अनुष्ठान करना साधु का परम कर्त्तव्य है। सारांश यह है कि जिन उत्तर गुणों के आराधनार्थ दिन को विभक्त किया गया है उन्हीं उत्तर गुणों के सेवनार्थ रात्रि के भी चार विभाग कल्पना कर लेने चाहिएँ।

अब रात्रि के चारों भागों में अनुक्रम से जो कर्त्तव्य है, उसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥१८॥

प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां निद्रामोक्षं तु, चतुर्थ्यां भूयोऽपि स्वाध्यायम् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—पढमं-प्रथम पोरिसि-पौरुषी में सज्झायं-स्वाध्याय करे बीयं-दूसरी पौरुषी में ज्झाणं-ध्यान का आचरण करे तु-और तइयाए-तीसरी पौरुषी में तु-और निद्दमोक्खं-निद्रा से मुक्त होवे भुज्जो वि-फिर भी चउत्थी-चौथी में सज्झायं-स्वाध्याय करे।

मूलार्थ—रात्रि की प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय करे, दूसरी पौरुषी में ध्यान, तीसरी में निद्रा को मुक्त करे, और चौथी में फिर स्वाध्याय करे।

टीका—जिस प्रकार पूर्व गाथाओं में काल विभाग से दिनचर्या का वर्णन किया है, उसी प्रकार प्रस्तुत गाथा में समय विभाग से रात्रिचर्या का वर्णन किया है। जैसे कि—रात्रि की प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय का आचरण करना चाहिए और दूसरी पौरुषी में, स्वाध्याय में आये हुए क्षितिवलय\द्वीप सागर भवनादि के अर्थो का विचार करना, तीसरी पौरुषी में षट् प्रहरों से जो निद्रा का विरोध किया हुआ था उसको मुक्त करना चाहिए, अर्थात् विधिपूर्वक—अनशनादि कृत्य करके आगारों के साथ—शयन करना चाहिए और चौथी पौरुषी में उठकर फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त होजाना चाहिए। यह सब कथन उत्सर्ग विधि में है। अपवाद मार्ग में तो जैसे गुरुजनों की आज्ञा होवे, उसी प्रकार से आचरण करना। तथा किसी किसी आचार्य का यह भी मत है कि तीसरी पौरुषी मे निद्रा आने पर भी उसे मुक्त करे, अर्थात् जागरण करे। परन्तु यह अर्थ चिन्त्य है, क्योंकि सूत्रकर्ता ने तीसरी पौरुषी मे और किसी भी कार्य के अनुष्ठान की सूचना नहीं दी। अतः इसमे निद्रा लेना ही सिद्ध होता है। दर्शनावरणीय कर्म का विधिपूर्वक क्षयोपशम करना, यही सैद्धान्तिक मत है। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वालों के लिए ही प्रतिपादन किया गया है। सामान्यतया प्रथम और चतुर्थ पहर मे जागने की आज्ञा तो सूत्रों मे देखी जाती है। और इस प्रकार करने से रोगादि की प्राप्ति नहीं होती। ठाणांगसूत्र मे लिखा है 'अइनिद्दाए' अति निद्रा से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः समस्त साधु वर्ग को उचित है कि वह प्रथम और चतुर्थ पहर मे निद्रा अवश्य त्यागे। शास्त्रकार की

भी यही आज्ञा है, तथा 'निद्रामोक्ष' शब्द का अर्थ भी यही है कि रोकी हुई निद्रा को मुक्त करना, अर्थात् शयन करना, जिससे कि निद्रा मुक्त होजाने पर दर्शनावरणीय कर्म क्षयोपशम भाव को प्राप्त होजावे।

अब रात्रि के चार भागों के विषय में कहते हैं—

जं नेइ जया रत्तिं, नक्खत्तं तम्मि नहचउब्भाए।
सपत्ते विरमेज्जा, सज्झायं पओसकालम्मि ॥१९॥
यन्नयति यदा रात्रिं, नक्षत्रं तस्मिन्नेव नभश्चतुर्भागे।
संप्राप्ते विरमेत्, स्वाध्यायात् प्रदोषकाले ॥१९॥

पदार्थान्वयः—**जं**—जो **नक्खत्तं**—नक्षत्र **जया**—जिस समय **रत्तिं**—रात्रि को **नेइ**—पूरी करता है **तम्मि**—उस समय—उस नक्षत्र को **नहचउब्भाए**—आकाश के चतुर्थभाग को **संपत्ते**—प्राप्त होने पर **सज्झायं**—स्वाध्याय से **विरमेज्जा**—निवृत्त हो जावे **पओसकालम्मि**—प्रदोषकाल में।

मूलार्थ—**जो नक्षत्र जिस समय जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थभाग में आजावे, तब प्रदोषकाल होता है; उस काल में स्वाध्याय से निवृत्त हो जावे।**

टीका—प्रस्तुत गाथा में रात्रि के चार भागों की कल्पना का प्रकार बतलाया गया है। जैसे कि—सूर्य के अस्त होजाने पर जिस नक्षत्र ने रात्रि को पूरी करना होता है, वह नक्षत्र उस समय उदय होजाता है। तब आकाश में उस नक्षत्र के कालमान के अनुसार चार विभाग कर लेने, फिर उन्हीं विभागों के अनुसार पूर्व कथित रात्रिचर्या का अनुसरण करना चाहिए। तथा जब वह नक्षत्र चतुर्थभाग मे आजावे, तब स्वाध्याय को छोड़कर अन्य आवश्यक क्रियाओं में प्रवृत्त होजाना चाहिए। कारण यह है कि वह काल प्रदोपकाल है, रात्रि के मुखकाल को प्रदोषकाल कहते हैं, वह प्रातः और सायं के सन्धिकाल में होता है। तथा जिस पौरुषी में जिन क्रियाओं का विधान है और जिस भाग मे नक्षत्र आवे उसीके अनुसार आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करना, और यदि रात्रि में उदय हुआ नक्षत्र चतुर्थभाग

में आजावे, तब स्वाध्याय को बन्द कर देना चाहिए। क्योंकि इस प्रदोषकाल में प्रतिक्रमणादि अन्य आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान भी परम आवश्यक है। इसलिए आगामी गाथा में 'वेरत्तियं-वैरात्रिकं' शब्द का उल्लेख किया है, जिसका कि अकाल अर्थ है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तम्मेव य नक्खत्ते, गयणचउब्भागसावसेसम्मि।
वेरत्तियंपि कालं, पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥२०॥

तस्मिन्नेव च नक्षत्रे, गगनचतुर्भागसावशेषे।
वैरात्रिकमपि कालं, प्रतिलेख्य मुनिः कुर्यात् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—तम्मेव-उसी नक्खत्ते-नक्षत्र की गति गयण-गगन में चउब्भाग-चतुर्थभाग के सावसेसम्मि-अवशेष होने पर वेरत्तियं-वैरात्रिक कालं-समय पि-अपि-अन्य पौरुषी आदि काल पडिलेहित्ता-देखकर मुणी-मुनिः कुज्जा-कालग्रहण करे।

मूलार्थ—उसी नक्षत्र की गति जब गगन के चतुर्थभाग में आजावे, तब वैरात्रिक काल को देखकर मुनि समय का ग्रहण करे।

टीका—इस गाथा में पूर्वोक्त कथन की पुष्टि की गई है, यथा—जिस नक्षत्र ने रात्रि को पूर्ण करना हो, जब वह नक्षत्र आकाश के चतुर्थभाग में आजावे, तब मुनि वैरात्रिककाल को ग्रहण करके अपनी आवश्यक क्रिया में प्रवृत्त होजावे; अथवा आकाश मे चतुर्थभाग के अवशेष रह जाने पर उसी नक्षत्र के अनुसार समय को ठीक देखकर मुनि निज क्रियाओं मे प्रवृत्ति कर लेवे। वैरात्रिक काल संज्ञा का नाम बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि आकाश में चतुर्थभाग अर्थात् गन्तव्य से जो अवशेष चतुर्थभाग है उसी वैरात्रिककाल मे अपनी करणीय आवश्यक क्रियाएँ करनी चाहिएँ। अपि शब्द से अन्य पौरुषियों का ग्रहण भी कर लेना। यहाँ पर 'गयण-गगन' शब्द में सप्तमी विभक्ति के लुप्त का निर्देश है, और धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इस नियम के अनुसार 'कृञ्' धातु का यहाँ पर ग्रहण अर्थ करना। ऊपर कही हुई गाथा का सारांश इतना ही है कि—नक्षत्र की गति के

द्वारा आकाश के चार भाग कल्पना कर लेने और अपने अनुसार अपनी रात्रिचर्या में प्रवृत्ति करनी, और चतुर्थभाग शेष रहने पर आवश्यकादि क्रियाओं में मुनि को प्रवृत्त होना चाहिए।

इस प्रकार सामान्य रूप से रात्रि और दिन के कृत्यों का निर्देश कर देने के अनन्तर अब विशेष रूप से दिनकृत्य के विषय मे कहते हैं—

पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, पडिलेहित्ताण भण्डयं।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥२१॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे , प्रतिलेख्य भाण्डकम्।
गुरुं वन्दित्वा स्वाध्यायं, कुर्याद्दुःखविमोक्षणम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—पुव्विल्लम्मि–पूर्व के चउब्भाए–चतुर्थ भाग में भण्डयं–भाण्डोपकरण को पडिलेहित्ताण–प्रतिलेखन करके गुरुं–गुरु को वन्दित्तु–वन्दना करके दुक्खविमोक्खणं–दुःखों से मुक्त करने वाले सज्झायं–स्वाध्याय को कुज्जा–करे।

मूलार्थ—दिन के प्रथम पहर के प्रथम चतुर्थ भाग में, भांडोपकरण की प्रतिलेखना करके, फिर गुरुजनों को वन्दना करके दुःखों से मुक्त कराने वाले स्वाध्याय को करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विशेष रूप से दिनचर्या का वर्णन किया गया है। जब अपनी बुद्धि के द्वारा दिन के चार भाग कल्पना कर लिए, तब उनमें से प्रथम विभाग के प्रथम चतुर्थ भाग में, अर्थात् सूर्योदय से दो घटिका प्रमाण समय पर्यन्त भांडोपकरण—उपधि—धर्मोपकरण—की प्रतिलेखना करे, फिर गुरुओं को वन्दना करके स्वाध्याय मे प्रवृत्त होजावे, जोकि शारीरिक और मानसिक सर्व प्रकार के दुःखों का विनाश करने वाला है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि जिस प्रकार प्रातः और सायं काल में सेवन की हुई ओषधि रोग की निवृत्ति और नीरोगता की वृद्धि करने वाली होती है, उसी प्रकार प्रथम और चार पहर का किया हुआ स्वाध्याय भी कर्मो के क्षय करने में विशेष समर्थ होता है। क्योंकि यह दोनों समय शान्त रस के उत्पादक हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
अपडिक्कमित्ता कालस्स, भायणं पडिलेहए ॥२२॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
अप्रतिक्रम्य कालं, भाजनं प्रतिलेखयेत् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—पोरिसीए—पौरुषी के चउब्भाए—चतुर्थ भाग में तओ—तदनन्तर गुरुं—गुरु को वन्दित्ताण—वन्दना करके कालस्स—काल को अपडिक्कमित्ता—अप्रतिक्रम करके भायणं—भाजनों की पडिलेहिए—प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—पौरुषी के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना करके काल के अप्रतिक्रम पर भाजनों की प्रतिलेखना करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिलेखना का समय बतलाते हुए कहते हैं कि जब प्रथम पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रह जावे, अर्थात् पादोन पौरुषी के व्यतिक्रम हो जाने पर द्वितीय पौरुषी के लगने मे दो घटिका प्रमाण समय शेष हो, तब गुरु को वन्दना करके उनकी आज्ञा लेकर पात्रादि की प्रतिलेखना करे। तथा सूत्र में जो 'अपडिकमित्तु कालस्स—अप्रतिक्रम्य कालस्य' लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि अभी तक स्वाध्याय के करने का समय था, परन्तु उसको छोड़कर, अर्थात् स्वाध्याय के लिए जो ज्ञान के चतुर्दश अतिचारों का ध्यान किया जाता है, उसको न करके—(क्योंकि चतुर्थ पहर मे फिर स्वाध्याय करना है)—स्वाध्याय के काल का अप्रतिक्रम करके—भाजनों की प्रतिलेखना में लग जावे। प्रथम पहर में दो घड़ी तक और स्वाध्याय करना शेष था, उसको छोडकर, अर्थात् उसकी समाप्ति के सूचक कार्योत्सर्गादि न करके जो पात्रादि की प्रतिलेखना मे प्रवृत्त होने का समय है, उसको अप्रतिक्रम काल कहते हैं। इसलिए दो घटिका प्रमाण स्वाध्याय काल मे भाजनों की प्रतिलेखना में लग जावे।

अब प्रतिलेखना मे प्रकार का वर्णन करते हैं। यथा—

मुंहपोत्तिं[1] पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छगं।
गोच्छगलइयंगुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ॥२३॥

१ मुहपत्ति—मुखपत्रिकाम्—इत्यपि पाठः।

मुखपत्रिकां प्रतिलेख्य, प्रतिलेखयेद् गोच्छकम्।
अङ्गुलिलातगोच्छकः , वस्त्राणि प्रतिलेखयेत् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—**मुहपोत्तिं**–मुखवस्त्रिका की **पडिलेहित्ता**–प्रतिलेखना करके **गोच्छगं**–गोच्छक की **पडिलेहिज्ज**–प्रतिलेखना करे **गोच्छगलइयंगुलिओ**–गोच्छक को अंगुलियों से ग्रहण करके फिर **वत्थाइं**–वस्त्रों की **पडिलेहए**–प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके फिर गोच्छक की प्रतिलेखना करे; फिर अंगुलियों से गोच्छक को ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करे।

टीका—इस गाथा में अनुक्रम से प्रतिलेखना और प्रमार्जना की विधि का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि—पादोन पौरुषी में जब प्रतिलेखना करने लगे तो प्रथम भाजनों की प्रतिलेखना करे, फिर मुख वस्त्रिका (मुंहपत्ति) की प्रतिलेखना करके गोच्छक की प्रतिलेखना करे; और फिर गोच्छक को अंगुलियों से ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करे। यहाँ पर 'गुच्छग—गोच्छक' का अर्थ 'रजोहरण' समझना। यद्यपि वृत्तिकार ने गोच्छक का अर्थ 'पात्रों के ऊपर का उपकरण' ऐसा किया है; परन्तु विचार करने पर यह अर्थ प्रकरण-संगत प्रतीत नहीं होता। यदि पात्रों के ऊपर के वस्त्र का ही यहाँ पर गोच्छक शब्द से ग्रहण करें, तो फिर उक्त गाथा के तीसरे पाद की वृत्ति में जो यह लिखा है कि—'प्राकृतत्वादंगुलिभिर्लातो गृहीतो गोच्छको येन सोयमंगुलिलातगोच्छकः' अर्थात् अंगुलियों से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने, तो फिर उसकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए गोच्छक शब्द का पारिभाषिक अर्थ यहाँ पर 'रजोहरण' ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है'। तात्पर्य यह है कि 'पात्रों पर देने वाले वस्त्र को अंगुलियों में ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करे' इसका कुछ भी अर्थ प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि गोच्छक शब्द से 'रजोहरण' का ग्रहण यहाँ पर न किया जाए, तो फिर उक्त सूत्र में रजोहरण की प्रतिलेखना का विधान करने वाली और कौन-सी गाथा है? अतः 'अंगुलियों से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने' इस अर्थ की सार्थकता रजोहरण के साथ ही सम्बन्ध रखती है; क्योंकि रजोहरण में जो फलियाँ होती हैं, उनकी प्रतिलेखना अंगुलियों से ही की जा सकती है। इसलिए गोच्छक शब्द का गुरु-परम्परा से प्राप्त जो 'रजोहरण' अर्थ है, वही युक्ति-संगत प्रतीत होता है। तथा—बीसवीं गाथा के चतुर्थपाद में भाजनों की प्रतिलेखना का

वर्णन किया गया है, तो क्या जब कि पात्रों की प्रतिलेखना की जायगी, तो उसके साथ में जिस वस्त्र में वे पात्र बँधे हुए हैं उसकी प्रतिलेखना नहीं की जायेगी ? नहीं, उसकी भी साथ ही में प्रतिलेखना होगी। संग्रह नय के मत से यहाँ पर पात्र शब्द से पात्रों के उपकरण का भी साथ में ही ग्रहण किया गया है। इस सारे कथन का सारांश यह है कि प्रथम तो साधु अपने चिह्न वाले उपकरणों—मुखवस्त्रिका और रजोहरणादि—की प्रतिलेखना करे और फिर वस्त्रों की प्रतिलेखना करे। जैसे कि प्रथम मुख पर से वस्त्रिका को उतार कर उसकी प्रतिलेखना करनी, और फिर अंगुलियों से रजोहरण और उसके बाद वस्त्रों की प्रतिलेखना करनी। यही हमारे गच्छ की सामाचारी है, जो कि आज तक बराबर प्रवर्तमान है। आगे तो जो केवली को अभिमत हो, वही ठीक है; क्योंकि तत्व केवली गम्य है।

अब वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि में कुछ और जानने योग्य विषय का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

उड्ढं थिरं अतुरियं, पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे।
तो बिइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जिज्ज ॥२४॥

उर्ध्वं स्थिरमत्वरितं, पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलेखयेत्।
ततो द्वितीयं प्रस्फोटयेत्, तृतीयं च पुनः प्रमृज्यात् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—उड्ढं—ऊँचा थिरं—स्थिर अतुरियं—शीघ्रता से रहित पुव्वं—पूर्व ता—पहले वत्थमेव—वस्त्र की ही पडिलेहे—प्रतिलेखना करे तो—तदनन्तर बिइयं—द्वितीय पप्फोडे—प्रस्फोटना करे च—फिर तइयं—तृतीय पुणो—फिर पमज्जिज्ज—प्रमार्जना करे।

मूलार्थ—ऊर्ध्व, स्थिर, शीघ्रता से रहित प्रथम—वस्त्र की प्रतिलेखना करे; द्वितीय—वस्त्र की प्रस्फोटना करे; तृतीय—वस्त्र की प्रमार्जना करे।

टीका—इस गाथा में वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि का निरूपण किया गया है। जैसे कि—जब वस्त्र की प्रतिलेखना करनी हो, तब वस्त्र को काय से ऊँचा रखना और उसका तिर्यग् विस्तार करना, अर्थात् उत्कुटक आसन पर बैठकर (पैरों पर बैठकर) वस्त्र को ऊँचा रक्खे और तिर्यग् विस्तार करे। फिर उसको दृढ़ता से पकड़े और शीघ्रता न करे तथा दृष्टि को प्रतिलेखना में रखे, यह प्रतिलेखना की

प्रथम विधि है । इस प्रकार प्रतिलेखना करते समय यदि वस्त्र आदि में कोई जीव दृष्टिगोचर होवे तो यत्नपूर्वक वस्त्र की प्रस्फोटना करे, अर्थात् एकान्त में वस्त्र को झाड़ देवे; यह द्वितीय विधि है । तीसरी विधि यह है कि—प्रस्फोटना करने पर भी यदि जीव वस्त्र से अलग न होवे, तब उस जीव को हाथ में लेकर किसी एकान्त स्थान में रख देवे । यह वस्त्र-प्रतिलेखना का प्रकार है, जो कि यत्नपूर्वक करना चाहिए ताकि किसी क्षुद्र जीव का घात न हो ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अणच्चावियं अवलियं, अणाणुबंधिममोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाणिविसोहणं ॥२५॥

अनर्तितमवलितं , अननुबंध्यमौशली चैव ।
षट्पूर्वा नवखोटकाः, पाणिप्राणिविशोधनं ॥२५॥

पदार्थान्वयः—**अणच्चावियं**–वस्त्र व शरीर को नचावे नहीं **अवलियं**–वस्त्र को मोटन न करे **अणाणुबंधिं**–नैरन्तर्य युक्त **च**–फिर **अमोसलिं**–मोसलि न होवे **छप्पुरिमा**–षट्पूर्वा—वस्त्र की विभाग रूप वा प्रस्फोटन रूप **नव**–नौ **खोडा**–खोटका-प्रस्फोटन रूप **पाणी**–हाथ में **पाणि**–प्राणियों का **विसोहणं**–विशोधन करना ।

मूलार्थ—वस्त्र को नचावे नहीं, मरोड़े नहीं, भित्ति आदि से लगावे नहीं, किन्तु नैरन्तर्य उपयुक्तता से प्रतिलेखना करे । तथा षट्पूर्व नवखोटक हाथों में लेकर प्राणियों का विशोधन करे ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी प्रतिलेखना विधि का ही विशेष प्रकार से वर्णन किया है । जिस प्रकार से शरीर और वस्त्र नृत्य न करे, उस प्रकार प्रतिलेखना करे; अर्थात् प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को नचावे नहीं । फिर वस्त्र और शरीर का मोटन न हो इस प्रकार प्रतिलेखना करे । तथा जिस प्रकार वस्त्र का कोई भी विभाग अलक्ष्यमाण न होवे उस प्रकार प्रतिलेखना करे, अर्थात् उपयोग पूर्वक प्रतिलेखना करे । इसी का नाम अननुबंधि है । तथा भित्ति आदि से वस्त्र का स्पर्श न होवे । यदि नीचे ऊँचे और तिर्यग् में वस्त्र का स्पर्श हो रहा हो, तो वह शुद्ध प्रतिलेखना नहीं होगी । फिर वस्त्र की प्रतिलेखना करते समय वस्त्र के तीन भाग

कर लेने चाहिएँ; तीन भाग करके पहले देख लिए गये, फिर दूसरी ओर के देख लिए जावें, उन छः भागों की पूर्वा संज्ञा है। ये भी प्रस्फोटन-रूप क्रिया-विशेष हैं। फिर उन तीन भागों में से प्रत्येक भाग की तीन तीन वार प्रस्फोटना की जाती है। इस प्रकार नवखोटक हो जाते हैं। उसी प्रकार दूसरी ओर भी नवखोटक किये जाएँ, तो उनकी प्रखोटक संज्ञा हो जाती है। फिर उसमें उपयोग रखना चाहिए, जिससे कि उसमें यदि कोई जीव हो तो उसको यत्न पूर्वक पृथक् कर दिया जावे, ताकि किसी क्षुद्र जीव का वध न होने पाए। जिस प्रकार प्रतिलेखना के विषय में कहा गया है उपलक्षण से उसी प्रकार प्रमार्जन के विषय में भी जान लेना चाहिए।

षट्पूर्वा— ||| नवखोटक—||| | | |

||| ||| |||

दोनों ओर करने से षट् होते हैं। दोनों ओर करने से प्रखोटक होते हैं।

अव प्रतिलेखना के दोष दूर करने के विषय में कहते हैं—

आरभडा सम्मद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी ॥२६॥

आरभटा संमर्दा, वर्जयितव्या च मौशली तृतीया।
प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी ॥२६॥

पदार्थान्वयः—आरभडा–विपरीत प्रतिलेखना करनी सम्मद्दा–वस्त्रों को संमर्दन करना य–फिर वज्जेयव्वा–वर्जना चाहिए य–तथा मोसली–नीचे ऊपर स्पर्श करना तइया–तीसरी पप्फोडणा–प्रस्फोटना चउत्थी–चौथी है विक्खित्ता–विक्षिप्त रूप पाँचवी है वेइया–वेदिका छट्ठी–छठी है।

मूलार्थ—आरभटा, संमर्दा, मोसली, प्रस्फोटना, विक्षिप्ता और वेदिका यह छः प्रकार की प्रतिलेखना वर्जनी चाहिए।

टीका—इस गाथा मे प्रतिलेखना के छः दोष कथन किये गये हैं। यथा—सूत्र से विपरीत प्रतिलेखना करनी, तथा शीघ्र शीघ्र करनी, और वस्त्रों को इधर उधर से देख कर रख देना यह आरभटा है। दूसरी संमर्दा—वस्त्र को एक कोने से पकड़ कर उसके दूसरे कोने से मसलना और उपधि पर बैठना, इसको संमर्दा कहते हैं।

तीसरी मोसली—तिर्यग्, ऊर्ध्व और नीचे वस्त्र का स्पर्श होते रहना, अर्थात् भित्ति आदि से वस्त्र का टकराना यह मोसली कहलाती है। चौथी प्रस्फोटना है—जोकि विना यत्न के वस्त्र को झाड़ना है। पाँचवीं विक्षिप्ता नाम की है—जोकि प्रतिलेखना किये हुए और विना प्रतिलेखना के वस्त्रों को इकट्ठा करके रख देना अथवा वस्त्रों को इधर फैलाके रख देना है। छठी वेदिका-रूप प्रतिलेखना है, सो वह भी प्रमाद-रूप होने से त्याज्य है। वेदिका के पाँच भेद हैं, यथा, प्रथम—ऊर्ध्ववेदिका, द्वितीय—अधोवेदिका, तृतीय—तिर्यग्वेदिका, चतुर्थ—उभयवेदिका और पंचम—एकवेदिका। पहली—प्रतिलेखना करते समय पंजों के बल बैठकर जब जानु ऊँचे किये जावें। और यदि दोनों हाथ दोनों जानुओं पर रखकर प्रतिलेखना की जावे तो उसको ऊर्ध्ववेदिका कहते हैं। दूसरी अधोवेदिका—उसका नाम है जो दोनों जानुओं के नीचे हाथ रख कर प्रतिलेखना करनी। तीसरी—तिर्यग्वेदिका उसे कहते हैं जो कि सदंशकों के मध्य में दोनों हाथ रख कर प्रतिलेखना की जावे। चौथी—उभयवेदिका उसका नाम है, जो कि दोनों भुजाओं को जानुओं से बाहर रख कर प्रतिलेखना की जावे। पाँचवीं—एक वेदिका प्रतिलेखना उसे कहते हैं, जो कि दोनों जानु दोनों हाथों के मध्य में रख कर की जावे; तथा एक जानु को वाह्यान्तर करके जो प्रतिलेखना की जावे, वह भी एक-वेदिका कहलाती है। सो यह उक्त प्रकार की पाँचों ही प्रतिलेखनाएँ प्रमाद-रूप होने से और शास्त्र-विपरीत होने से त्याज्य हैं। अर्थात् इस प्रकार की प्रतिलेखना न करनी चाहिए, अपितु एक हाथ तो दोनों जानुओं के मध्य में हो और एक हाथ दोनों जानुओं के बाहर हो। इस प्रकार से यत्न पूर्वक प्रमाद-रहित होकर की गई प्रतिलेखना शुद्ध—निर्दोष—प्रतिलेखना कही जा सकती है। इसलिए उक्त छः प्रकार की प्रतिलेखना-सम्बन्धी दोषों को त्याग कर ही प्रतिलेखना करनी चाहिए।

अब प्रतिलेखना के अन्य दोषों का दिग्दर्शन कराते हैं—

पसिढिलपलम्बलोला, एगामोसा अणेगरूवधुणा।
कुणइ पमाणे पमायं, संकियगणणोवगं कुज्जा ॥२७॥

प्रशिथिलं प्रलंबो लोलः, एकामर्षाऽनेकरूपधूना।
कुरुते प्रमाणे प्रमादं, शंकिते गणनोपयोगं कुर्यात् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—पसिढिल—शिथिल वस्त्र पकड़ना पलम्ब—विषम वस्त्र ग्रहण करना लोला—वस्त्र को भूमि पर रोलना—मसलना एगामोसा—वस्त्र को मध्य से पकड़कर उसके कोनों का परस्पर संघर्षण करना अणेगरूवधुणा—अनेक रूप से वस्त्र को धुनना पमाणे—प्रस्फोटनादि संख्या में पमायं—प्रमाद कुणइ—करता है संकिय—शङ्कित होकर गणणोवगं—गणना के उपयोग को कुज्जा—करता है।

मूलार्थ—दृढ़ता से रहित वस्त्र पकड़ना, विषम वस्त्र पकड़ना, वस्त्र को भूमि पर रोलना—मसलना, वस्त्र को मध्य से पकड़कर झाड़ना, प्रमाणरहित वस्त्र को धुनना, प्रमाण में प्रमाद करना और शंका हो जाने पर गणना को प्राप्त होना, ये सब प्रतिलेखना के दोष कथन किये गये हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी प्रतिलेखना के दोषों का वर्णन किया है, जैसे कि—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को दृढ़ता से न पकड़ना। तथा वस्त्र को विषम पकड़ कर प्रतिलेखना करना, वस्त्र के एक कोने को पकड़ कर सर्व वस्त्र को देख लेना। भूमि पर तथा हाथों में रख कर वस्त्र को मसलना व रोलना और वस्त्र को मध्य से पकड़ कर झाड़ देना; तथा एक काल में वस्त्रों के कोनों का परस्पर संघर्षण करना; सूत्र में तीन स्फोटना की आज्ञा दी गई है; सो उस क्रम को छोड़ कर अनेक प्रकार से वस्त्र को धुनना, हिलाना या फटकना, फिर प्रतिलेखना करते समय सूत्र में जो प्रतिलेखना का प्रमाण वर्णन किया है उसमे प्रमाद करना। तथा प्रतिलेखना करते समय यदि उसके प्रमाण में शंका उत्पन्न होजावे, तब संख्या की अंगुलियों पर गणना करने लग जाना, ये प्रतिलेखना-सम्बन्धी दोष शास्त्र मे बतलाये गये हैं। संकलना करने पर इन सब दोषों की संख्या पच्चीस होती है। इन उक्त दोषों से युक्त प्रतिलेखना सदोष प्रतिलेखना है, और इनको त्यागकर जो प्रतिलेखना की जाती है वह निर्दोष प्रतिलेखना है।

अब भंगों के अनुसार प्रतिलेखना की सदोषता और निर्दोषता का वर्णन करते हैं—

अणूणाइरित्तपडिलेहा , अविवच्चासा तहेव य।
पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥२८॥

अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखना, अविव्यत्यासा तथैव च।
प्रथमं पदं प्रशस्तं, शेषाणि त्वप्रशस्तानि ॥२८॥

पदार्थान्वयः—अणुणाइरित्त–न्यूनाधिकता से रहित, पडिलेहा–प्रतिलेखना य–और तहेव–उसी प्रकार अविवच्चासा–विपर्यास-विपरीत-भी नहीं पढमं–प्रथम पयं–पद पसत्थं–प्रशस्त है उ–और सेसाणि–शेष पद अप्पसत्थाइं–अप्रशस्त हैं।

मूलार्थ—न्यूनाधिकता से रहित, और विपर्यास—विपरीतपने—से रहित इस प्रकार प्रतिलेखना के तीन पदों के साथ आठ भंग होते हैं; इनमें प्रथम पद तो प्रशस्त है, और शेष पद अप्रशस्त हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भंगों के द्वारा प्रतिलेखना की प्रशस्तता और अप्रशस्तता का वर्णन किया गया है। जैसे कि—सूत्र के अनुसार न्यून न हो, अतिरिक्त और विपर्यास विपरीत भी न हो, इन तीनों पदों—भंगों—के संयोग से प्रतिलेखना के आठ भंग हो जाते हैं, सो इन आठ भंगों में से केवल प्रथम भंग शुद्ध है, और बाकी के भंग अशुद्ध हैं। अतः प्रथम भंग के अनुसार ही प्रतिलेखना करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि, षट्पूर्वा, नवखोटक और नवप्रखोटक और एक दृष्टि, यह पचीस प्रकार की प्रतिलेखना प्रथम भंग के अनुसार की गई तो प्रशस्त है, और अन्य भंगों के अनुसार की गई तो वह अप्रशस्त है। इसलिए विचारशील साधु को प्रमाद-रहित होकर प्रथम भंग के अनुसार प्रशस्त प्रतिलेखना का ही आचरण करना चाहिए। अब भंगों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता को निम्नलिखित कोष्ठक से समझ लेना चाहिए। यथा—

१	न्यून नहीं	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास नहीं	शुद्ध है-प्रशस्त है
२	न्यून नहीं	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास है	अशुद्ध है-अप्रशस्त है
३	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास नहीं	,,
४	न्यून है	अतिरिक्त नहीं है	विपर्यास नहीं है	,,
५	न्यून नहीं	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,
६	न्यून है	अतिरिक्त नहीं है	विपर्यास है	,,
७	न्यून नहीं	अतिरिक्त है	विपर्यास नहीं	,,
८	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,

इस प्रकार प्रतिलेखना करते समय त्याग करने योग्य जो अन्य बातें हैं, अब उनके विषय में कहते हैं—

पडिलेहणं कुणन्तो, मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा॥२९॥
प्रतिलेखनां कुर्वन्, मिथः कथां करोति जनपदकथां वा।
ददाति वा प्रत्याख्यानं, वाचयति स्वयं प्रतीच्छति वा॥२९॥

पदार्थान्वयः—पडिलेहणं—प्रतिलेखना कुणन्तो—करता हुआ मिहो—परस्पर कहं—कथा कुणइ—करता है वा—अथवा जणवयं—जनपद की कहं—कथा करता है व—अथवा पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान देइ—देता है वा—अथवा वाएइ—पढ़ाता है—वा सयं—स्वयं पड़िच्छइ—पढ़ता है।

मूलार्थ—प्रतिलेखना करता हुआ परस्पर कथा करता है; अथवा जनपद-सम्बन्धी कथा करता है; अथवा किसी को प्रत्याख्यान कराता है; अथवा किसीको पढ़ाता या किसीसे स्वयं पढ़ता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिलेखना करते समय जिन बातों को त्याज्य माना गया है, उन सबका दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि—प्रतिलेखना करते समय परस्पर सम्भाषण करना, देशसम्बन्धी और उपलक्षण से स्त्री आदि की कथा करनी, किसीका प्रत्याख्यान कराना, अथवा किसीको पढ़ाना या किसीसे स्वयं पढ़ना इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिलेखना करते समय साधु न तो किसी से अधिक सम्भाषण करे, और नाहीं देश-सम्बन्धी कथा को कहे, और किसीका प्रत्याख्यान भी न करावे, तथा स्वयं पढ़े और अन्य को पढ़ावे भी नहीं। क्योंकि उक्त क्रियाओं में प्रवृत्त होने से उपयोग के भंग होने की पूरी सम्भावना रहती है।

अब शास्त्रकार स्वयं उक्तक्रियाओं के अनुष्ठान से प्रतिलेखना में लगने वाले दोषों का वर्णन करते हैं—

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ॥३०॥

पृथ्व्यप्काय , तेजोवायुवनस्पतित्रसाणाम् ।
प्रतिलेखनाप्रमत्तः , षण्णामपि विराधको भवति ॥३०॥

पदार्थान्वयः—पुढवी–पृथ्वीकाय आउक्काए–अप्काय तेऊ–तेजस्काय वाऊ–वायुकाय वणस्सइ–वनस्पतिकाय तसाणं–त्रसकाय पडिलेहणा–प्रतिलेखना में पमत्तो–प्रमाद करने वाला छण्हंपि–छओं कायों का विराहओ–विराधक होइ–होता है।

मूलार्थ—प्रतिलेखना में प्रमाद करने वाला—प्रमत्त भाव से प्रतिलेखना करने वाला, पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छओं का ही विराधक होता है।

टीका—प्रतिलेखना करते समय साधु यदि ऊपर बतलाये गये मिथः—परस्पर—कथा आदि कार्यों में प्रवृत्त होजावे, तो प्रमाद-वश उपयोग-शून्य होने से वह षड्जीव निकाय का विराधक हो जाता है। जैसे कि—कोई साधु किसी कुम्हार की शाला में उतरा, और प्रमाद-वश उपयोग-शून्य होने से उसके पाँव की ठोकर से एक जल का भरा हुआ घड़ा गिर गया, तब वह सचित्त मही पर से होता हुआ वनस्पति और कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों को बहाता हुआ पास में जलते हुए एक अग्नि कुण्ड में जाकर गिरा; इस प्रकार अनुक्रम से पाँचों कायों की हिंसा करता हुआ गिरते समय वायुकाय का भी हिंसक हुआ, इस रीति से छओं कायों की हिंसा हो जाती है। इसलिए प्रमाद से प्रतिलेखना करने से साधु षट्काय का विराधक बन जाता है।

अब आराधक होने का प्रकार बतलाते हैं। यथा—

पुढवी-आउक्काए , तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणाआउत्तो , छण्हं संरक्खओ होइ ॥३१॥

पृथ्व्यप् , तेजो वायुवनस्पतित्रसाणाम् ।
प्रतिलेखनाऽऽयुक्तः ; षण्णां संरक्षको भवति ॥३१॥

पदार्थान्वयः—पुढवी–पृथिवीकाय आउक्काए–अपकाय तेऊ–तेजस्काय वाऊ–वायुकाय वणस्सइ–वनस्पतिकाय तसाणं–त्रसकाय—त्रसों की पडिलेहणा–प्रतिलेखना में आउत्तो–आयुक्त—अप्रमत्त छण्हं–छओं कायों का संरक्खओ–संरक्षक [आराहओ–आराधक] होइ–होता है।

मूलार्थ—आयुक्तता—अप्रमत्त भाव से प्रतिलेखना करने वाला साधु, पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छओं का आराधक—संरक्षक—होता है।

टीका—अप्रमत्त भाव से उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना करने वाला साधु, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छः प्रकार के जीवों का आराधक—संरक्षक होता है, क्योंकि प्रतिलेखना के समय जब उसने परस्पर सम्भाषण और पठन-पाठनादि क्रियाओं को छोड़ दिया हो, तो उसका उपयोग प्रतिलेखना में ठीक ठीक लग जाता है; उपयोग के ठीक लगने पर प्रमाद नहीं रह सकता और प्रमाद के न रहने से जीवादि की विराधना नहीं होती; बस विराधना का न होना ही आराधकता है; इसी हेतु से अप्रमत्त होकर प्रतिलेखना करने वाले को आराधक व संरक्षक कहा गया है।

इस प्रकार प्रथम पौरुषी के विषय का वर्णन किया गया। और द्वितीय पौरुषी में ध्यान का विषय है; सो वह भी अप्रमत्त भाव से उपयोगपूर्वक ही करना चाहिए। जिस सूत्र का स्वाध्याय किया था, उसके अर्थ का चिन्तन करना और आत्मध्यान—धर्मध्यान में प्रवृत्त रहकर केवल ध्यान में ही समय को व्यतीत करना चाहिए। तदनन्तर तृतीय पौरुषी-सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने वाले साधु के लिए जो कर्तव्य निर्दिष्ट है, अब शास्त्रकार उसके विषय में कहते हैं—

तइयाए पोरिसीए, भत्तं पाणं गवेसए।
छण्हं अन्नतराए, कारणम्मि समुट्ठिए ॥३२॥

तृतीयायां पौरुष्यां भक्तं, पानं गवेषयेत्।
षण्णामन्यतरस्मिन्, कारणे समुत्थिते ॥३२॥

पदार्थान्वयः—तइयाए—तीसरी पोरिसीए—पौरुषी में भत्तं—भक्त पाणं—पानीय की गवेसए—गवेषणा करे छण्हं—छओं के मध्य में अन्नतराए—किसी एक कारणम्मि—कारण के समुट्ठिए—उपस्थित हो जाने पर।

मूलार्थ—तृतीय पौरुषी के आ जाने पर भक्त और पानी की—भोजन पानी की—गवेषणा करे, षट्कारणों में से किसी एक कारण के उत्पन्न हो जाने पर।

टीका—जब द्वितीय पौरुषी में करने योग्य ध्यानादि क्रियाओं को सम्पूर्ण कर चुके, तब तृतीय पौरुषी के कर्तव्य में प्रवृत्त हो जावे। ध्यान-क्रिया के अन्तर्गत कायोत्सर्ग का भी ग्रहण किया जा सकता है। जब तृतीय पौरुषी का समय आ जावे, तब षट्कारणों[1] में से किसी एक कारण के उपस्थित हो जाने पर साधु आहार पानी की गवेषणा करे। तात्पर्य यह है कि विना कारण के आहार पानी की गवेषणा में प्रवृत्त न होवे, अर्थात् विना कारण के आहारादि नहीं करना चाहिए; परन्तु यह कथन उत्सर्गमार्ग का अवलम्बन करके किया गया है, जोकि प्रायः जिनकल्पी के लिए ही विहित है, और अपवादमार्ग में स्थविरकल्पी तो समय के समय आहारादि क्रिया में प्रवृत्त होते हैं।

अब षट्कारणों के विषय में कहते हैं—

वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥३३॥
वेदनायै वैयावृत्याय, इर्यार्थाय च संयमार्थाय।
तथाप्राणप्रत्ययाय , षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तायै ॥३३॥

पदार्थान्वयः—**वेयण**–क्षुधा-वेदना के उपशम करने के वास्ते **वेयावच्चे**–गुरु की सेवा करने के वास्ते **य**–और **इरियट्ठाए**–ईर्यासमिति के वास्ते **संजमट्ठाए**–संयम के वास्ते **तह**–तथा **पाणवत्तियाए**–प्राण-रक्षा के लिए **छट्ठं**–छठे **धम्मचिन्ताए**–धर्म-चिन्तन के लिए।

मूलार्थ—क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए, गुरु-जनों की सेवा के लिए, इर्यासमिति के वास्ते और संयम तथा प्राणों की रक्षा के वास्ते एवं छठे धर्म-चिन्तन के वास्ते [आहार पानी की गवेषणा करनी चाहिए]।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उक्त छः प्रकार के कारणों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत गाथा का अभिप्राय यह है कि वेदनादि छः कारणों में से किसी एक कारण को लेकर ही साधु को आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त होना चाहिए। जैसे कि—भूख और प्यास की वेदना को शान्त करने के लिए ही साधु को आहार पानी को

१ षट्कारणों का उल्लेख अगली गाथा में किया गया है।

ग्रहण करना चाहिए, न कि जिह्वा के स्वाद के लिए; पहिले—क्षुधा-वेदना के बढ़ने से धर्म-ध्यान में बाधा उपस्थित हो जाती है, अतः उसकी शान्ति के लिए आहारादि करना चाहिए; दूसरे—गुरु आदि की सेवा भक्ति करने के उद्देश्य से आहार करना चाहिए; यदि आहार न किया जावे, तो गुरुजनों की सेवा-भक्ति का होना कठिन है; तीसरे—तथा विना भोजन किये आँखों की ज्योति भी मन्द पड़ जाती है, और उसके मन्द पड़ने से ईर्यासमिति के व्यवहार में बाधा आने की सम्भावना है; इसलिए ईर्यासमिति की रक्षा के वास्ते आहार का ग्रहण करना; चौथे—और संयम पालने के वास्ते भी आहार कर लेना चाहिए। कारण यह है कि यदि आहार नहीं करता, तब उसकी चित्तवृत्ति सचित्त पदार्थों के खाने में जाती है जिससे संयम का विघात हो जाता है, अतः संयम निर्वाहार्थ भी आहार का करना आवश्यक है, पाँचवें—फिर प्राणों की रक्षा के लिए भी आहार करना जरूरी है। यदि आहार न किया जावे, तो अविधि से मृत्यु को प्राप्त होने की सम्भावना रहती है, और इस प्रकार का आत्मघात हिंसास्पद होने से दुर्गति का पोषक है; अतः प्राण-रक्षा के लिए आहार कर लेना चाहिए; छठे—धर्म-चिन्ता के लिए भी आहार का लेना आवश्यक है; कारण यह है कि क्षुधा और पिपासा की प्रबलता से धर्मध्यान के बदले आर्तध्यान के उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है; अतः सिद्ध हुआ कि श्रुतधर्म और अर्थधर्म की चिन्ता के लिये तथा पाँच प्रकार के स्वाध्याय के लिए आहार करने का निषेध नहीं है। क्योंकि आकुल चित्त से धर्म का चिन्तन नहीं हो सकता।

तो क्या उक्त कारणों के उपस्थित होने पर आहारादि की गवेषणा आवश्यक है अथवा नहीं ? अब इस विषय में कहते हैं—

निग्गन्थो धिइमन्तो, निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं, अणइक्कमणाइ से होइ॥३४॥
निर्ग्रन्थो धृतिमान्, निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्याद् षड्भिश्चैव।
स्थानैस्त्वेभिः , अनतिक्रमणाय तस्य भवति (तानि)॥३४॥

पदार्थान्वयः—निग्गन्थो—निर्ग्रन्थ-साधु धिइमन्तो—धृतिमान् निग्गन्थी—साध्वी वि—भी करेज्ज—न करे छहिं—छः ठाणेहिं—स्थानों से—आहार की गवेषणा उ—

फिर इमेहिं–इन वक्ष्यमाण—कारणों से अणइक्कमणा–अनतिक्रमण संयम से से–उसका होइ–होता है य–समुच्चय अर्थ में चेव–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—धृतिमान साधु और साध्वी इन वक्ष्यमाण छः कारणों से [उक्त कारणों के उपस्थित होते हुए भी] आहार पानी की गवेषणा न करे, और फिर उसके संयम का भी अतिक्रमण नहीं होता।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि पूर्वोक्त कारणों के उपस्थित होने पर भी यदि ये—वक्ष्यमाण छः कारण—उपस्थित हों, तो धैर्यशील साधु और साध्वी आहार पानी का ग्रहण न करें। इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रथम आहार ग्रहण करने के जो छः कारण बतलाये गये हैं, उनमें से एक कारण संयम-रक्षा भी है, सो यदि वक्ष्यमाण कारणों के उपस्थित हो जाने पर साधु व साध्वी आहारादि की गवेषणा न करें, तो उनके संयम का अतिक्रमण—उल्लंघन—नहीं हो सकता; इसलिए आहार विधि भी एकान्त नहीं है।

जिनके उपस्थित होने पर साधु को आहारादि की गवेषणा का विधान नहीं, अब उन कारणों के विषय में कहते हैं—

आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥३५॥

आतंक उपसर्गे, तितिक्षया ब्रह्मचर्यगुप्तिषु।
प्राणिदयाहेतोः तपोहेतोः, शरीरव्यवच्छेदार्थाय ॥३५॥

पदार्थान्वयः—आयंके–आतंक रोग आदि के उत्पन्न होने पर उवसग्गे–उपसर्ग के आ जाने पर तितिक्खया–तितिक्षा के लिए बम्भचेरगुत्तीसु–ब्रह्मचर्य की गुप्ति—रक्षा—के लिए पाणिदया–प्राणियों की दया के लिए तवहेउं–तप के निमित्त सरीर–शरीर के वोच्छेयणट्ठाए–व्यवच्छेदनार्थ।

मूलार्थ—रोग के होने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा में तितिक्षा के सहने पर, प्राणियों की दया के लिए, तप के वास्ते और शरीर-व्यवच्छेदनार्थ—अनशन व्रत के लिए [साधु को आहारादि की गवेषणा न करनी चाहिए]।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बतलाये गये आहार-त्याग के कारणों का अभिप्राय इस प्रकार है, यथा—जब कभी ज्वरादि रोग का आक्रमण हो जावे, तब कुछ समय के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि बहुत रोग अजीर्णता को लेकर ही उत्पन्न होते हैं, अतः ऐसे रोगों में आहार का त्यागना ही श्रेयस्कर है। दूसरे—उपसर्ग के उत्पन्न होने पर भी आहार का त्याग करना हितकर है। जैसे कि—दीक्षा ग्रहण करने के समय स्वजनादि वर्ग अधिक विलाप करता हो, तब भी आहार नहीं करना, एवं देवता-सम्बन्धी उपसर्ग में भी आहार का त्याग देना अच्छा है; यथा—अर्जुन माली के शरीर में मुद्गर-पाणि यक्ष ने प्रवेश किया हुआ था; तब उसके मिलने पर सुदर्शन सेठ ने आहार का त्याग कर दिया था। तात्पर्य यह है कि रोग और उपसर्ग में आहार के त्याग से इन दोनों की शीघ्र निवृत्ति हो जाती है। तीसरे—ब्रह्मचर्य-गुप्ति के लिए भी आहार का त्याग लाभप्रद है। यदि आहार करने से ब्रह्मचर्य की पूर्णतया रक्षा नहीं हो सकती, तो उसको त्याग देना चाहिए। खाने से यदि विकार की उत्पत्ति विशेष होती हो, तो उसको त्याग कर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए। चतुर्थ—प्राणियों की दया के वास्ते आहार का त्याग है; जैसे—वर्षाकाल में अधिक वर्षा के होने से भूमि पर अपकाय अधिक समय तक सचित्त भाव से रहती है तथा कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों की विशेषता हो जाती है; तब उन जीवों की रक्षा के लिए आहार की गवेषणा में प्रवृत्त न होना श्रेष्ठ ही है। पाँचवें—तप के वास्ते भी आहार का त्याग करना आवश्यक है, जैसे कि उपवास आदि करते हैं; तब आहार का त्याग कर देना चाहिए। छठे—जबकि यह दृढ़ निश्चय हो जावे कि अब शरीर नहीं रहेगा और इसके छूटने का समय बहुत निकट आ गया है, तब आयु भर के लिए अवशिष्ट आयु के लिए अनशन व्रत धारण कर लेना—अर्थात् आहारादि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। सारांश यह है कि पूर्व कहे गये षट्कारणों के विद्यमान होने पर भी यदि इन उक्त छः कारणों मे से कोई कारण उपस्थित हो जावे, तब विचारशील साधु और साध्वी को आहार की गवेषणा नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि कोई अन्य साधु या साध्वी गवेषणा करके आहार लाया हो, तो उसे भी ग्रहण नहीं करना चाहिए यह इसका फलितार्थ है।

अब इस विषय में कहते हैं कि—आहार की गवेषणा करता हुआ साधु किस विधि से और कितने प्रमाण क्षेत्र में भिक्षा के लिए भ्रमण करे। यथा—

अवसेसं भण्डगं गिज्झ, चक्खुसा पडिलेहए ।
परमद्धजोयणाओ, विहारं विहरए मुणी ॥३६॥

अवशेषं भाण्डकं गृहीत्वा, चक्षुषा प्रतिलेखयेत् ।
परममर्धयोजनात्, विहारं विहरेन्मुनिः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—अवसेसं—अवशेष भण्डगं—भांडोपकरण को गिज्झ—ग्रहण करके चक्खुसा—चक्षुओं से पडिलेहए—प्रतिलेखना करे परमद्ध—परमार्द्ध जोयणाओ—योजन प्रमाण विहारं—विहार करके विहरए—विचरे मुणी—मुनिः ।

मूलार्थ—मुनि अव शेष भांडोपकरण को ग्रहण करके उसकी चक्षुओं से प्रतिलेखना करे और परमार्द्ध योजन प्रमाण विचरे ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस बात को प्रकाशित किया है कि—जब मुनि विहार करे, तब अपना सर्व भांडोपकरण साथ लेकर जावे; और जो आहार वहाँ से लिया है, उसको वह आधे योजन तक लेजा सकता है, आगे नहीं । सो मुनि जब आहार को जावे, तब अपने पात्रों की भली प्रकार से प्रतिलेखना कर लेवे । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि—जब जिनकल्पी मुनि आहार पानी को जाता है, तब तो वह अपना सर्व भांडोपकरण साथ ही लेकर जाता है, और यदि स्थविरकल्पी आहार को जावे, तब वह अपनी उपाधि को अन्य मुनि से जतला कर जाता है, ताकि वर्षादि होजाने पर वह उसकी रक्षा कर सके, तथा यदि विहार करना हो, तब जिनकल्पी वा स्थविरकल्पी अपनी-अपनी उपाधि को साथ लेकर ही विहार करें, परन्तु साधु ने जिस क्षेत्र से आहार पानी लिया है, उसको वह उस क्षेत्र से अर्द्ध योजन—दो कोस प्रमाण—ही लेजा सकता है, आगे नहीं । यदि आगे ले जावेगा, तो उसको क्षेत्राविक्रान्त दोष लगेगा ।

इस रीति से विहार कर उपाश्रय में आकर गुरु आदि के सम्मुख आलोचनादि करके और उनके समक्ष भोजनादि करने के अनन्तर उसे फिर जो कुछ करना है, अब उसके विषय में कहते हैं—

चउत्थीए पोरिसीए, निक्खिवित्ताण भायणं ।
सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ॥३७॥

चतुर्थ्यां पौरुष्यां, निक्षिप्य भाजनम् ।
स्वाध्यायं च ततः कुर्यात्, सर्वभावविभावनम् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—चउत्थीए-चतुर्थी पोरिसीए-पौरुषी में निक्खिवित्ताण-निक्षेपण करके भायणं-भाजनों को तओ-तदनन्तर सज्झायं-स्वाध्याय कुज्जा-करे च-पुनः जो सव्वभाव-सर्व भावों का विभावणं-प्रकाशक है ।

मूलार्थ—चौथी पौरुषी के आजाने पर भाजनों को रखकर सर्व भावों के प्रकाश करने वाले स्वाध्याय को करे ।

टीका—जब तृतीय पौरुषी का समय समाप्त हो जावे और चतुर्थ पौरुषी का आरम्भ होवे, तब अपने पात्रादि उपकरणों की प्रतिलेखना करके उन्हें अलग रख देवे, तदनन्तर सर्व भावों के प्रकाश करने वाले स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जावे । कारण यह है कि स्वाध्याय के अनुष्ठान से जीवाजीवादि पदार्थों का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है; इसी लिए यह सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त करने वाला है । तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय के आचरण से यथार्थ ज्ञान के साथ साथ सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चरित्र की भी प्राप्ति हो जाती है, तथा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय वा क्षयोपशम भी हो जाता है, और अपने आत्मा की धर्म में स्थिरता होने से अन्य जीवों को भी धर्म में स्थिर करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

जब स्वाध्याय कर चुके तो फिर क्या करे, अब इस विषय में कहते हैं । यथा—

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्जं तु पडिलेहए ॥३८॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य कालं, शय्यां तु प्रतिलेखयेत् ॥३८॥

पदार्थान्वयः—पोरिसीए-पौरुषी के चउभाए-चतुर्थ भाग में तओ-स्वाध्याय के अनन्तर गुरुं-गुरु को वन्दित्ताण-वन्दना करके कालस्स-समय को पडिक्कमित्ता-प्रतिक्रम करके तु-फिर सिज्जं-शय्या की पडिलेहए-प्रतिलेखना करे ।

मूलार्थ—चतुर्थ पहर की पौरुषी के चतुर्थ भाग में स्वाध्याय के अन गुरु की वन्दना करके और काल को प्रतिक्रम करके फिर शय्या प्रतिलेखना करे ।

टीका—जब चतुर्थ पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रह जावे, तब स्वाध्‍ के काल से प्रतिक्रम करके पीछे हट कर गुरु की वन्दना करके शय्या—वसती— प्रतिलेखना करे, अर्थात् जिस स्थान में साधु ठहरा हुआ है उस स्थान की प्रतिले करे। यद्यपि स्वाध्याय के लिए दो घड़ी प्रमाण और समय भी था, परन्तु उस से निवृत्त हो कर अर्थात् स्वाध्याय के समय को छोड़कर वसती की प्रतिले करने का विधान इसलिए किया गया है कि ईर्यासमिति की पालना ठीक रीति हो सके और आठ प्रवचन माताओं की आराधना भली भाँति हो सके ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

पासवणुच्चारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥३९

प्रश्रवणोच्चारभूमिं च, प्रतिलेखयेद् यतं यतिः ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—पासवणुच्चारभूमिं च-प्रश्रवणभूमि और उच्चारभूमि पडिलेहिज्ज-प्रतिलेखना करे जयं-यत्न वाला जई-यति तओ-तदन काउस्सग्गं-कायोत्सर्ग कुज्जा-करे—जो सव्व-सर्व दुक्ख-दुःखों से विमोक्ख मुक्त करने वाला है ।

मूलार्थ—यत्नशील मुनि प्रश्रवण और उच्चारभूमि की प्रतिलेखना क तदनन्तर सर्व दुःखों से छुड़ाने वाला कायोत्सर्ग करे ।

टीका—जब वसती की प्रतिलेखना कर चुके, तब यत्नशील मुनि प्रश्रव भूमि [मूत्र त्याग करने का स्थान] और उच्चारभूमि [पुरीष त्याग करने का स्थान की प्रतिलेखना करे । उक्त दोनों प्रकार के स्थानों की देख-भाल करने की इस

त्याग की, आवश्यकता पड़े तो वह सुखपूर्वक कर सके, ताकि किसी जीव जन्तु की विराधना होनी न पावे। इस प्रकार यह दिन-चर्या की विधि का वर्णन किया गया। अब रात्रि-चर्या का वर्णन करते हैं—जैसे कि, आवश्यक सूत्र के अनुसार प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर और उसके मूल सूत्र को पढ़कर फिर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग के करने से सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का क्षय हो जाता है।

अब कायोत्सर्ग में विचारणीय चिन्तनीय विषय का वर्णन करते हैं—

देवसियं च अईयारं, चिन्तिज्ञा अणुपुव्वसो।
नाणंमि दंसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य ॥४०॥

दैवसिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने च दर्शने चैव, चारित्रे तथैव च ॥४०॥

पदार्थान्वयः—देवसियं–दिनसम्बन्धी अईयारं–अतिचारों की अणुपुव्वसो–अनुक्रम से चिन्तिज्ञा–चिन्तना करे च–पुनः नाणंमि–ज्ञान में च–और दंसणे–दर्शन में तहेव–उसी प्रकार चरित्तम्मि–चरित्र में लगे हुए अतिचारों की विचारणा करे य–और एव च–पूर्ववत् अर्थ जानना।

मूलार्थ—दिन में लगे हुए ज्ञान दर्शन और चरित्र विषयक अतिचारों की अनुक्रम से चिन्तना करे।

टीका—जब सूर्य अस्त हो जावे और रात्रि का आरम्भ हो, तब कायोत्सर्ग करके दिन में जो अतिचार लगे हों, उन सब का ध्यान मे चिन्तन करे; अर्थात् ज्ञान दर्शन और चरित्र मे लगे हुए अतिचारों का विचार करे। सूत्रों मे ज्ञान के चौदह अतिचार और दर्शन के पाँच माने हैं; तथा चारित्र में, आठ प्रवचन माता के, पट्काय, पाँच महाव्रत, तेतीस आशातनाएँ, अठारह पापों से निवृत्ति इत्यादि सभी का समावेश हो जाता है; सो ध्यान में उपयोगपूर्वक उन सब अतिचारों का चिन्तन करे। इतना ही नहीं, किन्तु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना से लेकर यावन्मात्र क्रियाएँ की गई हैं, उन सबका विचार करे। फिर इस बात का भी विचार करे कि आज कौन-सी

१ 'देसियं' इति वृत्तिकारसम्मतः पाठः। तत्र वकारलोपः प्राकृतत्वाद् ज्ञेयः।

क्रिया सूत्रानुसार की गई है और कौन-सी सूत्र के विपरीत हुई है। क्योंकि जो क्रिया सूत्र के विपरीत हुई हो, उसके लिए पश्चाताप करना अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए साधु कायोत्सर्ग में दिनसम्बन्धी अतिचारों का अवश्य चिन्तन करे।

अब कायोत्सर्ग के पश्चात् करने वाली क्रिया का वर्णन करते हैं—

पारियकाउस्सग्गो , वन्दित्ताण तओ गुरुं।
देवसियं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४१॥
पारितकायोत्सर्गः , वन्दित्वा ततो गुरुम्।
दैवसिकं त्वतिचारं, आलोकयेद्यथाक्रमम् ॥४१॥

पदार्थान्वयः—**पारिय**—समाप्त किया **काउस्सग्गो**—कायोत्सर्ग जिसने **तओ**—तदनन्तर **वन्दित्ताण**—वन्दना करके **गुरुं**—गुरु की **तु**—फिर **देवसियं**—दिन सम्बन्धी **अईयारं**—अतिचारों की **जहक्कमं**—यथाक्रम **आलोएज्ज**—आलोचना करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को समाप्त कर, तदनन्तर गुरु की वन्दना करके, दिन-सम्बन्धी अतिचारों की अनुक्रम से आलोचना करे।

टीका—जब ज्ञान दर्शन और चरित्र में लगे हुए अतिचारों का विचार कर चुके, तब ध्यान को त्याग कर गुरु से चतुर्विंशतिस्तव रूप द्वितीय आवश्यक के करने की आज्ञा लेवे, तदनन्तर वन्दना रूप तृतीय आवश्यक की आज्ञा लेकर गुरु की द्वादशावर्त वन्दना करे, फिर तृतीय आवश्यक की समाप्ति करके गुरु से आज्ञा लेकर चतुर्थ आवश्यक में लग जावे, अर्थात् दिन में लगे हुए ज्ञानादि विषयक अतिचारों की अनुक्रम से गुरु के समक्ष आलोचना करे। कारण यह है कि इस प्रकार करने से आगे को विशुद्धि के परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। इन आवश्यकों का विशेष विचार 'आवश्यकसूत्र' में देख लेना। यहाँ पर तो सूत्र रूप से सूचना मात्र की गई है।

अब पूर्वोक्त विषय में फिर कहते हैं—

पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥२४॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥४२॥

पदार्थान्वयः—पडिक्कमित्तु–प्रतिक्रम से—प्रतिक्रमण करके निस्सल्लो–निःशल्य हो कर तओ–तदनु गुरुं–गुरु की वन्दित्ताण–वन्दना करके तओ–तत्पश्चात् काउस्सग्गं–कायोत्सर्ग कुज्जा–करे सव्वदुक्खविमोक्खणं–सर्व दुःखों से छुड़ाने वाला।

मूलार्थ—अतिचारों से निवृत्त हो कर, फिर मायादि शल्यों से रहित हो कर, गुरु की वन्दना करके तदनन्तर सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त करने वाले कायोत्सर्ग को करे।

टीका—इस गाथा में पूर्व गाथा का ही समास आ रहा है। जैसे कि चतुर्थ आवश्यक करते हुए अतिचार रूप पाप से निवृत्त होवे, अर्थात् मन[1], वचन और काया से इसी आवश्यक में अतिचारों के लिए 'मिच्छामिदुक्कड़ं—मिथ्या दुष्कृतं' देकर फिर श्रमण सूत्र करे, फिर सर्व प्रकार के शल्यों से रहित होकर और गुरु की वन्दना करके पाँचवे आवश्यक के अनुष्ठान की आज्ञा लेवे। तदनन्तर सर्व दुःखों के नाश करने वाला पाँचवाँ कायोत्सर्गनामा जो आवश्यक है उसको करे। यह आवश्यक ज्ञान दर्शन और चरित्र की विशुद्धि के वास्ते कथन किया गया है; इसीलिए यह सर्व प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाला माना गया है। इस विषय का पूर्ण विवरण 'आवश्यक' सूत्र में देखना चाहिए।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं—

पारियकाउस्सग्गो[2], वन्दित्ताण तओ गुरुं।
थुइमंगलं च काऊणं, कालं संपडिलेहए ॥४३॥

पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
स्तुतिमंगलं च कृत्वा, कालं संप्रतिलेखयेत् ॥४३॥

१ मन से—भाव शुद्धि से, वचन से—सूत्र पाठ से, काया से—मस्तक आदि के नमाने से।
२ बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा के प्रथम पाद के स्थान में—सिद्धाण संथवं किच्चाण, ऐसा पाठान्तर भी माना है।

पदार्थान्वयः—**पारिय**—पार कर **काउस्सग्गो**—कायोत्सर्ग को **तओ**—तदनन्तर **गुरुं**—गुरु की **वन्दित्ताण**—वन्दना करके **च**—फिर **थुइमंगलं**—स्तुति मंगल को **काऊणं**—करके **कालं**—काल की **संपडिलेहए**—प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को पार कर, तदनुसार गुरु की वन्दना करके, फिर तुति मंगल को पढ़ कर काल की प्रतिलेखना करे।

टीका—जब पाँचवाँ आवश्यक पूर्ण हो जावे, तब ध्यान को पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करे, तदनन्तर स्तुति मंगल का पाठ करे, फिर काल की प्रतिलेखना करे। जैसे कि—रात्रि में तारों का पतन, विद्युत् का प्रकाश, बादलों का गर्जन और दिग्दाह आदि तो नहीं हुआ, जिससे कि फिर स्वाध्याय का आरम्भ किया जावे। परन्तु वर्तमान समय में तो पाँचवे आवश्यक के पश्चात् गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करने के अनन्तर छठे प्रत्याख्यान रूप आवश्यक के करने की ही प्रथा चली आ रही है, और वर्तमान् समय का जैन-वर्ग इसी आम्नाय को अपना रहा है, परन्तु सूत्र में जब रात्रि का आवश्यक करने का विधान किया जायगा, तब उस समय छठे आवश्यक के करने का विधान किया है। यहाँ पर तो सामाचारी का संक्षिप्त वर्णन होने से दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। अतः छठा आवश्यक करके स्तुति मंगल [नमुत्थुणं] का पाठ पढ़े [अन्य सब विधि आवश्यक सूत्र से जान लेनी] फिर स्वाध्याय करने के लिए काल की प्रतिलेखना करे, जिससे कि अकाल में स्वाध्याय आदि क्रियाएँ की जा सकें।

अब प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि-कृत्य के विषय में फिर कहते हैं—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, सज्झायं तु चउत्थिए ॥४४॥

प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां निद्रामोक्षं तु, स्वाध्यायं तु चतुर्थ्याम् ॥४४॥

टीका—इस गाथा का पदार्थ और मूलार्थ प्रथम [अठारवीं गाथा में] आ चुका है। विशेष—प्रतिक्रमण के पश्चात् काल की प्रतिलेखना करके फिर एक पहर पर्यन्त स्वाध्याय करे; जब स्वाध्याय का समय पूर्ण हो जावे, तब द्वितीय पौरुषी में ध्यान

करे। ध्यान शब्द से यहाँ पर सूत्रार्थ का चिन्तन करना अथवा धर्म और शुक्ल ध्यान आदि करना अभिप्रेत है, जिसे लोग योगाभ्यास कहते हैं। तात्पर्य यह है कि द्वितीय पौरुषी के समय को सूत्रार्थ चिन्तन में या कायोत्सर्ग करके आत्मचिन्तन में व्यतीत करे। जब तीसरी पौरुषी का समय आवे, तब निद्रा लेवे—शयन करे, एवं तृतीय पौरुषी के व्यतीत होने पर चतुर्थ पौरुषी में उठकर फिर स्वाध्याय में लग जावे। यह रात्रि-चर्या का प्रकार वर्णन किया गया है।

अब चतुर्थ पौरुषी के विषय में कुछ विशेष कहते हैं। यथा—

पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया।
सज्झायं तु तओ कुज्जा, अबोहन्तो असंजए ॥४५॥

पौरुष्यां चतुर्थ्यां, कालं तु प्रतिलेख्य।
स्वाध्यायं तु ततः कुर्यात्, अबोधयन्न संयतान् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—**पोरिसीए**-पौरुषी **चउत्थीए**-चतुर्थी में **कालं**-काल की **पडिलेहिया**-प्रतिलेखना करके **तओ**-तदनन्तर **सज्झायं**-स्वाध्याय **कुज्जा**-करे **तु**-किन्तु **असंजए**-असंयतों को **अबोहन्तो**-न जगाता हुआ।

मूलार्थ—चतुर्थ पौरुषी में काल की प्रतिलेखना करके स्वाध्याय करे; परन्तु असंयत आत्माओं को न जगाता हुआ ही स्वाध्याय करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे बतलाया है कि—तृतीय पौरुषी के समाप्त होने पर और चतुर्थ के आरम्भ मे अपने आसन पर से उठकर साधु प्रथम काल की प्रतिलेखना करे। और तत्पश्चात् स्वाध्याय करने लग जावे, परन्तु उठते हुए वा स्वाध्याय करते हुए अन्य असंयतों—गृहस्थों—को न जगावे, अर्थात् उसके उठने या स्वाध्याय करने से किसी दूसरे गृहस्थ की निद्रा भङ्ग न हो, इस प्रकार से उठना और स्वाध्याय करना। जैसे कि—इतने उच्च स्वर से स्वाध्याय न करे, जिससे कि समीप में सोये हुए गृहस्थ जाग उठें। कारण यह है कि बहुत से ऐसे पामर प्राणी होते हैं, जो कि जागने पर अनेक प्रकार के अनर्थकारी कामों में प्रवृत्त हो जाते हैं, वधिक लोग जीवों के वध में उद्यत हो जाते हैं; और विषयी लोग विषयों मे

निमग्न हो जाते हैं। अतः संयमशील साधु को इन सब बातों का विचार करके अपने धर्म-कृत्य का आराधन करना चाहिए। यहाँ पर समस्त प्रकार की ध्यान-क्रियाओं का स्वाध्याय में ही समावेश समझ लेना चाहिए।

अब स्वाध्याय के अनन्तर करणीय कृत्य का वर्णन करते हैं—

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दिऊण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥४६॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे , वन्दित्वा ततो गुरुम्।
प्रतिक्रम्य कालस्य, कालं तु प्रतिलेखयेत् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—**पोरिसीए**—पौरुषी के **चउब्भाए**—चतुर्थ भाग में **गुरुं**—गुरु की **वन्दिऊण** वन्दना करके **तओ**—तदनन्तर **पडिकमित्तु**—प्रतिक्रम करके **कालस्स**—काल को **तु**—फिर **कालं**—प्रभात काल की **पडिलेहए**—प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ—पौरुषी के चतुर्थ भाग में गुरु की वन्दना करके, तदनन्तर काल को प्रतिक्रम करके, प्रातःकाल की प्रतिलेखना करे।

टीका—जिस पौरुषी में स्वाध्याय का आरम्भ किया था, उसका जब चतुर्थ भाग [दो घड़ी प्रमाण समय] शेष रह जावे, तब गुरु की वन्दना करके काल का प्रतिक्रम करे, अर्थात् स्वाध्याय काल को छोड़ कर आवश्यक करने के समय की—प्रातःकाल की—प्रतिलेखना करे। यहाँ पर 'कालस्स' का अर्थ वैरात्रिक काल है ['प्रतिक्रम्य कालस्य—वैरात्रिकस्य' टी०] और द्वितीय काल शब्द से प्रभात काल का ग्रहण अभिमत है ['कालं—प्राभातिकम्'] तात्पर्य यह है कि जब चतुर्थ पहर का चतुर्थ भाग शेष रह जावे, तब प्रतिक्रमण के समय को जानता हुआ, स्वाध्याय को छोड़ कर आवश्यक के समय को ग्रहण करे। कारण यह है कि आवश्यक की सम्पूर्ण क्रिया अनुमान दो घड़ी प्रमाण काल में समाप्त हो जाती है, और उस क्रिया में रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन किया जाता है। 'ण' शब्द यहाँ पर वाक्यालङ्कार में है और 'तु' एव अर्थ का बोधक है।

अब प्रस्तुत आवश्यक की विधि का निरूपण करते हैं। यथा—

आगए कायवोस्सग्गे, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥४७॥

आगते कायव्युत्सर्गे, सर्वदुःखविमोक्षणे ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—सव्वदुक्खविमोक्खणे–सर्व दुःखों से छुड़ाने वाले कायवोस्सग्गे–कायव्युत्सर्ग के समय के आगए–आने पर काउस्सग्गं–कायोत्सर्ग कुज्जा–करे तओ–तदनन्तर सव्वदुक्खविमोक्खणं–सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला ।

मूलार्थ—सर्व प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाले कायोत्सर्ग के करने का समय आने पर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

टीका—यहाँ पर भी पूर्वोक्त विधि का संक्षेप से वर्णन किया गया है; यथा—सामायिक आवश्यक करके फिर चतुर्विंशति स्तव करे; तदनुसार वन्दना करके फिर चतुर्थ आवश्यक के करने की गुरु से आज्ञा लेकर कायोत्सर्ग करे । और यहाँ पर कायोत्सर्ग के साथ जो 'सर्वदुःखविमोक्षणं' का वार-वार सम्बन्ध किया गया है, उसका अभिप्राय कायोत्सर्ग का महत्व वर्णन करना है, अर्थात् इसके द्वारा ही कर्मों की अत्यन्त निर्जरा हो सकती है, तथा ज्ञान दर्शन और चरित्र की विशुद्धि का प्रधान कारण भी यही है । इसके अतिरिक्त आत्मा को समाधि का प्राप्त होना, और उसके द्वारा परमोत्कृष्ट आनन्दमय रस का पान करना भी इसीके द्वारा उपलब्ध हो सकता है; अतः प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए ।

अब कायोत्सर्ग में चिन्तनीय अतिचारों के विषय में कहते हैं—

राइयं च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणंमि दंसणंमि य, चरित्तंमि तवंमि य ॥४८॥

रात्रिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने च, चारित्रे तपसि च ॥४८॥

पदार्थान्वयः—राइयं–रात्रि सम्बन्धी अईयारं–अतिचारों की अणुपुव्वसो–

अनुक्रम से चिन्तिज्ज–चिन्तवना करे य–और नाणंमि–ज्ञान में दंसणंमि–दर्शन में चरित्तंमि–चारित्र में य–और तवंमि–तप में तथा वीर्य में—लगे हुए अतिचारों की च–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—रात्रि में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य में लगे हुए अतिचारों की अनुक्रम से चिन्तवना करे ।

टीका—जब प्रथम आवश्यक करने लगे, तब समग्र सूत्र-पाठ को पढ़कर फिर ध्यान करता हुआ इस बात का विचार करे कि—मुझको आज रात्रि में ज्ञान सम्बन्धी, दर्शन सम्बन्धी, चरित्र सम्बन्धी तथा तप और वीर्य-सम्बन्धी कोई अतिचार—दोष—तो नहीं लगा ? ताकि आगे को उसके लिए मैं सावधान रहने का प्रयत्न करूँ, इस प्रकार से कायोत्सर्ग में जो अतिचारों का चिन्तवन करने का विधान है, उससे यह भी स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि शेष कायोत्सर्गों में 'चतुर्विंशति-स्तव' का चिन्तवन करना चाहिए—'शेषकायोत्सर्गेषु—चतुर्विंशतिस्तवः प्रतीतश्चिन्त्यतया साधारणश्चेति नोक्तः' अर्थात् शेष कायोत्सर्गों में चतुर्विंशतिस्तव की चिन्तवना की जाती है, किन्तु प्रसिद्ध होने से उसका वर्णन नहीं किया ।

इस प्रकार प्रथम आवश्यक का वर्णन करके अब अन्य आवश्यकों के विषय में कहते हैं—

पारियकाउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
राइयं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४९॥

पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
रात्रिकं त्वतिचारं, आलोचयेद्यथाक्रमम् ॥४९॥

पदार्थान्वयः—पारिय–पार कर काउस्सग्गो–कायोत्सर्ग तओ–तदनुसार वन्दित्ताण–वन्दना करके गुरुं–गुरु को राइयं–रात्रि-सम्बन्धी अईयारं–अतिचारों की आलोएज्ज–आलोचना करे जहक्कमं–अनुक्रम से ।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को पार कर तदनन्तर गुरु की वन्दना करके अनुक्रम से रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे ।

टीका—कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर तब गुरु की विधिपूर्वक द्वादशावर्त वन्दना करके उनसे द्वितीय आवश्यक की आज्ञा लेवे; जब द्वितीय आवश्यक कर चुके, तब फिर वन्दना करके तृतीय आवश्यक की आज्ञा ग्रहण करे; फिर उस आवश्यक में दो वार 'इच्छामि खमासमणो' पढ़े, इस प्रकार जब तीसरा आवश्यक पूरा हो जावे, तब चतुर्थ आवश्यक के करने की आज्ञा लेवे और उसको करने लग जावे। तात्पर्य यह है कि रात्रि-सम्बन्धी जिन अतिचारों का ध्यान में चिन्तन किया था उनको अनुक्रम से उच्चस्वर में उच्चारण करता हुआ प्रत्येक के अन्त में 'मिच्छामि दुक्कडं' देवे। यहाँ पर अतिचारों की आलोचना करने का तात्पर्य यह है कि जिन अतिचारों का ध्यान में चिन्तन किया था, उनके लिए मुनि को पश्चात्ताप करना चाहिए, अर्थात् अपनी भूल स्वीकार करते हुए आगे को उनके सम्पर्क में सावधान रहने का उद्योग करना चाहिए। तथा इस कथन से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि आत्म-शुद्धि का यही एक प्रशस्त मार्ग है, जिस पर चलता हुआ मुमुक्षु पुरुष परम कल्याण रूप मोक्ष का भाजन हो सकता है।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं—

पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥५०॥
प्रतिक्रम्य निःशल्यः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥५०॥

पदार्थान्वयः—पडिक्कमित्तु-प्रतिक्रमण करके निस्सल्लो-निःशल्य हो कर तओ-तदनन्तर गुरुं-गुरु को वन्दित्ताण-वन्दना करके तओ-तत्पश्चात् काउस्सग्गं-कायोत्सर्ग कुज्जा-करे सव्वदुक्खविमोक्खणं-सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला।

मूलार्थ—पाप से निवृत्त और निःशल्य हो कर तदनुसार गुरु की वन्दना करके तत्पश्चात् सर्व दुःखों से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग को करे।

टीका—जब लगे हुए अतिचारों की आलोचना कर चुके, तब फिर गुरु को वन्दना करके प्रतिक्रमण करे, अर्थात् श्रमण-सूत्र का पाठ करता हुआ पाप कर्मों से पीछे हटे। इसका तात्पर्य यह है कि—पद और सम्पदासहित पाठ करे और सर्व

प्रकार के शल्यों से रहित होता हुआ चतुर्थ आवश्यक की पूर्ति करे। तथा जब चतुर्थ आवश्यक विधिसहित पूरा हो जावे, तब गुरु की फिर विधिपूर्वक वन्दना करके पाँचवें आवश्यक की आज्ञा लेकर उसका आरम्भ करे। इस प्रकार जब पाँचवे आवश्यक का पाठ पढ़ चुके, तब सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों की निवृत्ति और निजानन्द की प्राप्ति कराने वाले कायोत्सर्ग को करे। कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया—शरीर—का उत्सर्ग—त्याग करना—अर्थात्, जैसे कोई पाषाण की प्रतिमा होती है, तद्वत् काया को पूर्णतया स्थिर रख कर ध्यान में आरूढ़ होना।

कायोत्सर्ग में स्थित हुआ मुनि किस बात का चिन्तन करे अब उसके सम्बन्ध में कहते हैं—

किं तवं पडिवज्जामि, एवं तत्थ विचिन्तए।
काउस्सग्गं तु पारित्ता, करिज्जा जिणसंथवं ॥५१॥
किं तपः प्रतिपद्ये, एवं तत्र विचिन्तयेत्।
कायोत्सर्गं तु पारयित्वा, कुर्यात् जिनसंस्तवम् ॥५१॥

पदार्थान्वयः—**किं**—क्या **तवं**—तप **पडिवज्जामि**—ग्रहण करूँ **एवं**—इस प्रकार **तत्थ**—उस ध्यान में **विचिन्तए**—चिन्तन करे **काउस्सग्गं**—कायोत्सर्ग को **पारित्ता**—पार कर **जिणसंथवं**—जिन-संस्तव **करिज्जा**—करे।

मूलार्थ—मैं क्या तप करूँ? इस प्रकार का चिन्तन, ध्यान में करे, फिर कायोत्सर्ग को पार कर जिन-संस्तवन का पाठ करे।

टीका—जब कायोत्सर्ग नामक पाँचवे आवश्यक का आरम्भ करे, तब उसमें इस प्रकार चिन्तन करे कि—आज मैं कौन से तप का ग्रहण करूँ? कारण यह है कि भगवान् महावीर स्वामी ने षट् मास पर्यन्त तप किया था। अतः मैं भी देखूँ कि मुझमें कितनी तप करने की शक्ति विद्यमान है। तप की अपार महिमा है। आत्म-शुद्धि का यही एक सर्वोपरि विशिष्ट मार्ग है। और इसी के द्वारा संसारी जीव विशुद्ध होकर परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं। तप बाह्य और आभ्यन्तर-भेद से बारह प्रकार का है। सो षट् मास से लेकर पाँच मास, चार मास, तीन मास दो और एक मास तथा पक्ष और अर्धपक्ष यावत् यथाशक्ति एक दो दिन तक भी

किया जा सकता है। फिर कायोत्सर्ग को पार कर जिन-संस्तव—[लोगस्सउज्जोयगरे] का पाठ करे। अपितु कई एक प्रतियों में गाथा के चतुर्थ चरण का 'वन्दईय तओ गुरुं' ऐसा पाठ भी देखने में आता है। इसका अर्थ यह है कि—कायोत्सर्ग को पार कर और फिर गुरु की वन्दना करे, परन्तु इस पाठ की अपेक्षा ऊपर दिया गया पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। यह पाँचवे आवश्यक की विधि समाप्त हुई।

अब छठे आवश्यक के विषय में कहते हैं—

पारियकाउस्सग्गो , वन्दित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संथवं ॥५२॥
पारितकायोत्सर्गः , वन्दित्वा ततो गुरुम्।
तपः सम्प्रतिपद्य, कुर्यात् सिद्धानां संस्तवम् ॥५२॥

पदार्थान्वयः—पारिय-पार कर काउस्सग्गो-कायोत्सर्ग तओ-तदनुसार गुरुं-गुरु की वन्दित्ताण-वन्दना करके तवं-तप को संपडिवज्जेत्ता-अंगीकार करके सिद्धाण-सिद्धों का संथवं-संस्तव कुज्जा-करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को पार कर तदनन्तर गुरु की वन्दना करके फिर तप को अंगीकार कर सिद्धों का संस्तव करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में छठे आवश्यक की विधि का वर्णन किया गया है। जब पाँचवें आवश्यक में यथाशक्ति तप के अंगीकार करने का निश्चय कर लिया, तब कायोत्सर्ग को पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करके, पूर्व निश्चय के अनुसार तप को अंगीकार करके सिद्धों की स्तुति का पाठ पढ़े, तात्पर्य यह है कि गुरु से प्रत्याख्यान लेकर फिर सिद्धस्तव—'नमोत्थुणं' इत्यादि का पाठ करे। अपि च—प्रथम पाठ अरिहंत प्रभु का और दूसरा सिद्ध भगवान् का है। कदाचित् कारणवशात् तीसरा धर्माचार्यों का भी आता है। परन्तु इस स्थान पर तो प्रत्याख्यान के पश्चात् केवल सिद्धस्तव के पढ़ने की ही आज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त उक्त विषय का विशेष वर्णन देखने की जिज्ञासा रखने वाले आवश्यक सूत्र को देखें।

अब उक्त विषय का उपसंहार और अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एसा सामायारी, समासेण वियाहिया ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥५३॥
त्ति बेमि ।

इति सामायारी छव्वीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२६॥

एषा सामाचारी, समासेन व्याख्याता ।
यां चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥५३॥
इति ब्रवीमि ।

इति सामाचारी-षड्विंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—एसा–यह सामायारी–सामाचारी समासेण–संक्षेप से वियाहिया–वर्णन की गई है जं–जिसको चरित्ता–आचरण करके बहू–बहुत जीवा–जीव संसार–संसाररूप सागरं–समुद्र को तिण्णा–तर गये त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—यह सामाचारी संक्षेप से वर्णन की गई है, जिसको आचरण करके बहुत से जीव संसार-सागर से तर गये ।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि—इस दस प्रकार की ओघरूप सामाचारी का मैंने संक्षेप से वर्णन किया है, इस पर आचरण करके बहुत से जीव इस संसार से तर गये—पार हो गये । उपलक्षण से, वर्तमान काल में तर रहे हैं और आगामी काल में तरेंगे । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि पदविभागात्मक सामाचारी का छेद-सूत्रों में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है । इस स्थान पर तो धर्मकथानुयोग होने से सामाचारी का संक्षेप से ही निरूपण किया गया है । अधिक की जिज्ञासा रखने वाले छेद-सूत्रों को देखे । तथा इतना और ध्यान में रहे कि यहाँ पर—प्रस्तुत अध्ययन में—जितना भी वर्णन किया है, वह प्रायः औत्सर्गिक मार्ग का अवलम्बन करके किया है और अपवादमार्ग मे तो इसमें कुछ व्युत्क्रम न्यूनाधिकता भी हो जाती है । जैसे—प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय, दूसरी में ध्यान, तीसरी में आहार की

गवेषणा और चौथी में फिर स्वाध्याय करना, यह क्रम है। परन्तु जब विहार किया जावेगा, तब इस प्रकार की क्रम-व्यवस्था का रहना कठिन हो जाता है, अतः ऐसे समय में अपवादमार्ग का अनुसरण करके समयानुसार सामाचारी के पदों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसलिए गीतार्थमुनि सामाचारी के प्रत्येक पद का समय को देखकर आराधन करे और अन्य आत्माओं को उसके आराधन की आज्ञा प्रदान करे। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का भावार्थ पहले की तरह ही समझ लेना। यह सामाचारी नाम का छव्वीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

षड्विंशतितममध्ययनं समाप्तम्।

अह खलुंकिज्जं सत्तावीसइमं अज्झयणं।

अथ खलुङ्कीयं सप्तविंशमध्ययनम्



गत छब्बीसवें अध्ययन में सामाचारी का वर्णन किया है; परन्तु उसका सम्यक् पालन अशठता—शठता का त्याग—पर निर्भर है; और अशठता का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि उसकी प्रतिपक्षभूत शठता का बोध हो जावे; अतः इस सत्ताईसवें अध्ययन में दृष्टान्त के द्वारा शठता के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा—

थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए।
आइण्णे गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए ॥१॥

स्थविरो गणधरो गार्ग्यः, मुनिरासीद् विशारदः।
आकीर्णो गणिभावे, समाधिं प्रतिसन्धत्ते ॥१॥

पदार्थान्वयः—थेरे–स्थविर गणहरे–गणधर गग्गे–गर्ग-गोत्रीय मुणी–मुनि विसारए–विशारद आसि–हुआ आइण्णे–गुणों से व्याप्त गणिभावम्मि–गणिभाव में स्थित समाहिं–समाधि को पडिसंधए–प्राप्त करने वाला।

मूलार्थ—गर्ग गोत्र वाला—गर्गाचार्य नाम का—स्थविर गणधर, सर्व शास्त्रों में कुशल, गुणों से आकीर्ण, गणिभाव में स्थित और त्रुटित समाधि को जोड़ने वाला एक मुनि हुआ था।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विषय की प्रस्तावना के लिए गर्गाचार्य नाम के एक महर्षि का वर्णन किया है। उस ऋषि का गर्ग गोत्र था, इसी लिए वे गार्ग्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, वे सर्व-शास्त्र-निष्णात, गच्छ के संग्रह करने में कुशल, समयज्ञ और सर्व-गुण-सम्पन्न थे! तात्पर्य यह है कि आचार्य की जो आठ सम्पदा कही हैं; उनसे वे युक्त और समाधि-अनुसन्धान—अर्थात् त्रुटित समाधि को फिर से जोड़ने वाले थे। समाधि के दो भेद हैं एक द्रव्य-समाधि दूसरी भाव-समाधि। द्रव्यों—पदार्थों—का अविरोधि-भाव से परस्पर मिलना द्रव्य-समाधि है। पदार्थों के पारस्परिक मिलन से वे आनन्ददायक हो जाते हैं, जैसे प्रमाणपूर्वक दुग्ध में डाले हुए शर्करा आदि पदार्थ आनन्दप्रद हो जाते हैं। तथा आत्मा के साथ ज्ञानादि का पूर्णतया एक रूप से रहना भाव-समाधि है, सो यहाँ पर भाव-समाधि का ही ग्रहण अभीष्ट है। सारांश यह है कि उक्त मुनि के शिष्यों का आत्मा जब भाव-समाधि से पराङ्मुख होता था, तब वे उसी समय उनके आत्मा को समाधि में जोड़ने का प्रयत्न करते थे। यदि कर्मोदय से किसी का आत्मा भाव-समाधि से पराङ्मुख हो जावे, तब आचार्य का कर्तव्य है कि वह उसके आत्मा को फिर से भाव-समाधि में जोड़ने का प्रयत्न करे, यह उक्त गाथा के भावार्थ का निष्कर्ष है।

वह ऋषि शिष्यों के प्रति समाहित रहने के लिए किस प्रकार का उपदेश करते थे, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ॥२॥

वाहने वाह्यमानस्य, कान्तारमतिवर्तते ।
योगे वाह्यमानस्य, संसारोऽतिवर्तते ॥२॥

पदार्थान्वयः—वहणे–शकटादि वाहन में वहमाणस्स–जोता हुआ वृषभ कन्तारं–अटवी को अइवत्तई–सुखपूर्वक अतिक्रमण कर जाता है जोए–योग—संयम में वहमाणस्स–सम्यक् प्रकार प्रवर्तित हुआ संसारो–संसार से अइवत्तई–सुखपूर्वक पार हो जाता है।

मूलार्थ—शकटादि वाहन में जोता हुआ वृषभ जैसे सुखपूर्वक अटवी—जंगल—को पार कर जाता है, उसी प्रकार संयम में भली भाँति प्रवृत्त हुआ साधु भी इस संसार को पार कर जाता है । प्रस्तुत गाथा में विनीत शिष्य के क्रियानुष्ठान का फल वर्णन किया गया है ।

टीका—जिस प्रकार शकटादि में जोता हुआ विनीत वृषभ स्वयं, शकट और वाहक इन दोनों को लेकर सुखपूर्वक जंगल से पार हो जाता है, उसी प्रकार संयम-मार्ग में प्रवृत्त हुआ शिष्य अपने साथ प्रवर्तक को भी लेकर इस संसाररूप भयानक अटवी से पार हो जाता है । तात्पर्य यह है कि अशठता से आचरण किये गये क्रियानुष्ठान का फल निर्वाण ही होता है, जिसमें कि फिर संसार—आवागमन—का भय नहीं रहता ।

अब सूत्रकार शठता के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए उक्त दृष्टान्त को दूसरे रूप में प्रदर्शित करते हैं—

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सई ।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जई ॥३॥

खलुंकान् यस्तु योजयति, विध्यमानः क्लिश्यति ।
असमाधिं च वेदयति, तोत्रकस्तस्य च भज्यते ॥३॥

पदार्थान्वयः—जो—जो कोई खलुंके—दुष्ट वृषभों को जोएइ—शकटादि में जोड़ता है उ—विशेषण में है—वह—विहम्माणो—लड़ता हुआ किलिस्सई—क्लेश को पाता है च—और असमाहिं—असमाधि को वेएइ—भोगता है से—उसका तोत्तओ—तोत्रक य—भी भज्जई—टूट जाता है ।

मूलार्थ—जो कोई शकटादि में दुष्ट बैलों को जोतता है, वह उनको ताड़ता हुआ क्लेश को प्राप्त होता है, असमाधि का अनुभव करता है । [यहाँ तक कि बैलों को मारते-मारते] उसका तोत्रक—प्राजनक—भी टूट जाता है ।

टीका—इस गाथा में अविनीत—दुष्ट—बैलों को शकटादि में जोड़ने से वाहक को जिस कष्ट-परम्परा का अनुभव करना पड़ता है, उसका दिग्दर्शन कराया

गया है। दुष्ट बैलों को जोड़ने से एक तो उनको ताड़ना करते हुए क्लेश होता है, दूसरे चित्त में असमाधि—व्याकुलता—उत्पन्न होती है, तीसरे ताड़ना करते-करते यहाँ तक परिणाम होता है कि जिस प्राजनक—परैणी—से उनको ताड़न किया जाता है, वह भी टूट जाती है, कारण कि बैल शठ हैं, वे वाहक की इच्छानुसार चलते नहीं, अतः उसको उनपर क्रोध आता है, और क्रोध के वशीभूत हुआ वह उनको निर्दयता के साथ मारता है, जिससे कि उसको क्लेश उत्पन्न होता है, इत्यादि।

अब उसके क्रोध का और वृषभों की दुष्टता का व्यावहारिक फल बतलाते हैं—

एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥४॥

एकं दशति पुच्छे, एकं विध्यत्यभीक्ष्णम्।
एको भनक्ति समिलां, एक उत्पथप्रस्थितः ॥४॥

पदार्थान्वयः—एगं—एक को पुच्छम्मि—पूँछ में डसइ—दंश देता है एगं—एक को अभिक्खणं—बार बार विन्धइ—तोत्रादि से वींधता है एगो—एक समिलं—समिला जुए को भंजइ—तोड़ देता है एगो—एक उप्पह—उत्पथ में पट्ठिओ—प्रस्थित हो जाता है।

मूलार्थ—एक की पूँछ को दंश देता है, और एक को—दूसरे को—बार बार तोत्रादि से ताड़ता है, तथा एक दुष्ट वृषभ समिला—जुए—को तोड़ देता है और दूसरा उत्पथ में भाग जाता है।

टीका—जब वे दुष्ट बैल वाहक की इच्छा के अनुसार गमन नहीं करते, तब वह क्रोध में आकर उनकी पूछ को काटता है—मरोड़ता—है और तोत्रादि से उनको बार बार मारता है, तब क्रोध में आये हुए वे दुष्ट बैल भी जुए को तोड़कर इधर उधर भाग जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वाहक और बैल दोनों ही परम दुःखी होते हैं। उपलक्षणतया अश्लील वचनों का भी ग्रहण कर लेना, अर्थात् ताड़ना के अतिरिक्त वाहक को अनेक प्रकार के अश्लील शब्द भी कहने पड़ते हैं।

अब फिर कहते हैं—

एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई ।
उक्कुद्दइ उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥५॥

एकः पतति पार्श्वेण, निविशति निपद्यते ।
उत्कूर्दते उत्प्लवते, शठः बालगवीं व्रजेत् ॥५॥

पदार्थान्वयः—एगो–एक वृषभ पासेणं–एक पासे पर पडइ–गिर पड़ता है निवेसइ–बैठ जाता है निवज्जई–सो जाता है उक्कुद्दइ–कूदता है उप्फिडइ–मंडूकवत् उछलता है सढे–शठ बालगवीं–तरुण गौ के पीछे वए–भागता है।

मूलार्थ—एक वृषभ, एक तरफ भूमि पर गिर पड़ता है, एक बैठ जाता है, कोई सो जाता है और कोई [मण्डूक की तरह] उछलता कूदता है, तथा कोई एक शठ बैल तरुण गौ के पीछे भागने लग जाता है।

टीका—जब वाहक उन दुष्ट बैलों को मारता है, तब उनमें से कोई तो एक पासे भूमि पर गिर पड़ता है—एक तरफ लेट जाता है, कोई बैठ जाता है, कोई सो जाता है, कोई कूदने लग जाता है और कोई उछलता है। इसके अतिरिक्त कोई कोई शठ युवती गौ के पीछे भागने लगता है। तात्पर्य यह है कि दुष्ट बैल, इस प्रकार की अनेक कुचेष्टाओं को करते हुए, स्वयं दुःखी होते हैं और वाहक को भी अत्यन्त दुःखी करते हैं। यहाँ प्राकृत के कारण यदि 'बालगवी' पदका 'वालगवः—दुष्ट बलीवर्दः' यह अर्थ किया जाय, तब इसकी संगति के लिए यह अर्थ करना होगा कि—वे दुष्ट बैल अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हैं। 'व्रजेत्—गच्छेत्' अनेक स्थानों में भागना। यद्यपि मूलपाठ में वृषभ का उल्लेख नहीं, तथापि रूढ़िवशात् वृत्तिकारों ने वृषभ ही ग्रहण किया है।

अब फिर कहते हैं—

माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं ।
मयलक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥६॥

मायी मूर्ध्ना पतति, क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम् ।
मृतलक्षेण तिष्ठति, वेगेन च प्रधावति ॥६॥

पदार्थान्वयः—माई–मायावान् मुद्धेण–मस्तक के बल पडइ–गिर पड़ता है कुद्धे–क्रोध युक्त होता हुआ पडिप्पहं–पीछे को गच्छइ–भाग जाता है मयलक्खेण–मृतलक्षण से चिट्ठई–ठहर जाता है य–और वेगेण–वेग से पहावई–दौड़ता है।

मूलार्थ—मायावी वृषभ, मस्तक से गिर पड़ता है, क्रोध-युक्त होकर उलटे मार्ग को चला जाता है, मृतलक्षण से ठहर जाता है और कोई एक वेग से भागता है।

टीका—इस गाथा में भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन है। जैसे कि, कोई वृषभ अपने आपको निःसहाय मानता हुआ पृथिवी पर सिर डाल कर लेट जाता है, कोई क्रोध के वशीभूत हो कर पीछे को भागने लगता है, तथा कोई छलपूर्वक अपने शरीर को मृतक के लक्षणों से लक्षित करता है, और अवसर पाकर—अर्थात् स्वामी के कहीं अन्यत्र जाने पर—दौड़ने लगता है, जिससे कि कोई रोक न सके। किसी-किसी प्रति में "पलयंतेण चिट्ठई' ऐसा पाठ भी है, 'प्रवलनः प्रकर्पेण कम्पमानस्तिष्ठति' अर्थात् काँपने लग जाता है।

अब फिर कहते हैं—

छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं, दुद्दन्तो भंजए जुगं।
सेवि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायए ॥७॥

छिन्नालः छिनत्ति सिल्लिं, दुर्दान्तो भनक्ति युगम्।
सोऽपि च सूत्कृत्य, उद्धाय पलायते ॥७॥

पदार्थान्वयः—छिन्नाले–दुष्ट जाति वाला वृषभ सेल्लिं–रश्मि को छिन्दइ–छेदन कर देता है दुद्दन्तो–दुर्दान्त जुगं–जुए को भंजए–तोड़ देता है। सेवि य–वह भी सुस्सुयाइत्ता–सूत्कार करके—सूँ सूँ करके उज्जहित्ता–स्वामी के शकट को ले करके पलायए–भाग जाता है।

मूलार्थ—छिनाल रश्मि का छेदन करता है, दुर्दान्त जुग—जुए—को तोड़ देता है, वह भी फिर सूत्कार करके—सूँ सूँ करके—स्वामी और शकट को परे कर उत्पथ में भाग जाता है।

टीका—इस गाथा में भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन है। यथा-कोई एक दुष्ट वृषभ, नासिका-रज्जु (नथ) वा संयमन-रज्जु को तोड़ देता है, और कोई दुर्दान्त बैल रज्जु को तोड़ कर जुए को भी तोड़ देता है, तथा कोई एक जुए आदि को तोड़ कर भी सूॅं सूॅं करता हुआ शकटादि को लेकर भाग जाता है।

अब उक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाकर दिखाते हैं, यथा—

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ती धिइदुब्बला ॥८॥

खलुंका यादृशा योज्याः, दुःशिष्या अपि खलु तादृशाः।
योजिता धर्मयाने, भज्यन्ते धृतिदुर्बलाः ॥८॥

पदार्थान्वयः—**खलुंका**–दुष्ट वृषभादि **जारिसा**–जैसे **जोज्जा**–जोते हुए **दुस्सीसा**–दुष्ट शिष्य **वि**–भी **तारिसा**–उनके समान **धम्मजाणम्मि**–धर्मयान में **जोइया**–जोते हुए **धिइ दुब्बला**–धृति से दुर्वल **भज्जन्ती**–सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति नहीं करते **हु**–अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—दुष्ट पशु के समान धर्मयान में जोते हुए कुशिष्य भी दुर्बल धृति वाले होने से भली भाँति प्रवृत्ति नहीं करते।

टीका—इस गाथा में उक्त दृष्टान्त की प्रकृत अर्थ में योजना की गई है। जैसे दुष्ट पशु शकटादि में जोते हुए कार्यसाधक नहीं हो सकते, अर्थात् अभिलषित स्थान को प्राप्त नहीं करा सकते, ठीक उसी प्रकार मुक्ति-नगर की प्राप्ति के लिए धर्मयान में नियोजित किये गये कुशिष्य भी संयम का भली भाँति उद्वहन नहीं करते, कारण यह है कि वे धैर्यशील नहीं होते, अतएव वे धर्मक्रियाओं के अनुष्ठान में दृढ़ नही रह सकते। तथा जिस प्रकार दुष्ट पशु अपने अभीष्ट स्थान को तो पहुॅंच ही नहीं सकता, प्रत्युत अपने स्वामी को खेद में डालता है, उसी प्रकार दुष्ट शिष्य भी मोक्ष की प्राप्ति तो कर नहीं सकता, किन्तु साथ में गुरु आदि को खेदित करने में भी कारण वनता है। 'भज्यन्ते' इस क्रिया का यही अर्थ है कि ऐसे शिष्य संयमानुष्ठान मे सम्यक् प्रवृत्ति नहीं कर सकते॥ क्योंकि वे धृतिशील नही, अर्थात् चपल-स्वभाव होते हैं। अतः धर्म-पथ मे उनका दृढ़ रहना कठिन है।

अब उनके धृति-दौर्बल्य का निरूपण करते हैं—

इड्ढीगारविए एगे, एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥९॥

ऋद्धिगौरविक एकः, एकोऽत्र रसगौरवः।
सातागौरविक एकः, एकः सुचिरक्रोधनः ॥९॥

पदार्थान्वयः—**एगे**–कोई एक **इड्ढी**–ऋद्धि से **गारविए**–गौरविक है **एगे**–कोई एक **अत्थ**–इस अधिकार में **रसगारवे**–रसों मे मूर्छित है **एगे**–कोई एक **सायागारविए**–साता में मूर्छित है **एगे**–कोई एक **सुचिरकोहणे**–चिरकाल तक क्रोध रखने वाला है।

मूलार्थ—कोई एक ऋद्धि-गौरव में, कोई रस-गौरव में, और कोई साता-गौरव में निमग्न है, तथा कोई एक प्रभूत काल तक क्रोध को अपने मन में रखने वाला है।

टीका—जिस प्रकार दुष्ट वृषभों की धृष्टता का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ शास्त्रकार कुशिष्यों की धृष्टता का वर्णन करते हैं। जैसे—कोई तो अपनी ऋद्धि में ही गर्व कर रहा है, अर्थात् उसको इस बात का अभिमान हो रहा है कि मेरे वश में अनेक समृद्धिशाली गृहस्थ हैं, उनसे मेरे सभी प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं, फिर गुरु की आज्ञा मे रहने से कोई सिद्धि नहीं इत्यादि। तथा कोई-कोई रसों के आस्वाद मे ही लगे हुए हैं, अर्थात् वे खाने पीने में ही मस्त रहते हैं, इसी कारण से वे किसी बाल, वृद्ध या ग्लान साधु की सेवा में प्रवृत्त नहीं होते। तथा कोई-कोई अधिक सुखशील होने से अप्रतिविहारी नहीं हैं, उनके विचार में विहार करने मे अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। एवं कोई-कोई इतने क्रोधी हैं कि उनका क्रोध चिरकाल तक बना रहता है और उस क्रोध के वश हुए वे संयम के अनुष्ठान से भी पराङ्मुख हो जाते हैं।

गौरव का अर्थ है अपने आत्मा में गुरुत्व का अनुभव करना। अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए।
थद्धे एगोऽणुसासम्मी, हेऊहिं कारणेहि य ॥१०॥

भिक्षालसिक एकः, एकोऽवमानभीरुकः।
स्तब्ध एकोऽनुशास्मि, हेतुभिः कारणैश्च ॥१०॥

पदार्थान्वयः—एगे–कोई भिक्खालसिए–भिक्षाचारी में आलस्य करने वाला एगे–कोई एक ओमाणभीरुए–अपमान से डरने वाला थद्धे–स्तब्ध—अहंकारी य–और एगे–एक को कैसे अणुसासम्मी–अनुशासन करूँ हेऊहिं–हेतुओं य–और कारणेहि–कारणों से।

मूलार्थ—कोई भिक्षा में आलस्य करने वाला है, कोई कुशिष्य अपमान से डरता है और कोई अहंकारी है। [आचार्य कहते हैं कि ऐसे शिष्यों को] मैं किन हेतु और कारणों से शिक्षित करूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कुशिष्यों के आचरण और उनके शासन करने में आचार्यों की कठिनता के अनुभव का दिग्दर्शन कराया गया है। कोई-कोई तो भिक्षा लाने में ही आलस्य करते हैं, अर्थात् भिक्षा के निमित्त गृहस्थों के घरों में जाने की उनकी इच्छा ही नहीं होती। तथा कोई अपमान वा लज्जा से भय कर रहा है, अर्थात् लज्जा का मारा वह किसी गृहस्थ के घर में नहीं जाता; तथा कोई अहंकारी हो रहा है; अभिमान के वशीभूत हुआ दूसरा अपना दुराग्रह ही नहीं छोड़ता। इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसे कुशिष्यों को हम किस प्रकार से शिक्षित करें! उनके वास्ते कौन से हेतु उपस्थित करें अथवा ऐसे किन कारणों को ढूँढें, जिससे कि उनको अपने संयम-मार्ग का ध्यान आवे। यहाँ पर 'कथं' पद का अध्याहार कर लेना और आर्षवाणी होने से पुरुष-व्यत्यय जानना। सारांश यह है कि शिक्षा देने पर भी सफल न होने से आचार्यों को प्रसन्नता नहीं होती, यही धृष्टता है।

आचार्यों के द्वारा शिक्षा दिये जाने पर उसका क्या फल होता है, अब इस विषय में कहते हैं—

सो वि अन्तरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तु वयणं, पडिकूलेइऽभिक्खणं ॥११॥
सोऽप्यन्तरभाषावान् , दोषमेव प्रकरोति ।
आचार्याणां तु वचनं, प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—सो–वह कुशिष्य अन्तरभासिल्लो–मध्य में बोलने वाला दोसमेव–अपराध ही पकुव्वई–करता है आयरियाणं–आचार्यों के तं–उस वयणं–वचन के पडिकूलेइ–प्रतिकूल करता है अभिक्खणं–पुनः पुनः अवि–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—वह कुशिष्य शिक्षा देने पर बीच में ही बोल पड़ता है, आचार्यों के वचन में दोष निकालता है, और बारम्बार उनके वचन के प्रतिकूल चलता है।

टीका—इस गाथा में अविनीत शिष्यों को दी गई शिक्षा का जो विपरीत फल होता है, उसका दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—जब गुरु शिक्षा देने लगते हैं, तब वह कुशिष्य बीच में ही बोल उठता है। अतः अपना दोष निकालने—दूर करने—के स्थान में एक नया अपराध करता है, तथा गुरुजनों के वचनों में दोष निकालता है, और आचार्य उपाध्याय आदि गुरुजनों की शिक्षा के विपरीत आचरण करता है। सारांश यह है कि जो अविनीत शिष्य होते हैं, उन पर गुरुजनों की हित-शिक्षा का प्रभाव विपरीत ही पड़ता है। इसी लिए उक्त गाथा में 'अभीक्ष्ण' पद दिया है, जो कि विशेषरूप से अविनीतता का पोषण कर रहा है।

अब उनकी प्रतिकूल वृत्ति का दिग्दर्शन कराते हैं—

न सा ममं वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोत्थ वज्जउ ॥१२॥
न सा मां विजानाति, नापि सा मह्यं दास्यति।
निर्गता भविष्यति मन्ये, साधुरन्यस्तत्र व्रजतु ॥१२॥

पदार्थान्वयः—सा–वह—श्राविका ममं–मुझको न वियाणाइ–नहीं जानती नवि–नाही सा–वह मज्झ–मुझे दाहिई–देगी निग्गया–घर से बाहर गई

होहिई–होगी मन्ने–ऐसे मैं मानता हूँ अत्थ–इस कार्य के लिए अन्नो–और कोई साहू–साधु वज्जउ–चला जावे।

मूलार्थ—वह श्राविका मुझ को जानती नहीं और नाही मुझे वह अन्नादि देगी, तथा मैं मानता हूँ कि वह घर से बाहर गई हुई होगी, अतः इस कार्य के लिए कोई अन्य साधु चला जावे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में अविनीत शिष्य की प्रतिकूल चर्या का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, जैसे कि—किसी शिष्य को आचार्य महाराज ने कहा कि वत्स ! जाओ, अमुक घर से अमुक ओषधि वा अमुक ग्लान साधु के लिए आहार ले आओ। तब वह उत्तर देता है कि भगवन् ! वह श्राविका मुझको जानती नहीं है, इसलिए वह मुझे आहारादि कोई वस्तु नहीं देगी। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि वत्स ! जाओ वह तुझे न पहचानती हुई भी साधु समझ कर दे देगी। इसपर वह कहता है कि मेरा विचार तो ऐसा है कि वह इस समय घर पर नहीं होगी किन्तु कहीं बाहर गई हुई होगी। तब आचार्य महाराज ने कहा कि वत्स ! तुम बातें मत बनाओ किन्तु वहाँ जाकर अमुक वस्तु ले आओ। इस पर वह शिष्य कहता है कि यदि आपका ऐसा ही आग्रह है तो कृपा करके इस कार्य के लिए किसी और साधु को भेज दीजिए। क्योंकि मुझ से अतिरिक्त अन्य साधु भी तो इस कार्य को कर सकता है फिर मुझे ही इस कार्य के लिए बार बार क्यों कहा जाता है ? इत्यादि—

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

पेसिया पलिउंचन्ति, ते परियन्ति समन्तओ।
रायवेट्ठिं च मन्नन्ता, करेन्ति भिउडिं मुहे ॥१३॥

प्रेषिताः परिकुञ्चन्ति, ते परियन्ति समन्तात्।
राजवेष्टिमिव च मन्यमानाः, कुर्वन्ति भृकुटिं मुखे ॥१३॥

पदार्थान्वयः—पेसिया–भेजे हुए पलिउंचन्ति–कार्य का अपलाप—गोपन—करते हैं ते–वे परियन्ति–परिभ्रमण करते हैं समन्तओ–सर्व दिशाओं में रायवेट्ठिं च–राज-आज्ञावत् कार्य को मन्नन्ता–मानते हुए भिउडिं–भृकुटी मुहे–मुख मे करेन्ति–करते हैं—भृकुटी चढ़ाते हैं।

मूलार्थ—किसी कार्य के लिए भेजे हुए वे शिष्य उस कार्य का अपलाप करते हैं और सर्व दिशाओं में घूमते हैं तथा कार्य को राज-आज्ञा की तरह मानते हुए भृकुटी चढ़ाते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन किया है। जैसे कि—गुरु ने किसी कार्य के लिए भेजा, परन्तु वह कार्य तो किया नहीं मात्र इधर उधर घूम कर चले आये, और जब गुरु ने पूछा कि जिस कार्य के लिए तुमको भेजा था वह तुम कर आये हो ? तब उत्तर देते हैं आपने कब हमको अमुक कार्य के लिए जाने को कहा था ! अथवा—[यूं हि कह देना] हमने वहां पर उनको देखा ही नहीं इत्यादि प्रकार से गुरु के बतलाये हुए कार्य का अपलाप करते हैं। यदि 'पेसिया' के स्थान पर 'पोसिया' पाठ हो तो उसका अर्थ यह होगा कि—गुरु ने आहारादि के द्वारा उनका जो पोषण किया था, उसका उपकार न मानते हुए यह कहते हैं कि गुरु ने हमारे ऊपर क्या उपकार किया है ? परन्तु यह पाठ समीचीन नहीं क्योंकि आगामी गाथा में 'पोसिया' शब्द का उल्लेख आया है जो कि प्रकरण—संगत है। तथा काम करने के भय से गुरुओं के पास तो बैठते नहीं, परन्तु इधर उधर चारों दिशाओं में घूमते हैं तथा जैसे कोई बलात्कार से दी हुई राज-आज्ञा को मानता हुआ भृकुटी को चढ़ाता है अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार नहीं करता, ठीक उसी प्रकार गुरु की आज्ञा को सुनकर वे भृकुटी चढ़ाते हैं अर्थात् गुरु की आज्ञा को प्रसन्नता से स्वीकार नहीं करते। 'राजवेष्टिमिव'—नृपतिहठप्रवर्त्तित-कृत्यमिव 'मन्यमानाः—मनसि अवधारयन्त इति' [टीका]।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमन्ति दिसो दिसिं ॥१४॥

वाचिताः संगृहीताश्चैव, भक्तपानेन पोषिताः।
जातपक्षा यथा हंसाः, प्रक्राम्यन्ति दिशो दश ॥१४॥

पदार्थान्वयः—वाइया–पढ़ाये च–और संगहिया–संगृहीत किये एव–

अवधारण अर्थ में है भत्तपाणेण–भक्त पान से पोसिया–पुष्ट किये—उपचित किये जहा–जैसे हंसा–हंस जायपक्खा–पंखों के उत्पन्न होने पर दिसो दिसिं–दशों दिशाओं में पक्कमन्ति–घूमते हैं।

मूलार्थ—[आचार्य मन में विचार करते हैं कि]—मैंने इन्हें पढ़ाया, और संगृहीत किया, तथा भक्त-पानादि से उपचित किया, परन्तु जैसे परों के आ जाने पर हंस पक्षी आकाश में स्वच्छन्दता से गमन कर जाते हैं तद्वत् ये शिष्य भी अब स्वेच्छाचारी हो गये।

टीका—शिक्षा दिये जाने पर भी विपरीत आचरण करने वाले अविनीत शिष्यों के विषय में आचार्य महाराज के आन्तरिक उद्गारों का इस गाथा में उल्लेख किया है। आचार्य कहते हैं कि मैंने इन शिष्यों को पढ़ाया, अर्थात् अर्थसहित शास्त्रों का स्वाध्याय कराया, इनको सम्यक् प्रकार से संगृहीत किया अर्थात् दीक्षित किया, फिर भक्त-पानादि के द्वारा इनका भली भाँति पोषण किया, परन्तु माता पिता के द्वारा लालित और पालित किये गये हंस पक्षी, जैसे परों के आ जाने पर माता पिता के लालन और पालन की कुछ भी परवाह न करते हुए अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में गमन कर जाते हैं तद्वत् ये अविनीत शिष्य भी अब स्वेच्छाचारी बन गये हैं। यद्यपि प्रथम गाथा में भी पर्यटन शब्द आया है, परन्तु वह नगर की अपेक्षा से कथन किया गया है और यहाँ पर देश की अपेक्षा से भ्रमण का विधान है, इसलिए पुनरुक्ति दोष की सम्भावना नहीं है। तथा इतना और भी स्मरण रहे कि आचार्य महाराज के ये उद्गार उनके पश्चात्ताप के सूचक नहीं, किन्तु ये शिष्य मोक्षसाधन के योग्य नहीं बने, इस विषय का विचार करते हैं। जिस प्रकार दुष्ट वृषभादि की वक्र चेष्टाओं का ऊपर वर्णन किया है, ठीक उसी प्रकार अविनीत शिष्यों की क्रियाओं का यहाँ पर दिग्दर्शन कराया गया है।

जिस प्रकार दुष्ट पशुओं की कुचेष्टाओं से उनका वाहक व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अविनीत शिष्यों के विपरीत व्यवहार से आचार्य भी असमाधियुक्त हो जाते हैं। तब असमाधियुक्त होने से वे जो कुछ विचार करते हैं अब उस का दिग्दर्शन कराया जाता है—

अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समागओ ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१५॥

अथ सारथिर्विचिन्तयति, खलुंकैः समागतः ।
किं मम दुष्टशिष्यैः, आत्मा मेऽवसीदति ॥१५॥

पदार्थान्वयः—अह–अथ सारही–सारथि विचिन्तेइ–चिन्तन करता खलुंकेहिं–दुष्टों के द्वारा समागओ–श्रम को प्राप्त हुए मज्झ–मुझे किं–क्या प्रयो है दुट्ठसीसेहिं–दुष्ट शिष्यों से मे–मेरी अप्पा–आत्मा अवसीयई–अवसाद—ग को प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—तदनन्तर उन दुष्ट शिष्यों द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ स विचार करता है कि इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इनके से मेरी आत्मा ग्लानि को प्राप्त हो रही है ।

टीका—दुष्ट पशुओं के परिचय में आने से खेद को प्राप्त हुए वाहक भाँति अविनीत शिष्यों से खेदित होते हुए गर्गाचार्य मन में विचारने लगे कि अनेक प्रकार से शिक्षा देने पर भी ये दुष्ट शिष्य सन्मार्ग पर नहीं आते तो इ मुझे क्या लाभ ? प्रत्युत इनके सहवास से मेरे आत्मा मे ग्लानि उत्पन्न हो रह अतः इनके संग का त्याग करके अपने आत्मा का कल्याण करना ही श्रेयस्कर यहाँ पर गर्गाचार्य के लिए जो सारथि पद दिया है, उसका प्रयोजन केवल इत है कि जैसे दुष्ट गवादि पशुओं के चलाने से सारथि को अधिक श्रम उठाना है उसी प्रकार धर्म-सारथि धर्माचार्य को भी अविनीत शिष्यों को सुशिक्षित अर्थात् धर्मयान में जोड़ने के लिए अधिक श्रान्त होना पड़ता है । तथा इस से यह भी प्रमाणित होता है कि जिसके संग करने से ज्ञानादि सद्गुणों का हो उसी का संग करना चाहिए और जिसके सहवास से कुछ लाभ न हो हानि हो उसका संग त्याग देना ही श्रेष्ठ है ।

अतः इस प्रकार की अविनीत शिष्य-मण्डली को त्याग कर तप में होना ही श्रेयस्कर है, अब इस विषय मे कहते हैं—

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा ।
गलिगद्दहे जहित्ताणं, दढं पगिण्हई तवं ॥१६॥

यादृशा मम शिष्यास्तु, तादृशा गलिगर्दभाः ।
गलिगर्दभाँस्त्यक्त्वा , दृढं प्रगृह्णामि तपः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जारिसा—जैसे मम—मेरे सीसा—शिष्य हैं तारिसा—वैसे ही गलिगद्दहा—गलि गर्दभ हैं गलिगद्दहे—गलि गर्दभ को जहित्ताणं—छोड़ कर दढं—दृढ़ता के साथ तवं—तप को पगिण्हई—ग्रहण करूँ उ—पाद पूर्ति में ।

मूलार्थ—जैसे गलिगर्दभ होते हैं ठीक उसी प्रकार के ये मेरे शिष्य हैं सो इनको छोड़ कर मैं दृढ़ता के साथ तप को ग्रहण करता हूँ ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में अविनीत शिष्यों के लिए दुष्ट गर्दभ की उपमा इसलिए दी गई है कि वह बार बार ताड़ना करने पर भी उलटा ही चलता है और गवादि पशुओं की अपेक्षा गर्दभ को नीच भी इसी लिए माना गया है कि वह अत्यन्त ढीठ होता है । इसी प्रकार जो शिष्य अविनीत हैं, गुरु जनों की आज्ञा के अनुसार नहीं चलते, प्रत्युत विपरीत आचरण करते हैं, वे कुशिष्य गर्दभ के समान कहे जाते हैं । अतः गर्दभ के समान आचरण करने वाले इन अविनीत शिष्यों से तंग आकर गर्गाचार्य कहते हैं कि इन शिष्यों को समझाने की अपेक्षा तो इनको त्याग कर दृढ़तापूर्वक तपश्चर्या में प्रवृत्त होना ही अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि यह मार्ग आत्म-कल्याण के अधिक समीप है ।

अस्तु, उन कुशिष्यों का त्याग करके गर्गऋषि किस प्रकार से पृथिवी पर विचरने लगे, अब उसका वर्णन करते हैं—

मिउ मद्दवसंपन्नो, गम्भीरो सुसमाहिओ ।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा ॥१७॥

त्ति बेमि ।

खलुंकिज्जं सत्तवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२७॥

मृदुर्मार्दवसम्पन्नः , गम्भीरः सुसमाहितः ।
विहरति महीं महात्मा, शीलभूतेनात्मना ॥१७॥

इति ब्रवीमि ।

इति खलुङ्कीयं सप्तविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—मिउ–मृदु—और मद्दव–मार्दव से संपन्नो–युक्त गम्भीरो–गम्भीर सुसमाहिओ–सुसमाहित-समाधियुक्त महिं–पृथ्वी पर महप्पा–महात्मा विहरइ–विचरता है सीलभूएण–शीलभूत अप्पणा–आत्मा से त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—मृदु और मार्दव-भाव से सम्पन्न, गम्भीर और समाधिवाला हो कर वह महात्मा, शीलभूत आत्मा से पृथिवी पर विचरने लगा । यह खलुंकीय सत्ताईसवां अध्ययन समाप्त हुआ ।

टीका—उन कुशिष्यों को त्याग कर आत्मकल्याण की भावना से वे गर्गाचार्य ऋषि किस प्रकार से पृथिवी पर विचरने लगे, इस विषय का प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादन किया गया है । जिस प्रकार वे बाह्यवृत्ति से विनयवान् थे, उसी प्रकार वे अन्तर्वृत्ति से भी विनययुक्त थे । तथा गम्भीरता और चित्त की प्रसन्नता से सदा युक्त रहते थे अर्थात् समाहितचित्त थे । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार शील और संयम से युक्त अप्रतिबद्ध विहारी होकर वे पृथिवी पर विचरने लगे । यद्यपि उक्त गुण उनमें पहले भी विद्यमान थे, तथापि संसर्ग दोष के कारण उनमें कलुषता आने की सम्भावना हो सकती है । उक्त कथन का सारांश यह निकलता है कि जिन कारणों से आत्मा में असमाधि की उत्पत्ति हो तथा आत्मा की उन्नति में बाधा उपस्थित हो, उन कारणों के सम्पर्क से अपने को अलग रखना मुमुक्षु जीव का परम कर्तव्य है । इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के प्रति कहा । इत्यादि—

सप्तविंशाध्ययन समाप्त ।

अह मोक्खमग्गगई अट्ठावीसइमं अज्झयणं

अथ मोक्षमार्गगतिरष्टाविंशतितममध्ययनम्

गत सत्ताईसवें अध्ययन में संयमविरोधि शठभाव के त्याग और ऋजुभाव के अंगीकार से साधुवृत्ति के पालन करने का विधान किया गया है अर्थात् ऋजुभाव से पूर्वोक्त दशविध सामाचारी के पालन करने से आत्म-शुद्धि के द्वारा मोक्षपद की प्राप्ति हो सकती है, अतः इस अट्ठाईसवें अध्ययन में अब मोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं। यथा—

मोक्खमग्गगई तच्चं, सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं , नाणदंसणलक्खणं ॥१॥

मोक्षमार्गगतिं तथ्यां, शृणुत जिनभाषिताम् ।
चतुःकारणसंयुक्तां , ज्ञानदर्शनलक्षणाम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—मोक्ख—मोक्ष मग्ग—मार्ग की गइ—गति को तच्चं—यथार्थ जिणभासियं—जिनभाषित—और चउकारण—चार कारण से संजुत्तं—संयुक्त नाण—ज्ञान दंसण—दर्शन—जिस का लक्खणं—लक्षण है सुणेह—सुनो।

मूलार्थ—चार कारणों से युक्त, ज्ञान और दर्शन जिस के लक्षण हैं, ऐसी जिनभाषित मोक्ष की यथार्थ गति को तुम मुझ से सुनो।

टीका—आचार्य—शास्त्रकार—कहते हैं कि अष्टविध कर्मों को नाश करने वाली, अथवा मोक्षमार्ग की सिद्धि रूप, जो यथार्थ गति है वह जिनभाषित है, अतएव प्रामाणिक है, तथा वह चार कारणों से युक्त और ज्ञान और दर्शन उसके आत्मभूत लक्षण हैं, ऐसी मोक्ष गति के स्वरूप को, तुम सावधान होकर मुझ से श्रवण करो। यद्यपि कारण का कारण नहीं होता, तथापि व्यवहार नय को अवलम्बन करके ऐसा कहा गया है। 'व्यवहारतः कारणस्यापि कारणत्वाभिधानाददोषः' कारण यह है कि जब अष्टविध कर्मों का क्षय हो जाता है, तब मोक्षमार्ग की ज्ञानादि गति उत्पन्न होती है, तथा उस गति के द्वारा ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, इसलिए 'मोक्ष मार्ग की गति' यह कथन किया है जोकि युक्तिसंगत है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि मोक्षमार्ग की गति चार कारणों से युक्त है और ज्ञान तथा दर्शन उस का स्वरूप-लक्षण है तथा जिनभाषित होने से वह प्रामाणिक और सप्रयोजन है।

अब मार्ग के विषय में कहते हैं, यथा—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥२॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
एष मार्ग इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ॥२॥

पदार्थान्वयः—**नाणं**–ज्ञान **च**–और **दंसणं**–दर्शन **च**–समुच्चय अर्थ में है **एव**–निश्चयार्थक है **चरित्तं**–चरित्र **तहा**–उसी प्रकार **तवो**–तप **च**–पुनः **एस**–यह **मग्गु त्ति**–मार्ग, इस प्रकार **पन्नत्तो**–प्रतिपादन किया है **वरदंसिहिं**–प्रधानदर्शी **जिणेहिं**–जिनेन्द्र देवों ने।

मूलार्थ—**प्रधानदर्शी, जिनेन्द्र देवों ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र, और तप यह मोक्ष का मार्ग प्रतिपादन किया है।**

टीका—जिसके द्वारा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध हो, उसे ज्ञान कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो मत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वह ज्ञान है। तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह दर्शन है। इसी प्रकार चरित्रमोहनीय के

क्षयोपशम से जो सामायिक आदि चरित्र की उपलब्धि होती है वह चरित्र है, एवं पुरातन कर्मों का क्षय करने के लिए द्वादश प्रकार की जो तपश्चर्या वर्णन की गई है वही तप है। इस प्रकार कैवल्यदर्शी-प्रधानद्रष्टा जिनेन्द्र देवों ने ये पूर्वोक्त चार मोक्ष के कारण बतलाये हैं अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र और सम्यक् तप; इन चारों के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है। यद्यपि मूल गाथा में सम्यक् पद का उल्लेख नहीं है तथापि 'वरदर्शि-प्रतिपादित' ऐसा कहने से, संशय, विपर्यय और अनध्यवसायात्मक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर परिशेष में सम्यक्-ज्ञानादि ही लिये जाते हैं। तथा चरित्र से पृथक् जो तप का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य कर्म-क्षय में तप को प्रधानता देना है अर्थात् तप के द्वारा कर्मों का विशेष क्षय होता है। एवं 'जिन' इस शब्द के ग्रहण से मोक्षमार्ग की सप्रयोजनता सिद्ध की गई है।

अब मोक्ष के उक्त चारों कारणों के अनुसरण का फल वर्णन करते हैं। यथा—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥३॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
एतं मार्गमनुप्राप्ताः, जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥३॥

पदार्थान्वयः—नाणं–ज्ञान दंसणं–दर्शन च–और चरित्तं–चारित्र तहा–उसी प्रकार तवो–तप एयं–इस मग्गं–मार्ग को अणुप्पत्ता–आश्रित हुए जीवा–जीव सोग्गइं–सुगति को गच्छन्ति–चले जाते हैं एव–निर्धारण में च–समुच्चय अर्थ में हैं।

मूलार्थ—इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आश्रित हुए जीव सुगति को प्राप्त हो जाते हैं।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि जिन जीवों ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप का सम्यक्तया आराधन किया है, वे जीव मोक्ष को प्राप्त हो गए। तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि की सम्यक् आराधना का फल मोक्ष है। स्थानाङ्ग सूत्र में सुगति की व्याख्या चार प्रकार से की है इसमें प्रथम सिद्धों की सुगति है।

१ चत्तारि सोग्गई ओपण्णत्ता, तं—'सिद्ध सोग्गती, देव सोग्गती, मणुय सोग्गती, सुकुलपच्चायाति' [स्था. ४३. १ सू. २६८]।

अब क्रम प्राप्त ज्ञान का वर्णन करते हैं—

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

तत्र पंचविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं तु तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—तत्थ–उन मे नाणं–ज्ञान पंचविहं–पाँच प्रकार का है सुयं–श्रुतज्ञान आभिनिबोहियं–आभिनिबोधिकज्ञान तु–और तइयं–तीसरा ओहिनाणं–अवधिज्ञान मणनाणं–मनःपर्यवज्ञान च–और केवलं–केवलज्ञान ।

मूलार्थ—उन में ज्ञान पाँच प्रकार का है, यथा—श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय और केवल ज्ञान ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ज्ञान के श्रुति, मति, अवधि, मनःपर्याय और केवल—ये पाँच भेद वतलाये हैं । अक्षरश्रुत आदि भेदों से श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है । सन्मुख उपस्थित हुए पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला ज्ञान आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहलाता है । नीचे नीचे विशेष गति करने वाला तथा रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है । एवं मनोद्रव्य वर्गणा के पर्यायों को जानने वाला मनःपर्यवज्ञान है और केवल पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला तथा मन की सहायता के विना लोकालोक के समस्त द्रव्य और पर्यायों का अवभास करने वाला केवलज्ञान है । यद्यपि नन्दी आदि सूत्रों में पहले मतिज्ञान का उल्लेख किया है, और इस गाथा मे प्रथम श्रुतज्ञान का उल्लेख है, तथापि श्रुत का प्रथम उल्लेख करने का यहाँ पर प्रयोजन केवल इतना ही है कि 'इन पाँचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान उपकारी होने की दृष्टि से प्रधान है' इस वात को ध्वनित करना । 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' यह ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है । यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि ज्ञान के ये पाँचों भेद क्षयोपशम भाव की विलक्षणता की अपेक्षा से माने गये हैं ।

अव ज्ञान और उस के सम्वन्धी ज्ञेय पदार्थों के विषय में कुछ और विशेष कहते हैं—

एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि दंसियं ॥५॥

एतत्पंचविधं ज्ञानं, द्रव्याणां च गुणानां च ।
पर्यायाणां च सर्वेषां, ज्ञानं ज्ञानिभिर्दर्शितम् ॥५॥

पदार्थान्वयः—एयं—यह अनन्तरोक्त पंचविहं—पञ्चविध नाणं—ज्ञान दव्वाण—द्रव्यों का य—और गुणाण—गुणों का य—तथा सव्वेसिं—सर्व पज्जवाणं—पर्यायों का नाणं—ज्ञान नाणीहि—ज्ञानियों ने दंसियं—उपदेशित किया है य—समुच्चयार्थक है ।

मूलार्थ—ज्ञानी पुरुषों ने द्रव्य, गुण और उनके समस्त पर्यायों के ज्ञानार्थ यह पूर्वोक्त पाँच प्रकार का ज्ञान बतलाया है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्रव्यगुण और पर्यायरूप ज्ञेय तत्त्व में ज्ञान की उपयोगिता का दिग्दर्शन कराया है । पूर्वोक्त पाँच प्रकार के ज्ञान का उपयोग द्रव्य, गुण और पर्याय में किया जाता है अर्थात् द्रव्य, गुण और उन के पर्यायों के जानने के लिए ही उक्त ज्ञानपञ्चक की आवश्यकता को ज्ञानियों ने बतलाया है । एक ही पदार्थ की बदलती हुई अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं । एवं द्रव्य, गुण और पर्याय ये परस्पर में एक दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न हैं ।

अब द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण बतलाते हैं । यथा—

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥६॥

गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रितागुणाः ।
लक्षणं पर्यायाणां तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ॥६॥

पदार्थान्वयः—गुणाणं—गुणों का आसओ—आश्रय दव्वं—द्रव्य है एगदव्वस्सिया—एक द्रव्य के आश्रित गुणा—गुण हैं उभओअस्सिया—दोनों के जो आश्रित भवे—होना यह पज्जवाणं—पर्यायों का लक्खणं—लक्षण है ।

मूलार्थ—गुणों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं, तथा एक द्रव्य के आश्रित जो [वर्ण-रस गन्धादि तथा ज्ञानादि धर्म] हों वे गुण हैं और द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रित होकर जो रहें, उन्हें पर्याय कहते हैं।

टीका—गुण और पर्याय को जो धारण करे वह द्रव्य है—[गुणपर्यायवद् द्रव्यम्[1]]। वहाँ सहभावी धर्मों को गुण और क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहते हैं। जैसे आत्मा एक द्रव्य है, उसके ज्ञानादि गुण हैं और कर्म के वश से उस की मनुष्य-तिर्यंचादि जो भिन्न भिन्न अवस्थायें हैं, वे उसके पर्याय कहे जाते हैं। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि द्रव्य और पर्याय एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। तथा ये परस्पर में भेद अथवा अभेद दोनों को लिए हुए हैं अर्थात् कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं। तथा जिस प्रकार द्रव्य के पर्याय होते हैं इसी प्रकार गुणों के भी पर्याय हैं, तात्पर्य यह है कि जैसे गुण द्रव्य के आश्रित हैं वैसे ही पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित हैं। यहाँ पर द्रव्य अधिकरण है, गुण और पर्याय आधेय हैं और वे द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं।

अब द्रव्य के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥७॥

धर्मोऽधर्म आकाशं, कालः पुद्गलजन्तवः।
एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ॥७॥

पदार्थान्वयः—**धम्मो**—धर्म **अधम्मो**—अधर्म **आगासं**—आकाश **कालो**—काल **पुग्गल**—पुद्गल **जन्तवो**—जीव **एस**—यह षड्द्रव्यात्मक **लोगो त्ति**—लोक, इस प्रकार **पन्नत्तो**—प्रतिपादन किया है **वरदंसिहिं**—श्रेष्ठदर्शी **जिणेहिं**—जिनेन्द्रों ने।

मूलार्थ—केवलदर्शी जिनेन्द्रों ने इस लोक को, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इस प्रकार से षड्—द्रव्य—रूप प्रतिपादन किया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्रव्यों के वर्णन के साथ साथ लोक का भी निर्देश कर दिया गया है। यथा—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय,

१ तत्त्वार्थसूत्र अ ५ सू ३८।

कालद्रव्य, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन षड्द्रव्यों का समुच्चय यह लोक है। अथवा यूं कहें कि यह लोक धर्मादिषड्द्रव्यात्मक है। तात्पर्य यह है कि जितने क्षेत्र में ये द्रव्य हों उसे लोक कहते हैं। इसके विपरीत अर्थात् जहाँ पर उक्त द्रव्यों की सत्ता न हो वह अलोक है। तात्पर्य यह है कि वहाँ पर एक मात्र आकाश द्रव्य ही होता है, अन्य पाँच द्रव्यों का वहाँ पर अभाव होता है। तथा काल को छोड़कर अन्य धर्मादि पाँच द्रव्य अस्तिकाय के नाम से प्रसिद्ध हैं और 'काल' केवल द्रव्य के नाम से विख्यात है। क्योंकि धर्मादि पाँचों द्रव्य, सप्रदेशी—प्रदेश वाले—हैं और काल-द्रव्य अप्रदेशी है। यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि ('अस्तिकाय' यह जैन दर्शन का बहुप्रदेशवाची पारिभाषिक शब्द है)। इसका—[अस्ति—है, काय—बहुप्रदेश, जिनके ऐसे पदार्थ,] यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसके अतिरिक्त पुद्गल को छोड़कर शेष धर्मादि पाँच द्रव्य अरूपी हैं और पुद्गल द्रव्य रूपी है। इस प्रकार से केवलदर्शी भगवान् जिनेन्द्र ने इनका प्रतिपादन किया है।

अब इनके संख्यासम्बन्धी भेद का वर्णन करते हैं—

धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि, कालोपुग्गलजंतवो ॥८॥

धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालपुद्गलजन्तवः ॥८॥

पदार्थान्वयः—धम्मो–धर्म अधम्मो–अधर्म आगासं–आकाश दव्वं–द्रव्य इक्किक्कं–एक एक आहियं–कहा गया है य–और अणंताणि–अनन्त दव्वाणि–द्रव्य कालो–काल पुग्गल–पुद्गल जन्तवो–जीव है।

मूलार्थ—धर्म, अधर्म, और आकाश ये तीनों एक एक द्रव्य हैं, तथा काल, पुद्गल और जीव ये तीनों अनन्त द्रव्य हैं। अर्थात् ये तीनों द्रव्य, संख्या में अनन्त हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्रव्यगत संख्या का विचार किया गया है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों एक एक द्रव्य हैं अर्थात् इनकी संख्या एक से अधिक नहीं और काल, पुद्गल एवं जीव-आत्मा, ये तीनों

अनन्त हैं। इनमें काल-द्रव्य तो अतीत और अनागत काल की अपेक्षा से अनन्त कहा है और पुद्गल तथा जीव द्रव्य संख्या में अनन्त हैं। यद्यपि एक आत्मा को असंख्यातप्रदेशी माना है तथापि संख्या में जीव द्रव्य अनन्त हैं और अनन्त आत्माएँ इस लोक में विराजमान हैं। इनमें शुद्ध आत्मा तो मोक्षस्वरूप में निवास करते हैं और अशुद्ध आत्मा स्व-स्व-कर्मानुसार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यक्-गति मे भ्रमण कर रहे हैं। यद्यपि आकाश-द्रव्य भी अनन्त है, तथापि लोकाकाश की अपेक्षा अथवा निरंश होने की अपेक्षा से एक प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य के विषय में भी जान लेना चाहिए।

अब प्रत्येक द्रव्य का लक्षण द्वारा वर्णन करते हैं—

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥९॥

गतिलक्षणस्तु धर्मः, अधर्मः स्थितिलक्षणः।
भाजनं सर्वद्रव्याणां, नभोऽवगाहलक्षणम् ॥९॥

पदार्थान्वयः—**गइलक्खणो**—गतिलक्षण **धम्मो**—धर्मास्तिकाय है **उ**—और **ठाणलक्खणो**—स्थानलक्षण **अधम्मो**—अधर्मास्तिकाय है **भायणं**—भाजन **सव्वदव्वाणं**—सर्व द्रव्यों का **नहं**—आकाश है **ओगाहलक्खणं**—अवगाह उसका लक्षण है।

मूलार्थ—गति—चलने—में सहायता देना, धर्मास्तिकाय का लक्षण है, स्थिति—ठहरने—में सहायक होना अधर्मास्तिकाय का लक्षण है। सर्व द्रव्यों का भाजन आकाश-द्रव्य है। सब को अवकाश देना, उसका लक्षण है।

टीका—जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाय उसको लक्षण कहते हैं। प्रस्तुत गाथा मे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों के लक्षण बतलाये गये हैं। जीव और पुद्गल की गतिरूप क्रिया मे सहायता पहुँचाने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है, अतः उसको गतिलक्षण कहते हैं। जिस प्रकार मत्स्य के गमनागमन में जल सहायक होता है अर्थात् जल के विना जैसे वह गमन नहीं कर सकता, इसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य भी धर्मद्रव्य के विना गमन नहीं कर सकते।

तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल की गति धर्म-द्रव्य का आश्रित है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायता देने वाला अधर्म-द्रव्य है। इसलिए उसको स्थितिलक्षण कहा है। जैसे धूप में चलने वाले पथिक को विश्राम के लिए वृक्ष की सघन छाया सहायक होती है अर्थात् उसकी स्थिति में कारणभूत होती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होने वाला अधर्म-द्रव्य है। समस्त पदार्थों का आधारभूत आकाश द्रव्य है अतएव 'सब को अवकाश देना' उसका लक्षण है अर्थात् जिसमें सर्व द्रव्य रहते हैं वह आकाश है। तात्पर्य यह है कि आकाश सब का आधार है और शेष द्रव्य उसके आधेय हैं।

अब फिर कहते हैं—

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥१०॥

वर्तनालक्षणः कालः, जीव उपयोगलक्षणः।
ज्ञानेन दर्शनेन च, सुखेन च दुःखेन च ॥१०॥

पदार्थान्वयः—**वत्तणालक्खणो**–वर्तनालक्षण **कालो**–काल है **जीवो**–जीव **उवओगलक्खणो**–उपयोगलक्षण वाला है **नाणेणं**–ज्ञान से **च**–और **दंसणेणं**–दर्शन से **सुहेण**–सुख से **य**–वा **दुहेण**–दुःख से—जीव जाना जाता है **य**–समुच्चय अर्थ में है।

मूलार्थ—वर्तना काल का लक्षण है, उपयोग (ज्ञानादिव्यापार) जीव का लक्षण है और वह (जीव) ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से जाना जाता है।

टीका—पदार्थ की क्रियाओं के परिवर्तन से समय की जो गणना की जाती है उसे वर्तना कहते हैं। यह 'वर्तना' ही काल का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जिस जिस ऋतु में जो जो भाव उत्पन्न होने वाले होते हैं, औपचारिकनय के मत से उन उन भावों का कर्ता काल-द्रव्य ही माना जाता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों मे काल-द्रव्य वर्त रहा है और इसी कारण से द्रव्यों मे नूतन और पुरातन पर्याय उत्पन्न होते हैं। उन सब का कर्ता काल ही है, अतएव ऋतु विभाग से जो, शीत आतपादि पर्यायों—दशाओं की उत्पत्ति होती है, उन सब का कारण काल-द्रव्य ही है। तथा उपयोग

अर्थात् ज्ञानादि व्यापार जीव का लक्षण है। यह जीव ज्ञान [विशेषग्राही], दर्शन [सामान्यग्राही], सुख [आनन्दरूप] और दुःख [आकुलतारूप] से जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख ये चारों लक्षण अजीव पदार्थ में नहीं हैं और विपरीत इसके सजीव पदार्थ मे ये पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानादि लक्षण जिस में हो वह जीव है।

अब शिष्यों की विशेष दृढता के लिए जीव का लक्षणान्तर कहते हैं--

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च , एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—**नाणं**–ज्ञान **च**–और **दंसणं**–दर्शन **च**–पुनः **एव**–अवधारणार्थ में है **चरित्तं**–चारित्र **तहा**–तथा **तवो**–तप **वीरियं**–वीर्य **य**–और **उवओगो**–उपयोग **एयं**–यह **जीवस्स**–जीवका **लक्खणं**–लक्षण है।

मूलार्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जीव के विशिष्ट लक्षणों का वर्णन किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये सब जीव के असाधारण लक्षण हैं, क्योंकि जो द्रव्य-आत्मा है वह निश्चय ही ज्ञान और दर्शनात्मा से संयुक्त है तथा वीर्यात्मा आदि भी साथ ही में है, इसी हेतु से सूत्रकार ने वीर्य तथा उपयोग को जीव का लक्षण कहा है। यद्यपि वीर्य जड़ पदार्थों मे भी विद्यमान है, परन्तु वह वीर्य-शून्यता गुण वाला है, अतएव साथ मे उपयोग पद का उल्लेख किया है ताकि जड पदार्थ की व्यावृत्ति हो जावे। कारण यह है कि वीर्य और उपयोग—ये दोनों जीवतत्त्व को छोड़ कर अन्यत्र कहीं पर नहीं रहते। इसके अतिरिक्त उपयोग मे ज्ञान और दर्शन का तथा वीर्य मे तप और चारित्र का अन्तर्भाव कर के, वीर्य और उपयोग यही जीव का यथार्थ लक्षण माना गया है। वीर्य की उत्पत्ति का कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षय, अथवा क्षयोपशम भाव है।

अब पुद्गल-द्रव्य के विषय में कहते हैं—

सद्दन्धयार-उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवो इ वा ।
वण्णरसगन्धफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१२॥

शब्दोऽन्धकार उद्योतः, प्रभाच्छायाऽऽतप इति वा ।
वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः, पुद्गलानां तु लक्षणम् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—सद्द—शब्द अन्धयार—अन्धकार उज्जोओ—उद्योत पभा—प्रभा छाया—छाया आतवो—आतप वा—समुच्चयार्थक है वण्ण—वर्ण रस—रस गन्ध—गन्ध फासा—स्पर्श पुग्गलाणं—पुद्गलों का लक्खणं—लक्षण है तु—पुनः इति—आद्यर्थक है ।

मूलार्थ—शब्द, अन्धकार, उद्योत—प्रकाश, प्रभा—कान्ति, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श; ये सब पुद्गल के लक्षण हैं ।

टीका—'पुद्गल'—यह जड़ पदार्थों में प्रयुक्त होने वाला जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है । शब्द, अन्धकार और उद्योत आदि सब पुद्गल के ही गुण हैं, और इन्हीं से पुद्गल-द्रव्य लक्षित हो रहा है, इसलिये ये सब इसके लक्षण हैं, तथा पुद्गल-द्रव्य के मूर्त होने से शब्दादि भी मूर्त हैं । इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के विषय होने से अन्धकार, उद्योत और प्रभा आदि पौद्गलिक द्रव्य हैं । तथा कितने ही विद्वान् अन्धकार को अभाव रूप मानते हैं, परन्तु विचार-दृष्टि से देखा जावे तो उनका यह कथन प्रामाणिक और युक्ति-संगत नहीं है । अन्धकार, अभावरूप नहीं, किन्तु भाव-रूप पदार्थ है, इसी आशय से सूत्रकार ने अन्धकार को पौद्गलिक द्रव्य स्वीकार किया है । तथा शब्द के विषय में भी यही व्यवस्था है, अर्थात् शब्द भी गुणरूप नहीं, किन्तु पौद्गलिकरूप स्वतंत्र द्रव्य है[1] । विपरीत इसके जो लोग शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, वे भ्रान्त से प्रतीत होते हैं; कारण यह है कि आकाश अमूर्तपदार्थ है और शब्द मूर्त है, मूर्तपदार्थ अमूर्त का गुण हो नहीं सकता । इसलिए शब्द को आकाश का गुण मानना ठीक नहीं, किन्तु शब्द, पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल का पर्याय

---

१ नैयायिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है—'शब्दगुणकमाकाशम्' । परन्तु जैनदर्शन को यह अभिमत नहीं है । उसके मत में तो शब्द पौद्गलिक द्रव्य है । इस सिद्धान्त को वर्तमान समय का ग्रामोफोन का आविष्कार प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित कर रहा है ।

है—यही मानना युक्ति और प्रमाण-संगत है। इस विषय की अधिक चर्चा देखने की जिज्ञासा रखने वाले विद्वान् स्याद्वादमंजरी, रत्नाकरावतारिका और सन्मतितर्क प्रभृति ग्रन्थों का अवलोकन करें।

इस प्रकार द्रव्य के लक्षण और गुणों का निरूपण करने के अनन्तर अब पर्याय के विषय में कहते हैं—

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१३॥

एकत्वं च पृथक्त्वं च, संख्या संस्थानमेव च।
संयोगाश्च विभागाश्च, पर्यायाणां तु लक्षणम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—एगत्तं-एकत्व च-और पुहत्तं-पृथक्त्व च-पुनः संखा-सख्या य-और संठाणं-संस्थान एव-निश्चय अर्थ में है संजोगा-संयोग य-और विभागा-विभाग य-समुच्चय में है पज्जवाणं-पर्यायों का तु-पादपूर्ति में लक्खणं-लक्षण है।

मूलार्थ—एकत्व—इकट्ठा होना, पृथक्त्व—जुदा होना, संख्या, संस्थान—आकार, संयोग और विभाग; ये सब पर्यायों के लक्षण अर्थात् असाधारण धर्म हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पर्यायों के लक्षण बतलाये गये हैं। द्रव्य में अनेक प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं, वे ही पर्याय के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे कि, 'सत्' यह द्रव्य का लक्षण है और 'सत्' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त ही माना जाता है। अतः द्रव्य में जो उत्पाद और व्ययरूप धर्म उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को पर्याय कहते हैं। तथा पुद्गल-द्रव्य के सत् होने पर भी परमाणुओं का एकत्र होना, अथवा पृथक्-पृथक् होना, एवं संख्याबद्ध होना, तथा आकारयुक्त होना, वा संयुक्त-संयोगरूप होना और विभक्त-विभागरूप होना—ये सब पर्याय के ही असाधारण धर्म हैं, अतएव इन को पर्यायों का लक्षण बतलाया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि सहभावी धर्म, गुण, और क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहते हैं। जैसे कि एक ही पुद्गल-द्रव्य में क्रमपूर्वक अनेक प्रकार के एकत्व—पृथक्त्वादि भाव उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, बस, ये ही पर्याय कहे जाते हैं। द्रव्य नित्य है और

पर्याय अनित्य हैं। कारण यह है कि उत्पाद और व्यय के होने पर भी द्रव्य की सत्ता का अभाव नहीं होता। जैसे कि सुवर्ण—पिंड में कटकरूप का उत्पाद और कुंडलरूप का विनाश होता है, परन्तु उत्पत्ति और विनाश के होने पर स्वर्ण अपने मूल-स्वरूप से च्युत नहीं होता अपितु अपने मूलरूप से सर्वदा स्थित रहता है। परमाणुओं के समूह का एकत्र होकर घड़े का आकार बन जाना एकत्व है, और परमाणुओं के समूह का बिखर जाना पृथक्त्व है। इसी प्रकार संयोग और विभाग के विषय में समझ लेना चाहिए, और 'च' शब्द से नवीन और पुरातन अवस्था-रूप पर्यायों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

इस प्रकार ज्ञान का वर्णन करने के अनन्तर अब दर्शन के विषय में कहते हैं। यथा—

जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्त्येए तहिया नव ॥१४॥

जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापास्रवौ तथा।
संवरो निर्जरा मोक्षः, सन्त्येते तथ्या नव ॥१४॥

पदार्थान्वयः—**जीवा**—जीव **य**—और **अजीवा**—अजीव **य**—तथा **बन्धो**—बन्ध **पुण्णं**—पुण्य **तहा**—तथा **पावा**—पाप **आसवो**—आस्रव **संवरो**—संवर **निज्जरा**—निर्जरा **मोक्खो**—मोक्ष **एए**—ये **तहिया**—तथ्य—पदार्थ **नव**—नौ **सन्ति**—हैं।

मूलार्थ—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं।

टीका—जीव—एकेन्द्रियादि, अजीव—धर्मास्तिकाय आदि, बन्ध—जीव और कर्म का अत्यन्त—श्लेषरूप, पुण्य—शुभ—प्रकृतिरूप, पाप—अशुभप्रकृतिरूप, आस्रव—कर्मों के अनेकमार्ग, संवर—आश्रव का निरोध, निर्जरा—आत्मा से कर्मदलकों का अलग होना, मोक्ष—घाति-आघाति समस्त कर्माणुओं का समूलघात, ये नौ पदार्थ जिनेन्द्रभगवान् ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ वर्णन किये हैं। तथा वास्तव में तो जीव और अजीव ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं, अन्य सबका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इन्हीं दो के संमिश्रण से बन्धादि अन्य पदार्थ बन

जाते हैं। ये सब ज्ञेय हैं। इसी लिए प्रस्तुत गाथा में ज्ञान के अनन्तर इनका वर्णन किया है। तथा उक्त तत्त्वों का वर्णन-क्रम भी अभिप्राय से युक्त है। यथा—जीव-सचेतन पदार्थ—के पीछे, अजीव—जड़ पदार्थ—का वर्णन, और जीव के मिलने से बन्ध, एवं पुण्य पाप से आश्रव, और संवर से मोक्ष का होना इत्यादि। यहाँ पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि जघन्यता से तो जीव और अजीव ये दो ही पदार्थ हैं, मध्यमसरण से नौ और उत्कृष्टरूप से पदार्थ अनन्त हैं।

अब उक्त पदार्थों के जानने का फल बतलाने के निमित्त प्रथम सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥१५॥

तथ्यानां तु भावानां, सद्भाव उपदेशनम्।
भावेन श्रद्दधतः, सम्यक्त्वं तद् व्याख्यातम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—तहियाणं–तथ्य भावाणं–भावों के सब्भावे–सद्भाव में तु–जो भी उवएसणं–उपदेश है भावेणं–अन्तःकरण से सद्दहंतस्स–श्रद्धा करने वाले का सम्मत्तं–सम्यक्त्व तं–वह वियाहियं–कथन किया गया है।

मूलार्थ—जीवाजीवादि पदार्थों के सद्भाव में स्वभाव से या किसी के उपदेश से भावपूर्वक जो श्रद्धा, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जीवाजीवादि पदार्थों के विषय मे गुरुजनों का जो सदुपदेश है, उसको अन्तःकरण से मानते हुए अर्थात् उस पर अपनी विशिष्ट श्रद्धा रखते हुए मोहनीयकर्म के क्षय वा क्षयोपशमभाव से अन्तःकरण में जो अभिरुचि पैदा होती है, उसी को तीर्थंकरों ने सम्यक्त्व कहा है। यदि संक्षेप से कहें तो तत्त्वार्थविषयक श्रद्धान को सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व कहते हैं, और वह आत्मविकास की प्रथम भूमिका है अर्थात् चौदह गुणस्थानों मे से अविरति—सम्यग्दृष्टि नाम का जो चतुर्थ गुणस्थान है, उससे आत्मविकास का प्रारम्भ होता है और वह सम्यक्त्वमूलक ही होता है।

अब सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन करते हैं—

निसग्गुवएसरुई , आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥१६॥

निसर्गोपदेश-रुचिः , आज्ञा-रुचिः सूत्र-बीज-रुचिरेव ।
अभिगम-विस्तार-रुचिः, क्रिया-संक्षेप-धर्म-रुचिः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—**निसग्ग**—निसर्गरुचि **उवएसरुई**—उपदेशरुचि **आणारुई**—आज्ञारुचि **सुत्त**—सूत्ररुचि **बीयरुई**—बीजरुचि **एव**—समुच्चय अर्थ मे है **अभिगम**—अभिगमरुचि **वित्थाररुई**—विस्ताररुचि **किरिया**—क्रियारुचि **संखेव**—संक्षेपरुचि **धम्मरुई**—धर्मरुचि ।

मूलार्थ—सम्यक्त्व दस प्रकार का है, यथा—१—निसर्गरुचि, २—उपदेशरुचि, ३—आज्ञारुचि, ४—सूत्ररुचि, ५—बीजरुचि, ६—अभिगमरुचि, ७—विस्ताररुचि, ८—क्रियारुचि, ९—संक्षेपरुचि और १०—धर्मरुचि ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व के भेदों का नामपूर्वक निर्देश किया गया है, यथा निसर्गरुचि—सम्यक्त्व और उपदेशरुचि—सम्यक्त्व इत्यादि । धर्म में यथार्थ अभिरुचि का होना सम्यक्त्व है । वह रुचि, स्वभाव से वा उपदेश से उत्पन्न होती है, तथा निमित्त—भेद को लेकर वह अनेक प्रकार की हो जाती है । इसी अपेक्षा से प्रस्तुत गाथा में उसके उक्त दस प्रकार के भेद बतलाये हैं । परन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि यह रुचि—भेद केवल व्यवहार—नय को लेकर किया गया है, और निश्चय—नय के अनुसार तो सम्यक्त्व—दर्शन—यह जीव का निजी गुण है ।

अब क्रमपूर्वक प्रत्येक का वर्णन करते हैं—

भूयत्थेणाहिगया , जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सह सम्मइयासवसंवरो य, रोएइ उ निस्सग्गो ॥१७॥

भूतार्थेनाधिगताः , जीवा अजीवाश्च पुण्यं पापं च ।
सह संमत्याऽऽस्रवसंवरौ च, रोचते (यस्मै) तु निसर्गः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—भूयत्थेण–भूतार्थ से अहिगया–अधिगत किया है जीवा–जीव अजीवा–अजीव य–और पुण्णं–पुण्य च–और पावं–पाप को सहसम्मइया–स्वमति से आसव–आस्रव संवरो–संवरो रोएइ–रुचता है निसग्गो–वह निसर्गरुचि है उ–निश्चयार्थक है।

मूलार्थ—जिसने भूतार्थ—जातिस्मरणादिज्ञान—से जीव, अजीव, पुण्य और पाप को जान लिया है, और स्वमति से आस्रव और संवर को जानता है और उनमें श्रद्धान रखता है, वह निसर्गरुचि है।

टीका—दस प्रकार की रुचियों में से क्रमप्राप्त प्रथम निसर्गरुचि का स्वरूप बतलाते हैं। जिस आत्मा ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव तत्त्वों को यथार्थरूप से जातिस्मरणादिज्ञान के द्वारा अर्थात् आचार्य आदि के उपदेश के विना ही जानकर उनका श्रद्धान किया है, वह निसर्गरुचि कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा, विना किसी के उपदेश से अर्थात् जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा स्वमति से पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनमें पूर्ण विश्वास रखता है, विचारपूर्वक धर्मतत्त्व की खोज में निरन्तर लगा रहता है, वह निसर्गरुचि कहलाता है। सारांश यह है कि उसकी यह रुचि, स्वभावसिद्ध होने से निसर्गरुचि कही जाती है। जैसे कि मृगापुत्र को हुई थी, अर्थात् मृगापुत्र को धर्म में जो रुचि उत्पन्न हुई थी, वह निसर्गरुचि है। इस रुचि में गुरु आदि के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु क्षयोपशमजन्य-स्वमति की विचारणा की ही आवश्यकता है। यहाँ पर 'भूतार्थ' शब्द का अर्थ यथार्थ ज्ञान अभिमत है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव नन्नहत्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥१८॥

यो जिनदृष्टान् भावान्, चतुर्विधान् श्रद्दधाति स्वयमेव।
एवमेव नान्यथेति च, स निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जो–जो जिणदिट्ठे–जिनदृष्ट भावे–भावों को सयमेव–

स्वयमेव चउव्विहे—चार प्रकार से सद्दहाइ—श्रद्धान करता है एमेव—यह इसी प्रकार है नन्नह—अन्यथा नहीं य—समुच्चयार्थक है निसग्गरुइ—निसर्गरुचि त्ति—ऐसे नायव्वो—जानना।

मूलार्थ—जो जीव जिनेन्द्र द्वारा अनुभूत भावों—पदार्थों—को चार प्रकार से [द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से] स्वयमेव—जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा—जानकर, पदार्थ का ऐसा ही स्वरूप है—अन्यथा नहीं है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान करता है, उसे निसर्गरुचि अर्थात् निसर्गरुचि—सम्यक्त्व—वाला कहते हैं।

टीका—इस गाथा में भी निसर्गरुचि के ही स्वरूप का वर्णन किया है, जैसे कि—जिन पदार्थों को तीर्थंकरदेव ने, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अपने निर्मल ज्ञान द्वारा अवलोकन किया है, उनको जो स्वयमेव गुरु आदि के उपदेश के विना अर्थात् जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा उक्त चारों प्रकार से जानकर जो उनमें दृढ़ श्रद्धान करता है, तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्रदेव ने जो कुछ कथन किया है, वह सत्य ही है मिथ्या कभी नहीं—इस प्रकार का जिसका दृढ़ विश्वास है, वह पुरुष निसर्गरुचि—सम्यक्त्व—वाला है। तथा आप्त वाक्यों पर पूर्ण विश्वास करना, और उसके अनुसार हेयोपादेय आदि में निवृत्ति प्रवृत्ति करनी निसर्गरुचि है। इसकी उत्पत्ति विशिष्टतर-मोहनीय कर्म के क्षयोपशमभाव से होती है अर्थात् क्षयोपशमभाव के द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार निसर्गरुचि के अनन्तर अब उपदेशरुचि के विषयमें कहते हैं—

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥१९॥

एतान् चैव तु भावान्, उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति।
छद्मस्थेन जिनेन वा, (स) उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—जो—जो परेण—पर के व—अथवा छउमत्थेण—छद्मस्थ के द्वारा जिणेण—जिन के द्वारा उवइट्ठे—उपदिष्ट कहे गये एए—इन पूर्वोक्त भावे—भावों को

सद्दहई–श्रद्धा करता है उवएसरुइ–उपदेशरुचि त्ति–इस प्रकार **नायव्वो**–जानना चाहिए । उ–पादपूर्ति में च–पुनः एव–अवधारणार्थक है ।

मूलार्थ—**जो छद्मस्थ के द्वारा अथवा जिन के द्वारा इन पूर्वोक्त उपदिष्ट भावों को सुनकर श्रद्धा करता है, उसे उपदेशरुचि कहते हैं ।**

टीका—जो पुरुष तीर्थंकरोपदिष्ट इन पूर्वोक्त जीवादि पदार्थों को—उनके यथार्थ स्वरूप को छद्मस्थ के द्वारा वा केवली के द्वारा श्रवण करके उन में श्रद्धान करता है, उसको उपदेशरुचि कहते हैं । तात्पर्य यह है कि श्रवण के अनन्तर जो रुचि उत्पन्न हो, वह उपदेशरुचि है । यहाँ पर छद्मस्थ का अर्थ अल्पज्ञ और जिन का अर्थ सर्वज्ञ है । सारांश यह है कि उक्त तत्त्वों का उपदेश चाहे सर्वज्ञ के द्वारा प्राप्त हो अथवा असर्वज्ञ से उपलब्ध हुआ हो, किन्तु धर्म में जो रुचि उत्पन्न हुई है वह उपदेशमूलक होनी चाहिये ।

अब आज्ञारुचि के विषय में कहते हैं—

रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥२०॥

रागो द्वेषो मोहः, अज्ञानं यस्यापगतं भवति ।
आज्ञया रोचमानः, स खल्वाज्ञारुचिर्नाम ॥२०॥

पदार्थान्वयः—**रागो**–राग **दोसो**–द्वेष **मोहो**–मोह **अन्नाणं**–अज्ञान **जस्स**–जिस का **अवगयं**–अपगत—दूर **होइ**–हो जाता है **आणाए**–आज्ञा से **रोयंतो**–रुचि करता है **सो**–वह **खलु**–निश्चय से **आणारुई**–आज्ञारुचि **नाम**–नाम वाला है ।

मूलार्थ—**जिस पुरुष के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो गये हैं, तथा जो आज्ञा से रुचि करता है, उसको आज्ञारुचि कहते हैं ।**

टीका—प्रस्तुत गाथा में आज्ञारुचि का स्वरूप-लक्षण बतलाया है । जिस आत्मा के राग-द्वेषादि क्षय हो गये हों, और आचार्यादि की आज्ञा से जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है वह आज्ञारुचि कहलाता है । यहाँ पर राग, द्वेप, मोह और अज्ञान का सर्वथा क्षय नहीं, किन्तु आंशिक क्षय समझना चाहिये । इनके आंशिक क्षय होने पर ही आज्ञा के पालन मे रुचि उत्पन्न होती है, और जिस आत्मा के

राग-द्वेषादि सर्वथा क्षय हो जाते हैं, उस में तो कैवल्य की उत्पत्ति हो जाने से वह तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा जीवन्मुक्त हो जाता है। वहाँ पर तो आत्म-विकास की इस आरम्भिक दशा के कारणभूत रुचि-सम्यक्त्व की आवश्यकता ही नहीं रहती।

अब सूत्ररुचि के विषय में कहते हैं—

जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।
अंगेण बहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥२१॥
यः सूत्रमधीयानः, श्रुतेनावगाहते तु सम्यक्त्वम्।
अङ्गेन बाह्येन वा, सः सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२१॥

पदार्थान्वयः—**जो**–जो **सुत्तं**–सूत्र को **अहिज्जन्तो**–पढ़ता हुआ **सुएण**–श्रुत से **ओगाहई**–अवगाहन करता है **सम्मत्तं**–सम्यक्त्व को **उ**–पादपूर्ति में **अंगेण**–अंग से **व**–अथवा **बहिरेण**–बाह्य से **सो**–वह **सुत्तरुई**–सूत्ररुचि **त्ति**–इस प्रकार **नायव्वो**–जानना चाहिए।

मूलार्थ—**जो जीव अंगप्रविष्ट अथवा अंगबाह्य सूत्रों को पढ़कर उनके द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उसे सूत्ररुचि कहते हैं।**

टीका—आचारांगादि को अंगप्रविष्ट कहते हैं और इनके अतिरिक्त शेष सब सूत्र अंगबाह्य कहलाते हैं, तथा इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य सूत्रों के सम्यक् अध्ययन से जिस जीव के विशुद्ध अन्तःकरण में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उसको सूत्ररुचि कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रुत के सम्यक् अध्ययन से अन्तःकरण में एक विशिष्ट प्रकार की अभिरुचि उत्पन्न होती है। उस का दूसरा नाम सम्यक्त्व है। इस प्रकार के सम्यक्त्व वाले को सूत्ररुचि-सम्यक्त्वी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त इस गाथा से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अंग और अंगबाह्य सभी आगम ग्रन्थों के स्वाध्याय का साधु और गृहस्थ सभी को समान अधिकार है। कारण यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति का मुख्य कारण श्रुतज्ञान है और उसकी यथार्थ उपलब्धि आगमों के ज्ञान से होती है, अतः जो विद्वान् गृहस्थों के लिए आगमों के स्वाध्याय करने का निषेध करते हैं वे कृपा करके इस गाथा के अर्थ पर शांत मन से अवश्य विचार करें।

एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥२२॥

एकेनानेकानि , पदानि यः प्रसरति तु सम्यक्त्वम् ।
उदक इव तैलबिन्दुः, स बीजरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२२॥

पदार्थान्वयः—एगेण-एक से अणेगाइं-अनेक पयाइं-पदों में जो-जो पसरई-फैलता है उ-वितर्क अर्थ में है सम्मत्त-सम्यक्त्व उदएव्व-उदक में जैसे तेल्लबिंदू-तेल का बिन्दु सो-वह बीयरुइ-बीजरुचि त्ति-इस प्रकार नायव्वो-जानना चाहिए ।

मूलार्थ—जैसे जल में डाला हुआ तेल का बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार एक पद से अनेकपदों में जो सम्यक्त्व फैलता है उसे बीजरुचि-सम्यक्त्व जानना चाहिए ।

टीका—अब बीजरुचि का लक्षण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार जल में डाला हुआ तैल का एक बिन्दु सारे जल पर फैल जाता है, तथा वपन किये गये एक बीज से सैकड़ों वा हजारों बीज उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस जीव को एक पद से या हेतु से बहुत से पद, बहुत से दृष्टान्त और बहुत से हेतुओं द्वारा अन्तःकरण में तत्त्व का श्रद्धान अर्थात् सम्यक्त्व की विशिष्टरूप से प्राप्ति होती है उसे बीजरुचि कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जल पर फैलने वाले तैलबिन्दु की भाँति एक-पद—जीवादि एक पदार्थ के द्वारा अनेक पदों में सम्यक्त्व को विस्तार-प्राप्त हो जाता है अर्थात् एक पद से अनेक पदों का ज्ञान हो जाता है, तथा जैसे—एक बीज अनेक बीजों को जन्म देता हुआ विस्तार को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जिस जीव के अन्तःकरणक्षेत्र में वपन किया गया सम्यक्त्व का बीज अनेक प्रकार से फैलता है उसको बीजरुचि कहते हैं । अथवा यूं कहिए कि जैसे जल के एक देश में डाला हुआ तैलबिन्दु सर्वत्र फैल जाता है, उसी प्रकार आत्मा के एक देश-प्रदेश में उत्पन्न हुई रुचि क्षयोपशमभाव से आत्मा के सारे प्रदेशों में फैल जाती है, इसी का नाम बीजरुचि है । प्रस्तुत गाथा में सुप् का व्यत्यय किया गया है ।

अब अभिगमरुचि का वर्णन करते हैं। यथा—

सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥२३॥

स भवत्यभिगमरुचिः, श्रुतज्ञानं येनार्थतो दृष्टम्।
एकादशाङ्गानि , प्रकीर्णकानि दृष्टिवादश्च ॥२३॥

पदार्थान्वयः—**सो**—वह **होइ**—होता है **अभिगमरुई**—अभिगमरुचि **सुयनाणं**—श्रुतज्ञान **जेण**—जिसने **अत्थओ**—अर्थ से **दिट्ठं**—देखा है **एक्कारस**—ग्यारह **अंगाइं**—अंग **पइण्णगं**—प्रकीर्ण **दिट्ठिवाओ**—दृष्टिवाद **य**—और—उपांगसूत्र।

मूलार्थ—जिसने एकादश अंग, प्रकीर्ण दृष्टिवाद और उपांगादिसूत्रों में अर्थ द्वारा श्रुतज्ञान को देखा है उसे अभिगमरुचि कहते हैं।

टीका—सूत्रकार कहते हैं कि अभिगमरुचि वह जीव होता है कि जिसने आचारांगादि एकादश अंगसूत्रों, उत्तराध्ययनादि प्रकीर्णसूत्रों, तथा दृष्टिवाद और उपांगसूत्रों में जो श्रुतज्ञान है उसको अर्थ सहित जान लिया है अर्थात् सर्व अंगोपांगसूत्रों में आये हुए श्रुतज्ञान को भली भाँति समझकर अपने अन्तःकरण मे बैठा लिया है। सारांश यह है कि अंगोपांग में आये हुए श्रुतज्ञान की अवगति से जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई हो वह अभिगमरुचि कहलाता है। 'प्रकीर्ण' शब्द, यहाँ पर जाति में एक वचन है और अंग के अन्तर्गत होने पर भी दृष्टिवाद का जो स्वतंत्र उल्लेख किया है वह उसकी प्रधानता-सूचनार्थ है।

अब विस्ताररुचि के विषय में कहते हैं—

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥२४॥

द्रव्याणां सर्वे भावाः, सर्वप्रमाणैर्यस्योपलब्धाः ।
सर्वैर्नयविधिभिः , विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—दव्वाण-द्रव्यों के सव्वभावा-सर्व भाव सव्व-सर्व पमाणेहिं-प्रमाणों से जस्स-जिसको उवलद्धा-उपलब्ध हैं सव्वाहिं-सर्व नयविहीहिं-नयविधियों से वित्थाररुइ-विस्ताररुचि त्ति-इस प्रकार नायव्वो-जानना चाहिए।

मूलार्थ—द्रव्यों के सब भावों को जिसने सर्वप्रमाणों और सर्वनयों से जान लिया है उसको विस्ताररुचि कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विस्ताररुचि की व्याख्या इस प्रकार से की है। यथा—धर्मादिद्रव्यों के भावों को जो प्रत्यक्षादिप्रमाणों और नैगमादिनयों के द्वारा भली प्रकार से जानता है अर्थात् इनके द्वारा जिस को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है उसे विस्ताररुचि कहते हैं। पदार्थस्वरूप को जानने के मुख्य दो साधन हैं, जो कि प्रमाण और नय के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'प्रमाणनयैरधिगमः' [तत्त्वा. सू. अ. १ सू. ६] इसलिए यावन्मात्र पदार्थ हैं उनके ज्ञानार्थ प्रमाण और नय की विशेष आवश्यकता है। प्रमाण के मुख्य दो—[परोक्ष और प्रत्यक्ष] भेद, और विस्तार से—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—चार भेद हैं। प्रमाण के एक अंश को नय कहते हैं। सामान्य भाषा में कहें तो विचारों का वर्गीकरण या भिन्न-भिन्न अपेक्षायें नय कही जाती हैं। नय के भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, ये दो भेद हैं और इन्हीं के विस्तार रूप १ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ और ७ एवंभूत, ये सात भेद हैं। इनका अधिक वर्णन देखना हो तो न्यायावतारिका प्रभृति ग्रन्थों में देखें।

अब क्रियारुचि का लक्षण बतलाते हैं—

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥२५॥

दर्शनज्ञानचारित्रे, तपोविनये सत्यसमितिगुप्तिषु।
यः क्रियाभावरुचिः, स खलु क्रियारुचिर्नाम ॥२५॥

पदार्थान्वयः—दंसण-दर्शन नाण-ज्ञान चरित्ते-चरित्र तव-तप विणए-विनय सच्च-सत्य समिइ-समिति गुत्तीसु-गुप्तियों में जो-जो किरिया-क्रिया भाव-

भाव रुई–रुचि है सो–वह खलु–निश्चय ही किरिया–क्रिया रुई–रुचि नाम–नाम से प्रसिद्ध है।

मूलार्थ—दर्शन, ज्ञानचारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, और गुप्तियों में जो क्रियाभावरुचि है अर्थात् उक्त क्रियाओं का सम्यक् अनुष्ठान करते हुए जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त किया है वह क्रियारुचि-सम्यक्त्व वाला है।

टीका—सत्यदर्शन और ज्ञानपूर्वकचारित्र का अनुष्ठान तथा द्वादश प्रकार का तप एवं विनय और पाँच प्रकार की समिति, तीन गुप्ति आदि शुद्ध क्रियानुष्ठान में जो अभिरुचि-पूर्ण श्रद्धा है वह क्रियाभिरुचि-सम्यक्त्व है। यद्यपि चारित्र में सर्व क्रियानुष्ठान गर्भित है, तथापि कर्म के क्षय करने में तप आदि की प्रधानता ध्वनित करना सूत्रकार का मुख्य उद्देश्य है, इसलिए इनको पृथक् ग्रहण किया है। तथा जिस समय चारित्रावरणीय कर्म का क्षय वा क्षयोपशम भाव होता है उस समय इस जीव में समिति और गुप्ति आदि के अनुष्ठान की रुचि उत्पन्न हो तो वही क्रियारुचि-सम्यक्त्व है।

अब संक्षेपरुचि के विषय में कहते हैं—

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥

अनभिगृहीतकुदृष्टिः, संक्षेपरुचिरिति भवति ज्ञातव्यः।
अविशारदः प्रवचने, अनभिगृहीतश्च शेषेषु ॥२६॥

पदार्थान्वयः—अणभिग्गहियकुदिट्ठी–नहीं ग्रहण की है कुदृष्टि जिसने संखेवरुइ त्ति–संक्षेपरुचि इस प्रकार होइ–होता है नायव्वो–जानना चाहिए अविसारओ–विशारद नहीं है पवयणे–प्रवचन में य–तथा अणभिग्गहिओ–अनभिगृहीत है सेसेसु–शेष—कपिलादि मतों में।

मूलार्थ—जो जीव असत् मत या वाद में फंसा हुआ नहीं, और वीतराग के प्रवचन में विशारद भी नहीं है, किन्तु उसकी श्रद्धा शुद्ध है उसे संक्षेपरुचि कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संक्षेपरुचि का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जिस जीव ने कुदृष्टि अर्थात् असन्मार्ग का ग्रहण नहीं किया, और जिनप्रवचन में भी अति निपुण नहीं, तथा अन्य मतों का भी उसे विशेष ज्ञान नहीं, किन्तु वीतराग के मार्ग पर अटल विश्वास रखता है, ऐसा जीव संक्षेपरुचि-सम्यक्त्व वाला कहा जाता है। वर्तमान काल में इस प्रकार के जीव अधिक प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके लिए धर्मप्रभावना की अधिक आवश्यकता है, अन्यथा इनके धर्मपथ से विचलित हो जाने की भी अधिक संभावना है।

अब धर्मरुचि के सम्बन्ध में कहते हैं—

जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

योऽस्तिकायधर्मं , श्रुतधर्मं खलु चारित्रधर्मं च।
श्रद्धत्ते जिनाभिहितं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—**जो**–जो **अत्थिकायधम्मं**–अस्तिकाय-धर्म **च**–और **सुयधम्मं**–श्रुत-धर्म **खलु**–निश्चयार्थक है **चरित्तधम्मं**–चारित्र-धर्म का **जिणाभिहियं**–जिनकथित का **सद्दहइ**–श्रद्धान करता है **सो**–वह **धम्मरुइ**–धर्मरुचि **त्ति**–इस प्रकार **नायव्वो**–जानना चाहिए।

मूलार्थ—जो जीव जिनेन्द्रप्ररूपित अस्तिकायधर्म [द्रव्यादिरूप], श्रुतधर्म—[शास्त्रप्रवचनरूप] और चारित्रधर्म [समितिगुप्त्यादिरूप] का याथातथ्यरूप से श्रद्धान करता है वह धर्मरुचि-सम्यक्त्व वाला है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे धर्मरुचि का लक्षण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो जीव तीर्थङ्कर भगवान् के उपदिष्ट धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की यथार्थता पर विश्वास करता है, और अंगप्रविष्ट तथा अगबाह्य सभी प्रकार के श्रुत—प्रवचन मे पूर्ण आशा रखता है, एवं जिस की चारित्र-धर्म पर पूरी श्रद्धा है, ऐसे जीव का जो सम्यक्त्व है उस को धर्मरुचि-सम्यक्त्व कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन-प्ररूपित द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान, श्रुत का बोध और चारित्र के अनुष्ठान की अभिलाषा, यह

धर्मरुचि का विशिष्ट लक्षण है। यद्यपि रुचिओं के ये सारे भेद निसर्ग और उदेशरुचि में समाविष्ट हो सकते हैं, परन्तु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ और उपाधिभेद से भेदनिरूपणार्थ इनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है।

जिन गुणों से सम्यक्त्व में श्रद्धा उत्पन्न होती है अब उनका निरूपण करते हैं। यथा—

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणं वावि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥२८॥

परमार्थसंस्तवः , सुदृष्टपरमार्थसेवनं वापि।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च, सम्यक्त्वश्रद्धानम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—परमत्थ-परमार्थ का संथवो-संस्तव वा-अथवा सुदिट्ठ-भली प्रकार से देखा है परमत्थ-परमार्थ जिसने—उसकी सेवणं-सेवा करनी वा-वैयावृत्य करनी अवि-अपि समुच्चय में य-और वावन्न-सन्मार्ग से पतित कुदंसण-कुदर्शनी का वज्जणा-त्याग करना सम्मत्तसद्दहणा-सम्यक्त्व की श्रद्धा है।

मूलार्थ—परमार्थ तत्त्व का वार वार गुण गान करना, जिन महापुरुषों ने परमार्थ को भली भाँति देखा है उनकी सेवा शुश्रूषा करना, जो सम्यक्त्व से—सन्मार्ग से पतित हो गये हैं तथा जो कुदर्शनी—असत्य दर्शन में विश्वास रखते हैं उनकी संगति न करना, यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है अर्थात् इन उक्त गुणों से सम्यक्त्व की श्रद्धा प्रकट होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व के बोधक गुणों का वर्णन किया गया है। जिस पुरुष में सम्यक्त्व होता है अथवा यूं कहिए कि जो पुरुष सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन से युक्त होता है उस में निम्नलिखित तीन गुण अवश्य विद्यमान होते हैं; १—तत्त्व का संस्तव—गुणकीर्तन, २—तत्त्ववेत्ता महापुरुषों की उपासना, ३—सन्मार्ग से भ्रष्ट और कुमार्ग मे प्रवृत्ति रखने वालों के संसर्ग का परित्याग। इस का अभिप्राय यह है कि परमार्थ के संस्तव से हृदय में एक विशेष प्रकार का उल्लास पैदा होता है, और परमार्थदर्शी सत्य पुरुषों की सेवा से आत्मगुणों के

विकास में क्रान्ति पैदा होती है, एवं पतित पुरुषों के सहवास से धर्म-मार्ग से च्युत होने का भय रहता है, इसलिए जिस आत्मा में सम्यक्त्व का वीज अंकुरित होता है उस में ये तीनों वातें स्वभावतः प्रतीत होती हैं अर्थात् जहाँ पर इन उक्त गुणों की सत्ता व्यक्त हो वहाँ पर सम्यक्त्व अवश्य होता है। जैसे—पर्वत-गत-धूम-रेखा से वह्नि का अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार जिस व्यक्ति में इन तीनों गुणों की अभिव्यक्ति हो वहाँ सम्यक्त्व की विद्यमानता का अनुमान कर लेना चाहिए। कारण यह है कि जिस व्यक्ति में ये उक्त गुण व्यक्त नहीं होते वहाँ पर सम्यक्त्व भी नहीं होता।

इस प्रकार सम्यक्त्व के परिचायक गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अब उसके महत्त्व का वर्णन करते हैं—

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥२९॥

नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं, दर्शने तु भक्तव्यम्।
सम्यक्त्वचारित्रे, युगपत्पूर्वं च सम्यक्त्वम् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—नत्थि–नहीं है चरित्तं–चारित्र सम्मत्तविहूणं–सम्यक्त्व से रहित उ–पुनः दंसणे–दर्शन में भइयव्वं–चारित्र का भजना है सम्मत्तचरित्ताइं–सम्यक्त्व और चारित्र जुगवं–युगपत्—एक समय में हो तो पुव्वं–प्रथम—पूर्व सम्मत्तं–सम्यक्त्व होगा व–परस्पर अपेक्षा मे है।

मूलार्थ—सम्यक्त्व के विना चारित्र नहीं हो सकता और दर्शन में उसकी—चारित्र की—भजना अर्थात् जहाँ पर सम्यक्त्व होता है वहाँ पर चारित्र हो भी और न भी हो तथा यदि दोनों एक काल में हों तो उन में सम्यक्त्व की उत्पत्ति प्रथम होगी।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व की विशिष्टता वतलाई गई है। सम्यक्त्व के विना चारित्र हो ही नहीं सकता अर्थात् पहले सम्यक्त्व होगा तदनन्तर चारित्र की प्राप्ति होगी। कारण यह है कि 'सम्यक्त्व' यह चारित्र की पूर्ववर्ती स्थितिविशेष

है। यथार्थ श्रद्धा के विना आचरण का होना असंभव है। अतः दर्शनपूर्वक ही चारित्र होता है, परन्तु दर्शन में चारित्र की भजना है, अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर चारित्र का होना कोई आवश्यक नहीं है, वह हो भी सकता है और नहीं भी होता है। एवं यदि दर्शन और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ हो तो उस में प्रथम, दर्शन-सम्यक्त्व ही होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर सम्यक्चारित्र होगा वहाँ पर दर्शन-सम्यक्त्व तो अवश्य होगा, परन्तु जहाँ पर दर्शन है वहाँ पर चारित्र का होना अनिवार्य नहीं, इसलिए सम्यक्त्व को ही विशिष्टता प्राप्त है। अत एव शास्त्रकारों ने मोक्षनिधि के बहुमूल्य रत्नों में सब से प्रथम इसी का—दर्शन का उल्लेख किया है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' [तत्त्वा. अ. १ सू. १]।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३०॥

नादर्शनिनो ज्ञानं,
ज्ञानेन विना न भवन्ति चारित्रगुणाः।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः,
नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥३०॥

पदार्थान्वयः—अदंसणिस्स—दर्शनरहित को न—नहीं होता नाणं—ज्ञान नाणेण विणा—ज्ञान के विना न हुंति—नहीं होते चरणगुणा—चारित्र के गुण अगुणिस्स—चारित्र के गुणों से रहित को नत्थि मोक्खो—मोक्ष नहीं है अमोक्खस्स—अमुक्त को नत्थि निव्वाणं—निर्वाण प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—दर्शन-सम्यक्त्व से रहित को ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के विना चारित्र के गुण प्रकट नहीं होते, चारित्र के गुणों के विना कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती और कर्मों से मुक्त हुए विना निर्वाण-सिद्धपद की प्राप्ति नहीं होती।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सम्यग्दर्शन की विशिष्टता का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने मोक्ष के साधनों मे सब से अग्रणी स्थान सम्यक्त्व को दिया है। सम्यक्त्व के विना सम्यग्ज्ञान का होना दुर्घट है और ज्ञान के विना सम्यक्-चारित्र का होना अर्थात् चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों—व्रत और पिंडविद्धि आदि—का प्राप्त होना भी दुर्लभ है। एवं यदि चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों की प्राप्ति न हुई तो फिर कर्मों से मुक्त होना अर्थात् कर्मों के बन्धनों से छुटकारा पाना भी नितान्त कठिन है जब कि कर्मों से छुटकारा न मिला तो फिर समस्त कर्मों का क्षयरूप जो परम-निर्वाणपद है उसकी प्राप्ति की आशा करना भी केवल मनोरथमात्र ही है। इसलिए निर्वाणप्राप्ति की इच्छा रखने वाले जीवों को सब से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। कारण यह है कि सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी और सम्यग्ज्ञान से चारित्रसम्बन्धी सद्गुणों की उपलब्धि होगी, उन सद्गुणों के धारण करने से कर्मों का क्षय होगा और कर्मों के क्षय से सर्वोत्कृष्ट निर्वाणपद की प्राप्ति होगी। इस प्रकार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता हुआ जीव, अनुक्रम से उत्तरोत्तर भूमिकाओं को प्राप्त करके अन्त में परमकल्याणस्वरूप सिद्धगति को प्राप्त कर सकता है। इस से सिद्ध हुआ कि निर्वाणरूप भव्यप्रासाद की आधारशिला सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन ही है।

इस प्रकार सम्यक्त्व की विशिष्टता का वर्णन करने के अनन्तर अब उसके आठ अंगों का वर्णन करते हैं—

निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे , वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥३१॥

निःशङ्कितं निःकाङ्क्षितं, निर्विचिकित्स्यममूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहास्थिरीकरणे , वात्सल्यप्रभावनेऽष्टौ ॥३१॥

पदार्थान्वयः—निस्संकियं—शंकारहित निक्कंखिय—आकांक्षारहित निव्वितिगिच्छा—फल मे सन्देहरहित य—और अमूढदिट्ठी—अमूढदृष्टि उववूह—गुणकीर्तन थिरीकरणं—धर्म में स्थिर करना वच्छल्ल—वात्सल्य पभावणे—धर्मप्रभावना अट्ठ—आठ।

मूलार्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्स्य, अमूढदृष्टि, उपबृंहा, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये आठ गुण दर्शन के आचार हैं अर्थात् सम्यक्त्व के अंग हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दर्शन के आठ आचारों—अंगों का उल्लेख किया है; यथा—(१) निःशंकित—जिन-प्रवचन में किसी प्रकार की शंका न करना; (२) निःकांक्षित—असत्य मतों वा सांसारिक सुखों की इच्छा न करना; (३) निर्विचिकित्स्य—धर्म के फल में सन्देहरहित होना; (४) अमूढदृष्टि—बहुत से मत मतान्तरों के विवादास्पद विचारों को देखकर दिङ्मूढ न बनना किन्तु अपनी धार्मिक श्रद्धा को दृढ़ बनाये रखना; (५) उपबृंहा—गुणी पुरुषों को देख कर उनकी प्रशंसा करना और अपने को वैसा गुणी बनाने का प्रयत्न करना; (६) स्थिरीकरण—धर्म से विचलित होते हुए जीवों को पुनः धर्म पर दृढ़ करना, (७) वात्सल्य—स्वधर्म का हित करना और सधर्मियों के प्रति प्रेम भाव रखना, उनकी भक्तपानादि द्वारा सेवा भक्ति करनी; (८) प्रभावना—सत्यधर्म की प्रभावना—उन्नति और प्रचार करना; ये आठ गुण सम्यक्त्व के अंग कहे जाते हैं। इन में प्रथम चार गुण तो अन्तरङ्ग हैं और आगे के चार बहिरङ्ग कहे जाते हैं। इन आठ गुणों के द्वारा दर्शन प्रदीप्त होता है और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

अब चारित्र के विषय में कहते हैं—

सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च ॥३२॥

सामायिकमत्र प्रथमं, छेदोपस्थापनं भवेद्द्वितीयम्।
परिहारविशुद्धिकं, सूक्ष्मं तथा संपरायं च ॥३२॥

पदार्थान्वयः—ऽत्थ—यहाँ पर सामाइय—सामायिक पढमं—प्रथम चारित्र है छेदोवट्ठावणं—छेदोपस्थापनीय बीयं—द्वितीय चारित्र भवे—है परिहारविसुद्धीयं—परिहारविशुद्धि—तीसरा तह—तथा सुहुमं संपरायं—सूक्ष्म-सम्पराय—यह चौथा है च—समुच्चयार्थ में है।

मूलार्थ—प्रथम सामायिक-चारित्र, द्वितीय छेदोपस्थापनीय, तृतीय परिहारविशुद्धि और चतुर्थ सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चारित्र के भेदों का वर्णन किया गया है। सामायिक—सम्यक् प्रकार से गमन है प्रयोजन जिसका उसको सामायिक-चारित्र कहते हैं, तथा—जिस का राग द्वेष सम है और उसी में जिस का गमन है उसे सामायिक-चारित्र कहा हैं। यदि सरल शब्दों में कहें तो अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप प्रथम भूमिका के चारित्र का नाम सामायिक-चारित्र है। अतएव यह चारित्र सर्वसावद्य-निवृत्तिरूप होता है। इस चारित्र के भी दो भेद हैं १—इत्वरकालिक और २—यावत्कालिक। इन मे भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय में इत्वरकालिक-चारित्र होता है, क्योंकि सामायिक-चारित्र के पश्चात् छेदोपस्थापनीय-चारित्र प्रदान किया जाता है और मध्य में रहने वाले बाईस तीर्थंकरों के समय में वा विदेह-क्षेत्र में यावत्कालिक-सामायिक-चारित्र रहता है। यह यावदायु—आयुपर्यन्त होता है। २—छेदोपस्थापनीय-चारित्र सातिचार वा निरतिचार होने पर पूर्व-पर्याय का छेदन करके पाँच महाव्रतों का आरोपण करना रूप है। अथवा पूर्व-गृहीत सामायिक-चारित्र के काल को छेद कर अर्थात् सीमोल्लंघन करके पाँच महाव्रतरूप जो पक्का चारित्र धारण किया जाता है उसे छेदोपस्थापनीय कहते हैं। ३—परिहार-विशुद्धि—विशिष्ट तप के द्वारा की जाने वाली आत्मा की विशुद्धि को परिहार-विशुद्धि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उच्च प्रकार के ज्ञान और तपश्चर्या-पूर्वक डेढ़ वर्ष तक चारित्र का यथाविधि पालन करना, उसे परिहार-विशुद्धि-चारित्र कहते हैं। इसकी विधि इस प्रकार से वर्णित है:—परिहार-विशुद्धि के लिए गच्छ से नौ साधु निकलते हैं, वे अठारह मास तक इस प्रकार से तपश्चर्या करते हैं:—उन नव साधुओं में से चार साधु तो छः मास तक तप करते हैं और चार उन की वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा करते हैं, तथा उनमें से एक ववमा—वाचनाचार्य होता है। जब पहले चार साधु छः मास पर्यन्त तप कर चुकते हैं तो दूसरे चार जो उन की परिचर्या मे लगे हुए थे तप करना आरम्भ कर देते है और पहले चार साधु उन की वैयावृत्य मे लग जाते हैं। जब उन के छः मास पूरे हो जाते हैं तो उन मे जो एक वाचनाचार्य था वह तप करने लगता है और उन आठों

में से एक वाचनाचार्य बन जाता है, तथा शेष साधु उस की सेवा में प्रवृत्त रहते हैं। वह भी छः मास तक तप करता है। इस प्रकार जब अठारह मास पूरे हो जाते हैं, तब वे जिन-कल्प के अथवा गच्छ के आश्रित होकर विचरने लगते हैं। परन्तु वृत्तिकारों ने ग्रीष्म काल में जघन्य-तप—उपवास, मध्यम, षष्ठभक्त [दो दिन का उपवास], उत्कृष्ट, अष्टम [तीन दिन का उपवास] तप और पारने के लिए आचाम्ल तप करना लिखा है। तथा शिशिर-काल में जघन्य षष्ठ तप, उत्कृष्ट दशम पर्यन्त कहा है। एवं वर्षा-ऋतु में जघन्य अष्टम-तप और उत्कृष्ट द्वादश-तप का करना लिखा है, तथा पारने के दिन आचाम्लादि तप का उल्लेख किया है। यह चारित्र तीर्थंकर, गणधर और स्थविर आदि के समीप ग्रहण किया जाता है, इसके द्वारा बहुत से कर्मों का क्षय होकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों में अधिक विकास और विशुद्धि होती है, इसलिए इसको परिहार-विशुद्धि-चारित्र कहा है। ४—सूक्ष्म-सम्पराय—चतुर्थ चारित्र सूक्ष्म-सम्पराय है, जहाँ पर सूक्ष्म—केवल लोभसंज्ञक कषाय विद्यमान हो वह सूक्ष्म-सम्पराय-चारित्र है। यह चारित्र उपशम-श्रेणी वा क्षपक श्रेणी में आरूढ हुए मुनियों को होता है। कारण यह है कि जिस के द्वारा संसार में पर्यटन किया जाता है उसी का नाम यहाँ पर लोभ है, और वह सूक्ष्मसंज्ञक लोभ जिस के उदय में रह गया है उसे ही सूक्ष्म-संपराय-चारित्र कहा गया है। ये सभी चारित्र परिणामों की तरतमता को लेकर कहे गये हैं। इनके द्वारा आत्म-प्रदेशों में लगी हुई कर्म-वर्गणाओं का क्षय हो जाता है।

अब यथाख्यात-चारित्र के विषय में कहते हैं—

अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥३३॥

अकषायं यथाख्यातं, छद्मस्थस्य जिनस्य वा।
एतच्चयरिक्तकरं, चारित्रं भवत्याख्यातम् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—अकसायं–कषाय-रहित अहक्खायं–यथा-ख्यात है छउमत्थस्स–छद्मस्थ को वा–अथवा जिणस्स–जिन को होता है एयं–यह—पाँचों चारित्र

चयरित्तकरं-कर्मों की राशि को रिक्त करने वाले हैं—अतः चारित्तं-चारित्र होइ-होता है आहियं-तीर्थंकरों ने कहा है।

मूलार्थ—कषाय से रहित यथाख्यात चारित्र है। वह छद्मस्थ को और जिन (केवली) को होता है। कर्म-राशि को चय करने से इसे तीर्थङ्करों ने चारित्र कहा है।

टीका—यथाख्यात-चारित्र वाला जीव जैसी प्ररूपणा करता है उसी के अनुसार वह क्रियानुष्ठान भी करता है। यह चारित्र ग्यारहवें और बारहवें गुण-स्थानवर्ती छद्मस्थ को होता है और केवली भगवान् को होता है जो कि तेरहवें और चौदहवें गुण-स्थानवर्ती हैं। यहाँ पर यदि कोई शंका करे कि यथाख्यात-चारित्र को अकषाय—कषाय-रहित कहा है और ग्यारहवे गुण-स्थान में उपशमकषाय है अर्थात् कषायों का उपशम है सर्वथा अभाव नहीं है, तब ग्यारहवें गुण-स्थानवर्ती छद्मस्थ में यथाख्यात-चारित्र कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि ग्यारहवें गुण-स्थान में कषायों का अभाव नहीं किन्तु उपशम है, तथापि कषायों का जो कार्य है उसके न होने से उपशान्त-मोहनामा ग्यारहवें गुण-स्थान को भी व्यवहार-नय के अनुसार अकषाय ही माना गया है, क्योंकि वहाँ पर कषाय-जन्य कार्य का अभाव होने से वह भी अकषाय ही है। चारित्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है, चय—समूह कर्म-राशि को जो रिक्त—खाली करे। तात्पर्य यह है कि आत्मा को जो कर्म-मल से सर्वथा रहित कर देने की शक्ति रखता हो उसे चारित्र कहते हैं। इस प्रकार चारित्र के ये पाँच भेद वर्णन किये गये हैं।

अब तप के विषय में कहते हैं—

तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥३४॥

तपश्च द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—तवो-तप दुविहो-दो प्रकार का वुत्तो-कहा है बाहिर-बाह्य

तहा-तथा अब्भंतरो-आभ्यंतर य-पुनः बाहिरो-बाह्य छव्विहो-षड्विध—छः प्रकार का वुत्तो-कहा है एवं-इसी प्रकार अब्भंतरो-आभ्यन्तर तवो-तप भी—षट् प्रकार का है।

मूलार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से तप दो प्रकार का है, उसमें बाह्य के छः भेद हैं और आभ्यन्तर-तप भी छः प्रकार का है।

टीका—मोक्ष का चतुर्थ मार्ग—साधन तप है। वह दो प्रकार का है। एक बाह्य तप दूसरा आभ्यन्तर। इन दोनों के छः छः भेद हैं अर्थात् छः प्रकार का बाह्य और छः प्रकार का आभ्यन्तर तप है। इसका पूरा विवरण इसी सूत्र के तीसवें तपोऽध्ययन में किया है। इस प्रकार तप के बारह भेद होते हैं। तप एक प्रकार की विचित्र अग्नि है जो कि आत्मा के साथ लगे हुए कर्म-मल को जलाकर आत्मा को सर्व प्रकार से विशुद्ध कर देती है। इसी लिए शास्त्रकारों ने इसका पृथक् निर्देश किया है, अन्यथा चारित्र के अन्तर्गत इसका भी समावेश किया जा सकता था।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप, इन चारों का वर्णन करने के अनन्तर अब ज्ञानादि प्रत्येक का फल—प्रयोजन बतलाते हैं। यथा—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥३५॥

ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुध्यति ॥३५॥

पदार्थान्वयः—नाणेण-ज्ञान से भावे-भावों को जाणई-जानता है य-फिर दंसणेण-दर्शन से सद्दहे-श्रद्धा करता है चरित्तेण-चारित्र से निगिण्हाई-आस्रवों का निरोध करता है तवेण-तप से परिसुज्झई-यह जीव शुद्ध होता है।

मूलार्थ—यह जीव ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्मास्रवों को रोकता है और तप से शुद्धि को प्राप्त होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ज्ञानादि चारों साधनों के पृथक् २ कार्य वतलाये गये हैं। ज्ञान का कार्य वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को जानना है और दर्शन का कार्य उन पर पूर्ण विश्वास कराना है, तथा चारित्र का कार्य निराश्रव—आश्रवों से रहित करना आश्रव-द्वारों—कर्मागमन-मार्गों को रोक देना है और तप का काम आत्म-संपृक्त-कर्मों को जलाकर उसको शुद्ध वना देना है। सारांश यह है कि ज्ञान द्वारा जान कर, दर्शन द्वारा श्रद्धान कर और चारित्र के द्वारा निराश्रव होकर तप के द्वारा यह आत्मा शुद्ध होती हुई मोक्ष-मंदिर का पथिक वन जाती है। ये चारों ही वन्ध की निवृत्ति के उपाय हैं। इनके द्वारा कर्म-वन्धनों को काटकर यह आत्मा सर्व प्रकार से स्वतंत्र हो जाती है। जैसे कोई ऋणी पुरुष ऋण से मुक्त होने के लिए प्रथम ऋण का ज्ञान करता है और फिर उसका निश्चय करता है तथा आगे ऋण न वढ़े उसके लिए अर्थात् वृद्धि को रोकने के लिए प्रयत्न करता है और जो ऋण सिर पर विद्यमान है उसको थोड़ा २ करके देता जाता है और अन्त में ऋण मुक्त होकर परम सुखी वन जाता है; उसी प्रकार कर्म-वन्ध से मुक्त होने के लिए इस आत्मा को भी उक्त चारों साधनों का अवलंवन करना पड़ता है।

अव प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा , पक्कमन्ति महेसिणो ॥३६॥

त्ति वेमि।

इति मोक्खमग्गगई समत्ता ॥२८॥

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च।
प्रहीणसर्वदुःखार्थाः , प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥३६॥

इति ब्रवीमि।

इति मोक्षमार्गगतिः समाप्ता ॥२८॥

पदार्थान्वयः—**खवेत्ता**–क्षय करके **पुव्वकम्माइं**–पूर्व कर्मों को **संजमेण**–संयम से **य**–और **तवेण**–तप से **सव्वदुक्खपहीणट्ठा**–जिस से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं ऐसे सिद्ध पद के वास्ते **महेसिणो**–महर्षि लोग **पक्कमन्ति**–पराक्रम करते हैं **त्ति**–परिसमाप्ति में **बेमि**–मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—इस प्रकार तप और संयम के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके सर्व प्रकार के दुःखों से रहित जो सिद्धपद उसके लिए महर्षिजन पराक्रम करते हैं ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि महर्षिजन तप और संयम के द्वारा पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों को खपा कर सर्व दुःख से रहित मोक्ष-गति के लिए पराक्रम करते हैं । तात्पर्य यह है कि उनके तप और संयम के अनुष्ठान का सारा प्रयोजन मोक्ष-गति को प्राप्त करना है । यहाँ पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को, संयम और तप इन दो में अन्तर्भाव करके वर्णन किया गया है । संयम के सत्तरह भेद हैं और तप के बारह, इनके द्वारा अर्थात् इनका अनुष्ठान करने से सर्व प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्ववत् जान लेना ।

अष्टाविंशाध्ययन समाप्त ।

अह सम्मत्तपरक्कमं एगूणतीसइमं अज्झयणं

अथ सम्यक्त्वपराक्रममेकोनत्रिंशत्तममध्ययनम्

गत अठाइसवें अध्ययन में ज्ञानादि मोक्ष-मार्गों का वर्णन किया गया है, परन्तु उनके लिए संवेग की परम आवश्यकता है तथा इन ज्ञानादि को ग्रहण करने का मुख्य उपाय अप्रमाद है। एवं उक्त साधनों के द्वारा जो मोक्ष-गति को प्राप्त करना है वह भी वीतरागतापूर्वक ही हो सकता है। इसलिए प्रस्तुत २९वें अध्ययन में संवेग, अप्रमाद और वीतरागता, इन तीनों अधिकारों का वर्णन किया गया है। यह इनका परस्पर सम्बन्ध है। इस अध्ययन में ७३ प्रश्नोत्तरों का सन्दर्भ है जो कि मुमुक्षुजनों के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा उपादेय है। प्रस्तुत अध्ययन का गद्यरूप आदिम सूत्र इस प्रकार है। यथा—

सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमक्खायं। इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तियाइत्ता रोयइत्ता फासित्ता पालइत्ता तीरित्ता कित्तइत्ता सोहइत्ता आराहित्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति

बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ।

श्रुतं मयाऽऽयुष्मन् तेन भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु सम्यक्त्वपराक्रमं नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितम् । यत्सम्यक् श्रद्धाय, प्रतीत्य, रोचयित्वा, स्पृष्ट्वा, पालयित्वा, तीरयित्वा, कीर्तयित्वा, शोधयित्वा, आराध्य, आज्ञयाऽनुपाल्य, बहवो जीवाः सिध्यन्ति, बुध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति ।

पदार्थान्वयः—सुयं–सुना है मे–मैं ने आउसं–हे आयुष्मन् तेणं–उस भगवया–भगवान् ने एवं–इस प्रकार अक्खायं–कहा है इह–इस शासन में वा जगत् में खलु–निश्चय ही सम्मत्तपरक्कमे–सम्यक्त्व-पराक्रम नाम अज्झयणे–नाम वाला अध्ययन समणेणं–श्रमण भगवया–भगवान् महावीरेणं–महावीर कासवेणं–कश्यपगोत्री ने पवेइए–प्रतिपादन किया है जं–जिसको सम्मं–सम्यक् प्रकार से सद्दहित्ता–श्रद्धान करके पत्तियाइत्ता–ग्रहण करके रोयइत्ता–रुचि करके फासित्ता–स्पर्श करके पालइत्ता–पालन करके तीरित्ता–पार करके कित्तइत्ता–कीर्तन करके सोहइत्ता–शुद्ध करके आराहित्ता–आराधन करके आणाए–गुरु की आज्ञा से अणुपालइत्ता–निरन्तर पालन करके बहवे–बहुत से जीवा–जीव सिज्झंति–सिद्ध होते हैं बुज्झंति–बुद्ध होते हैं मुच्चंति–कर्मों से मुक्त होते हैं परिनिव्वायंति–शीतलीभूत होते हैं सव्वदुक्खाणं–सर्व प्रकार के दुःखों का अंतं करेंति–अन्त करते हैं ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने इस प्रकार कहा है:—इस जगत् में वा जिन-शासन में निश्चय ही सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन कश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया है, जिसको सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करके, अंगीकार करके, रुचि करके, स्पर्श करके, पालन करके, पार करके, कीर्तन करके, शुद्ध करके, आराधन करके और आज्ञा से निरन्तर सेवन करके बहुत से जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, कर्मों से मुक्त होते हैं, कर्मरूप दावानल से रहित होकर शान्त हो जाते हैं और सब प्रकार के शारीरिक वा मानसिक दुःखों का अन्त कर देते हैं ।

टीका—श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है:—उस जगत्-प्रसिद्ध कश्यपगोत्रीय भगवान् महावीरस्वामी ने कहा है कि इस जगत् वा जिन-शासन में सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन है। सम्यक्त्वयुक्त जीव और उसका उत्तरोत्तर गुणों की प्राप्ति के लिए पराक्रम करना इत्यादि सब इस अध्ययन में वर्णित है, अतः गुण गुणी का अभेद होने से प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी सम्यक्त्व-पराक्रम रक्खा गया है। इस अध्ययन को भगवान् ने मेरे प्रति प्रतिपादन किया है। इस प्रकार वक्ता के द्वारा इस अध्ययन का माहात्म्य वर्णन किया गया। अब फलश्रुति से इसका महत्त्व वर्णन करते हुए कहते हैं कि—इस अध्ययन का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करके, विशेषता से इसको अंगीकार करके, वा निश्चित करके इस अध्ययन मे कथन किये गये क्रियानुष्ठान में रुचि उत्पन्न करके, तथा उस क्रिया को स्पर्श करके, निरतिचाररूप से पालन करके, और उस क्रियानुष्ठान को पार पहुँचाकर, तथा स्वाध्यायादि के द्वारा इसका कीर्तन करके, उत्तरोत्तर गुणों की शुद्धि करके, एवं उत्सर्ग और अपवाद मार्ग से इसकी आराधना करके, गुरु की आज्ञा से इसका निरन्तर अनुशीलन करके, अथवा मन, वचन और काया से स्पर्श करके, मन से सूत्रार्थ का चिन्तन करना, वचन से इसकी प्ररूपणा करनी, काया से इसकी भंग से रक्षा करनी; इस प्रकार तीनों योगों से भली भाँति स्पर्श करके तथा परावर्तनादि से रक्षा करके, अध्ययनादि से इसकी समाप्ति करके, और गुरुजनों की विनयभक्ति करके मैंने इसको पढ़ा है। इस प्रकार इसका कीर्तन करके, एवं गुरु की आज्ञा से इसकी शुद्धि करके, तथा उत्सूत्र-प्ररूपणा के परिहार से इसकी आराधना करके बहुत से जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् घाती कर्मों को क्षय करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, फिर सर्व कर्मो से मुक्त होकर निर्वाणस्वरूप परमशांति को प्राप्त हो जाते हैं, सर्व प्रकार की दुःख-परम्परा का अन्त करके मोक्षगति को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् महावीर-स्वामी के द्वारा इस अध्ययन की प्ररूपणा का वर्णन करने से इसकी विशिष्ट प्रामाणिकता ध्वनित की गई है।

अब शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए प्रस्तुत अध्ययन में आने वाले विषयों की तालिका देते हैं। यथा—

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहा:—संवेगे १ निव्वेए २ धम्मसद्धा ३ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४ आलोयणया ५ निंदणया ६ गरिहणया ७ सामाइए ८ चउव्वीसत्थवे ९ वंदणे १० पडिक्कमणे ११ काउस्सग्गे १२ पच्चक्खाणे १३ थयथुईमंगले १४ कालपडिलेहणया १५ पायच्छित्तकरणे १६ खमावयणया १७ सज्झाए १८ वायणया १९ पडिपुच्छणया २० पडियट्टणया २१ अणुप्पेहा २२ धम्मकहा २३ सुयस्स आराहणया २४ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ संजमे २६ तवे २७ वोदाणे २८ सुहसाए २९ अप्पडिबद्धया ३० विवित्तसयणासणसेवणया ३१ विणियट्टणया ३२ संभोगपच्चक्खाणे ३३ उवहिपच्चक्खाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३५ कसायपच्चक्खाणे ३६ जोगपच्चक्खाणे ३७ सरीरपच्चक्खाणे ३८ सहायपच्चक्खाणे ३९ भत्तपच्चक्खाणे ४० सब्भावपच्चक्खाणे ४१ पडिरूवणया ४२ वेयावच्चे ४३ सव्वगुणसंपुण्णया ४४ वीयरागया ४५ खन्ती ४६ मुत्ती ४७ मद्दवे ४८ अज्जवे ४९ भावसच्चे ५० करणसच्चे ५१ जोगसच्चे ५२ मणगुत्तया ५३ वयगुत्तया ५४ कायगुत्तया ५५ मणसमाधारणया ५६ वयसमाधारणया ५७ कायसमाधारणया ५८ नाणसं-

पन्नया ५९ दंसणसंपन्नया ६० चरित्तसंपन्नया ६१ सोइंदियनिग्गहे ६२ चक्खुंदियनिग्गहे ६३ घाणिंदियनिग्गहे ६४ जिब्भिंदियनिग्गहे ६५ फासिंदियनिग्गहे ६६ कोहविजए ६७ माणविजए ६८ मायाविजए ६९ लोहविजए ७० पेज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७१ सेलेसी ७२ अकम्मया ७३ ।

तस्य अयमर्थः एवमाख्यायते, तद्यथाः—संवेगः १ निर्वेदः २ धर्मश्रद्धा ३ गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणम् ४ आलोचना ५ निन्दा ६ गर्हा ७ सामायिकम् ८ चतुर्विंशतिस्तवः ९ वन्दनम् १० प्रतिक्रमणम् ११ कायोत्सर्गः १२ प्रत्याख्यानम् १३ स्तवस्तुतिमङ्गलम् १४ कालप्रतिलेखना १५ प्रायश्चित्तकरणम् १६ क्षमापना १७ स्वाध्यायः १८ वाचना १९ प्रतिप्रच्छना २० परिवर्तना २१ अनुप्रेक्षा २२ धर्मकथा २३ श्रुतस्य आराधना २४ एकाग्रमनःसंनिवेशना २५ संयमः २६ तपः २७ व्यवदानम् २८ सुखशायः २९ अप्रतिबद्धता ३० विविक्तशयनासनसेवना ३१ विनिवर्तना ३२ सम्भोगप्रत्याख्यानम् ३३ उपधिप्रत्याख्यानम् ३४ आहारप्रत्याख्यानम् ३५ कषायप्रत्याख्यानम् ३६ योगप्रत्याख्यानम् ३७ शरीरप्रत्याख्यानम् ३८ साहाय्यप्रत्याख्यानम् ३९ भक्तप्रत्याख्यानम् ४० सद्भावप्रत्याख्यानम् ४१ प्रतिरूपता ४२ वैयावृत्यम् ४३ सर्वगुणसम्पन्नता ४४ वीतरागता ४५ क्षान्तिः ४६ मुक्तिः ४७ मार्दवम् ४८ आर्जवम् ४९ भावसत्यम् ५० करणसत्यम् ५१ योगसत्यम् ५२

मनोगुप्तिता ५३ वचोगुप्तिता ५४ कायगुप्तिता ५५ मनःसमाधारणा ५६ वाक्समाधारणा ५७ कायसमाधारणा ५८ ज्ञानसम्पन्नता ५९ दर्शनसम्पन्नता ६० चारित्रसम्पन्नता ६१ श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहः ६२ चक्षुरिन्द्रियनिग्रहः ६३ घ्राणेन्द्रियनिग्रहः ६४ जिह्वेन्द्रियनिग्रहः ६५ स्पर्शेन्द्रियनिग्रहः ६६ क्रोधविजयः ६७ मानविजयः ६८ मायाविजयः ६९ लोभविजयः ७० रागद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः ७१ शैलेषी ७२ अकर्मता ७३।

मूलार्थ—उस अध्ययन का यह अर्थ—अभिधेय इस प्रकार कहा है। जैसे कि—संवेग १ निर्वेद २ धर्म-श्रद्धा ३ गुरु और सधर्मियों की सेवा शुश्रूषा ४ आलोचना ५ निन्दा ६ गर्हा ७ सामायिक ८ चतुर्विंशतिस्तव ९ वन्दना १० प्रतिक्रमण ११ कायोत्सर्ग १२ प्रत्याख्यान १३ स्तवस्तुतिमंगल १४ कालप्रतिलेखना १५ प्रायश्चित्तकरण १६ क्षमापना १७ स्वाध्याय १८ वाचना १९ प्रतिपृच्छना २० परावर्त्तना २१ अनुप्रेक्षा २२ धर्म-कथा २३ श्रुत की आराधना २४ एकाग्र मन की सन्निवेशना २५ संयम २६ तप २७ व्यवदान २८ सुखशाय २९ अप्रतिबद्धता ३० विविक्त शय्यासन का सेवन ३१ विनिवर्तना ३२ संभोग-प्रत्याख्यान ३३ उपधि-प्रत्याख्यान ३४ आहार-प्रत्याख्यान ३५ कषाय-प्रत्याख्यान ३६ योग-प्रत्याख्यान ३७ शरीर-प्रत्याख्यान ३८ सहाय-प्रत्याख्यान ३९ भक्त-प्रत्याख्यान ४० सद्भाव-प्रत्याख्यान ४१ प्रतिरूपता ४२ वैयावृत्त्य ४३ सर्वगुण-सम्पूर्णता ४४ वीतरागता ४५ क्षांति ४६ मुक्ति ४७ मार्दव ४८ आर्जव ४९ भावसत्य ५० करणसत्य ५१ योगसत्य ५२ मनोगुप्तता ५३ वाग्गुप्तता ५४ कायगुप्तता ५५ मनःसमाधारणा ५६ वाक्समाधारणा ५७ कायसमाधारणा ५८ ज्ञानसम्पन्नता ५९ दर्शनसम्पन्नता ६० चारित्रसम्पन्नता ६१ श्रोत्र इन्द्रिय का निग्रह ६२ चक्षु इन्द्रिय का निग्रह ६३ घ्राण इन्द्रिय का निग्रह ६४ जिह्वा इन्द्रिय का निग्रह ६५ स्पर्श इन्द्रिय का निग्रह ६६ क्रोध की विजय ६७ मान की विजय ६८ माया की विजय ६९ लोभ की विजय ७० राग, द्वेष और मिथ्या-दर्शन की विजय ७१ शैलेशी ७२ अकर्मता ७३ ये इस अध्ययन के द्वार हैं।

टीका—सूत्रकर्ता महर्षि ने प्रस्तुत अध्ययन में आने वाले विषयों की यह अनुक्रमणिका दे दी है । ताकि विषय-विवेचन में क्रम और सुगमता रहे, और इनमें से प्रत्येक विषय का वर्णन आगे स्वयं सूत्रकार ही करेंगे, अतः इनके यहां पर अर्थ लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

अब क्रमप्राप्त प्रथम संवेग के विषय में कहते हैं—

संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ । अणंताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ । नवं च कम्मं न बंधइ । तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झई । विसोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ॥१॥

संवेगेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । संवेगेनानुत्तरां धर्मश्रद्धां जनयति । अनुत्तरया धर्मश्रद्धया संवेगं शीघ्रमागच्छति । अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् क्षपयति । नवं च कर्म न बध्नाति । तत्प्रत्ययिकां च मिथ्यात्वविशुद्धिं कृत्वा दर्शनाराधको भवति । दर्शनविशुद्ध्या च विशुद्धोऽस्त्येककः तेनैव भवग्रहणेन सिध्यति । विशुद्धया च विशुद्धः तृतीयं पुनर्भवग्रहणं नातिक्रामति ॥१॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् संवेगेणं–संवेग से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है संवेगेणं–संवेग से अणुत्तरं–प्रधान धम्मसद्धं–धर्म-श्रद्धा को जणयइ–उत्पन्न करता है अणुत्तराए धम्मसद्धाए–अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से संवेगं–

संवेग हव्वं-शीघ्र आगच्छइ-आ जाता है—जिस से अणंताणुबंधि-अनन्तानुबन्धी कोहमाणमायालोभे-क्रोध, मान, माया और लोभ को खवेइ-क्षय करता है च-फिर नवं-नवीन कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बांधता तप्पच्चइयं-क्षय-प्रत्यय है निमित्त जिसका, वह, तत्प्रत्ययिका है च-और कर्मों के बन्धन का अभाव होने से णं-वाक्यालंकार में है मिच्छत्तविसोहिं-मिथ्यात्व की विशुद्धि काऊण-करके दंसणाराहए-दर्शन का आराधक भवइ-होता है दंसणविसोहीए-दर्शन की विशुद्धि से विसुद्धाए-विशुद्ध होने पर य-फिर णं-वाक्यालंकार में अत्थेगइए-अस्ति—है कोई एक भव्य जीव तेणेव-उसी भवग्गहणेणं-भवग्रहण से सिज्झइ-सिद्ध हो जाता है य-तथा विसोहीए-दर्शन की विशुद्धि से विसुद्धाए-विशुद्ध होने पर तच्चं-तृतीय भव पुणो-पुनः भवग्गहणं-भवग्रहण को नाइक्कमइ-अतिक्रम नहीं करता ।

मूलार्थ—(शिष्य का प्रश्न) हे भगवन् ! संवेग से जीव किस गुण का उपार्जन करता है ? (उत्तर) हे शिष्य ! संवेग से यह जीव अनुत्तरधर्मश्रद्धा को उत्पन्न करता है । अनुत्तरधर्मश्रद्धा से संवेग शीघ्र आ जाता है । फिर अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ को क्षय कर देता है तथा नवीन कर्मों को नहीं बाँधता । इसी कारण से मिथ्यात्व की विशुद्धि करके वह दर्शन का आराधक हो जाता है, तथा दर्शन की विशुद्धि से विशुद्ध होने पर कोई एक भव्य जीव उसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, अन्यथा तीसरे भव का तो अतिक्रमण कर ही नहीं सकता। अर्थात् तीसरे जन्म में तो अवश्यमेव उसका मोक्ष हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन में ७३ प्रश्नोत्तर बड़ी सुन्दरता से वर्णन किये गये हैं । यद्यपि इनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, तथापि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर प्रश्न के अनुरूप दिया गया है और मोक्ष-मंदिर तक पहुँचने के लिये जो निसरणी है उसका प्रथमपाद संवेग है अर्थात् मोक्ष-मार्ग का आरम्भ संवेग से होता है, इसलिए प्रथम संवेग के विषय में प्रश्न किया गया है । शिष्य ने प्रश्न किया कि भगवन् ! संवेग का क्या फल है अर्थात् मुमुक्षु जीव को उससे किस गुण की—किस योग्यता की—प्राप्ति होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले जीव को प्रधान श्रुतधर्मादि को करने की श्रद्धा उत्पन्न

होती है। फिर श्रद्धा से संवेग—वैराग्य—की शीघ्र उत्पत्ति हो जाती है। कारण यह है कि धर्मश्रद्धा से विषयों का राग छूट जाता है और उसके अभाव से अनन्तानुबन्धी कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय होता है। इनके क्षय होने से फिर नवीन अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं होता। इससे मिथ्यात्व की निवृत्ति होकर वह दर्शनक्षायिकसम्यक्त्व का आराधक बन जाता है अर्थात् सम्यक्त्वगत दोषों को दूर करके निरतिचार-दर्शन का आराधन करने लगता है। अतः दर्शन की विशुद्धि से अत्यन्त शुद्ध होकर कई एक जीव तो इसी जन्म में मोक्षगति को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि मरुदेवी माता को उसी भव में मोक्ष की प्राप्ति हुई। यदि कुछ कर्म शेष रह जावें तो अधिक से अधिक वह जीव तीसरे जन्म में तो अवश्यमेव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कारण यह है कि तीसरे जन्म तक शेष रहे हुए कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं।

अब निर्वेद के विषय में कहते हैं—

निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ। आरंभपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ ॥२॥

निर्वेदेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । निर्वेदेन दिव्यमानुष्यतैरश्चेषु कामभोगेषु निर्वेदं शीघ्रमागच्छति । ततः सर्वविषयेभ्यो विरज्यति । सर्वविषयेभ्यो विरज्यमान आरम्भपरित्यागं कुर्वाणः संसारमार्गं व्युच्छिनत्ति, सिद्धिमार्गं प्रतिपन्नश्च भवति ॥२॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भगवन् निव्वेएणं-निर्वेद से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या गुण उत्पन्न करता है निव्वेएणं-निर्वेद से दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु-देव, मनुष्य और तिर्यक्सम्बन्धी कामभोगेसु-कामभोगों में हव्वं-शीघ्र ही

निव्वेयं-निर्वेद को आगच्छइ-प्राप्त करता है, तथा सव्व-सर्व विसएसु-विषयों में विरज्जइ-वैराग्य को प्राप्त करता है सव्वविसएसु-सर्व विषयों में विरज्जमाणे-वैराग्य को प्राप्त होता हुआ आरंभ-आरम्भ—हिंसादि का परिच्चायं-परित्याग करेइ-करता है आरंभपरिच्चायं करेमाणे-आरम्भादि का सर्व प्रकार से त्याग करता हुआ संसार-मग्गं-संसारमार्ग को वोच्छिदइ-छेदन करता है य-फिर सिद्धिमग्गं-सिद्धिमार्ग को पडिवन्ने-ग्रहण करने वाला हवइ-होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! निर्वेद से यह जीव, क्या गुण उपार्जन करता है ? उत्तर—निर्वेद से यह जीव, देव, मनुष्य और तिर्यक्-सम्बन्धि-काम-भोगों में शीघ्र ही निर्वेदता को प्राप्त करता है, फिर सर्व विषयों से विरक्त हो जाता है, सर्व विषयों से विरक्त होता हुआ सर्व प्रकार से आरम्भ का परित्याग कर देता है, आरम्भ का त्याग करता हुआ संसारमार्ग का विच्छेद कर देता है, फिर सिद्धिमार्ग का ग्रहण करने वाला हो जाता है ।

टीका—शिष्य पूछता है कि भगवन् ! निर्वेद का क्या फल है ? गुरु उत्तर देते हैं कि—निर्वेद से देवमनुष्यादि से सम्बन्ध रखने वाले सर्व प्रकार के विषय-भोगों से उपरामता हो जाती है, उपरामता से आरम्भादि का परित्याग होता है, आरम्भादि के परित्याग से संसारमार्ग—प्रवृत्तिमार्ग का विच्छेद होता है और मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है । तात्पर्य यह है कि निर्वेद से यह जीवात्मा समस्त प्रकार के काम-भोगों से विरक्त हो जाता है, विषयों से विरक्त होने पर सर्व प्रकार के आरम्भ का त्याग कर देता है और आरम्भ के परित्याग से भव-परम्परा का विच्छेद करता हुआ मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है । कई एक प्राचीन प्रतियों में 'आरम्भपरिग्गहं परिच्चायं' ऐसा पाठ भी देखने में आता है । इस में आरम्भ के साथ परिग्रह का भी उल्लेख है, तब इसका अर्थ होता है आरम्भ और परिग्रह का त्याग ।

इस प्रकार संवेग और निर्वेद के फल का वर्णन करने के अनन्तर अब धर्म-श्रद्धा के विषय में कहते हैं—

धम्मसद्धाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । धम्म-सद्धाएणं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ । आगारधम्मं

च णं चयइ। अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ॥३॥

धर्मश्रद्धया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। धर्मश्रद्धया सातासुखेषु रज्यमानो विरज्यते। अगारधर्मं च त्यजति। अनगारो जीवः शारीरमानसानां दुःखानां छेदनभेदनसंयोगादीनां व्युच्छेदं करोति। अव्याबाधं च सुखं निर्वर्तयति ॥३॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् धम्मसद्धाएणं–धर्मश्रद्धा से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण का उत्पादन करता है धम्मसद्धाएणं–धर्मश्रद्धा से सायासोक्खेसु–साता-सुख में रज्जमाणे–राग करता हुआ विरज्जइ–वैराग्य को प्राप्त होता है च–फिर आगारधम्मं–गृहधर्म को चयइ–छोड़ देता है णं–वाक्यालङ्कार में अणगारिएणं–अनगार—साधु होने पर जीवे–जीव सारीर–शारीरिक और माणसाणं–मानसिक दुक्खाणं–दुःखों का छेयण–छेदन भेयण–भेदन तथा संजोगाईणं–अनिष्टसंयोगादि मानसिक दुःखों का वोच्छेयं–विच्छेद करेइ–करता है, फिर अव्वाबाहं–समस्त प्रकार की पीड़ा से रहित सुहं–सुख को निव्वत्तेइ–उत्पन्न करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! धर्मश्रद्धा से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! धर्मश्रद्धा से सातावेदनीयकर्मजन्य सुख में अनुराग करता हुआ यह जीव, वैराग्य को प्राप्त कर लेता है, फिर गृहस्थधर्म को छोड़कर अनगारधर्म को ग्रहण करता हुआ शारीरिक और मानसिक दुःखों का छेदन, भेदन; तथा अनिष्ट-संयोगजन्य मानसिक दुःख का व्यवच्छेद कर देता है। तदनन्तर समस्तबाधारहित सुख का सम्पादन करता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! धर्मश्रद्धा से यह जीव किस फल को प्राप्त करता है अर्थात् धर्म में श्रद्धा करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? गुरु ने उत्तर दिया कि हे शिष्य ! जिस समय इस जीव को धर्म करने में श्रद्धा उत्पन्न होती है, उस समय सातावेदनीयकर्मजन्य सुख के उपभोग में

उसका जो अनुराग था उससे वह विरक्त हो जाता है, उससे वह गृहस्थधर्म का त्याग करके अनगार-साधु-धर्म को धारण कर लेता है, तथा अनगार-धर्म की आराधना से वह छेदन और भेदन रूप शारीरिक और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग रूप मानसिक दुःखों का विनाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि जिन अशुभ कर्मों से उक्त प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं उनका वह नाश कर देता है। इस प्रकार नवीन कर्मों के बंध को निवृत्त और पूर्व कर्मों को क्षय करके वह सर्व प्रकार की बाधाओं से रहित जो मोक्ष-सुख है उसको प्राप्त कर लेता है। कारण यह है कि निजगुण का सुख एक अनुपम सुख होता है और सातावेदनीय कर्म के क्षयोपशम से जो सुख उत्पन्न होता है वह अनित्य—सादि, सान्त होता है; विपरीत इसके जो आध्यात्मिक सुख है वह अजन्य होने से नित्य अथवा अनन्त पद वाला है। यद्यपि ऊपर संवेगादि के फल-प्रदर्शन में धर्मश्रद्धा का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु यहाँ पर धर्मश्रद्धा का जो स्वतन्त्र निर्देश किया है वह उसकी विशिष्टता का द्योतक है, अतः पुनरुक्ति दोष की सम्भावना नहीं।

धर्मश्रद्धा के अनन्तर गुरुशुश्रूषा की प्राप्ति होती है, अतः अब गुरुशुश्रूषा के विषय में कहते हैं—

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ निरुंभइ। वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसुगईओ निबंधई। सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणिइत्ता भवइ ॥४॥

गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।

गुरुसाधर्मिकशुश्रूषया विनयप्रतिपत्तिं जनयति। विनयप्रतिपन्नश्च जीवः अनत्याशातनाशीलो नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्य-देवदुर्गती निरुणद्धि। वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानतया मनुष्यदेव-सुगती निबध्नाति। सिद्धिं सुगतिं च विशोधयति। प्रशस्तानि च विनयमूलानि सर्वकार्याणि साधयति। अन्येषाञ्च बहूनां जीवानां विनेता भवति ॥४॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भगवन् गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं-गुरु और सधर्मियों की सेवा से जीवे-जीव किं-क्या जणयइ-उत्पन्न करता है गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं-गुरु और सधर्मियों की सेवा से विणयपडिवत्तिं-विनयप्रतिपत्ति को जनयति-उत्पन्न करता है य-फिर णं-वाक्यालङ्कार में विणयपडिवन्ने-विनयप्रतिपन्न जीवे-जीव अणच्चासायणसीले-आशातना करने के शील से रहित नेरइय-नरकयोनि को तिरिक्खजोणिय-तिर्यग्योनि को मणुस्स-मानुष और देव-देव की दुग्गईओ-दुर्गति को निरुंभइ-रोकता है वण्ण-श्लाघा संजलण-गुणों का प्रकाश करना भत्ति-भक्ति बहुमाणयाए-बहुमान से मणुस्सदेवसुगईओ-मनुष्यगति और देवगति को निबंधइ-बाँधता है च-और सिद्धिसोग्गइं-सिद्धिरूप सुगति को विसोहेइ-विशुद्धि करता है च-फिर णं-वाक्यालङ्कार में पसत्थाइं-प्रशस्त विणयमूलाइं-विनयमूल सव्वकज्जाइं-सर्व कार्यों को साहेइ-सिद्ध कर लेता है य-फिर अन्ने-अन्य बहवे-बहुत से जीवे-जीवों को विणिइत्ता-विनय को ग्रहण कराने वाला भवइ-होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! गुरु और सधर्मिजनों की सेवा करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे शिष्य! गुरु और सधर्मियों की सेवा करने से विनय की प्राप्ति होती है। विनय की प्राप्ति से आशातना का त्याग करता हुआ यह जीव, नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति सम्बन्धी दुर्गति को रोक देता है तथा श्लाघा, गुणों का प्रकाश, भक्ति और बहुमान को प्राप्त करता हुआ मनुष्य और देवसम्बन्धी सुगति को बांधता है, सिद्धिरूप सुगति को विशुद्ध करता है तथा विनयमूलक सर्व प्रकार के प्रशस्त कार्यों को साध लेता है और साथ में बहुत से अन्य जीवों को भी विनयधर्म में प्रवृत्त करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गुरुभक्ति और सधर्मिजनों की सेवा का फल प्रदर्शित किया गया है। शिष्य ने पूछा कि भगवन्! गुरु और सधर्मिबन्धुओं की सेवाभक्ति से इस जीव को क्या फल प्राप्त होता है? तब गुरु उत्तर देते हैं कि हे शिष्य! गुरु और सधर्मियों की सेवा से इस जीव को विनयधर्म की प्राप्ति होती है और विनयधर्म के प्राप्त होने से सम्यक्त्व के विरोधी—रोकने वाले—आशातनादि कारणों का नाश करके यह जीव, नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति सम्बन्धी दुर्गति को रोक देता है, तथा इस संसार में बहुमान और यश आदि उत्तमगुणों से अलंकृत होता हुआ देव और मनुष्य गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार विनय गुण से वह समस्त प्रकार के प्रशस्त कार्यों को आचरण में लाकर मोक्षरूप सद्गति के मार्ग [ज्ञानदर्शन और चारित्ररूप] को विशुद्ध करता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य जीवों को भी इसी मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है। ऊपर आशातना को सम्यक्त्व का विरोधी या विनाशक कहा है। यह भाव उसकी व्युत्पत्ति से उपलब्ध हो जाता है। 'आपं सम्यक्त्वलाभं शातयति विनाशयति इत्याशातना' आप नाम सम्यक्त्व-लाभ का है, उसको विनाश करने वाले दुर्गण को आशातना कहा है। प्रस्तुत मूलपाठ में जो वाक्य आया है उसकी संस्कृत छाया है 'अनत्याशातनाशीलः' अर्थात् आशातना करने का जिसका शील—स्वभाव न हो उसको अनत्याशातनाशील कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो जीव आशातना का सर्वथा त्याग करने वाला हो वह नरक, पशु, मनुष्य और देवसम्बन्धी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। नारकी और तिर्यक् की दुर्गति तो प्रसिद्ध ही है, मनुष्य की दुर्गति अधमाधम जाति में उत्पन्न होना, और देवसम्बन्धी दुर्गति किल्विषिकत्वादि जाति है। तथा सुगति के विषय में—मनुष्य की सुगति ऐश्वर्ययुक्त विशिष्टकुल में उत्पन्न होना और देवसम्बन्धी सुगति अहमिन्द्रादि पदवी को प्राप्त करना है।

अब आलोचना के विषय में कहते हैं—

आलोयणाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। आलोयणाएणं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं

च जणयइ । उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ । पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥५॥

आलोचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। आलोचनया मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानां मोक्षमार्गविघ्नानामनन्तसंसारवर्द्धनानामुद्धरणं करोति । ऋजुभावं च जनयति । ऋजुभावं प्रतिपन्नश्च जीवोऽमायी स्त्रीवेदं नपुंसकवेदं च न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥५॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् आलोयणाएणं–आलोचना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस फल की प्राप्ति करता है आलोयणाएणं–आलोचना से माया–छल कपट नियाण–निदान मिच्छादंसण–मिथ्यादर्शन सल्लाणं–शल्यों की मोक्खमग्ग–मोक्षमार्ग में विग्घाणं–विघ्न करने वाले तथा अणंतसंसारबंधणाणं–अनन्त संसार को बढ़ाने वाले—उनका उद्धरणं–उद्धरण करेइ–करता है च–पुनः उज्जुभावं–ऋजु भाव को जणयइ–उत्पन्न करता है उज्जुभावपडिवन्ने–ऋजुभाव से युक्त जीवे–जीव अमाई–माया से रहित इत्थीवेयनपुंसगवेयं च–स्त्री वेद और नपुंसकवेद को न बंधइ–नहीं बाँधता च–या पुव्वबद्धं–पूर्व बाँधे हुए को निज्जरेइ–निर्जरा कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भदन्त ! आलोचना से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—आलोचना से यह जीव, मोक्ष-मार्ग के विघातक और अनन्त संसार को देने वाले माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों को दूर कर देता है और ऋजुभाव—सरलता को उत्पन्न करता है, तथा ऋजुभाव को प्राप्त करके माया से रहित हुआ यह जीव, स्त्रीवेद या नपुंसकवेद को नहीं बाँधता, अथ च पूर्व में बँधे हुए को निर्जरा कर देता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आलोचना के फल का दिग्दर्शन कराया गया है। आत्मा में लगे हुए दोषों को गुरुजनों के समीप निष्कपट भाव से प्रकाशित करके

उनकी आज्ञानुसार प्रायश्चित करने को आलोचना कहते हैं। शिष्य ने पूछा कि भगवन्! आलोचना का क्या फल है? गुरु ने उत्तर दिया कि हे वत्स! आलोचना से माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों की निवृत्ति होती है। माया नाम कपट और दम्भ का है। किसी निमित्तविशेष को लेकर तप करना अर्थात् मेरे इस तप के प्रभाव से ऐसा हो जावे इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना निदान है। मिथ्यात्व—असद्दृष्टि—को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इन तीनों को जैनदर्शन में शल्य माना है। जिस प्रकार शरीर में रहा हुआ तोमरादि का शल्य शरीर को अत्यन्त पीड़ा देने वाला होता है उसी प्रकार आत्मा में रहे हुए ये मायादि शल्य भी उसके निर्दिष्टमार्ग—मोक्षमार्ग—में विघ्न रूप हैं और अनन्त संसार के बढ़ाने वाले हैं। परन्तु आलोचना के द्वारा यह जीव इन मायादि शल्यों को दूर कर देता है। तात्पर्य यह है कि जैसे शरीरगत शल्य की देखभाल करके उसको शरीर से निकाल कर फेंक दिया जाता है उसी प्रकार आलोचना से यह जीव मायादि शल्यों से रहित हो जाता है। एवं निःशल्य होने से वह ऋजुभाव को प्राप्त करता है और मायारहित हो जाता है। तव मायारहित होने से वह स्त्री अथवा नपुंसक वेद को नहीं बाँधता और यदि कदाचित् उनका पूर्वभव में बंध भी हो चुका हो तो उसका वह नाश कर देता है। इस कथन में इतना यह समझ लेना चाहिए कि अगर उस जीव के इस जन्म में सारे कर्म नष्ट हो जावे तब तो वह मोक्ष को प्राप्त करता है और यदि कुछ बाकी रह गये हों तो वह पुरुषवेद को ही बाँधता है अर्थात् मृत्यु होने के अनन्तर वह पुरुष ही बनता है स्त्री अथवा नपुंसक नहीं। सारे कथन का सारांश इतना है कि आत्मशुद्धि का आलोचना विशिष्टतम साधन है।

अब निन्दा के विषय में कहते हैं—

निंदणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। निंदणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढीपडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥६॥

निन्दनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । निन्दनया पश्चात्तापं जनयति । पश्चादनुतापेन विरज्यमानः करणगुणश्रेणिं प्रतिपद्यते । करणगुणश्रेणिप्रतिपन्नश्चानगारो मोहनीयं कर्मोद्घातयति ॥६॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भदंत निंदणयाएणं-आत्मनिन्दा करने से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है निंदणयाएणं-आत्मनिन्दा से पच्छाणुतावं जणयइ-पश्चात्ताप को उत्पन्न करता है पच्छाणुतावेणं-पश्चात्ताप से विरज्जमाणे-वैराग्ययुक्त होता हुआ करणगुणसेढिं-करणगुणश्रेणी को पडिवज्जइ-प्राप्त कर लेता है य-फिर करणगुणसेढी-करणगुणश्रेणी को पडिवन्ने-प्राप्त हुआ अणगारे-अनगार मोहणिज्जं-मोहनीय कम्मं-कर्म को उग्घाएइ-क्षय करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! आत्मनिन्दा करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—आत्मनिन्दा से पश्चात्ताप की उत्पत्ति होती है, पश्चात्ताप से वैराग्ययुक्त होता हुआ यह जीव करणगुणश्रेणी को प्राप्त करता है, फिर करणगुणश्रेणी को प्राप्त हुआ अनगारदर्शन-मोहनीय-कर्म का नाश कर देता है ।

टीका—आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा—आत्मगत दोषों को विमर्शन करने—का इसलिए विधान किया गया है कि आलोचना में उसकी अधिक आवश्यकता है । विना आत्मनिन्दा के आलोचना में पुष्टि नहीं आती, अतः प्रस्तुत मूलगाथा में आत्मनिन्दा का फल प्रदर्शन करते हैं । शिष्य पूछता है कि भगवन् ! आत्मनिन्दा से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि हे भद्र ! आत्मनिन्दा अर्थात् आत्मगत दोषों के विमर्श से पश्चात्ताप की उत्पत्ति होती है—हा ! मैंने यह अयोग्य कार्य क्यों किया ! इत्यादि प्रकार का हृदय में पश्चात्ताप उत्पन्न होता है । इस पश्चात्ताप से उस जीव को फिर तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । उसके प्रभाव से वह करणगुणश्रेणी—क्षपकश्रेणी को प्राप्त कर लेता है, और क्षपकश्रेणी को प्राप्त करने वाला साधु शीघ्र ही मोहनीयकर्म का क्षय कर देता है जिसका अतिनिकट फल मोक्ष है । अपूर्वकरण से गुण का हेतु जो श्रेणी है उसी का नाम करणगुणश्रेणी है । अथवा करणगुण से—अपूर्वकरणादि के—माहात्म्य से प्राप्त होने वाली जो श्रेणी है उसी का नाम

करणगुण-श्रेणी है, इसका दूसरा नाम क्षपक-श्रेणी है । तात्पर्य यह है कि—तथा करण—पिंडविशुद्धि आदि—उसी से उपलक्षित गुणों—ज्ञानादिगुणों—की श्रेणी—उत्तरोत्तरपरम्परारूप उसको ग्रहण करता है अर्थात् पिंडविशुद्धि से ज्ञानादि गुणों को अंगीकार करता है । इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय के अनुसार, जिन गुणों को आत्मा ने प्रथम कभी प्राप्त न किया हो उन गुणों की श्रेणी का नाम अपूर्व-करणगुण-श्रेणी है । अपूर्व-करणगुण-श्रेणी को प्राप्त करने वाला भिक्षु, दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की प्रकृतियों को क्षय करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । यह आत्मनिन्दा की फलश्रुति है ।

अब गर्हा के विषय में कहते हैं—

गरहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । गरहणयाएणं अपुरक्कारं जणयइ । अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ । पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ ॥७॥

गर्हया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । गर्हयाऽपुरस्कारं जनयति । अपुरस्कारगतो जीवोऽप्रशस्तेभ्यो योगेभ्यो निवर्तते प्रशस्तयोगाँश्च प्रतिपद्यते । प्रशस्तयोगप्रतिपन्नश्चानगारोऽनन्तघातिनः पर्यायान् क्षपयति ॥७॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् गरहणयाएणं—गर्हा से जीवे—जीव किं जणयइ—किस फल को प्राप्त करता है गरहणयाएणं—गर्हा से अपुरक्कारं—अपुरस्कार को जणयइ—उत्पन्न करता है अपुरक्कारगए णं—अपुरस्कार को प्राप्त हुआ जीवे—जीव अप्पसत्थेहिंतो—अप्रशस्त जोगेहिंतो—योगों से नियत्तेइ—निवृत्त हो जाता है य—फिर पसत्थे—प्रशस्त योगों को पडिवज्जइ—ग्रहण करता है पसत्थजोगपडिवन्ने—प्रशस्त योगों को प्राप्त हुआ य णं—पुनः अणगारे—अनगार अणंतघाइपज्जवे—अनन्तघाति-पर्यायों को खवेइ—क्षय करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भदन्त ! आत्मगर्हा करने से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—आत्मगर्हा से यह जीव अपुरस्कार—आत्मनम्रता—

को प्राप्त करता है। आत्मनम्रता को प्राप्त हुआ जीव अप्रशस्त योगों से निवृत्त होता है और प्रशस्त योगों को प्राप्त करता है, तथा प्रशस्त योगों से युक्त हुआ अनगार—साधु अनन्त-घाती पर्यायों को क्षय करता है।

टीका—निन्दा के बाद अब गर्हा के फल का वर्णन करते हैं। शिष्य ने पूछा कि भगवन्! आत्मगर्हा से किस फल की प्राप्ति होती है? तब गुरु ने उत्तर दिया कि हे शिष्य! आत्मगर्हा से आत्मविनम्रता की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्म-गौरव का परित्याग करके आत्मलघुता को प्राप्त करता है। आत्मविनम्रता से वह अशुभ योगों से निवृत्त होकर शुभ योगों को प्राप्त करता है। इस प्रकार शुभ योगों को धारण करने वाला मुनि, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-दर्शन के घातक जो ज्ञाना-वरणीय आदि कर्मपर्याय हैं उनको क्षय कर देता है जिसके प्रभाव से उसको मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है। पर्याय शब्द से यहाँ पर कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण समझना। तथा योग शब्द से मन, वचन और काया का व्यापार अभिमत है। आलोचना, वास्तव में सामायिक वाले जीवों की ही ठीक होती है।

अतः अब सामायिक के विषय में कहते हैं—

सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥८॥

सामायिकेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। सामायिकेन सावद्ययोगविरतिं जनयति ॥८॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भगवन् सामाइएणं-सामायिक से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या फल प्राप्त करता है सामाइएणं-सामायिक से सावज्जजोगविरइं-सावद्ययोगविरति को जणयइ-प्राप्त करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! सामायिक करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—सामायिक से यह जीव सावद्ययोग की निवृत्ति को प्राप्त करता है।

टीका—आलोचना आदि के अनन्तर षडावश्यक का फल बतलाते हुए प्रथम सामायिक का फल बतलाते हैं। समभाव में स्थिर होने का नाम सामायिक

है। उसके अनुष्ठान का फल पूछने पर गुरु उत्तर देते हैं कि सामायिक के अनुष्ठान से सावद्य योग—पापमय मन, वचन और काया के व्यापार से इस जीव की निवृत्ति हो जाती है। कारण यह है कि सामायिक में सावद्ययोगों का प्रत्याख्यान किया जाता है और शुभ योगों के द्वारा कर्मों की निर्जरा में प्रवृत्ति होती है।

सामायिक करते हुए सामायिक के निरूपकों की स्तुति नितान्त आवश्यक है, अतः अब उसके विषय में कहते हैं—

चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥९॥

चतुर्विंशतिस्तवेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। चतुर्विंशतिस्तवेन दर्शनविशुद्धिं जनयति ॥९॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे पूज्य चउव्वीसत्थएणं–चतुर्विंशतिस्तव से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या फल उत्पन्न करता है? चउव्वीसत्थएणं–चतुर्विंशतिस्तव से दंसणविसोहिं–दर्शनविशुद्धि को जणयइ–उत्पन्न करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य! चतुर्विंशतिस्तव से यह जीव किस फल की प्राप्ति करता है? उत्तर—चतुर्विंशतिस्तव से यह जीव दर्शन—सम्यक्त्व—की विशुद्धि कर लेता है।

टीका—अब, द्वितीय आवश्यक के विषय में पूछते हैं। शिष्य कहता है कि भगवन्! चतुर्विंशतिस्तव का पाठ करने से किस फल की प्राप्ति होती है। इस का गुरु उत्तर देते हैं कि चतुर्विंशतिस्तव के पाठ से यह जीव, दर्शन की विशुद्धि करता है अर्थात् दर्शन में बाधा उत्पन्न करने वाले जो कर्म हैं वे सब दूर हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इस अवसर्पिणी में जो चौवीस तीर्थङ्कर हुए हैं उनकी श्रद्धापूर्वक स्तुति करने से इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है।

तीर्थङ्करों की स्तुति भी आसन्नोपकारी गुरुजनों की वन्दना करने पर ही सफल हो सकती है, अतः अब गुरुवन्दना के विषय में कहते हैं—

वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। वंदणएणं

नीयागोयं कम्मं खवेइ । उच्चागोयं कम्मं निबंधइ । सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ । दाहिणभावं च णं जणयइ ॥१०॥

वन्दनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वन्दनया नीचैर्गोत्रं कर्म क्षपयति । उच्चैर्गोत्रं कर्म बध्नाति । सौभाग्यं चाप्रतिहतमाज्ञाफलमुत्पादयति । दाक्षिण्यभावं च जनयति ॥१०॥

पदार्थान्वयः—**भंते**–भगवन् **वंदणएणं**–गुरु-वन्दना से **जीवे**–जीव **किं जणयइ**–किस फल को उत्पन्न करता है **वंदणएणं**–वन्दना से **नीयागोयं**–नीच गोत्र **कम्मं**–कर्म को **खवेइ**–क्षय करता है **उच्चागोयं**–उच्च गोत्र को **निबंधइ**–बाँधता है **च णं**–फिर **सोहग्ग**–सौभाग्य **अपडिहयं**–अप्रतिहत **आणाफलं**–आज्ञाफल को **निव्वत्तेइ**–उत्पन्न करता है **च णं**–तथा **दाहिणभावं**–दक्षिण भाव को **जणयइ**–उपार्जन करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वन्दना से यह जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—वन्दना से यह जीव नीच गोत्र-कर्म को क्षय करता है और उच्च गोत्र को बाँधता है, तथा अप्रतिहत सौभाग्य और आज्ञा फल को प्राप्त करता है, एवं दक्षिण भाव का उपार्जन करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गुरुवन्दना का फल बतलाते हुए प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि गुरुजनों की वन्दना करने से—यदि इस जीव ने नीच गोत्र भी बाँधा हुआ हो तो उसको दूर करके उच्च गोत्र को बाँध लेता है अर्थात् जिन कर्मों के प्रभाव से वह अधम कुल में उत्पन्न होता है उनका विनाश करके उत्तम कुल में उत्पन्न कराने वाले कर्मों का उपार्जन कर लेता है । इसके अतिरिक्त वह सौभाग्य और सफल आज्ञा के फल को प्राप्त करता है अर्थात् जनसमुदाय का वह मान्य बन जाता है और दाक्षिण्य भाव को प्राप्त करता है । तात्पर्य यह है कि उसका सौभाग्य स्पृहणीय बन जाता है और जनसमुदाय पर उसका पूर्ण प्रभाव होता है । इसी लिए वह विश्व का प्यारा बन जाता है, उस पर सब कोई विश्वास रखते हैं, तथा सर्व अवस्था में लोग उसके अनुकूल रहते हैं और वह लोगों के अनुकूल रहता है ।

अब प्रतिक्रमण का उल्लेख करते हैं । यथा—

पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ । पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥११॥

प्रतिक्रमणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । प्रतिक्रमणेन व्रतच्छिद्राणि पिदधाति । पिहितव्रतच्छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धास्रवोऽशबलचारित्रश्चाष्टसु प्रवचनमातृषूपयुक्तोऽपृथक्त्वः सुप्रणिहितो विहरति ॥११॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् पडिक्कमणेणं—प्रतिक्रमण से जीवे—जीव किं जणयइ—किस फल को उत्पन्न करता है । पडिक्कमणेणं—प्रतिक्रमण से वयछिद्दाणि—व्रतों के छिद्रों को पिहेइ—ढाँपता है पिहियवयछिद्दे—पिहित-व्रत-छिद्र पुण—फिर जीवे—जीव निरुद्धासवे—निरोध किया है आस्रव जिस ने असबल—अकर्बुर चरित्ते—चारित्रवान् अट्ठसु—आठ पवयणमायासु—प्रवचनमाताओं में उवउत्त—उपयुक्त अपुहत्ते—पृथक्त्व से रहित सुप्पणिहिए—भली प्रकार से समाधियुक्त होकर संयममार्ग में विहरइ—विचरता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! प्रतिक्रमण से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों को ढाँपता है अर्थात् ग्रहण किये हुए व्रतों को दोषों से बचाता है, फिर शुद्ध व्रतधारी होकर आस्रवों को रोकता हुआ आठ प्रवचनमाताओं में सावधान होता है और विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करके उससे अलग न होता हुआ समाधिपूर्वक संयममार्ग में विचरता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिक्रमण नाम के चतुर्थ आवश्यक के फल का वर्णन किया गया है । शिष्य पूछता है कि भगवन् ! प्रतिक्रमण का क्या फल है ?

इसके उत्तर में गुरु प्रतिक्रमण का फल बतलाते हुए कहते हैं कि प्रतिक्रमण से यह जीव, ग्रहण किये हुए अहिंसादि व्रतों में अतिचाररूप जो छिद्र हैं उनको ढांपने का उद्योग करता है अर्थात् व्रतों में लगने वाले अतिचारादि दोषों को दूर करता है। इस प्रकार व्रतों को अतिचार आदि दोषों से रहित करके वह अपने चारित्र को शवल—कलुषित नहीं होने देता, किन्तु शुद्ध-चारित्रयुक्त होकर आस्रव-द्वारों को रोकता हुआ—पाप के मार्गों का निरोध करता हुआ, आठ प्रवचनमाताओं के आराधन में सावधान हो जाता है और उनसे पृथक् न होकर संयम-मार्ग में समाहित चित्त होकर विचरता है। आठ प्रवचनमाताओं का वर्णन पीछे आ चुका है। प्रतिक्रमण का अर्थ है पीछे हटना अर्थात् सावद्य-प्रवृत्ति में जितने आगे बढ़े थे उतने ही पीछे हट जाना[1]। यह प्रतिक्रमण २२ तीर्थङ्करों के समय में तो दोष के लगने पर दिया जाता था, परन्तु प्रथम और चरमतीर्थङ्कर के समय में तो दोष लगे अथवा न लगे, प्रतिक्रमण करने का तो नित्य विधान है।

इस प्रकार यह चतुर्थ आवश्यक का फल बतलाया गया, अब पांचवें कायोत्सर्ग नाम के आवश्यक के विषय में कहते हैं—

काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥१२॥

कायोत्सर्गेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। कायोत्सर्गेणातीतप्रत्युत्पन्नं प्रायश्चित्तं विशोधयति। विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निर्वृतहृदयोऽपहृतभार इव भारवहः प्रशस्तध्यानोपगतः सुखं सुखेन विहरति ॥१२॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे पूज्य **काउस्सग्गेणं**—कायोत्सर्ग से **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—किस गुण को प्राप्त करता है **काउस्सग्गेणं**—कायोत्सर्ग से **तीय**—

[1] 'प्रतिक्रमणेन अपराधेभ्यः प्रदीपनिवर्तनात्मकेन' इति वृत्तिकारः।

अतीतकाल पडुप्पन्नं—वर्तमानकाल के पायच्छित्तं—प्रायश्चित्त को विसोहेइ—विशोधन करता है य—फिर विसुद्धपायच्छित्ते—प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीवे—जीव निव्वुयहियए—चिन्तारहित हृदयवाला ओहरियभरुव्व भारवहे—उतार दिया है भार जिसने ऐसे भारवाहक की तरह पसत्थज्झाणोवगए—प्रशस्त ध्यानयुक्त सुहं सुहेण—सुखपूर्वक विहरइ—विचरता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! कायोत्सर्ग से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है? उत्तर—कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान काल के अतिचारों का शोधन करता है। फिर प्रायश्चित्त से विशुद्ध होकर दूर हो गया है भार जिसका ऐसे शांतहृदय भारवाहक की भाँति चिन्ता-रहित होकर प्रशस्त ध्यान में लगा हुआ सुखपूर्वक विचरता है।

टीका—कायोत्सर्ग का फल वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि कायोत्सर्ग—ध्यानावस्था में शरीर की समस्त चेष्टाओं का परित्याग करने से चिरकाल के लगे हुए और वर्तमान काल में लगे हुए अतिचारों—दोषों की विशुद्धि होती है, अर्थात् प्रमादवश से आत्मा के साथ लगे हुए अतीत और वर्तमान कालीन दोष दूर होते हैं। उन दोषों के दूर होने से यह जीव इस प्रकार हलका और शान्त हो जाता है जिस प्रकार सिर पर से भार के उतर जाने से एक भारवाहक सुखी हो जाता है। तदनन्तर वह ध्यानयुक्त होकर सुखपूर्वक इस संसार में विचरता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग का विशिष्ट फल वर्णन किया गया, अब छठे प्रत्याख्यान नामक आवश्यक का फल बतलाते हैं—

पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ[1]। (पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ) ॥१३॥

---

[1] बृहद्वृत्ति में तो इतना ही पाठ है—परन्तु ब्रैकेट में दिया गया पाठ अन्य हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध होता है।

प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । प्रत्याख्यानेनास्रवद्वाराणि निरुणद्धि । प्रत्याख्यानेन इच्छानिरोधं जनयति । इच्छानिरोधगतश्च जीवः सर्वद्रव्येषु विनीततृष्णः शीतीभूतो विहरति ॥१३॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् पच्चक्खाणेणं—प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है पच्चक्खाणेणं—प्रत्याख्यान से आसवदाराइं—आस्रव द्वारों को निरुंभइ—रोकता है पच्चक्खाणेणं—प्रत्याख्यान से इच्छानिरोहं—इच्छा-निरोध को जणयइ—उत्पन्न करता है य—पुनः इच्छानिरोहं गए—इच्छा-निरोध को प्राप्त हुआ जीवे—जीव सव्वदव्वेसु—सर्व द्रव्यों में विणीयतण्हे—तृष्णा से रहित और सीइभूए—शीतलीभूत होकर विहरइ—विचरता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से इस जीव को क्या फल मिलता है ? उत्तर—हे शिष्य ! प्रत्याख्यान से जीव आस्रवद्वारों को रोक लेता है, तथा प्रत्याख्यान से इच्छाओं का निरोध करता है, फिर इच्छानिरोध को प्राप्त हुआ जीव सर्व द्रव्यों में तृष्णा-रहित होकर परमशांति में विचरता है ।

टीका—प्रत्याख्यान—मूल गुण वा उत्तर गुणरूप प्रत्याख्यान—से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों—का—कर्माणुओं के आने के मार्ग का—निरोध होता है, तथा प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है, इच्छानिरोध होने से यह जीव सर्व द्रव्यों—पदार्थों—में तृष्णारहित हो जाता है, और तृष्णारहित होने से वह परमशांति को प्राप्त होता हुआ विचरता है । तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का प्रत्याख्यान [त्याग—नियम या प्रतिज्ञा] किया जाता है फिर उस वस्तु को प्राप्त करने अथवा प्राप्त हुई का उपभोग करने की इच्छा नहीं होती । इस प्रकार इच्छानिरोध से इस जीव की समस्त पदार्थों पर से तृष्णा उठ जाती है और जब तृष्णा उठ गई तो फिर बाह्य और आभ्यन्तर के सन्ताप से रहित होकर यह परम शांति में विचरण करता है ।

अब स्तुतिमंगल-पाठ के विषय में कहते हैं । यथा—

थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥१४॥

स्तवस्तुतिमङ्गलेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । स्तवस्तुतिमङ्गलेन ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभं जनयति । ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभसम्पन्नश्च जीवोऽन्तक्रियां कल्पविमानोत्पत्तिकामाराधनामाराध्नोति ॥१४॥

पदार्थान्वयः—थयथुइ–स्तवस्तुति मंगलेणं–मंगल से भंते–हे पूज्य जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है थयथुइ–स्तवस्तुति मंगलेणं–मंगल से नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप बोधिलाभ का जणयइ–उपार्जन करता है नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप बोधिलाभ-संपन्न जीवे–जीव अंतकिरियं–अन्त-क्रिया वा कप्पविमाणोववत्तियं–कल्पविमानोपपत्ति की आराहणं–आराधना का आराहेइ–आराधन करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! स्तवस्तुतिमंगल-पाठ से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—स्तुतिस्तवमंगल-पाठ से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करता है; फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करने वाला जीव, अंतक्रिया वा कल्पविमानोपपत्ति को प्राप्त करता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में अरिहंत और सिद्ध भगवान् की स्तुति करने का फल प्रदर्शन किया गया है । शिष्य के पूछने पर कि भगवन् ! स्तवस्तुतिमंगल-पाठ के करने से इस जीव को क्या फल मिलता है ? गुरु उत्तर देते हैं कि हे भद्र ! स्तवस्तुतिमंगल-पाठ का फल ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधि-लाभ की प्राप्ति है, और बोधि-लाभ को प्राप्त करने वाला जीव अन्तक्रिया—मोक्ष—की आराधना—प्राप्ति

करता है अथवा कल्प-देवलोकों में—या नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर-विमानों में उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वोधि-लाभ से संसार का अन्त करने वाली अथवा कर्मों का अन्त करने वाली अर्थात् जिस क्रिया के अनुष्ठान से अन्त में अन्तक्रिया—मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे अन्तक्रिया कहते हैं। सारांश यह है कि यदि इस जीव के समस्त घाति-कर्मों का क्षय हो गया हो तव तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और यदि कुछ कर्म बाकी रह गये हों तव वह आत्मा नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर-विमान तथा कल्प-विमानों में—जोकि स्वर्ग में सब से उत्तम स्थान है—उत्पन्न होती है। वहाँ से चलकर उत्तम मानव-भव को प्राप्त करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त करती है। यह स्तुतिमंगल-पाठ की आराधना का फल है। कर्मों की विलक्षणता से अन्तक्रिया के भी चार भेद वर्णन किये गये हैं। १—अल्पसंयम, अल्पवेदना—जैसे मरुदेवी माता, २—अल्पसंयम, वहुवेदना—जैसे गजसुकुमाल, ३—वहुकालसंयम, अल्पवेदना—जैसे भरत चक्रवर्ती; ४—वहुकालसंयम, वहुवेदना—जैसे सन्तकुमार चक्रवर्ती; इस प्रकार अन्तक्रिया के चार भेद कहे हैं। तथा—'थयथुइ—स्तवस्तुति' में प्राकृत के कारण व्यत्यय अर्थात् क्ति प्रत्ययान्त का परनिपात किया गया है। एवं स्तव शब्द से यहाँ पर शक्रस्तव का ग्रहण है और स्तुति से—एकादिसप्तश्लोकान्त स्तुति का अर्थात् चतुर्विंशतिस्तव का ग्रहण करना, और मंगल शब्द इनकी विशिष्टता का द्योतक है।

स्तुतिपाठ के अनन्तर अव कालप्रत्युपेक्षणा—प्रतिलेखना के विषय में कहते हैं—

कालपडिलेहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। कालपडिलेहणयाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥१५॥

कालप्रतिलेखनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। कालप्रतिलेखनया ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥१५॥

पदार्थान्वयः—कालपडिलेहणयाएणं—कालप्रतिलेखना से भंते—हे भगवन् जीवे—जीव किं जणयइ—क्या फल प्राप्त करता है कालपडिलेहणयाएणं—कालप्रतिलेखना से नाणावरणिज्जंकम्मं—ज्ञानावरणीय कर्म को खवेइ—खपाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य ! स्वाध्यायादि काल की प्रतिलेखना से जीव किस फल की प्राप्ति करता है ? उत्तर—कालप्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है ।

टीका—यहाँ पर काल शब्द से स्वाध्यायकाल का ग्रहण करना चाहिए । आगमविहित जो प्रादोषिकादि काल हैं उन में यथाविधि निरूपणा—ग्रहण करना, तथा प्रतिजागरणा अर्थात् समय का विभाग करके उसके अनुसार क्रियाएँ करना, यह काल-प्रतिलेखना है । काल-प्रतिलेखना के फल के विषय में शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि काल-प्रतिलेखना—प्रत्युपेक्षणा—के द्वारा यह जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है । कारण यह है कि समयविभाग में आत्मा को प्रमाद-रहित होना पड़ता है और उपयोग रखना पड़ता है । उसका फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है ।

कदाचित् अकाल में स्वाध्याय किया गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए, अतः अब प्रायश्चित्त के विषय में कहते हैं—

पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पायच्छित्तेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ । निरइयारे आवि भवइ । सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं च आयारफलं च आराहेइ ॥१६॥

प्रायश्चित्तकरणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । प्रायश्चित्तेन पापकर्मविशुद्धिं जनयति । निरतिचारश्चापिभवति । सम्यक् च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानः (सम्यक्त्व-) मार्गञ्च (सम्यक्त्व-) मार्गफलञ्च विशोधयति आचारञ्चाचारफलञ्चाराधयति ॥१६॥

पदार्थान्वयः—**पायच्छित्तकरणेणं**–प्रायश्चित्त के करने से **भंते**–हे भगवन् **जीवे**–जीव **किं जणयइ**–किस फल की प्राप्ति करता है **पायच्छित्तेणं**–प्रायश्चित्त से **पावकम्मविसोहिं**–पापकर्म की विशुद्धि का **जणयइ**–उपार्जन करता है **च**–फिर **सम्मं**–भली प्रकार **पायच्छित्तं**–प्रायश्चित्त को **पडिवज्जमाणे**–ग्रहण करता हुआ **निरइयारे आवि**–निरतिचार भी **भवइ**–हो जाता है **च**–तथा **मग्गं**–मार्ग की **च**–और **मग्गफलं**–मार्ग के फल की **विसोहेइ**–विशुद्धि करता है **आयारं**–आचार की **च**–और **आयारफलं**–आचार के फल की **आराहेइ**–आराधना करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य ! प्रायश्चित्त करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! प्रायश्चित्त से यह जीव पापकर्म की विशुद्धि कर लेता है, फिर वह निरतिचार-व्रत के अतिचारों—दोषों—से रहित हो जाता है तथा सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त को ग्रहण करता हुआ ज्ञानमार्ग और उसके फल की विशुद्धि करता है और आचार तथा आचार के फल की आराधना—प्राप्ति कर लेता है ।

टीका—जिसके करने से पापों का विच्छेद हो जावे उसे प्रायश्चित्त कहते हैं, इसलिए आलोचनादि प्रायश्चित्त से पापों की विशुद्धि होती है और पापों की विशुद्धि से इस जीव का चारित्र निरतिचार अर्थात् अतिचार से रहित हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु शुद्ध मन से प्रायश्चित्त को ग्रहण करता हुआ जीव, कल्याण के मार्ग और उसके फल को भी विशुद्ध कर लेता है, अर्थात् सम्यक्त्व और उसके फलरूप ज्ञान को निर्मल कर लेता है, तथा चारित्र और उसके फल मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । पूर्व अट्ठाइसवें अध्ययन में कह आये हैं कि सब से पहले दर्शन होता है, तथा चारित्र-प्राप्ति-निबन्धन होने से दर्शन और ज्ञान ही उसका फल है, अतः ज्ञानाचारादि का फल मोक्ष कहा है । अथवा मार्ग शब्द से मुक्तिमार्ग का ग्रहण करना चाहिए और क्षायोपशमिक दर्शनादि उस मार्ग के फल हैं । जब वे प्रकर्ष दशा को प्राप्त हुए क्षायिक भाव को प्राप्त होते हैं तब उनका फल मुक्ति है । इसलिए विशोधना और आराधना के द्वारा सर्वदा निरतिचार संयम का ही पालन करना चाहिए जिसका कि फल मोक्षपद की प्राप्ति है ।

अब क्षमापना के विषय में कहते हैं—

खमावणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। खमावणयाएणं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥१७॥

क्षमापनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। क्षमापनया प्रह्लादनभावं जनयति। प्रह्लादनभावमुपगतश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु मैत्रीभावमुपगतश्चापि जीवः भावविशुद्धिं कृत्वा निर्भयो भवति ॥१७॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भगवन् खमावणयाएणं-क्षमापना से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या फल प्राप्त करता है खमावणयाएणं-क्षमापना से पल्हायणभावं-प्रह्लादनभाव—चित्त की प्रसन्नता—को जणयइ-प्राप्त करता है पल्हायणभावं-चित्त-प्रसन्नता को उवगए-प्राप्त हुआ सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु-सर्वप्राणभूत जीव-सत्त्वों में मित्तीभावं-मैत्रीभाव को उप्पाएइ-उत्पन्न करता है य-फिर मित्तीभावं-मैत्रीभाव को उवगए-प्राप्त हुआ जीवे-जीव भावविसोहिं-भावविशुद्धि काऊण-करके निब्भए-निर्भय भवइ-हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! क्षमापना से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! क्षमापना से प्रह्लादनभाव—चित्त की प्रसन्नता—की प्राप्ति होती है, चित्त-प्रसन्नता की प्राप्ति से सर्वप्राणभूत जीव और सत्त्व आदि में मैत्रीभाव की उत्पत्ति होती है और मैत्रीभाव को प्राप्त करके यह जीव भाव-विशुद्धि के द्वारा सर्वथा निर्भय हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में क्षमा के फल का वर्णन किया गया है। किसी से अपराध होने पर प्रतीकार का सामर्थ्य रखते हुए भी उसकी उपेक्षा कर देना अर्थात् किसी प्रकार का दंड देने के लिए उद्यत न होना क्षमा कहलाती है। शिष्य पूछता

है कि भगवन् ! क्षमा धारण करने से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि क्षमा के आचरण से इस जीव का चित्त, परम आह्लाद को प्राप्त होता है और आह्लादित चित्त से यह जीव संसार के यावन्मात्र जीवों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न कर लेता है। यहाँ पर प्राणी—द्वीन्द्रियादि जीव, भूत—वनस्पति, जीव—पञ्चेन्द्रिय और शेष जीवों की सत्त्व संज्ञा है। इस प्रकार सारे विश्व का मित्र होने से वह अपने भाव को विशुद्ध बनाता हुआ अन्त में निर्भय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्षमा से इस जीव को आह्लाद की प्राप्ति होती है और आह्लाद से सर्वजीवों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, इससे रागद्वेष का क्षय होकर भाव की विशुद्धि होती है और भावविशुद्धि से इस जीव को निर्भयता की प्राप्ति होती है।

अत्र स्वाध्याय के विषय में कहते हैं—

सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥१८॥

स्वाध्यायेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥१८॥

पदार्थान्वयः—**भंते**–हे भगवन् **सज्झाएणं**–स्वाध्याय से **जीवे**–जीव **किं जणयइ**–किस फल को प्राप्त करता है **सज्झाएणं**–स्वाध्याय से **नाणावरणिज्जं कम्मं**–ज्ञानावरणीय कर्म को **खवेइ**–खपाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! स्वाध्याय से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

टीका—षडावश्यक के अनन्तर स्वाध्याय का करना परम आवश्यक होने से प्रस्तुत गाथा में उसके फल का वर्णन किया है। यद्यपि ज्ञानावरणीय के अतिरिक्त अन्य कर्मों का भी क्षय होता है तथापि स्वाध्याय का मुख्य फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय है। तात्पर्य यह है कि जिन क्रियाओं के द्वारा ज्ञानाच्छादक कर्म-वर्गणाएँ आत्मप्रदेशों के साथ लग रही हैं वे स्वाध्याय के अनुष्ठान से आत्मप्रदेशों से पृथक् हो जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप में आत्मा की ज्ञान-ज्योति निर्मल हो जाती है।

शास्त्र में स्वाध्याय के पाँच भेद वर्णन किये हैं; उनमें प्रथम भेद वाचना है। इसलिए अब वाचना के विषय में कहते हैं—

वायणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। वायणाएणं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥१९॥

वाचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । वाचनया निर्जरां जनयति । श्रुतस्य चानुषज्जनेन अनाशातनायां वर्तते। श्रुतस्यानुषज्जनेनानाशातनायांवर्तमानस्तीर्थधर्ममवलम्बते। तीर्थ-धर्ममवलम्बमानो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥१९॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे पूज्य वायणाएणं–वाचना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है वायणाएणं–वाचना से निज्जरं–निर्जरा का जणयइ–उपार्जन करता है य–और सुयस्स–श्रुत के अणुसज्जणाए–अनुवर्तन से अणासायणाए–अनाशातना में वट्टए–वर्तता है सुयस्स–श्रुत के अणुसज्जणाए–अनुवर्तन और अणासायणाए–अनाशातना में वट्टमाणे–वर्तता हुआ तित्थधम्मं–तीर्थधर्म का अवलंबइ–अवलम्बन करता है तित्थधम्मं–तीर्थधर्म का अवलंबमाणे–अवलम्बन करने से महानिज्जरे–कर्मों की महानिर्जरा महापज्जवसाणे–महापर्यवसान हवइ–होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वाचना से जीव को क्या फल होता है ? उत्तर—हे शिष्य ! वाचना से कर्मों की निर्जरा होती है, तथा श्रुत का अनुवर्तन होने से उसकी (श्रुत की) आशातना नहीं होती; फिर श्रुत के अनुवर्तन और अनाशातना में प्रवृत्त हुआ जीव तीर्थधर्म का अवलम्बन करता है; तीर्थधर्म के अवलम्बन से महानिर्जरा और महापर्यवसान (कर्मों का अन्त) होता है।

टीका—स्वाध्याय के प्रथम भेदरूप वाचना के फल का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि वाचना का फल कर्मों की निर्जरा—नाश—है अर्थात् आत्म-प्रदेशों में लगे हुए कर्मपुद्गल उनसे अलग हो जाते हैं और श्रुत का अनुवर्तन—सदैव पठनपाठन—होने से श्रुत की आशातना नहीं होती—श्रुत-प्रणाली का व्यवच्छेद नहीं होता। इस प्रकार श्रुत-प्रणाली का व्यवच्छेद और आशातना का अभाव होने से यह जीव तीर्थ-धर्म का अवलंबन करता है। तात्पर्य यह है कि—तीर्थ नाम है गणधर का, उसका जो आचार तथा श्रुत-प्रदानरूप धर्म उसके आश्रित हो जाता है। अथवा श्रुतरूप तीर्थ का जो स्वाध्यायरूप धर्म है उसके आश्रित होता हुआ यह जीव महानिर्जरा और पर्यवसान को प्राप्त कर लेता है अर्थात् कर्मों का क्षय और संसार का अन्त कर देता है। सारांश यह है कि वाचना से एक तो श्रुत के पठनपाठन की प्रथा बनी रहती है, द्वितीय श्रुत की आशातना नहीं होती, और तीसरे श्रुत में प्रतिपादन किए हुए धर्म का आश्रय लेकर कर्मों की निर्जरा करता हुआ जीव संसार का अन्त कर देता है अर्थात् मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है। कतिपय प्रतियों में 'अणुसज्जणाए' यह पद नहीं है परन्तु बृहद्वृत्तिकार ने इसको मूल गाथा का पाठ मानकर इसकी 'तत्रानुपज्जनमनुवर्तनं तत्र वर्तते कोऽर्थः ? अव्यवच्छेदं करोति' यह व्याख्या की है।

अब स्वाध्याय के दूसरे भेद के फल का उल्लेख करते हैं—

पडिपुच्छणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। पडिपुच्छणयाएणं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ ॥२०॥

प्रतिप्रच्छनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। प्रतिप्रच्छनया सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति। काङ्क्षामोहनीयं कर्म व्युच्छिनत्ति ॥२०॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भदन्त पडिपुच्छणयाएणं—प्रतिपृच्छा से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है पडिपुच्छणयाएणं—प्रतिपृच्छा से

सुत्तत्थतदुभयाइं–सूत्र और अर्थ दोनों की विसोहेइ–विशुद्धि करता है तथा—कंखामोहणिज्जं–कांक्षामोहनीय कम्मं–कर्म का वोच्छिदइ–विच्छेद करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! प्रतिपृच्छना—शास्त्रचर्चा—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—प्रतिपृच्छा—शास्त्रचर्चा—करने से सूत्र और उसका अर्थ, इन दोनों की विशुद्धि करता है तथा कांक्षामोहनीय कर्म का विशेष-रूप से नाश करता है।

टीका—सूत्रार्थ में सन्देह उत्पन्न होने पर उसकी निवृत्ति के लिए जो विनय-पूर्वक शंकासमाधान के रूप में चर्चा की जावे उसको प्रतिपृच्छा कहते हैं। शिष्य पूछता है कि भगवन्! प्रतिपृच्छा से इस जीव को क्या लाभ होता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि भद्र! प्रतिपृच्छा से सूत्र और उसका अर्थ दोनों ही शुद्ध हो जाते हैं और साथ में आकांक्षामोहनीय कर्म का भी क्षय हो जाता है। आकांक्षामोहनीय में अनभिग्राहिक-मिथ्यात्व होता है, इसलिए यह दर्शन-मोहनीय का ही भेद है।

अब परिवर्तना का फल वर्णन करते हैं—

परियट्टणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। परियट्ट-णयाएणं वंजणाइं जणयइ। वंजणलद्धिं च उप्पाएइ॥२१॥

परिवर्तनया भदन्त! जीवः किं जनयति?। परिवर्तनया व्यञ्जनानि जनयति। व्यञ्जनलब्धिश्चोत्पादयति॥२१॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् परियट्टणयाएणं–परिवर्तना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है परियट्टणयाएणं–परिवर्तना से वंजणाइं–व्यंजनों को जणयइ–उत्पन्न करता है वंजणलद्धिं–व्यंजनलब्धि को च–तथा पदानुसरणीलब्धि को उप्पाएइ–उत्पन्न करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! परिवर्तना से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—हे शिष्य! परिवर्तना से यह जीव व्यंजन और व्यंजनलब्धि को प्राप्त कर लेता है तथा पदानुसरणीलब्धि की भी उसको प्राप्ति होती है।

टीका—पढ़े हुए सूत्र-पाठ को पुनः २ आवर्तन करना परिवर्तना है। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! परिवर्तना से यह जीव, जिनके द्वारा अर्थ की प्राप्ति होती है उन व्यंजनों—अक्षरों को उत्पन्न कर लेता है अर्थात् बार २ आवृत्ति करने से यह अस्खलित-सूत्रार्थ हो जाता है। यदि पाठ करते २ विस्मृति हो जावे तो शीघ्र ही स्मरण हो आता है। इतना ही नहीं किन्तु क्षयोपशम के प्रभाव से उसको व्यंजनलब्धि और चकार से पदलब्धि की प्राप्ति हो जाती है। अक्षरलब्धि—अक्षरों का स्मरण और पदलब्धि—पदों का स्मरण।

अब अनुप्रेक्षा के फल के विषय में कहते हैं—

अणुप्पेहाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। अणुप्पेहाएणं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिया बंधइ, सिया नो बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥२२॥

अनुप्रेक्षया भदन्त! जीवः किं जनयति?। अनुप्रेक्षयाऽऽयुर्वर्जाः सप्तकर्मप्रकृतीर्गाढबन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति। दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति। तीव्रानुभावा मन्दानुभावाः प्रकरोति। बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति। आयुः कर्म च स्याद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति। अशाता-

वेदनीयञ्च कर्म नो भूयोभूय उपचिनोति । अनादिकञ्चाऽनवदग्रं दीर्घाद्ध्वं चतुरन्तं संसारकान्तारं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजति ॥२२॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् अणुप्पेहाएणं–अनुप्रेक्षा से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है अणुप्पेहाएणं–अनुप्रेक्षा से आउयवज्जाओ–आयुकर्म को वर्ज कर सत्तकम्मप्पगडीओ–सातों कर्म-प्रकृतियाँ जो धणिय–गाढे बंधण–बन्धनों से बद्धाओ–बाँधी हुई थी सिढिल–शिथिल बंधणबद्धाओ–बन्धनों से बँधी हुई पकरेइ–करता है दीहकाल–दीर्घ काल ट्ठिइयाओ–स्थिति से हस्सकाल–ह्रस्वकाल की ट्ठिइयाओ–स्थितिवाली पकरेइ–करता है तिव्वाणुभावाओ–तीव्रानुभाव से मंदाणुभावाओ–मंद भाववाली पकरेइ–करता है बहुपएसग्गाओ–बहुप्रदेशवाली कर्मस्थिति को अप्पपएसग्गाओ–अल्पप्रदेशवाली पकरेइ–करता है च–फिर आउयं–आयुष्य कम्मं–कर्म को सिया–कदाचित् बंधइ–बाँधता है सिया–कदाचित् नो बंधई–नहीं भी बाँधता च–तथा असायावेयणिज्जं–अशातावेदनीय कम्मं–कर्म को नो–नहिं भुज्जोभुज्जो–बारम्बार उवचिणाइ–एकत्रित करता है च–अन्य कर्मों की अशुभ प्रकृतियों को भी अणाइयं–अनादि अणवदग्गं–अनन्त दीहमद्धं–दीर्घ मार्गवाला चाउरंतं–चारगतिरूप संसारकांतारं–संसाररूप कान्तार—जंगल—को खिप्पामेव–शीघ्र ही वीइवयइ–व्यतिक्रम कर जाता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भदन्त ! अनुप्रेक्षा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! अनुप्रेक्षा से (तत्त्व-चिन्तन से) जीव आयुकर्म को त्यागकर अन्य गाढे बन्धनों से बाँधी हुई सातों कर्म की प्रकृतियों को शिथिल बन्धनों वाली कर देता है, और यदि वे लम्बे काल की स्थितिवाली हों तो उन्हें अल्पकाल की स्थितिवाली बना देता है, तथा यदि वे तीव्र अनुभाग—रसवाली हों तो उनको मन्द रसवाली बना डालता है । एवं यदि बहुप्रदेशी हों तो अल्पप्रदेशी कर देता है । उसके आयुकर्म का बन्ध कदाचित् हो और न भी हो परन्तु अशातावेदनीयकर्म को वह बार २ नहीं बाँधता, और वह अनादि अनन्त तथा दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसारजंगल को शीघ्र ही पार कर जाता है ।

टीका—अनुप्रेक्षा नाम सूत्रार्थचिन्तन का है। दूसरे शब्दों में चिन्तन कहते हैं। शिष्य इस तत्त्वचिन्तन के फल को गुरुओं से पूछता उत्तर में गुरु कहते हैं कि अनुप्रेक्षा करने से यह जीव निकाचित कर्मों के को शिथिल करता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को क्षय करके बनाता है तथा यदि उनका विपाक कटु अर्थात् तीव्र हो तो उसको म है। इसी प्रकार यदि वह स्थिति बहुप्रदेशवाली है तो उसको स्वल्पप्रदे है। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि अध्यवसाय-विशेष से के साथ कर्माणुओं का क्षीर-नीर की तरह जो सम्बन्ध होता है उसको हैं। उसके चार भेद हैं—१ प्रकृतिबन्ध, २ स्थितिबन्ध, ३ अनुभाग— ४ प्रदेशबन्ध। अनुप्रेक्षा करने से यह जीव बन्ध के इन चारों भेदं का सम्पादन कर देता है अर्थात् इन चारों प्रकृतियों के अशुभ बन्ध देता है, जैसे कि ऊपर कहा गया है। इसके अतिरिक्त वह आयुकर्म वं है और नहीं भी बाँधता है। कारण यह है कि शास्त्रकारों ने आयुकर्म व के तीसरे भाग में प्रतिपादन किया है, अतः यदि अनुप्रेक्षा करते समय न हो तो आयुःकर्म नहीं बाँधेगा, अथवा जिस आत्मा को उसी जन्म है वह भी आयुःकर्म का बन्ध नहीं करता। परन्तु अशातावेदनीय कर्मप्रकृतियों को वह पुनः पुनः नहीं बाँधता। यहाँ पर पुनः पुनः प्रयुक्त किया गया है कि यदि यह जीव अप्रमत्तगुणस्थान से प्रमत्तगुणस्था तो उस समय उक्त कथन असंभव हो जावेगा। किसी २ प्रति में यह "सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ—सातावेदनीयञ्च व उपचिनोति" अर्थात् सातावेदनीय कर्म को पुनः पुनः बाँधता है। अतः च प्रकृतियों के समूह का ग्रहण करना चाहिए। यह संसाररूप वन अनादि बहुत लम्बा चौड़ा है। देव, मनुष्य, नरक और तिर्यक् रूप चारों गतियाँ इस ऐसे भयानक संसारवन को यह जीव अनुप्रेक्षा के द्वारा पार कर जाता से यहाँ पर सभी प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का ग्रहण अभिमत है। यथा- द्वादश अनुप्रेक्षा, धर्मध्यानसम्बन्धी चार और शुक्लध्यान की चार अनु

अब धर्मकथा के विषय में कहते हैं। यथा—

धम्मकहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । धम्मकहाएणं निज्जरं जणयइ । धम्मकहाएणं पवयणं पभावेइ। पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ॥२३॥

धर्मकथया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । धर्मकथया निर्जरां जनयति । धर्मकथया प्रवचनं प्रभावयति । प्रवचनप्रभावेण जीव आगमिष्यद्भद्रतायाः कर्म निबध्नाति ॥२३॥

पदार्थान्वयः—भंत–हे भगवन् धम्मकहाएणं–धर्मकथा से जीवे–जीव किं जणयइ–किस फल को प्राप्त करता है धम्मकहाएणं–धर्मकथा से निज्जरं–निर्जरा की जणयइ–उत्पत्ति करता है धम्मकहाएणं–धर्मकथा से पवयणं–प्रवचन की पभावेइ–प्रभावना करता है पवयणपभावेणं–प्रवचन की प्रभावना से जीवे–जीव आगमेसस्स–आगामिकाल के भद्दत्ताए–भद्रता के कम्मं–कर्म को बंधइ–बाँधता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! धर्मकथा कहने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! धर्मकथा कहने से कर्मों की निर्जरा होती है तथा प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन की प्रभावना से यह जीव भविष्यत्काल में केवल शुभ कर्मों का ही बन्ध करता है।

टीका—शिष्य ने गुरु से पूछा कि भगवन् ! धर्मकथा के कहने से क्या फल होता है ? गुरु कहते हैं कि धर्मकथा से कर्मों की निर्जरा और प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन की प्रभावना करने वाले—धर्मकथा कहने वाला १, प्रावचनी २, वादी ३, नैमित्तक ४, तपस्वी ५, विद्वान् ६, सिद्ध ७, और कवि ८, ये आठ माने गये हैं। इसलिए धर्मकथा कहने से प्रवचन की प्रभावना होती है और प्रवचनप्रभावक जीव आगामिकाल में भद्र कर्म का ही बन्ध करता है अभद्र का नहीं। परन्तु यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि धर्मकथा के कहने का अधिकार उसी जीव को है जो उसमें योग्यता रखता है। यदि योग्यता के विना करेगा तो कदाचित् उत्सूत्र-प्ररूपणा से भविष्यकाल में अशुभ कर्मों के बन्ध की भी पूरी सम्भावना है।

अब श्रुत की आराधना के सम्बन्ध में कथन करते हैं। यथा—

सुयस्स आराहणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥२४॥

श्रुतस्याऽऽराधनया भदन्त! जीवः किं जनयति?। श्रुतस्याराधनयाऽज्ञानं क्षपयति, न च संक्लिश्यति ॥२४॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् सुयस्स आराहणयाएणं—श्रुत की आराधना से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है सुयस्स आराहणयाएणं—श्रुत की आराधना से अन्नाणं—अज्ञान का खवेइ—क्षय करता है य—पुनः न—नहीं संकिलिस्सइ—क्लेश को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! श्रुत की आराधना से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—श्रुत की आराधना से अज्ञान का नाश करता है और क्लेश को प्राप्त नहीं होता है।

टीका—श्रुत—सूत्रसिद्धान्त—की आराधना से अर्थात् श्रुत का भली भाँति मनन करने से अज्ञान का नाश होता है। क्योंकि श्रुतजन्य विशिष्ट बोध अज्ञान का नाशक है, तथा अज्ञान के नाश होने से रागद्वेषजन्य जो आन्तरिक क्लेश, वह भी दूर होता है। इसलिए श्रुत की आराधना से अज्ञान और तज्जन्यक्लेश भी शान्त हो जाता है, तथा श्रुतसेवी मुनि के सद्भावपूर्ण चित्त में अपूर्व आनन्द-संवेग और विशिष्ट श्रद्धा की उत्पत्ति होने लगती है।

अब मन की एकाग्रता के विषय में कहते हैं—

एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ ॥२५॥

एकाग्रमनःसंनिवेशनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। एकाग्रमनःसंनिवेशनया चित्तनिरोधं करोति ॥२५॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं–एकाग्रमनः-सन्निवेशना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं–मन की एकाग्रता से चित्तनिरोहं–चित्त का निरोध करेइ–करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! एकाग्रमनःसंनिवेश—मन को एकाग्र करने—से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मन की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाले फल का वर्णन किया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन् ! यदि किसी शुभ आलम्बन के द्वारा मन को एकाग्र किया जावे तो ऐसा करने वाले जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर में गुरु कहते हैं कि भद्र ! यदि उक्त प्रकार से मन को एकाग्र किया जावे तो इधर उधर दौड़ने वाली जो चित्तवृत्तियाँ हैं उनका निरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह अति चंचल मन उसके वश में हो जाता है। यद्यपि सूत्र में केवल 'एकाग्र' पद ही दिया है तथापि प्रस्ताव से शुभ आलम्बन का ग्रहण किया जाता है। यदि शुभ आलम्बन का ग्रहण न किया जावे तो आर्त और रौद्र ध्यान में भी मन की स्थिति हो सकती है। इसलिए आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर केवल धर्म और शुक्ल-ध्यान में ही किसी शुभ आलंबन के द्वारा मन की एकाग्रता शास्त्रकार को सम्मत है। उसी से चित्तवृत्ति का निरोध होना अभीष्ट है। यदि दूसरे शब्दों में कहें तो प्रस्तुत गाथा मे द्रव्यप्राणायाम और भावप्राणायाम का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है। क्योंकि मन और वायु का एक स्थान है और वायु के निरोध से मन की एकाग्रता हो जाती है। उसका फल चित्त का सर्वथा निरोध है। इसी लिए पातञ्जल योगदर्शन मे 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [यो. १—१—२] कहा है।

चित्त के निरोध से ही संयम के फल की प्राप्ति होती है। अतः अब संयम के विषय में कहते हैं—

संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥२६॥

संयमेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । संयमेनानहंस्कत्वं जनयति ॥२६॥

पदार्थान्वयः—**भंते**–भगवन् **संजमेणं**–संयम के द्वारा **जीवे**–जीव **किं जणयइ**–किस गुण का उपार्जन करता है **संजमेणं**–संयम से **अणण्हयत्तं**–अनास्रवत्व (कर्मों को न बाँधना) को **जणयइ**–प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! संयम से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! संयम से यह जीव आश्रव से रहित हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयम के आराधन का फल वर्णन किया गया है। संयम के धारण करने से कर्मों का वन्ध नहीं होता । कारण यह है कि संयम की आराधना से पाँचों आस्रवों का निरोध हो जाता है । उसके कारण अनास्रवी—आस्रवरहित होता हुआ जीव पुण्य और पाप दोनों का ही बन्ध नहीं करता । यद्यपि शास्त्रकारों ने संयम के १७ भेद कर दिये हैं तथापि उनमें से अन्तिम के—जो मनःसंयम, वाक्संयम और कायसंयम, ये तीन भेद हैं, उनका यदि सम्यक्तया पालन किया जावेगा तभी यह जीव अनास्रवी हो सकता है ।

इस प्रकार संयमयुक्त होने पर भी तप के विना प्राक्तन कर्मों का क्षय नहीं हो सकता, अतः अव तप के विषय में कहते हैं—

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । तवेणं वोदाणं जणयइ ॥२७॥

तपसा भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । तपसा व्यवदानं जनयति ॥२७॥

पदार्थान्वयः—**भंते**–हे भगवन् **तवेणं**–तप से **जीवे**–जीव **किं**–क्या **जणयइ**–फल प्राप्त करता है **तवेणं**–तप से **वोदाणं**–व्यवदान—पूर्ववद्धकर्मों का क्षय **जणयइ**–उपार्जन करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! तप से जीव किस फल को प्राप्त करता है ? उत्तर—तप से व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके आत्मशुद्धि की प्राप्ति करता है ।

टीका—तप एक प्रकार की विशिष्ट अग्नि है जो कर्मरूप मल को जलाकर भस्मसात् कर देने का अपने में पूर्ण सामर्थ्य रखती है। यद्यपि यहाँ पर तप के भेदों का निरूपण नहीं किया है तथापि तप शब्द से बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के तपों का ग्रहण कर लेना चाहिए ।

अब व्यवदान के विषय में कहते हैं—

वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥२८॥

व्यवदानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । व्यवदानेनाक्रियां जनयति । अक्रियो भूत्वा ततःपश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥२८॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् वोदाणेणं–व्यवदान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण का उपार्जन करता है वोदाणेणं–व्यवदान से अकिरियं–क्रियारहित जणयइ–हो जाता है अकिरियाए भवित्ता–क्रियारहित होकर तओ पच्छा–तदनन्तर सिज्झइ–सिद्ध हो जाता है बुज्झइ–बुद्ध हो जाता है मुच्चइ–मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ–परम शांति को प्राप्त हो जाता है सव्वदुक्खाणं–सर्व दुःखों का अंतं करेइ–अन्त कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! व्यवदान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—व्यवदान से जीव अक्रिय—क्रियारहित हो जाता है । क्रियारहित होने से यह जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परम शांति को प्राप्त करता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है ।

टीका—पूर्वसूत्र में तप का फल व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का विनाश बतलाया गया है और इस सूत्र में अब व्यवदान के फल का निरूपण करते हैं। तप के द्वारा जब पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो गया और आत्मा की विशुद्धि हो गई, तब आत्मा की उस विशिष्ट शुद्धि का फल क्या होता है ? ऐसे शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा निष्क्रिय अर्थात् क्रिया से रहित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उसको शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति हो जाती है तथा ऐसा जीव ईर्यापथिकी-क्रिया से भी रहित हो जाता है। ज्ञानदर्शन के उपयोग से वस्तुतत्त्व को यथार्थरूप से जानने वाला हो जाता है और संसार चक्र से मुक्त होकर परमनिर्वाण—परमशांति—को प्राप्त हो जाता है। इसी को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त कहते हैं। कई लोगों का कथन है कि मुक्ति में प्राप्त हुई आत्मा शून्य अवस्था को प्राप्त हो जाती है। परन्तु उनका यह कथन युक्ति और प्रमाण दोनों से ही रहित है। इसी विचार से सूत्रकर्ता ने बुद्ध पद का प्रयोग किया है। जिस समय इस आत्मा के समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं, तब वह सादि अनन्त जो मोक्षपद है उसको प्राप्त करके सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त कर देती है अर्थात् फिर वह जन्ममरणपरम्परा के चक्र में नहीं आती।

अब सुखशाता के विषय में कहते हैं—

सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥२९॥

सुखशातेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । सुखशातेनानुत्सुकत्वं जनयति । अनुत्सुको हि जीवोऽनुकम्पकोऽनुद्भटो विगतशोकश्चारित्रमोहनीयं कर्म क्षपयति ॥२९॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् सुहसाएणं—सुखशयन से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है सुहसाएणं—सुखशयन से अणुस्सुयत्तं—

अनुत्सुकता का जणयइ—उपार्जन करता है अणुस्सुयाए—अनुत्सुक—निस्पृह जीवे—जीव अणुकंपए—अनुकम्पा करने वाला अणुब्भडे—अनुद्भट—उद्भटता से रहित विगयसोगे—विगतशोक—शोकरहित होता है चरित्तमोहणिज्जं—चारित्रमोहनीय कम्मं—कर्म का खवेइ—क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! सुखशय्या से—विषयजन्य सुखों का त्याग करने से—जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—हे शिष्य! सुखशय्या से जीव अनुत्सुकता—निस्पृहता—को प्राप्त करता है। निस्पृही जीव अनुकम्पायुक्त, अभिमान तथा बाह्य शृंगारादि शोभा का त्यागी और भयशोकादि से रहित होकर चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने वाला होता है।

टीका—स्थानांग-सूत्र मे सुख-शय्या के चार भेद वर्णन किये हैं:—१—प्रवचन में निःशंक होना, २—पर लाभ की स्पृहा न करना, ३—कामभोगादि में तृष्णारहित होना और ४—शरीर के शृंगार का परित्याग करके तपश्चर्या में उद्यत रहना। प्रवचन में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए विषयजन्य सुखों का परित्याग करके निराकुलतायुक्त परम सन्तोषी होना सुखशय्या है। तब शिष्य पूछता है कि भगवन्! सुखशय्या में विश्राम करने वाले जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? यह प्रश्न 'सुहसाए' का 'सुखशायिता' अनुवाद करने पर होता है और यदि उसका प्रतिरूप 'सुखशातता' करें तो उसका—'सुखं वैषयिकं, शातयति—नाशयति' इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह अर्थ होगा कि विषयजन्य सुख के त्याग करने से जीव को क्या फल मिलता है? तथा ऊपर जो लक्षण किया गया है वह दोनों रूपों मे घटित हो जाता है। शिष्य के इन दोनों प्रकार के प्रश्नों का एक ही उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि सुख-शय्या में विश्राम करने से तथा विषयजन्य सुखों का परित्याग करने से विषयों के प्रति निस्पृहता उत्पन्न होती है और संयम मे स्थिरता की प्राप्ति होती है। फिर निस्पृही—स्पृहारहित हुआ—जीव किसी प्राणी को यदि दुःख मे पड़ा देखता है तो उसका अन्तःकरण कांपने लग जाता है और वह दुःखी को देखकर दुःखी बन जाता है। इसके अतिरिक्त वह अभिमान से भी रहित हो जाता है तथा किसी इष्ट पदार्थ के वियोग और अनिष्ट के संयोग से उसको किसी प्रकार का शोक, सन्ताप भी नहीं होता।

इस प्रकार प्रकृष्टतम शुभ अध्यवसाययुक्त होने से वह चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय कर डालता है।

अव अप्रतिवद्धता के विषय में कहते हैं—

अप्पडिबद्धयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। अप्पडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ । निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥३०॥

अप्रतिबद्धतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। अप्रतिबद्धतया निःसङ्गत्वं जनयति । निःसङ्गत्वेन जीव एक एकाग्रचित्तो दिवा च रात्रौ चाऽसजन्नप्रतिबद्धश्चापि विहरति ॥३०॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन् **अप्पडिबद्धयाएणं**—अप्रतिबद्ध भाव से **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—क्या गुण उत्पन्न करता है **अप्पडिबद्धयाएणं**—अप्रतिबद्धता से **निस्संगत्तं**—निःसंगता को **जणयइ**—प्राप्त करता है **निस्संगत्तेणं**—निःसंगता से **जीवे**—जीव **एगे**—एकाकी **एगग्गचित्ते**—एकाग्रचित्त होकर **दिया**—दिन में **य**—अथवा **राओ**—रात्रि मे **य**—समुच्चय अर्थ में **असज्जमाणे**—अनासक्त **अप्पडिबद्धे**—अप्रतिबद्ध **य**—पुनः **अवि**—विशेष भाव से युक्त **विहरइ**—विचरता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! अप्रतिबद्धता से—विषयादि के अप्रतिबन्ध से—जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—अप्रतिबद्धता से जीव निस्संगत्व—असंगता—को प्राप्त करता है। निस्संगता से रागादिरहित होकर जीव को चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। उससे वह जीव अहोरात्र किसी भी वस्तु में अनुराग न रखता हुआ अप्रतिबद्धभाव से विचरता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि भगवन् ! अप्रतिबद्धता—किसी भी पदार्थ में ममत्व न रखने—से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि ममत्व के त्याग से इस जीव को असंगत्व की प्राप्ति होती है अर्थात्

वह संग से रहित हो जाता है। संगरहित होने से उसका किसी भी पदार्थ में राग नहीं रहता। इसलिए वह हर प्रकार के बाह्य संग का परित्याग करता हुआ अप्रतिबद्धरूप से विचरने लगता है। तात्पर्य यह है कि जब किसी पदार्थ पर से इस जीव का प्रतिबन्ध—ममत्व—उठ जाता है तो उसको पदार्थ की प्राप्ति तथा अप्राप्ति में किसी प्रकार का हर्ष या शोक नहीं होता और संगदोष से उत्पन्न होने वाली नानाविध उपाधियों से भी वह मुक्त रहता है। अतएव अप्रतिबद्ध भाव से विचरण करता हुआ वह मास-कल्पादि के अनुष्ठान में सदा उद्यत रहता है। परन्तु अप्रतिबद्धता विविक्त शयनासन से ही संभव हो सकती है।

अतः अब, विविक्त शयनासन के विषय में कहते हैं—

विवित्तसयणासणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभाव-पडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥३१॥

विविक्तशयनासनतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। विविक्तशयनासनतया चारित्रगुप्तिं जनयति। गुप्तचारित्रो हि जीवो विविक्ताहारो दृढचारित्र एकान्तरतो मोक्षभावप्रतिपन्नोऽष्टविध-कर्मग्रन्थिं निर्जरयति ॥३१॥

पदार्थान्वयः—विवित्तसयणासणयाए णं—विविक्त शयनासन के सेवन से भंते—हे भगवन् जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है विवित्त-सयणासणयाए णं—विविक्त शयनासन से चरित्तगुत्तिं—चारित्रगुप्ति को जणयइ—उत्पन्न करता है य—पुनः चरित्तगुत्ते—चारित्र से गुप्त हुआ णं—वाक्यालङ्कार में जीवे—जीव विवित्ताहारे—विकृतिरहित आहार करने वाला दढचरित्ते—दृढचारित्रवान एगंतरए—एकान्तसेवी मोक्खभावपडिवन्ने—मोक्ष को प्राप्त करने वाला अट्ठविहं—आठ प्रकार की कम्मगंठिं—कर्मग्रन्थि को निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! विविक्त शयनासन के सेवन से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे भद्र ! विविक्त शयनासन से चारित्र गुप्ति की प्राप्ति होती है। चारित्रगुप्ति को प्राप्त हुआ जीव विविक्ताहारसेवी, दृढ़चारित्रवान्, एकान्तप्रिय और मोक्ष को प्राप्त करने वाला होता हुआ आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को तोड़ देता है अर्थात् आठों कर्मों के बन्धनों को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

टीका—स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित जो स्थान है उसे विविक्त स्थान कहते हैं, अर्थात् 'जहाँ पर स्त्री, पशु और नपुंसक आदि निवास न करते हों ऐसे स्थान में निवास करने वाला जीव किस फल को प्राप्त करता है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ऐसे स्थान के सेवन से चारित्र की रक्षा होती है और चारित्र के संरक्षित होने पर वह जीव विकृत आहार का त्यागी, शुद्ध चारित्र का धारक और एकान्तसेवी होता हुआ अष्टविध कर्मों का नाश करके मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है। जो पदार्थ अपने प्रथम रस को छोड़कर अन्य रस को प्राप्त हो चुका है उसे विकृत या विकृति कहते हैं तथा चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले जो पदार्थ हैं उनको भी विकृति कहते हैं। अतः शास्त्रकारों ने दुग्ध, दधि, नवनीत और घृत आदि को भी विकृति में परिगणित किया है। जिस पुरुष ने इन विकृतियों का त्याग कर दिया है उसे विविक्ताहारी कहते हैं। तथा चारित्रगुप्त शब्द 'गुप्तचारित्र' के अर्थ में है। केवल प्राकृत के कारण उसका—गुप्त शब्द का—पर निपात हुआ है।

अब विनिवर्तना—निवृत्ति—के विषय में कहते हैं—

विणियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए पावं नियत्तेइ। तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ ॥३२॥

विनिवर्तनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । विनिवर्तनया पापानां कर्मणामकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठति। पूर्वबद्धानाञ्च

निर्जरणया पापं निवर्तयति । ततःपश्चाच्चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजति ॥३२॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् विणियट्टणयाएणं–विनिवर्तना से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है विणियट्टणयाएणं–विनिवर्तना से पावकम्माणं–पापकर्मों के अकरणयाए–न करने के लिए अब्भुट्ठेइ–उद्यत होता है य–फिर पुव्वबद्धाणं–पूर्व बाँधे हुए की निज्जरणयाए–निर्जरा करने से पावं–पापकर्म की नियत्तेइ–निवृत्ति करता है तओपच्छा–तत्पश्चात् चाउरंतं–चतुर्गतिरूप संसारकंतारं–संसारकान्तार को वीइवयइ–अतिक्रम—लाँघ—जाता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! विनिवर्तना—विषय-वासना के त्याग—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे शिष्य ! विषय-वासना के त्याग से जीव पापकर्मों को नहीं बाँधता और पूर्व में बँधे हुए कर्मों की निर्जरा कर देता है । तदनन्तर चतुर्गतिरूप इस संसारकान्तार को पार कर जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विषयविरक्ति के फल का वर्णन किया है अर्थात् 'विषयों से पराङ्मुख होने वाला जीव किस गुण को प्राप्त करता है ?' ऐसी शिष्य की शंका का समाधान करते हुए गुरु कहते हैं कि विषयों से विरक्त होने वाला जीव नये पापकर्मों का उपार्जन नहीं करता और पूर्व में संचित किये हुओं का नाश कर देता है । इस प्रकार पूर्वसंचित कर्मों का नाश और नवीन कर्मों के वन्ध का अभाव हो जाने से वह जीव इस संसाररूप महाभयानक अटवी—जंगल—से पार हो जाता है अर्थात् फिर इसको जन्म-मरण की परम्परा में नहीं आना पड़ता ।

अव संभोग के विषय में कहते हैं—

संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ । निरालंबणस्स य आयट्ठिया जोगा भवंति । सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसादेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो

पत्थेइ, नो अभिलसइ । परलाभं अणस्सायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥३३॥

संभोगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । संभोगप्रत्याख्यानेन जीव आलम्बनानि क्षपयति । निरालम्बस्य चायतार्था योगा भवन्ति । स्वेन लाभेन सन्तुष्यति । परस्य लाभं नास्वादयति, नो तर्कयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नोऽभिलषति । परस्य लाभमनास्वादयन्, अतर्कयन्, अस्पृहयन्, अप्रार्थयन्, अनभिलषन्, द्वितीयां सुखशय्यामुपसम्पद्य विहरति ॥३३॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् संभोगपच्चक्खाणेणं—संभोग के प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की उपार्जना करता है संभोगपच्चक्खाणेणं—संभोग के प्रत्याख्यान से आलंबणाइं—परालम्बन का खवेइ—क्षय कर देता है य—फिर निरालंबणस्स—स्वावलम्बी जीव के जोगा—योग—मन, वचन और काय का व्यापार आयट्ठिया—मोक्षैकप्रयोजन वाले भवंति—होते हैं सएणं—अपने लाभेणं—लाभ में संतुस्सइ—संतुष्ट रहता है परलाभं—पर के लाभ का नो आसादेइ—आस्वादन नहीं करता नो तक्केइ—तर्कणा नहीं करता नो पीहेइ—स्पृहा नहीं करता नो पत्थेइ—प्रार्थना नहीं करता नो अभिलसइ—अभिलाषा नहीं करता परलाभं—पर के लाभ का अणस्साएमाणे—आस्वादन न करता हुआ अतक्केमाणे—तर्कणा न करता हुआ अपीहमाणे—स्पृहा न करता हुआ अपत्थेमाणे—प्रार्थना न करता हुआ अणभिलसमाणे—अभिलाषा न करता हुआ दुच्चं—दूसरी सुहसेज्जं—सुखशय्या को उवसंपज्जित्ता णं—अंगीकार करके विहरइ—विचरता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! संभोग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—संभोग के प्रत्याख्यान से जीव का परावलम्बीपन छूट जाता है और वह स्वावलम्बी हो जाता है । स्वावलम्बी होने से उसके योग—प्रवृत्तियाँ—केवल मोक्षार्थ होते हैं । वह अपने लाभ में सन्तुष्ट रहता

है। पर के लाभ का आस्वादन—उपभोग—नहीं करता, कल्पना नहीं करता, इच्छा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता है। इस प्रकार पर के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ वह जीव दूसरी सुखशय्या को अंगीकार करके विचरण करता है।

टीका—इस सूत्र में संभोग-प्रत्याख्यान के फल का वर्णन किया है। संभोग के प्रत्याख्यान से इस जीव का परावलम्बीपन दूर होकर उसको स्वावलम्बन की प्राप्ति होती है। स्वावलम्बी होने पर उसकी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का मुख्य प्रयोजन संयम की आराधना और मोक्ष की प्राप्ति ही होता है। फिर वह यथा-लाभ में सन्तुष्ट रहता है। किसी के लाभ की वह न तो इच्छा करता है, न कल्पना, न प्रार्थना और न ही अभिलाषा करता है। यद्यपि इन शब्दों के अर्थ में कोई भेद नहीं है तथापि विभिन्न देशीय शिष्यों के सुबोधार्थ इनका प्रयोग किया गया है अर्थात् अनेक शब्दों की योजना की गई है। सुख-शय्या वही है जो कि स्थानांग-सूत्र में चार प्रकार से वर्णन की गई है। अपने लाभ में सन्तुष्ट रहना और पर-लाभ की मन में कल्पना तक न करना आदि जो कुछ ऊपर बतलाया गया है वही दूसरी सुख-शय्या कही जाती है। इसके अतिरिक्त संभोग का अर्थ है अनेक साधुओं के द्वारा एकत्रित किये गये भोजन को मंडलीबद्ध बैठकर खाना अर्थात् समुदाय में बैठकर आहार करना, उसका प्रत्याख्यान—त्याग करना—संभोगप्रत्याख्यान है। जब जिनकल्प का ग्रहण किया जाता है तब संभोग का प्रत्याख्यान करके जिनकल्पी साधु उद्यतविहारी—स्वावलम्बी—होकर विचरता है और वीर्याचार में सदा उद्यत रहता है। परन्तु इतना स्मरण रहे कि इस प्रकार का त्याग गीतार्थ-अवस्था में ही करना चाहिए, अन्य क्रोधादि की अवस्था में नहीं। अतः प्रधान चारित्र की शुद्धि के लिए संभोगप्रत्याख्यान की परम आवश्यकता है।

अब उपधिप्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

उवहिपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखी उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सई॥३४॥

उपधिप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। उपधिप्रत्याख्यानेनापरिमन्थं जनयति । निरुपधिको हि जीवो निराकाङ्क्षी उपधिमन्तरेण च न संक्लिश्यते ॥३४॥

पदार्थान्वयः—**भंते**–हे भगवन् **उवहिपच्चक्खाणेणं**–उपधि के प्रत्याख्यान से **जीवे**–जीव **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है **उवहिपच्चक्खाणेणं**–उपधि का प्रत्याख्यान करने से **अपलिमंथं**–स्वाध्याय में निर्विघ्नता की **जणयइ**–प्राप्ति करता है **निरुवहिए**–उपधिरहित **जीवे**–जीव **निक्कंखी**–आकांक्षा से रहित हुआ **य**–फिर **उवहिमंतरेण**–उपधि के विना **न संकिलिस्सई**–क्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! उपधिप्रत्याख्यान से स्वाध्याय में निर्विघ्नता की प्राप्ति होती है । फिर उपधि से रहित हुआ जीव आकांक्षारहित होने पर क्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

टीका—यहाँ पर उपधि से रजोहरण और मुखवस्त्रिका को छोड़कर अन्य उपाधि—उपकरणों का—ग्रहण अभिमत है । जिस के द्वारा संयम का निर्वाह किया जावे उसको उपधि कहते हैं । वस्त्रपात्रादि का उपधि शब्द से ग्रहण किया जाता है । जब मन का धैर्य बढ़ जावे और परिषहों के सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जावे तब उपधि के परित्याग से यह जीव शारीरिक और मानसिक व्यथा से छूट जाता है अर्थात् उसको उपधि के न होने से किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक क्लेश नहीं होता है तथा उपधि के कारण से स्वाध्याय में पड़ने वाला विघ्न भी दूर हो जाता है । ऊपर बतलाया जा चुका है कि उपधि का जो परित्याग है वह रजोहरण और मुखवस्त्रिका को छोड़कर है अर्थात् इन दोनों का उपधि में ग्रहण नहीं किया जाता । कारण यह है कि ये दोनों साधु के लिङ्ग—चिह्न—हैं । यदि इनका भी परित्याग कर दिया जावे तब तो गृहस्थ-लिङ्ग का परित्याग करके साधु-लिङ्ग का ग्रहण करना ही निरर्थक ठहरता है । अतः सिद्ध हुआ कि उपधि में रजोहरण और मुखवस्त्रिका ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु इनको छोड़कर वस्त्रादि अन्य उपकरण ही ग्रहण किये जाते हैं ।

अब आहार-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ । जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ ॥३५॥

आहारप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । आहारप्रत्याख्यानेन जीविताशंसाप्रयोगं व्युच्छिनत्ति । जीविताशंसाप्रयोगं व्यवच्छिद्य जीव आहारमन्तरेण न संक्लिश्यते ॥३५॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् आहारपच्चक्खाणेणं—आहार के प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस फल को प्राप्त करता है आहारपच्चक्खाणेणं—आहार के प्रत्याख्यान से जीवियासंसप्पओगं—जीविताशंसासंप्रयोग को अर्थात् जीवन की लालसा को वोच्छिंदइ—व्यवच्छेद कर देता है—तोड़ देता है जीवियासंसप्पओगं—जीवन की लालसा का वोच्छिंदित्ता—व्यवच्छेद कर देने से जीवे—जीव आहारमंतरेणं—आहार के विना भी न संकिलिस्सइ—क्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! आहार के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है ? उत्तर—हे शिष्य ! आहार के प्रत्याख्यान से यह जीव जीवन की आशा का व्यवच्छेद कर देता है अर्थात् जीवन की लालसा से छूट जाता है । और जब वह जीवन की आशा से मुक्त हो गया, तब उसको आहार के विना भी किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता ।

टीका—शिष्य पूछता है कि भगवन् ! जो जीव आहार के सर्वथा त्याग की शक्ति रखता है अर्थात् आहार का प्रत्याख्यान कर देता है उसको किस गुण की प्राप्ति होती है ? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि—आहार का प्रत्याख्यान करने से जीवन की जो अभिलाषा उसका संप्रयोग अर्थात् जीवन की आशा के निमित्त जो व्यापार उसका व्यवच्छेद हो जाता है । क्योंकि आहार के अधीन ही मनुष्यों

का जीवन है, तो जब आहार का प्रत्याख्यान कर दिया, तब जीवन की लालसा का छूट जाना स्वाभाविक है। और जब जीवन की लालसा छूट गई, तब आहार के बिना (तपश्चर्या से) इस जीव को किसी प्रकार का क्लेश उत्पन्न नहीं होता। अनेषणीय आहारादि के प्रत्याख्यान के कारण जब कोई परिषह उपस्थित हो जाता है, तब उसकी आत्मा दृढ़तापूर्वक जीवन की आशा को छोड़कर उसका सामना करती है अर्थात् वह सब प्रकार के क्लेशों से रहित—विमुक्त—हो जाता है। अपि च, यह कथन ज्ञानपूर्वक क्रियाओं के अनुष्ठान में कहा गया है।

अब कषायों के विषय में कहते हैं—

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

कषायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। कषायप्रत्याख्यानेन वीतरागभावं जनयति। वीतरागभावं प्रतिपन्नश्चापि जीवः समसुखदुःखो भवति ॥३६॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् कसायपच्चक्खाणेणं—कषाय के प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है कसायपच्चक्खाणेणं—कषाय के प्रत्याख्यान से वीयरागभावं—वीतरागता का जणयइ—उपार्जन करता है य—फिर वीयरागभावपडिवन्ने—वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीवे—जीव समसुहदुक्खे—समानसुख-दुःखवाला भवइ—होता है अवि—पुनरर्थक है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—कषाय के प्रत्याख्यान से वीतरागता की प्राप्ति होती है और वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीव सुख और दुःख दोनों में समानभाववाला हो जाता है।

टीका—क्रोध, मान, माया, और लोभ, इन चारों की कषाय संज्ञा है। कष—संसार का, आय—आगमन हो जिससे—वह कषाय है। इन कषायों के

प्रत्याख्यान—परित्याग—से इस जीवात्मा को वीतरागता की प्राप्ति होती है अर्थात् कषायमुक्त जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है। रागद्वेष से मुक्त होने के कारण उसको सुख और दुःख में भेद-भाव की प्रतीति नहीं होती अर्थात् सुख की प्राप्ति पर उसको हर्ष नहीं होता और दुःख में वह किसी प्रकार के उद्वेग का अनुभव नहीं करता, किन्तु सुख और दुःख दोनों का वह समानबुद्धि से आदर करता है। तात्पर्य यह है कि उसके आत्मा में समभाव की परिणति होने लगती है। इसलिए समभाव से भावित हो जाना ही कषाय-त्याग का फल है।

अब योग-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं—

जोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥३७॥

योगप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। योग-प्रत्याख्यानेनायोगित्वं जनयति। अयोगी हि जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥३७॥

पदार्थान्वयः—भंते-भगवन् जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है जोगपच्चक्खाणेणं-योग के प्रत्याख्यान से अजोगत्तं-अयोगित्व—अयोगिभाव को जणयइ-प्राप्त करता है अजोगी-अयोगी जीवे-जीव नवं-नवीन कम्मं-कर्म को न बंधइ-नहीं बाँधता पुव्वबद्धं-पूर्व में बाँधे हुए का निज्जरेइ-नाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! योग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—हे भद्र! योग का प्रत्याख्यान करने से जीव अयोगी अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। और अयोगी हुआ जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता तथा पूर्व में संचित किए हुए कर्मों की निर्जरा (नाश) कर देता है।

टीका—मन, वचन और शरीर के व्यापार (प्रवृत्ति) का नाम योग है। वह प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का है। 'उक्त योग का निरोध करने से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि योग के प्रत्याख्यान से जीव मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। मन, वचन और शरीर के व्यापार से रहित होने वाला जीव अयोगी कहलाता है। इस प्रकार योगों के निरोध से वह जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता क्योंकि कर्मबन्ध में हेतुभूत मन, वचन और काया का व्यापार है। इनका निरोध कर लेने से फिर कर्म का बन्ध नहीं हो सकता और पूर्व मे बांधे हुए नाम, गोत्र और वेदनीयप्रभृति कर्मो का वह क्षय कर डालता है। यह योग-प्रत्याख्यान का फल है। परन्तु यह सब कथन चौदहवें गुणस्थान की अपेक्षा से जानना चाहिए। कारण यह है कि योगों का सर्वथा निरोध तो उसी गुणस्थान में होता है अन्य में नहीं। दूसरे गुणस्थानों में तो अनेक प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया गया है जो कि योग के विना नहीं हो सकता। इसलिए अयोगी आत्मा ही चार प्रकार के अघाती कर्मो का क्षय करके मोक्षपद को प्राप्त कर सकती है।

अब शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं—

सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ । सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवइ ॥३८॥

शरीरप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशयगुणत्वं निर्वर्तयति । सिद्धातिशय-गुणसम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रभावमुपगतः परमसुखी भवति ॥३८॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् सरीरपच्चक्खाणेणं–शरीर के प्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है सरीरपच्चक्खाणेणं–शरीर के प्रत्याख्यान से सिद्धाइसयगुणत्तणं–सिद्ध के अतिशय गुणभाव को निव्वत्तेइ–प्राप्त

करता है य—फिर सिद्धाइसयगुणसंपन्ने—सिद्ध के अतिशय गुण को प्राप्त हुआ जीवे—जीव लोगग्गभावं—लोक के अग्रभाव को उवगए—प्राप्त होकर परमसुही—परम सुखी भवइ—हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! शरीर के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण का उपार्जन करता है? उत्तर—शरीर के प्रत्याख्यान—त्यागने—से जीव सिद्धों के अतिशयरूप गुण की प्राप्ति कर लेता है तथा सिद्धों के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह लोक के अग्रभाग में पहुँचकर परमसुख को प्राप्त हो जाता है।

टीका—शरीर शब्द यहाँ पर औदारिकादि शरीरों का बोधक है अर्थात् औदारिकादि शरीरों के परित्याग से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि शरीर के परित्याग से सिद्धों के अतिशय—परमोत्कृष्ट गुणभावों को प्राप्त करके यह जीवात्मा लोक के अग्रभाग में—मोक्ष में—जाकर परमसुख को प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, अजर और अमर पद को प्राप्त करता हुआ अनन्तशक्तिसंपन्न होकर परमसुखी हो जाता है।

अब सहाय-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

सहायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ ॥३९॥

सहायप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। सहायप्रत्याख्यानेनैकीभावं जनयति। एकीभावभूतोऽपि च जीव एकत्वं भावयन्नल्पशब्दोऽल्पझञ्झोऽल्पकलहोऽल्पकषायोऽल्पत्वंत्वः संयमबहुलः, संवरबहुलः, समाधिबहुलः, समाहितश्चापि भवति ॥३९

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् सहायपच्चक्खाणेणं—सहायक के प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है सहायपच्चक्खाणेणं—सहायक के प्रत्याख्यान से एगीभावं—एकत्वभाव को जणयइ—प्राप्त करता है य—फिर एगीभावभूए—एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीवे—जीव एगग्गं—एकाग्रता की भावेमाणे—भावना करता हुआ अप्पसद्दे—अल्पशब्दवाला अप्पझंझे—वचनकलह से रहित अप्पकलहे—अल्पक्लेशवाला अप्पकसाए—अल्पकषायवाला अप्पतुमंतुमे—अल्प तूँ तूँ वाला—किन्तु संजमबहुले—प्रधानसंयमवान् संवरबहुले—विशिष्टसंवरवान् च—और समाहिए—समाधियुक्त अवि—ही भवइ—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! सहायक का प्रत्याख्यान करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—सहायक के प्रत्याख्यान से जीव एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव एकाग्रता की भावना करता हुआ अल्पशब्द, अल्पझंझ—अल्पवाक्कलह, अल्पकलह, अल्पकषाय और ज्ञानादि समाधि से युक्त होता है।

टीका—शिष्य कहता है कि हे भगवन्! जिस साधु ने अपनी दैनिकचर्या में वा अपनी नियत क्रियाओं में अन्य यतियों की सहायता का परित्याग कर दिया है अर्थात् 'मैं अपनी किसी भी क्रिया में किसी अन्य यति की सहायता का ग्रहण नहीं करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला साधु किस गुण को प्राप्त करता है? गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! सहायक के प्रत्याख्यान से यह जीव एकत्वभाव को प्राप्त कर लेता है। एकत्वभाव के प्राप्त होने पर वह अल्प भाषण करता है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप कषाय भी कम हो जाते हैं। तथा अल्प अपराध के हो जाने पर जो तूँ तूँ कहा जाता है—जैसे कि तू ने पहले भी ऐसा किया और अब भी वैसे ही करता है इत्यादि—इस व्यवहार का भी उसमें अभाव होता है। संयम, संवर और समाधि में वह अधिक दृढ़ हो जाता है। सारांश यह है कि साहाय्य का परित्याग करने से जीव परस्पर के विवाद से रहित हो जाता है। उसमें किसी प्रकार के कलह—क्लेश आदि दोषों के उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। इसी लिए तूँ तूँ मैं मैं का भी अवसर प्राप्त नहीं होता और विपरीत इसके संयम की बहुलता और संवर की प्रधानता तथा ज्ञानादि-समाधि

की उत्पत्ति होती है। इसलिए एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव क्लेशादि से मुक्त होकर संयम और समाधि-युक्त होता हुआ शांतिपूर्वक इस संसार में विचरता है। परन्तु यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि यह उक्त कथन वैराग्य के आश्रित होकर एकत्वभाव प्राप्त करने से सम्बन्ध रखता है और यदि किसी रोष आदि के कारण एकत्वभाव को अंगीकार किया जावे तो उससे गुणप्राप्ति के बदले अनेक प्रकार के दोषों के ही उत्पन्न होने की संभावना है। अतः साहाय्य-प्रत्याख्यान में वैराग्य को ही मुख्य कारणता होनी चाहिए।

अब भक्त-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं—

भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ ॥४०॥

भक्तप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । भक्त-प्रत्याख्यानेनानेकानि भवशतानि निरुणद्धि ॥४०॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् भत्तपच्चक्खाणेणं–भक्तप्रत्याख्यान से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है भत्तपच्चक्खाणेणं–भक्तप्रत्याख्यान से अणेगाइं–अनेक भवसयाइं–सैकड़ों जन्मों को निरुंभइ–रोक देता है—अल्पसंसारी हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! भक्तप्रत्याख्यान—आहार के परित्याग—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! भक्त के प्रत्याख्यान से यह जीव सैकड़ों भवों—जन्मों—का निरोध कर लेता है।

टीका—भक्तप्रत्याख्यान—अनशनव्रत—से अर्थात् अनशनव्रतरूप तपश्चर्या के द्वारा यह जीव अपने अनेक भवों को कम कर देता है। कारण यह है कि आहार के त्याग से भावों में विशेष दृढ़ता आ जाती है। उससे यह जीव अपने अनेक जन्मों को घटा देता है अर्थात् उसे जितने जन्म धारण करने थे उनमें बहुत कमी हो जाती है। यदि संक्षेप में कहें तो अल्पसंसारी होना भक्तप्रत्याख्यान का फल है।

अब सद्भाव-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे कहते हैं—

सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। सब्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्टिं जणयइ। अणियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तं जहा—वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥४१॥

सद्भावप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। सद्भावप्रत्याख्यानेनानिवृत्तिं जनयति। अनिवृत्तिं प्रतिपन्नश्चानगारश्चत्वारि कर्मांशानि क्षपयति। तद्यथा—वेदनीयम्, आयुः, नाम, गोत्रम्। तत्पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥४१॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् सब्भावपच्चक्खाणेणं—सद्भाव के प्रत्याख्यान से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की उपार्जना करता है सब्भावपच्चक्खाणेणं—सद्भाव के प्रत्याख्यान से अणियट्टिं—अनिवृत्तिरूप शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को जणयइ—प्राप्त होता है य—फिर अणियट्टिपडिवन्ने—अनिवृत्तिकरण को प्राप्त हुआ अणगारे—अनगार चत्तारि—चार कम्मंसे—कर्मांशों को खवेइ—क्षय करता है तं जहा—जैसे कि वेयणिज्जं—वेदनीयकर्म आउयं—आयुकर्म नामं—नामकर्म गोयं—गोत्रकर्म तओपच्छा—तदनन्तर सिज्झइ—सिद्ध हो जाता है बुज्झइ—बुद्ध हो जाता है मुच्चइ—मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ—सर्व प्रकार से शान्त हो जाता है सव्वदुक्खाणं—सर्व प्रकार के दुःखों का अंतं करेइ—अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सद्भाव के प्रत्याख्यान करने से जीव को किस गुण की प्राप्ति हो सकती है ? उत्तर—सद्भाव के प्रत्याख्यान करने से अनिवृत्ति—शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति होती है। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार वेदनीय, आयु नाम और गोत्र, इन चार अघाति कर्मों का क्षय कर देता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त होकर सर्व दुःखों का नाश करता हुआ परम शांति को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रवृत्तिमात्र के परित्याग का नाम सद्भावप्रत्याख्यान है । जिस समय किसी प्रकार की क्रिया शेष नहीं रहती और सर्व प्रकार से संवर-भाव की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् 'जिस समय यह जीवात्मा चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करती है उस समय इस आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?' यह शिष्य का प्रश्न है । इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि उस समय यह जीवात्मा अनिवृत्तिकरण को प्राप्त होती है अर्थात् अनिवृत्तिरूप शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को प्राप्त कर लेती है । जिस स्थान से इस जीवात्मा का फिर पतन नहीं होता उसको अनिवृत्ति कहते हैं । सो चौदहवें गुणस्थान से इस आत्मा का फिर पतन नहीं होता, इसलिए चौदहवे गुणस्थान में पहुँचकर अनिवृत्तिकरण को प्राप्त हुई जीवात्मा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार अघातिकर्मों की ग्रंथियों का क्षय कर डालती है । तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और कर्मदावानल को शान्त करती हुई सर्व प्रकार के दुःखों का सदा के लिए अन्त कर देती है अर्थात् परमनिर्वाणपद को प्राप्त कर लेती है । यहाँ पर 'कर्मांश' शब्द कर्म-ग्रन्थि का बोधक है [कार्मग्रन्थिकपरिभाषया अंशशब्दस्य तत्पर्यायत्वात्] तथा प्राठान्तर में 'अनिवृत्ति' के स्थान पर 'निवृत्ति' ऐसा पद भी देखने में आता है और उसका यह अर्थ किया जाता है कि—वेदनीय कर्म की जो दो समयमात्र की स्थिति है उसके बन्ध की निवृत्ति का सम्पादन करती है । परन्तु अधिक प्रतियों में तो प्रायः 'अनिवृत्ति' पाठ ही देखने में आता है और संगत भी वही प्रतीत होता है ।

परन्तु यह पूर्वोक्त सद्भाव-प्रत्याख्यान प्रायः प्रतिरूपता में ही सम्भव हो सकता है । अतः अब प्रतिरूपता के विषय में कहते हैं—

पडिरूवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ । लघुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते, सत्तसमिइसमत्ते, सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पडिलेहे, जिइंदिए, विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ ॥४२॥

प्रतिरूपतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । प्रतिरूपतया लाघविकतां जनयति । लघुभूतश्च जीवोऽप्रमत्तः प्रकटलिङ्गः प्रशस्तलिङ्गो विशुद्धसम्यक्त्वः समाप्तसत्यसमितिः सर्वप्राणभूत-, जीवसत्त्वेषु विश्वसनीयरूपोऽल्पप्रतिलेखो जितेन्द्रियो विपुलतपः समितिसमन्वागतश्चापि भवति ॥४२॥

पदार्थान्वयः—**भंते**–हे पूज्य **पडिरूवयाए णं**–प्रतिरूपता से **जीवे**–जीव **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है । **पडिरूवयाए णं**–प्रतिरूपता से **लाघवियं**–लाघवता को **जणयइ**–प्राप्त करता है **लघुभूए**–लघुभाव को प्राप्त हुआ **जीवे**–जीव **अप्पमत्ते**–प्रमादरहित **पागडलिंगे**–प्रकटलिंग **पसत्थलिंगे**–प्रशस्तलिंग **विसुद्धसम्मत्ते**–विशुद्ध सम्यक्त्व वाला **सत्तसमिइसमत्ते**–सत्यसमिति से युक्त—प्रतिपूर्ण **सव्वपाणभूय-जीवसत्तेसु**–समस्त प्राणि, भूत, जीव और सत्त्व में **वीससणिज्जरूवे**–विश्वसनीयरूप **अप्पपडिलेहे**–अल्प प्रतिलेखना वाला **जिइंदिय**–जितेन्द्रिय **विउलतवसमिइ**–विपुल तप और समिति से **समन्नागए**–समन्वित **भवइ**–होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! प्रतिरूपता से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—प्रतिरूपता से लघुभाव—लघुता—की प्राप्ति होती है । फिर लघुता को प्राप्त हुआ जीव, अप्रमत्त प्रकट और प्रशस्त चिन्हों को धारण करता हुआ विशुद्धसम्यक्त्वी और सत्य-समिति वाला होकर सर्व प्राणि, भूत जीव और सत्त्वों में विश्वस्त, अल्प प्रतिलेखना वाला और जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समिति से युक्त होता है अर्थात् महाजितेन्द्रिय और विपुल तपस्वी होता है ।

टीका—स्थविर-कल्पी मुनि की द्रव्य और भाव पूर्ण आन्तरिक तथा बाह्य दशा को प्रतिरूपता कहते हैं । दूसरे शब्दों मे प्रतिरूप नाम आदर्श का है अर्थात् 'द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से शुद्ध जो स्थविर-कल्पी का वेप है उसको धारण करने वाला जीव किस गुण को प्राप्त करता है ?' इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि स्थविर-कल्पादि के समान वेपधारण करने से अधिक उपकरणों का परित्याग करता हुआ जीव द्रव्य और भाव से लघुभूत अर्थात् हलका हो जाता है । द्रव्य से अल्प उपकरण वाला, भाव से अल्पकपायी और अप्रतिवद्धतायुक्त होना है । इस प्रकार

लघुताप्राप्त जीव अप्रमत्त—प्रमाद से रहित हो जाता है और प्रकट तथा प्रशस्त चिह्नों को धारण करके अर्थात् जीवरक्षा के निमित्त रजोहरणादि को धारण करके निर्मल सम्यक्त्व और समिति-युक्त होकर समस्त जीवों की विश्वास-भूमी बन जाता है। जब कि उपकरण अल्प हो गये तब प्रतिलेखना भी स्वल्प हो गई अर्थात् प्रतिलेखना में जो अधिक समय लगता था उसमें भी कमी हो गई; प्रतिलेखना से बचे हुए समय को स्वाध्याय में लगाने से उसके ज्ञान में और भी निर्मलता प्राप्त हुई, उसके परिणामस्वरूप वह चारित्र की शुद्धि करता हुआ परम जितेन्द्रिय और विपुल तपस्वी बन जाता है। सारांश यह है कि अन्तःकरण की विशुद्धि हो जाने पर भी बाह्य वेष की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि प्रकट और प्रशस्त साधुवेष इस जीव को कई प्रकार के अकार्यों से बचाये रखता है तथा सर्व प्राणियों का विश्वासपात्र हो जाने से अनेक भव्य जीव उसके उपदेश से सन्मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस जीव के अप्रमत्त, जितेन्द्रिय और तपस्वी होने में भी इसको—[बाह्यवेष को] थोड़े बहुत अंश में कारणता प्राप्त होती है। इसलिए मुनियों को अपने मुनिवेष में ही रहना उचित है। यहाँ पर 'समिति' का पुनः पुनः वर्णन उसकी प्रधानता-द्योतनार्थ है। इसलिए पुनरुक्ति दोष की उद्भावना करनी युक्तिसंगत नहीं। 'सत्तसमिइसम्मत्ते—समाप्तसत्त्वसमितिः' यहाँ पर प्राकृत के कारण से ही क्त-प्रत्ययान्त का पर निपात हुआ है।

अब वैयावृत्त्य के विषय में कहते हैं—

वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ ॥४३॥

वैयावृत्त्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। वैयावृत्त्येन तीर्थङ्करनामगोत्रं कर्म निबध्नाति ॥४३॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् वेयावच्चेणं–वैयावृत्त्य से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है वेयावच्चेणं–वैयावृत्त्य से तित्थयरनामगोत्तं–तीर्थङ्करनामगोत्र कम्मं–कर्म को निबंधइ–बाँधता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वैयावृत्य से यह जीव क्या उपार्जन करता है ? उत्तर—वैयावृत्य से यह जीव तीर्थङ्कर-नामगोत्र-कर्म को बाँधता है।

टीका—स्थविरादि मुनियों की यथोचित सेवा का नाम वैयावृत्य है। इस वैयावृत्य अर्थात् निःस्वार्थ सेवा-भक्ति से यह जीव किसी समय तीर्थंकर-नामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लेता है। सिद्धान्त में वैयावृत्य का फल कर्मों की निर्जरा भी माना है।

अव सर्वगुणसम्पूर्णता के विषय में कहते हैं—

सव्वगुणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावित्तिं जणयइ । अपुणरावित्तिं पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ॥४४॥

सर्वगुणसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। सर्वगुणसम्पन्नतयाऽपुनरावृत्तिं जनयति । अपुनरावृत्तिं प्राप्तश्च जीवः शरीरमानसानां दुःखानां नो भागी भवति ॥४४॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन सव्वगुणसंपन्नयाए णं—सर्वगुणसंपूर्णता से जीवे—जीव किं जणयइ—क्या उपार्जन करता है सव्वगुणसंपन्नयाए णं—सर्वगुणसम्पूर्णता से अपुणरावित्तिं—अपुनरावृत्ति को जणयइ—उपार्जन करता है य—फिर अपुणरावित्तिं पत्तए णं—अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ जीवे—जीव सारीरमाणसाणं—शारीरिक और मानसिक दुक्खाणं—दुक्खों का भागी—भोगने वाला नो भवइ—नहीं होता।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सर्वगुणसम्पन्नता से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे शिष्य ! सर्वगुणसम्पन्नता से इस जीव को अपुनरावृत्तिपद की प्राप्ति होती है और अपुनरावृत्तिपद को प्राप्त हुआ जीव शारीरिक और मानसिक सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

टीका—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र से सम्पन्न होना सर्वगुणसम्पन्नता या सर्वगुणसम्पूर्णता है। इस प्रकार की सर्वगुणसम्पन्नता

अर्थात् 'सर्व गुणों की प्राप्ति कर लेने से इस जीव को क्या लाभ होता है ?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि सर्वगुणसम्पन्नता से अपुनरावृत्ति का लाभ होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ जीव सर्व प्रकार के दुःखों से रहित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षदशा को प्राप्त हो जाने पर न तो कोई कर्म शेष रहता है और न किसी प्रकार के दुःख का उपभोग करना पड़ता है।

अब वीतरागता के विषय में कहते हैं। यथा—

वीयरागयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?। वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ। मणुन्नामणुन्नेसु सद्दफरिसरूवरसगंधेसु सचित्ताचित्तमीसएसु चेव विरज्जइ ॥४५॥

वीतरागतया भदन्त! जीवः किं जनयति ?। वीतरागतया स्नेहानुबन्धनानि तृष्णानुबन्धनानि च व्युच्छिनत्ति। मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु सचित्ताचित्तमिश्रेषु चैव विरज्यते ॥४५॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन् **वीयरागयाए णं**—वीतरागता से **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—क्या उपार्जन करता है। **वीयरागयाए णं**—वीतरागता से **नेहाणुबंधणाणि**—स्नेहबन्धनों का **य**—और **तण्हाणुबंधणाणि**—तृष्णा के अनुबन्धनों का **वोच्छिदइ**—व्यवच्छेद करता है तथा—**मणुन्नामणुन्नेसु**—मनोज्ञ और अमनोज्ञ **सद्दफरिसरूवरसगंधेसु**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में **सचित्ताचित्तमीसएसु**—सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों में **च**—पुनः **एव**—अवधारण अर्थ में है **विरज्जइ**—विरक्त हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! वीतरागता से किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर—वीतरागता से स्नेहानुबन्ध तथा तृष्णानुबन्ध का व्यवच्छेद हो जाता है। फिर प्रिय और अप्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों में उसको वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

टीका—वीतरागता की प्राप्ति से यह जीव स्नेह के बन्धनों को तोड़ देता है अर्थात् पुत्रादिविषयक उसका जो राग है वह जाता रहता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यादिविषयक जो तृष्णा है उसका भी क्षय हो जाता है। इसी लिए प्रिय तथा अप्रिय जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और सचित्ताचित्त तथा मिश्र द्रव्य हैं उनसे वह विरक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष के क्षय हो जाने से उसकी किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं रहती और न ही उसके लिए कोई पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय होता है। यद्यपि वीतरागता का कथन पहले भी आ चुका है तथापि राग की प्रधानता दर्शाने के लिए यह प्रश्न किया गया है। कारण यह है कि संसार में सर्व प्रकार के अनर्थों का मूल यदि कोई है तो वह राग है। उसका दूर करना ही वीतरागता है जो कि परमपुरुषार्थरूप मोक्षतत्त्व का साधक है।

अब क्षमा के विषय में कहते हैं—

खंतीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । खंतीए णं परीसहे जिणेइ ॥४६॥

क्षान्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । क्षान्त्या परिषहान् जयति ॥४६॥

पदार्थान्वयः—**भंते**–हे भगवन् **खंतीए णं**–क्षमा से **जीवे**–जीव **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है **खंतीए णं**–क्षमा से **परीसहे**–परिषहों को **जिणेइ**–जीतता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! क्षमा से जीव किस गुण की उपलब्धि करता है ? उत्तर—क्षमा से जीव परिषहों को जीतता है।

टीका—क्षमा धारण करने का फल बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! क्षमा से यह जीव २२ परिषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि अशेष अनर्थों के मूल कारण क्रोध को क्षमा के द्वारा जीत लेने पर सर्व प्रकार के परिषहों को जीता जा सकता है और क्षमावान् पुरुष का कोई शत्रु भी नहीं रहता।

अब मुक्ति के विषय में कहते हैं—

मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ ॥४७॥

मुक्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मुक्त्याऽऽकिञ्चन्यं जनयति । अकिञ्चनश्च जीवोऽर्थलोलानां पुरुषाणामप्रार्थनीयो भवति ॥४७॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् मुत्तीए णं–मुक्ति से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है मुत्तीए णं–मुक्ति से अकिंचणं–अकिंचनता को जणयइ–प्राप्त करता है य–फिर अकिंचणे–अकिंचन जीवे–जीव अत्थलोलाणं–अर्थ के लोभी पुरिसाणं–पुरुषों का अपत्थणिज्जे–अप्रार्थनीय भवइ–होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! मुक्ति—निर्लोभता—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—मुक्ति से—निर्लोभता से—इस जीव को अकिंचन-भाव की प्राप्ति होती है । फिर अकिंचनभाव को प्राप्त हुआ जीव अर्थ के—धन के—लोभी पुरुषों का अप्रार्थनीय होता है अर्थात् लोभी पुरुष उसके पीछे नहीं लगते।

टीका—मुक्ति नाम निर्लोभता का है और अकिंचनता परिग्रह-शून्यता है । जो पुरुष निर्लोभी होता है वह अकिंचन अर्थात् परिग्रह-रहित होने से चौरादि के द्वारा किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं भोगता । तात्पर्य यह है कि द्रव्यशून्य होने से उसको किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती, जैसे कि धन के लोभी पुरुषों को रहती है ।

अब आर्जवता के विषय में कहते हैं—

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं, अविसंवायणं जणयइ । अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥४८॥

आर्जवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। आर्जवेन कायर्जुकतां, भावर्जुकतां, भाषर्जुकतां, अविसंवादनं जनयति। अविसंवादनसम्पन्नतया जीवो धर्मस्याराधको भवति ॥४८॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भगवन् अज्जवयाए णं-आर्जवता से जीवे-जीव किं जणयइ-किस गुण को प्राप्त करता है अज्जवयाए णं-आर्जवता से काउज्जुययं-काया की ऋजुता—अवक्रता भावुज्जुययं-भाव की ऋजुता भासुज्जुययं-भाषा की ऋजुता अविसंवायणं-अविसंवादनता—छल-क्रिया से रहितपना जणयइ-उपार्जन करता है अविसंवायणसंपन्नयाए-अविसंवादनतासम्पन्न जीवे-जीव धम्मस्स-धर्म का आराहए-आराधक भवइ-होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! ऋजुता—आर्जवभाव—से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—ऋजुभाव से काया की ऋजुता—अवक्रता, भाव की ऋजुता—अवक्रता और भाषा की ऋजुता—अवक्रता तथा अविसंवादपन की प्राप्ति होती है। फिर अविसंवादनतासम्पन्न जीव धर्म का आराधक बन जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आचार्य कहते हैं कि आर्जवता—सरलता—निष्कपटता का सम्पादन करने वाला जीव काया से ऋजु, भाव से ऋजु और भाषा से ऋजु—अवक्र—सरल होता है तथा अविसंवादनता—निश्छलता को प्राप्त करता है। एवं अविसंवादनभाव को प्राप्त हुआ जीव धर्म का आराधक—धर्म की प्राप्ति करने वाला होता है। कुब्जादि वेष का धारण करना, भ्रूविकारादि से लोगों को हँसाना आदि काया की वक्रता है। मन में कुछ और वाणी मे कुछ, यह भाव-सम्बन्धी वक्रता है। उपहास्य के लिए अन्य देश की भाषा का व्यवहार में लाना भाषा की वक्रता है। इसी प्रकार अन्य लोगों के ठगने के निमित्त विलक्षण चेष्टा करना विसंवादनता है। सो जिस जीव ने ऋजुभाव को धारण किया है उसमें इन उपर्युक्त बातों का अभाव होता है अर्थात् वह शरीर से ऋजु, भाव से ऋजु और भाषा से भी ऋजु—सरल होता है। उसकी कोई भी चेष्टा कपटयुक्त नहीं होती। ऐसा ही मनुष्य धर्म का आराधक होता है तथा शुद्ध अध्यवसायी होने के कारण उसको जन्मान्तर में भी धर्म की प्राप्ति होती है।

अब मार्दव के विषय में लिखते हैं—

मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ । अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दव-संपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ॥४९॥

मार्दवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। मार्दवेनानुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुकत्वेन जीवो मृदुमार्दवसम्पन्नोऽष्टौ मदस्थानानि निष्ठापयति (क्षपयति) ॥४९॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् मद्दवयाए णं–मार्दव—मृदुभाव—से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है मद्दवयाए णं–मार्दव से अणुस्सियत्तं–अनुत्सुकता का जणयइ–उपार्जन करता है अणुस्सियत्तेण–अनुत्सुकता से जीवे–जीव मिउ–मृदु मद्दव–मार्दव से संपन्ने–संयुक्त होकर अट्ठ–आठ मयट्ठाणाइं–मदस्थानों को निट्ठावेइ–विनाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! मार्दव—मृदुभाव—से जीव किस गुण का उपार्जन करता है ? उत्तर—मार्दव से जीव अनुत्सुकता का उपार्जन करता है। अनुत्सुकता से मृदुमार्दवसम्पन्न जीव मद के आठ स्थानों का क्षय कर देता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि जो जीव मृदु अर्थात् द्रव्य और भाव से कोमल-स्वभाव है उसको क्या लाभ होता है ? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि मृदुता से इस जीव को अनुत्सुकता—अनुद्धता (अभिमान से, चपलता से राहित्य) की प्राप्ति होती है। अनुद्धता से मृदुता को प्राप्त करके वह जीव, जाति, कुल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य और लाभ, इन आठ प्रकार के मदस्थानों का नाश कर देता है।

अब भाव-सत्य के विषय में कहते हैं—

भावसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ । भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे

अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥५०॥

भावसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । भावसत्येन भावविशुद्धिं जनयति । भावविशुद्धौ वर्तमानो जीवोऽर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायै अभ्युत्तिष्ठते । अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनाय अभ्युत्थाय परलोकधर्मस्याराधको भवति ॥५०॥

टीका—भंते–हे भगवन् भावसच्चेणं–भावसत्य से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण का उपार्जन करता है भावसच्चेणं–भावसत्य से भावविसोहिं–भावविशुद्धि का जणयइ–उपार्जन करता है भावविसोहीए–भावविशुद्धि में वट्टमाणे–प्रवर्त्तमान जीवे–जीव अरहंतपन्नत्तस्स–अर्हन्त के प्रतिपादन किये हुए धम्मस्स–धर्म की आराहणयाए–आराधना के लिए अब्भुट्ठेइ–उद्यत होता है अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए–अर्हन्त-प्रणीत धर्म की आराधना में अब्भुट्ठित्ता–उत्थित होकर परलोगधम्मस्स–परलोकों में धर्म का आराहए–आराधक भवइ–होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! भावसत्य से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—भावसत्य से भाव की विशुद्धि होती है । भावविशुद्धि में प्रवृत्त हुआ जीव अरिहन्तदेवप्रणीत धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता है । अरिहन्तदेवप्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्योग करने वाला जीव परलोक में धर्म का आराधक बनता है । तात्पर्य यह है कि लोक—परलोक दोनों को ही सिद्ध कर सकता है ।

टीका—भावसत्य—शुद्धान्तःकरण से भाव की शुद्धि होती है अर्थात् जीवात्मा के अध्यवसाय शुद्ध हो जाते हैं । भावों की शुद्धि हो जाने पर अरिहन्तदेव के प्रतिपादन किये हुए धर्म की आराधना में यह जीव प्रवृत्त हो जाता है और उक्त धर्म की आराधना इस जीव को परलोक में भी धर्म की प्राप्ति करा देती है

अर्थात् जन्मान्तर में भी वह धर्म का आराधक होता है । यह भावसत्य के अनुष्ठान का फल है ।

अब करणसत्य के विषय में कहते हैं—

करणसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ । करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥५१॥

करणसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । करणसत्येन करणशक्तिं जनयति । करणसत्ये वर्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति ॥५१॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन् **करणसच्चेणं**—करणसत्य से **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—क्या उपार्जन करता है **करणसच्चेणं**—करणसत्य से **करणसत्तिं**—करणशक्ति का **जणयइ**—उपार्जन करता है **करणसच्चे**—करणसत्य में **वट्टमाणे**—प्रवर्तमान **जीवे**—जीव **जहावाई**—जैसे कहता है **तहाकारी**—उसी प्रकार करने वाला **यावि**—भी **भवइ**—होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! करणसत्य से—सत्यप्रवृत्ति से—जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—करणसत्य से जीव सत्यक्रिया करने की शक्ति प्राप्त करता है तथा करणसत्य में प्रवृत्त हुआ जीव जैसे कहता है वैसे ही करता भी है ।

टीका—करणसत्य के फलविषयक किये गये प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि करणसत्य के द्वारा इस जीव में क्रिया-कलाप के करने की शक्ति उत्पन्न होती है और करणसत्य में प्रवृत्ति करने वाला जिस प्रकार सूत्रोक्त उपदेश करता है उसी प्रकार वह क्रिया करने वाला भी होता है । तात्पर्य यह है कि प्रतिलेखनादि क्रियाओं का जिस प्रकार से आगम में उल्लेख किया है उनका करणशक्ति के प्रभाव से सम्यक्तया अनुष्ठान करता हुआ उन क्रियाओं का अपने उपदेश के अनुसार ही यथाविधि पालन करता है अर्थात् उसका उपदेश और आचरण दोनों समान होते हैं । वह जैसा कहता है वैसा ही करता है ।

अव योगसत्य के विषय में कहते हैं—

जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । जोग-सच्चेणं जोगं विसोहेइ ॥५२॥

योगसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । योगसत्येन योगान् विशोधयति ॥५२॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् जोगसच्चेणं—योगसत्य से जीवे—जीव किं जणयइ—क्या प्राप्त करता है जोगसच्चेणं—योगसत्य से जोगं विसोहेइ—योगों की शुद्धि करता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! योगसत्य से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे शिष्य ! योगसत्य—सत्ययोग—से योगों की विशुद्धि होती है।

टीका—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का नाम योग है । सत्ययोग अर्थात् मन, वचन और काया की सत्य प्रवृत्ति से योगों की शुद्धि होती है तथा मन, वचन और शरीर के व्यापार शुद्ध हो जाते हैं ।

अव मनोगुप्ति के विषय में कहते हैं—

मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ । एगग्गचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥५३॥

मनोगुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मनोगुप्त्या जीव ऐकाग्र्यं जनयति । एकाग्रचित्तेन जीवो मनोगुप्तः संयमाराधको भवति ॥५३॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् मणगुत्तयाए णं—मनोगुप्ति से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण का उपार्जन करता है मणगुत्तयाए णं—मनोगुप्ति से जीवे—जीव एगग्गं—एकाग्रता की जणयइ—प्राप्ति करता है एगग्गचित्तेणं—एकाग्रचित्त से जीवे—जीव मणगुत्ते—गुप्त मन वाला संजमाराहए—संयम का आराधक भवइ—होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! मनोगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ? उत्तर—हे भद्र ! मनोगुप्ति से चित्त की एकाग्रता होती है और एकाग्र मन वाला जीव संयम का आराधक होता है।

टीका—चित्त की एकाग्रता मनोगुप्ति का फल है और चित्त की एकाग्रता से संयम की आराधना होती है, अतः परम्परया संयम का सम्यक् प्रकार से आराधक होना मनोगुप्ति का फल है। जिस समय सत्य-मनोयोग, असत्य-मनोयोग, मिश्र-मनोयोग और व्यावहारिक-मनोयोग, इन चारों योगों का विरोध किया जाता है, तब मनोगुप्ति कही जाती है। अतः उक्त प्रकार के चारों योगों का विरोध करना ही मनोगुप्ति है। अपि च—जो लोग अशुभ मनोयोग के विरोध को मनोगुप्ति कहते हैं, उनका कथन युक्तियुक्त न होने से अप्रामाणिक है। क्योंकि इस प्रकार के विरोध को मनःप्रतिसंलीनता कहा है। गुप्तियों का सांगोपांग वर्णन गत २४ वें अध्ययन में आ चुका है।

अब वाग्गुप्ति के विषय में कहते हैं—

वयगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ। निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ॥५४॥

वाग्गुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। वाग्गुप्त्या निर्विकारत्वं जनयति। निर्विकारो हि जीवो वाग्गुप्तोऽध्यात्मयोग-साधनयुक्तश्चापि भवति ॥५४॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् वयगुत्तयाए णं—वचनगुप्ति से जीवे—जीव किं जणयइ—क्या प्राप्त करता है वयगुत्तयाए णं—वचनगुप्ति से निव्विकारत्तं—निर्विकारता की जणयइ—प्राप्ति होती है निव्विकारे णं—निर्विकारी जीवे—जीव वइगुत्ते—वचनगुप्त और अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते—अध्यात्मयोगसाधन में युक्त यावि—भी भवइ—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य ! वचनगुप्ति से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—वचनगुप्ति से जीव को निर्विकारत्व—निर्विकारभाव—की प्राप्ति होती है और निर्विकारी जीव वचन से गुप्त होने के अतिरिक्त अध्यात्मयोग के साधन से भी युक्त होता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि पूज्य ! वचनसंयम से जीव को क्या फल प्राप्त होता है ? गुरु उत्तर देते हैं कि वचन का संयम करने से यह जीव निर्विकारी—विकाररहित—हो जाता है अर्थात् वचन के द्वारा जो विकार—क्लेश—उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जाते हैं। निर्विकारी होने से वह अध्यात्मयोग के साधनों से युक्त हो जाता है। अथवा यों कहिए कि अध्यात्मयोग के साधनों द्वारा वचनसिद्धि को प्राप्त होता है। वचनयोग के सम्यक् विरोध का नाम वचनगुप्ति है, फिर वह योग चाहे प्रशस्त हो चाहे अप्रशस्त।

अब कायगुप्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ । संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥५५॥

कायगुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । कायगुप्त्या संवरं जनयति । संवरेण कायगुप्तः पुनः पापास्रवनिरोधं करोति ॥५५॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् कायगुत्तयाए णं–कायगुप्ति से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है कायगुत्तयाए–कायगुप्ति से संवरं–संवर की जणयइ–उपलब्धि होती है संवरेणं–संवर के द्वारा कायगुत्ते–कायगुप्ति वाला जीव पुणो–फिर पावासवनिरोहं–पापास्रव का निरोध करेइ–करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कायगुप्ति से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—कायगुप्ति से जीव संवर को प्राप्त करता है और संवर के द्वारा कायगुप्ति वाला जीव सर्व प्रकार के पापास्रवों का निरोध कर देता है।

टीका—कायिक व्यापार के निरोध का नाम कायगुप्ति है। इसका फल संवरत्व की प्राप्ति है अर्थात् कायगुप्ति से यह जीव संवरत्व को प्राप्त करता है और उसके द्वारा पापास्रवों—पाप के मार्गों—का निरोध करता है अर्थात् पाप के प्रवाह को रोक देता है। यद्यपि यहाँ पर वृत्तिकारों ने 'संवरं जणयइ—संवरं जनयति' का 'अशुभयोगनिरोधरूपं जनयति' ऐसा अर्थ किया है, परन्तु यह अर्थ मनोयोग-प्रतिसंलीनतादि में संघटित हो सकता है गुप्तियों में नहीं। यदि ऐसा कहें कि सूत्र में पापास्रव का निरोध लिखा है, उसमें पुण्य शब्द का प्रयोग नहीं किया, इससे अशुभ योग का निरोध ही सिद्ध होता है—यह कथन भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि निश्चय में, पुण्य और पाप दोनों ही आस्रवरूप हैं। अतः बन्ध का कारण होने से दोनों ही पापरूप हैं। पुण्य और पाप के जो दो भेद हैं वह केवल व्यवहार को लेकर हैं। जैसे 'वीतराग' इस पद में राग के साथ द्वेष भी ग्रहण किया जाता है तथा राग के दूर होने से द्वेष भी दूर हो जाता है। इसी प्रकार पाप के साथ पुण्य का भी ग्रहण हो जाता है अर्थात् पापास्रव के निरोध में पुण्यास्रव का निरोध भी हो जाता है, इसलिए गुप्ति में निरोध ही प्रधान है।

अब मन के समाधारण का फल वर्णन करते हैं। यथा—

मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मणसमाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ । एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ । नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ ॥५६॥

मनःसमाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मनःसमाधारणयैकाग्र्यं जनयति । ऐकाग्र्यं जनयित्वा ज्ञानपर्यवान् जनयति । ज्ञानपर्यवान् जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति, मिथ्यात्वञ्च निर्जरयति ॥५६॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् मणसमाहारणयाए णं—मन के समाधारण से जीवे—जीव किं जणयइ—क्या प्राप्त करता है मणसमाहारणयाए—मन के समाधारण

से एगग्गं—एकाग्रता की जणयइ—प्राप्ति होती है एगग्गं जणइत्ता—एकाग्रता को प्राप्त करके नाणपज्जवे—ज्ञानपर्यायों का जणयइ—उपार्जन करता है नाणपज्जवे जणइत्ता—ज्ञानपर्यवों को प्राप्त करके सम्मत्तं—सम्यक्त्व की विसोहेइ—विशुद्धि करता है च—और मिच्छत्तं—मिथ्यात्व की निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! मन के समाधारण [समाधि में स्थापित करने] से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! मन की समाधारणा से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। एकाग्रता को प्राप्त करके यह जीव ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करता है। ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करने के अनन्तर सम्यक्त्व की शुद्धि तथा मिथ्यात्व का विनाश करता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! मन की समाधारणा अर्थात् जिनप्रवचन के अनुसार मन को समाधि में स्थापित करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? तब गुरु उत्तर देते हैं कि हे भद्र ! मन की समाधि से एकाग्रता की प्राप्ति होती है और जब एकाग्रता की प्राप्ति हो गई तब यह जीव ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करता है अर्थात् मति, श्रुति आदि ज्ञानों को तथा ज्ञान की अन्य शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान अति निर्मल हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करके यह जीव सम्यक्त्व को विशुद्ध कर लेता है, क्योंकि ज्ञान के निर्मल होने से उसके अन्तःकरण में शंका आदि दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। एवं सम्यक्त्व की विशुद्धि—निर्मलता—होने पर मिथ्यात्व का विनाश अवश्यम्भावी है, इसलिए वह जीव सम्यक्त्व की विशुद्धि के साथ ही मिथ्यात्व का विनाश भी कर डालता है।

अब वचन की समाधारणा के विषय में कहते हैं—

वयसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । वयसमाहारणयाए णं वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ । वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ॥५७॥

वाक्समाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। वाक्समाधारणया वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोधयति। वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोध्य सुलभबोधिकत्वं निर्वर्तयति, दुर्लभबोधिकत्वं निर्जरयति ॥५७॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् **वयसमाहारणयाए**—वचनसमाधारण से **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—किस गुण को प्राप्त करता है **वयसमाहारणयाए**—वाक्-समाधारण से **वयसाहारण**—वचनसाधारण **दंसणपज्जवे**—दर्शनपर्यायों को **विसोहेइ**—विशुद्ध करता है **वयसाहारणदंसणपज्जवे**—वचनसाधारणदर्शनपर्यायों को **विसोहित्ता**—विशुद्ध करके **सुलहबोहियत्तं**—सुलभ-बोधिकत्व—सुलभ बोधिपन को **निव्वत्तेइ**—सम्पादन करता है **दुल्लहबोहियत्तं**—दुर्लभ बोधिपन की **निज्जरेइ**—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वचनसमाधारण से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! वाक्समाधारण से वचन-साधारण-दर्शन-पर्यायों की विशुद्धि होती है तथा वचन-साधारण-दर्शन-पर्यायों की विशुद्धि करके सुलभ बोधिभाव की प्राप्ति और दुर्लभ बोधिभाव की निर्जरा हो जाती है।

टीका—सदैवकाल स्वाध्याय में वचनयोग का स्थापन करना वचनसमाधारणा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! वचनयोग का निरन्तर स्वाध्याय में स्थापन करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? इस का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! वचनयोग को स्वाध्याय में लगाने से अथवा वचनयोग का सम्यक् व्यापार करने से दर्शन के पर्यायों की विशुद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय करने और सम्यक्त्व के भेदों का बार २ निर्वचन करने से इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। कारण यह है कि द्रव्यानुयोग के सतत अभ्यास से सम्यक्त्व को मलिन करने वाले शंका आदि समस्त दोष दूर हो जाते हैं और उसमें निर्मलता आ जाती है। इस प्रकार जब इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो गया तब उसको सुलभ बोधिपने की प्राप्ति हो जाती है और दुर्लभ बोधिपना उसका विनष्ट हो जाता है। सुलभ-बोधि-जीव को भवान्तर मे सत्य धर्म की प्राप्ति अवश्य होती है।

अब कायसमाधारण के विषय में कहते हैं—

कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ । चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ । अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि कम्मंसे खवेइ । तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥५८॥

कायसमाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। कायसमाधारणया चारित्रपर्यवान्विशोधयति । चारित्रपर्यवान्विशोध्य यथाख्यातचारित्रं विशोधयति । यथाख्यातचारित्रं विशोध्य चतुरः कर्मांशान् क्षपयति । ततःपश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥५८॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भगवन् कायसमाहारणयाए णं-कायसमाधारणा से जीवे-जीव किं जणयइ-क्या उपार्जन करता है कायसमाहारणयाए-कायसमाधारणा से चरित्तपज्जवे-चारित्र के पर्यायों की विसोहेइ-विशुद्धि करता है चरित्तपज्जवे-चारित्रपर्यायों को विसोहित्ता-विशुद्ध करके अहक्खायचरित्तं-यथाख्यातचारित्र की विसोहेइ-विशुद्धि करता है अहक्खायचरित्तं-यथाख्यातचारित्र की विसोहित्ता-विशुद्धि करके चत्तारि-चार कम्मंसे-कर्मांशों का खवेइ-क्षय करता है तओपच्छा-तत्पश्चात् सिज्झइ-सिद्ध होता है बुज्झइ-बुद्ध होता है मुच्चइ-मुक्त हो जाता है परिनिव्वायइ-परम शांति को प्राप्त होता है सव्वदुक्खाणं-सर्व दुःखों का अंतं करेइ-अन्त कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! कायसमाधारणा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—कायसमाधारणा से जीव चारित्र के पर्यायों की विशुद्धि

करता है; चारित्रपर्यायों को विशुद्ध करके यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करता है; एवं यथाख्यातचारित्र के विशोधन से चारों अघातिकर्मों का क्षय करता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम शांति को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त—सर्वथा नाश—कर देता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कायसंयम का फल वर्णन किया है। संयम-योग में शरीर को स्थापन करना कायसमाधारणा है। इसके सतत अभ्यास से जीव को चारित्र-पर्यायों के विशोधन का अवसर प्राप्त होता है अर्थात् क्षयोपशमरूप चारित्र-भेदों को विशुद्ध कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उन्मार्गप्रवृत्ति के निरोध होने से उनकी शुद्धि हो जाती है। चारित्र-पर्यायों के विशुद्ध होने से यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि हो जाती है। तदनन्तर चारों अघाति-कर्मों का क्षय करके यह जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाती है अर्थात्—अपनी समस्त शक्तियों का विकास करती हुई सर्व दुःखों का अन्त करके परम निर्वाण को प्राप्त कर लेती है।

अब ज्ञानसम्पन्नता के विषय में कहते हैं—

नाणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ। जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ, तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ। नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमयपरसमयविसारए य असंघायणिज्जे भवइ ॥५९॥

ज्ञानसम्पन्नतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। ज्ञानसम्पन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमं जनयति। ज्ञानसम्पन्नो हि जीवश्चतुरन्ते संसारकान्तारे न विनश्यति। यथा सूचीससूत्रा पतिताऽपि न विनश्यति, तथा जीवः ससूत्रः संसारे न विनश्यति।

ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगान् सम्प्राप्नोति, स्वसमयपरसमय-विशारदश्चासंघातनीयो भवति ॥५९॥

पदार्थान्वयः—भंते-हे भगवन् **नाणसंपन्नयाए णं**-ज्ञानसम्पन्नता से **जीवे**-जीव **किं जणयइ**-क्या प्राप्त करता है **नाणसंपन्नयाए णं**-ज्ञानसम्पन्नता से **सव्वभावाहिगमं**-सर्व भावों के अधिगम—वोध—को **जणयइ**-प्राप्त करता है। **नाणसंपन्ने णं**-ज्ञानसंपन्न **जीवे**-जीव **चाउरंते**-चतुर्गतिरूप **संसारकंतारे**-संसार-कान्तार में **न विणस्सइ**-विनाश को प्राप्त नहीं होता **जहा**-जैसे **सूई**-सूची **ससुत्ता**-सूत्रयुक्त **पडियावि**-गिरी हुई भी **न विणस्सइ**-नष्ट नहीं होती **तहा**-उसी प्रकार **जीवे**-जीव **ससुत्ते**-श्रुतयुक्त **संसारे**-संसार मे **न विणस्सइ**-विनाश को प्राप्त नहीं होता, अपि तु **नाणविणयतवचरित्तयोगे**-ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योग को **संपाउणइ**-सम्प्राप्त करता है **ससमय**-स्वसमय—स्वमत **य**-और **परसमय**-परसमय—परमत का **विसारए**-विशारद होकर **असंघायणिज्जे**-माननीय पुरुष **भवइ**-होता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! ज्ञानसम्पन्नता से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—हे भद्र ! ज्ञानसम्पन्नता से इस जीव को सर्व भावों—पदार्थों—का वोध हो जाता है। ज्ञानसम्पन्न जीव चारगतिरूप संसार-कान्तार—वन—में विनाश को प्राप्त नहीं होता । जैसे डोरे के साथ गिरी हुई सूई खोई नहीं जाती, उसी प्रकार श्रुतज्ञान से युक्त जीव भी संसार में विनाश को प्राप्त नही होता किन्तु ज्ञान, विनय, तप और चारित्रयोग को प्राप्त कर लेता है। फिर स्व और पर मत का जानकार होता हुआ प्रामाणिक पुरुष हो जाता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! ज्ञानसम्पन्न आत्मा को क्या लाभ होता है ? इसके उत्तर मे गुरु कहते हैं कि वत्स ! ज्ञानसम्पन्न आत्मा सर्व पदार्थों के रहस्य को जान लेती है तथा चतुर्गतिरूप संसार-अटवी में इतस्ततः भटकती हुई विनाश को प्राप्त नहीं होती अर्थात् संसाररूप महा जंगल मे खोई नहीं जाती। इस पर दृष्टान्त देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जैसे डोरे से युक्त सूई खोई नहीं जाती अर्थात् जिस सूई के साथ डोरा लगा हुआ है वह यदि कचरे

में गिर जावे तो ढूँढ़ने पर जल्दी से मिल जाती है उसी प्रकार श्रुत-ज्ञान से युक्त जीव भी इस संसार में भटकने से बच जाता है अर्थात् इस संसार-अटवी से पार हो जाता है, क्योंकि श्रुत-ज्ञान उसको समय २ पर मार्ग दर्शाता रहता है। इसके अतिरिक्त वह ज्ञान, विनय, तप और चारित्र योग को प्राप्त करके स्वपर-मत का विज्ञ होकर प्रामाणिक पुरुष बन जाता है। तात्पर्य यह है कि उभयमत का जानकार होने से वह जिज्ञासु जनों के संशयों को दूर करने में विशिष्ट प्रभाव रखने वाला हो जाता है। अतएव सब लोग उसको सन्मान की दृष्टि से देखते हैं।

अब दर्शनसम्पन्नता के विषय में कहते हैं।

दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ। परं न विज्झायइ। परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥६०॥

दर्शनसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?। दर्शनसम्पन्नतया भवमिथ्यात्वच्छेदनं करोति। परं न विध्यापयति। परमविध्यापयन्ननुत्तरेण ज्ञानदर्शनेनात्मानं संयोजयन् सम्यग् भावयन् विहरति ॥६०॥

पदार्थान्वयः—**दंसणसंपन्नयाए णं**—दर्शनसम्पन्नता से **भंते**—हे भगवन् **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—क्या गुण प्राप्त करता है **दंसणसंपन्नयाए**—दर्शनसम्पन्नता से **भवमिच्छत्तछेयणं**—भव का हेतु जो मिथ्यात्व उसका छेदन **करेइ**—करता है **परं**—उत्तर काल में **न विज्झायइ**—ज्ञान के प्रकाश का अभाव नहीं होता **परं**—उत्तर काल में **अविज्झाएमाणे**—प्रकाश के विद्यमान होने से **अणुत्तरेणं**—प्रधान **नाण**—ज्ञान **दंसणेणं**—दर्शन से **अप्पाणं**—आत्मा को **संजोएमाणे**—जोड़ता हुआ **सम्मं**—सम्यक् **भावेमाणे**—भावित करता हुआ **विहरइ**—विचरता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! दर्शनसम्पन्न जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—हे भद्र ! दर्शनसम्पन्न जीव क्षायिक दर्शन को प्राप्त करता

है जो कि संसार के हेतु मिथ्यात्व का सर्वथा उच्छेद कर देने वाला है। फिर उत्तर काल में उसके दर्शन का प्रकाश बुझता नहीं किन्तु उस दर्शन के प्रकाश से युक्त हुआ जीव अपने अनुत्तर ज्ञान-दर्शन से आत्मा का संयोजन करता है तथा सम्यक् प्रकार से भावित करता हुआ विचरण करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दर्शनसम्पत्ति का फल बतलाया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन्! क्षायोपशमिक दर्शन-सम्यक्त्व से इस जीव को क्या लाभ होता है? उत्तर में गुरु कहते हैं कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से युक्त जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इस सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेने से वह संसार के हेतुभूत—जन्ममरणपरम्परा के कारणभूत—मिथ्यात्व का सर्वथा नाश कर देता है। उसका यह ज्ञानदर्शनसम्बन्धी प्रकाश फिर बुझता नहीं। वह उत्कृष्ट ज्ञान को तो उसी भव में और अधिक से अधिक तीसरे भव में तो केवल-ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर लेता है। तथा अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन से अपनी आत्मा को जोड़ता हुआ अर्थात् प्रति समय पर-अपर पदार्थों में उपयोग का संघटन करता हुआ और सम्यक् प्रकार से आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुप्रेक्षण करता हुआ भवस्थ केवली होकर विचरता है।

अब चारित्रसम्पन्नता के विषय में कहते हैं—

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥६१॥

चारित्रसम्पन्नतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। चारित्रसम्पन्नतया शैलेशीभावं जनयति। शैलेशीं प्रतिपन्नश्चाऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥६१॥

पदार्थान्वयः—**चरित्तसंपन्नयाए णं**—चारित्रसम्पन्नता से **भंते**—हे पूज्य **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—किस गुण को प्राप्त करता है **चरित्तसंपन्नयाए णं**—चारित्रसम्पन्नता से **सेलेसीभावं**—मेरु के समान स्थिरता को **जणयइ**—प्राप्त करता है **सेलेसिं**—शैलेशीभाव को **पडिवन्ने**—प्राप्त हुआ **अणगारे**—अनगार **चत्तारि**—चार **कम्मंसे**—कर्मांशों का **खवेइ**—क्षय कर देता है **तओपच्छा**—तत्पश्चात् **सिज्झइ**—सिद्ध होता है **बुज्झइ**—बुद्ध होता है **मुच्चइ**—बन्धन से मुक्त हो जाता है **परिनिव्वायइ**—शीतलीभूत होता है **सव्वदुक्खाणं**—सर्व दुःखों का **अंत करेइ**—अन्त कर देता है।

मूलार्थ—**प्रश्न—हे भगवन्! चारित्रसम्पन्नता से इस जीव को क्या फल प्राप्त होता है? उत्तर—हे शिष्य! चारित्रसम्पन्नता से इस जीव को शैलेशीभाव की प्राप्ति होती है। शैलेशीभावप्रतिपन्न जीव चारों अघाति कर्मांशों को क्षय कर देता है। तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परमशांति को प्राप्त करता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है।**

टीका—शैल नाम पर्वत का है, उसका ईश—स्वामी, शैलेश कहाता है। तात्पर्य यह है कि शैलेश नाम मेरु पर्वत का है, उसके समान योगों के निरोध करने में जो आत्मा स्थिरता—धैर्य रखने वाली हो उसको भी शैलेश कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति ही शैलेशभाव है। फिर शैलेशीभाव को प्राप्त होने वाला जीव वेदनीयादि चारों अघाति-कर्मप्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम निर्वाणपद को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कर देता है। सारांश यह है कि पूर्णरूप से चारित्र की प्राप्ति करने वाला जीव तीनों योगों का विधिपूर्वक निरोध करता हुआ मेरु की तरह अकम्पावस्था को प्राप्त कर लेता है अर्थात् फिर वह किसी से कम्पायमान नहीं हो सकता। इस शैलेशीभाव का फल मोक्षपद की प्राप्ति है।

अब इन्द्रियों के विषय का प्रस्ताव करते हुए प्रथम श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

सोइंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।
सोइंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं

जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६२॥

श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति । तत्प्रत्ययं (रागद्वेषोत्पन्नं) कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६२॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् सोइंदियनिग्गहेणं—श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है सोइंदियनिग्गहेणं—श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से मणुन्नामणुन्नेसु—मनोज्ञामनोज्ञ सद्देसु—शब्दों में रागदोस—रागद्वेष के निग्गहं—निग्रह को जणयइ—प्राप्त करता है च—फिर तप्पच्चइयं—तत्प्रत्यायक कम्मं—कर्म को न बंधइ—नहीं बाँधता च—और पुव्वबद्धं—पूर्व में बाँधे हुए की निज्जरेइ—निर्जरा कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय और अप्रिय शब्दों में राग-द्वेष का निग्रह हो जाता है । फिर तन्निमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्व में बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है ।

टीका—श्रोत्र-इन्द्रिय का निग्रह कर लेने से इस जीव का शब्दविषयक राग-द्वेष की परिणति का निरोध हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उसको शब्द की प्रियता में राग और अप्रियता में द्वेष नहीं होता । इसलिए रागद्वेषजन्य जो कर्मबन्ध है, उसका भी अभाव हो जाता है । इस प्रकार राग-द्वेष का निग्रह होने से पूर्वसंचित कर्मों का भी विनाश हो जाता है ।

अब चक्षुरिन्द्रियनिग्रह के विषय में कहते हैं—

चक्खुंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । चक्खुंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं

जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६३॥

चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति । तत्प्रत्ययं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६३॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् चक्खुंदियनिग्गहेणं–चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या प्राप्त करता है चक्खुंदियनिग्गहेणं–चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से मणुन्नामणुन्नेसु–मनोज्ञामनोज्ञ रूवेसु–रूपों में रागदोसनिग्गहं–राग-द्वेष के निग्रह को जणयइ–प्राप्त करता है च–फिर तप्पच्चइयं–तन्निमित्तक कम्मं–कर्म को न बंधइ–नहीं बाँधता पुव्वबद्धं–पूर्वसंचित कर्मों की निज्जरेइ–निर्जरा कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ? उत्तर—चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय और अप्रिय रूप में राग-द्वेष का निग्रह हो जाता है । फिर रागद्वेषनिमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा अर्थात् क्षय हो जाता है ।

टीका—जब प्रिय और अप्रिय रूप के देखने से अन्तःकरण में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते, तब रूपनिमित्तक कर्मों का भी वह जीव बन्ध नहीं करता और समपरिणामी होने से पूर्वसंचित कर्मों का भी विनाश कर देता है ।

अब घ्राणेन्द्रिय के निग्रह के विषय में कहते हैं—

घाणिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । घाणिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च

घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति । तत्प्रत्ययं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६४॥

पदार्थान्वयः—भंते–भगवन् घाणिंदियनिग्गहेणं–घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से जीवे–जीव किं जणयइ–क्या उपार्जन करता है घाणिंदियनिग्गहेणं–घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से मणुन्नामणुन्नेसु–मनोज्ञामनोज्ञ गंधेसु–गन्धों में रागदोसनिग्गहं–राग-द्वेष के निग्रह को जणयइ–प्राप्त करता है तप्पच्चइयं–तत्प्रत्ययिक—तन्निमित्तक कम्मं–कर्म को न बंधइ–नहीं बाँधता च–और पुव्वबद्धं–पूर्व बाँधे हुए को निज्जरेइ–नाश कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय वा अप्रिय गन्ध में जो राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं उनका निग्रह हो जाता है और उस राग-द्वेष के निमित्त से जो कर्म-बन्ध होना था वह नहीं होता, तथा पूर्वसंचित कर्मों का विनाश हो जाता है ।

टीका—घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से सुगन्ध और दुर्गन्ध-विषयक राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते, उनके उत्पन्न न होने से तन्निमित्तक कर्म का बन्ध भी नहीं होता और पूर्वबद्ध की निर्जरा हो जाती है ।

अब जिह्वेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ । जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६५॥

जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति । तत्प्रत्ययं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६५॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् जिब्भिंदियनिग्गहेणं–जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की प्राप्ति करता है जिब्भिंदियनिग्गहेणं–जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से मणुन्नामणुन्नेसु–प्रिय वा अप्रिय रसेसु–रसों में रागदोसनिग्गहं जणयइ–राग-द्वेष का निग्रह करता है तप्पच्चइयं–तन्निमित्तक कम्मं–कर्म को न बंधइ–नहीं बाँधता च–और पुव्वबद्धं–पूर्वबद्ध की निज्जरेइ–निर्जरा कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव किस गुण को प्राप्त करता है? उत्तर—जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव अच्छे बुरे रसों में रागद्वेष का निग्रह करता है और तन्निमित्त कर्म को नहीं बाँधता, किन्तु पूर्वसंचित का भी विनाश कर देता है।

टीका—रसना-इन्द्रिय के निग्रह से रसों के विषय में राग-द्वेष के जो भाव उत्पन्न होते हैं उनका निग्रह हो जाता है, इत्यादि सब प्रथम की भाँति जान लेना।

अब स्पर्शेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

फासिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। फासिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६६॥

स्पर्शेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति?। स्पर्शेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६६॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् फासिंदियनिग्गहेणं–स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण की उपार्जना करता है फासिंदियनिग्गहेणं–स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से मणुन्नामणुन्नेसु–प्रिय वा अप्रिय फासेसु–स्पर्शों में रागदोसनिग्गहं जणयइ–रागद्वेष के निग्रह का उपार्जन करता है तप्पच्चइयं–तत्प्रत्ययिक—तन्निमित्तक कम्मं–कर्म को न बंधइ–नहीं बाँधता च–फिर पुव्वबद्धं निज्जरेइ–पूर्वबद्ध की निर्जरा करता है (च)–प्राग्वत्।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है ? उत्तर—हे भद्र ! स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में रागद्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते, उनके न होने से कर्म का बन्ध भी नहीं होता और पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है अर्थात् पूर्वोपार्जित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

टीका—स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह—संयम—से अच्छे बुरे स्पर्श में यह जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है । इसी लिए उसको रागद्वेषजन्य कर्मों का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वोपार्जित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

इन्द्रियनिग्रह के अनन्तर कषाय-विजय के प्रस्ताव में प्रथम क्रोध-विजय के विषय में कहते हैं । यथा—

कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कोहविजएणं खंतिं जणयइ । कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६७॥

क्रोधविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । क्रोधविजयेन क्षान्तिं जनयति । क्रोधवेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६७॥

पदार्थान्वयः—भंते–भगवन् कोहविजएणं–क्रोध की विजय से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है कोहविजएणं–क्रोध के विजय से खंतिं-जणयइ–क्षमा को प्राप्त करता है कोहवेयणिज्जं–क्रोधवेदनीय कम्मं–कर्म को न बंधइ–नहीं बाँधता च–पुनः पुव्वबद्धं–पूर्व बाँधे हुए को निज्जरेइ–क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! क्रोध के जीतने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—क्रोध पर विजय करने से जीव को क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है । ऐसा क्षमायुक्त पुरुष क्रोधवेदनीय—क्रोधजन्य कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है ।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन्! क्रोध की विजय करने से किस गुण की प्राप्ति होती है। इसके उत्तर में गुरु ने कहा कि भद्र! क्रोध की विजय से क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है और क्षमा से क्रोधजन्य कर्म का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वसंचित कर्मों का विनाश हो जाता है। क्रोध के उदय से भोगने योग्य कर्माणुओं का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध होना उसे क्रोधवेदनीय कर्म कहते हैं।

अब मान के सम्बन्ध में कहते हैं—

माणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। माणविजएणं मद्दवं जणयइ। माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६८॥

मानविजयेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। मानविजयेन मार्दवं जनयति। मानवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६८॥

पदार्थान्वयः—माणविजएणं—मान की विजय से भंते—हे भगवन् जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है माणविजएणं—मान की विजय से मद्दवं—मृदुता गुण की जणयइ—प्राप्ति करता है माणवेयणिज्जं कम्मं—मानवेदनीय कर्म का न बंधइ—बन्ध नहीं करता च—और पुव्वबद्धं—पूर्वबद्ध कर्मों की निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! मानविजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे शिष्य! मानविजय से इस जीव को मार्दव—मृदुता—गुण की प्राप्ति होती है। फिर मार्दवगुणसंयुक्त जीव मानवेदनीय—मानजनित—कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय कर देता है।

टीका—गर्व अथवा अहंकार को मान कहते हैं। मान को जीतने से जीव मृदुस्वभाव—कोमलस्वभाव—हो जाता है। इस मृदुता गुण को प्राप्त करने वाला जीव मानजन्य कर्मों का बन्ध नहीं करता अर्थात् मान करने से जिन कर्मों का बन्ध होता है वह उसका दूर हो जाता है और इसके अतिरिक्त पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का भी क्षय कर देता है।

अब माया के विषय में कहते हैं—

मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । मायाविजएणं अज्जवं जणयइ । मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ । पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६९॥

मायाविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? । मायाविजयेनार्जवं जनयति । मायावेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥६९॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—भगवन् **मायाविजएणं**—माया की विजय करने से **जीवे**—जीव **किं जणयइ**—किस गुण को प्राप्त करता है **मायाविजएणं**—माया की विजय से **अज्जवं**—आर्जव—सरलता—को **जणयइ**—प्राप्त करता है **मायावेयणिज्जं**—मायावेदनीय **कम्मं**—कर्म को **न बंधइ**—नहीं बाँधता **च**—और **पुव्वबद्धं**—पूर्वबद्ध का **निज्जरेइ**—क्षय कर देता है ।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! माया की विजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—माया की विजय से जीव को आर्जव—सरलता—की प्राप्ति होती है और ऋजुभाव से युक्त हुआ जीव मायावेदनीय कर्म—मायाजनित कर्मपुद्गलों—का बन्ध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय कर देता है ।

टीका—मायाचार के करने से अवश्य भोगने योग्य कर्माणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना मायावेदनीय कर्म है । जिस आत्मा ने मायाचार का परित्याग करके सरलता को धारण कर लिया है वह उक्त कर्म का बन्ध नहीं करती अपितु पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का भी क्षय कर देती है, अतः मुमुक्षु-जनों को मायाचार का त्याग और सरलता के अंगीकार में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये । इसी प्रकार क्रोधादि अन्य कषायों के विषय में भी समझ लेना चाहिये ।

अब लोभ के विषय में कहते हैं—

लोभविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ ?। लोभविजएणं संतोसं जणयइ। लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥७०॥

लोभविजयेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?। लोभविजयेन सन्तोषं जनयति। लोभवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥७०॥

पदार्थान्वयः—लोभविजएणं—लोभ की विजय से भंते—हे भदंत जीवे—जीव किं जणयइ—किस गुण की प्राप्ति करता है लोभविजएणं—लोभ की विजय से संतोसं—सन्तोष-गुण की जणयइ—प्राप्ति करता है लोभवेयणिज्जं—लोभवेदनीय कम्मं—कर्म को न बंधइ—नहीं बाँधता पुव्वबद्धं—पूर्वबद्ध कर्म की निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे पूज्य! लोभ की विजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे शिष्य! लोभ की विजय से सन्तोष-गुण की प्राप्ति होती है। सन्तोषान्वित जीव लोभवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध कर्मों की भी निर्जरा कर देता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन्! लोभ को जीत लेने से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है? गुरु ने उत्तर दिया कि भद्र! लोभ पर विजय प्राप्त कर लेने से इस जीव को सन्तोषामृत का लाभ होता है। फिर ऐसा सन्तोषी जीव लोभवेदनीय अर्थात् लोभजन्य-कर्म का बन्ध नहीं करता और लोभ से संचित किये हुए पूर्व कर्मों का भी क्षय कर देता है। अतः लोभ को जीतकर सन्तोष-गुण को प्राप्त करना भव्य पुरुषों का सब से उत्तम कर्तव्य है यह उक्त गद्यरूप गाथा का फलितार्थ है।

कषायविजय के अनन्तर राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन की विजय की प्राप्ति होती है, अतः कषायविजय के बाद अब राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं—

पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते ! जीवे किं
यइ ? । पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसण-
रित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ । अट्ठविहस्स कम्मस्स
म्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए
ट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणा-
रणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अंतराइयं, एए
तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ । तओ पच्छा अणुत्तरं,
अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं,
लोगालोगप्पभावं, केवलवरनाणदंसणं समुप्पादेइ ।
जाव सजोगी भवइ, ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ
सुहफरिसं दुसमयठिइयं । तं जहा—पढमसमए बद्धं, बिइ-
यसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं; तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं
वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ ॥७१॥

प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन भदंत ! जीवः किं जनयति ? ।
प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन ज्ञानदर्शनचारित्राराधनायामभ्युत्ति-
ष्ठते । अष्टविधस्य कर्मणः कर्मग्रन्थिविमोचनाय तत्प्रथमतया
यथानुपूर्व्या अष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्मोद्घातयति । पञ्चविधं
ज्ञानावरणीयम्, नवविधं दर्शनावरणीयम्, पञ्चविधमान्तरायिकम्,
एतानि त्रीण्यपि कर्माणि युगपत् क्षपयति । ततः पश्चादनुत्तरम्,
अनन्तम्, कृत्स्नम्, प्रतिपूर्णम्, निरावरणम्, वितिमिरम्,

विशुद्धम्, लोकालोकप्रभावम्, केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पादयति। यावत्सयोगी भवति तावदैर्यापथिकं कर्म बध्नाति सुखस्पर्शं द्विसमयस्थितिकम्। तद्यथा—प्रथमसमये बद्धं, द्वितीयसमये वेदितम्, तृतीयसमये निर्जीर्णं; तद्बद्धं स्पृष्टमुदीरितं वेदितं निर्जीर्णमेष्यत्काले चाकर्मापि भवति ॥७१॥

पदार्थान्वयः—भंते–हे भगवन् पिज्ज–प्रेम दोस–द्वेष मिच्छादंसण–मिथ्यादर्शन की विजएणं–विजय से जीवे–जीव किं जणयइ–किस गुण को प्राप्त करता है पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं–प्रेम, द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से नाण–ज्ञान दंसण–दर्शन चरित्त–चारित्र की आराहणयाए–आराधना में अब्भुट्ठेइ–उद्योग करता है अट्ठविहस्स–आठ प्रकार के कम्मस्स–कर्मों की कम्मगंठि–कर्म-ग्रन्थि को विमोयणयाए–विमोचन—खोलने—दूर करने के लिए तप्पढमयाए–वह प्रथमतः जहाणुपुव्वीए–यथाक्रम अट्ठवीसइविहं–अट्ठाइस २८ प्रकार के मोहणिज्जं–मोहनीय कम्मं–कर्म का उग्घाएइ–क्षय करता है, तथा पंचविहं–पाँच प्रकार के नाणावरणिज्जं–ज्ञानावरणीय कर्म नवविहं–नौ प्रकार के दंसणावरणिज्जं–दर्शनावरणीय कर्म पंचविहं–पाँच प्रकार के अंतराइयं–अन्तराय कर्म एए–इन तिन्नि–तीन कम्मंसे–कर्मांशों को जुगवं–युगपत्—एक काल में खवेइ–क्षय करता है तओपच्छा–क्षय करने के पश्चात् अणुत्तरं–प्रधान अणंतं–अनन्त कसिणं–सम्पूर्ण पडिपुण्णं–प्रतिपूर्ण निरावरणं–आवरणरहित वितिमिरं–अंधकाररहित विसुद्धं–विशुद्ध लोगालोगप्पभावं–लोक और अलोक का प्रकाशक केवल–सहायरहित वर–प्रधान नाणदंसणं–ज्ञान और दर्शन को समुप्पादेइ–सम्पादन करता है जाव–जब तक सजोगी–सयोगी—योगों के साथ भवइ–होता है ताव–तब तक इरियावहियं–ईर्यापथिक कम्मं–कर्म—क्रिया को निबंधइ–बाँधता है सुहफरिसं–सुखरूप स्पर्श दुसमयठिइयं–दो समय की स्थिति वाला तंजहा–जैसे कि पढमसमए बद्ध–प्रथम समय मे बाँधा विइयसमए–दूसरे समय में वेइयं–वेदन किया तइयसमए–तीसरे समय मे निज्जिण्णं–निर्जीर्ण—क्षय हो जाता है तं–वह बद्धं–बाँधा हुआ पुट्ठं–स्पर्शा हुआ उदीरियं–उदय को प्राप्त हुआ वेइयं–वेदा हुआ निज्जिण्णं–निर्जर किया हुआ य–

फिर सेयाले—भविष्यत् काल में च—चतुर्थ समय में अकम्मं—कर्म से रहित भवइ—होता है अवि—परस्पर अपेक्षा मे वा संभावना में आया हुआ है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! रागद्वेष और मिथ्यादर्शन की विजय से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर—हे शिष्य! रागद्वेष और मिथ्यादर्शन की विजय से यह जीव ज्ञानदर्शन और चारित्र की आराधना में उद्यत हो जाता है। तदनन्तर वह आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि को खोलने के लिए उद्योग करता है। यथा—प्रथम वह अनुक्रम से २८ प्रकार के मोहनीय कर्म का क्षय करता है। फिर पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय, इन तीनों कर्मांशों—कर्मप्रकृतियों—का एक ही समय में क्षय कर देता है। तदनन्तर यह जीवात्मा सर्वप्रधान, अनन्त, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, आवरणरहित, अंधकारशून्य, विशुद्ध और लोकालोक के प्रकाशक, ऐसे सर्वश्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेती है और जब तक वह—सयोगी अर्थात् मन, वचन और काया के योग—व्यापार वाली होती है तब तक ईर्यापथिक-कर्म—क्रिया—का बन्ध करती है परन्तु उसका विपाक सुखकर और स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है। यथा—प्रथम समय में बन्ध, द्वितीय समय में उदय और वेदन तथा तीसरे समय में फल देकर विनष्ट हो जाना। इस प्रकार प्रथम समय में बंध और स्पर्श, दूसरे में उदय और वेदन, तथा तीसरे में निर्जरा होकर चौथे समय में यह जीवात्मा सर्वथा कर्मों से रहित हो जाती है।

टीका—शिष्य अपने गुरुजनों से पूछता है कि भगवन्! राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर लेने से इस जीवात्मा को किस गुण की प्राप्ति होती है? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि भद्र! राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करने वाला जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में तत्पर होता हुआ अष्टविध कर्मों की ग्रन्थि को खोलने के लिए अनुक्रम से—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की प्रकृतियों का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। और जब तक वह केवली जीव सयोगी अर्थात् मन, वचन और काया के योग वाला—

प्रवृत्ति वाला—होता है तब तक वह ऐर्यापथिक-क्रिया का बन्ध करता है। क्योंकि उसका काययोग स्थिर नहीं है, इसलिए नाम मात्र ऐर्यापथिक-क्रिया का बन्ध होता है। परन्तु इस बन्ध की स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है और उसका आत्मप्रदेशों के साथ जो स्पर्श होता है वह भी अत्यन्त सुखरूप होता है। यथा—प्रथम समय में तो उसका बन्ध अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ स्पर्श हुआ, दूसरे समय में उसके रस का अनुभव किया और तीसरे समय में उसकी निर्जरा कर दी; इस प्रकार प्रथम समय में बन्ध, दूसरे समय में उदय और तीसरे समय में निर्जरा होने से चौथे समय में वह जीवात्मा सर्व प्रकार से कर्मरहित हो जाती है यह उक्त गाथा का तात्पर्य है। (१) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये आठ प्रकार के कर्म कहे हैं (२) मोहनीय कर्म के २८ भेद इस प्रकार हैं—(क) मोहनीय के दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय ये दो भेद हैं। इनमें दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, ये तीन भेद हैं और चारित्र-मोहनीय के कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय ये दो भेद हैं। (ख) इनमें कषायमोहनीय के १६[1] और नोकषायमोहनीय के ९, इस प्रकार २५ भेद चारित्रमोहनीय के और ३ दर्शनमोहनीय के मिलाने से कुल २८ भेद मोहनीय कर्म के होते हैं। (३) मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यवज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय, इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद हैं। (४) दर्शनावरणीय के ९ भेद इस प्रकार हैं—चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि। (५) तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, ये पाँच भेद अन्तराय-कर्म के हैं[2] तथा मोहनीय कर्म की २८ उत्तर प्रकृतियों—भेदों—का

१ क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों में प्रत्येक के अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और सज्वलन, ये चार २ भेद हैं, अतः ये सब मिलकर १६ हुए। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ये ९ भेद नोकषाय के हैं।

२ इस विषय का सविस्तर वर्णन इसी सूत्र के ३३ वें अध्ययन में मिलेगा।

क्षय इस प्रकार करता है। यथा—प्रथम अनन्तानुबंधी क्रोधादि को युगपत् अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है और उसका अनन्तवाँ भाग मिथ्यात्व में प्रक्षेप करता है। फिर उसके साथ ही प्रज्वलित अग्नि के द्वारा अर्द्धदग्ध इन्धन की तरह बढ़े हुए तीव्र शुभ परिणामों से मिथ्यात्व का क्षय कर देता है। तदनन्तर मिथ्यात्वांश को सम्यग्-मिथ्यात्व में प्रक्षेप करके उसे भी क्षय कर देता है। फिर उसके अंशसंहित सम्यक्त्व को, तदनु सम्यक्त्व-शेष-दलिक के साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों को एकसाथ क्षय करना आरम्भ करता है। इनका क्षय करते समय निम्नलिखित उत्तर प्रकृतियों का क्षय करता है। यथा—गति आनुपूर्वी ये दो दो जातिनाम यावत् चतुरिंद्रिय आताप उद्योत स्थावरनाम और सूक्ष्मनाम साधारण अपर्याप्त निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि। शेष आठों को किंचित् सावशेष नपुंसकवेद में प्रक्षेप करके उसके साथ ही क्षय कर देता है। इसी प्रकार उसके अवशिष्टांश के साथ स्त्रीवेद को, उससे अवशिष्ट के साथ हास्यादि छैओं को, उसके अंश के साथ दो खंड से युक्त पुरुषवेद को,—यदि पुरुष भाव को प्राप्त हुआ स्त्री वा नपुंसक, अथवा स्वस्व वेद के दो दो खंड तदनन्तर प्रक्षेप किया हुआ वेद तीसरे खंड के साथ संज्वलन को—क्षय करता है। इसी भाँति पूर्व-पूर्वांशसहित उत्तर उत्तर का संज्वलनलोभपर्यन्त क्षय करता है। तीसरे खंड के संख्यात खंड करके पृथक् कालभेद से क्षय करता है, परन्तु सब का क्षयकाल अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिए। कारण यह है कि मुहूर्त के भी असंख्यात-भेद हैं। इसके अतिरिक्त चरम खंड के भी फिर असंख्येय खंड करता है। उनको प्रति समय एक २ से क्षय कर देता है फिर चरम खंड के असंख्येय सूक्ष्म खंड करके उसी प्रकार क्षय करता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म को क्षय करके अन्तर्मुहूर्त में यथाख्यातचारित्र को अनुभव करता हुआ छद्मस्थ वीतरागता को द्विचरम समय में प्राप्त करता है। प्रथम समय में निद्रा प्रचला नाम देवगत्यादि नाम कर्म की प्रकृतियों का क्षय करता है। इसी प्रकार पञ्चविध ज्ञानावरणीय, नवविध दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का एक साथ ही क्षय कर देता है। अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, परिपूर्ण निरावरण और वितिमिर आदि सब केवलज्ञान और केवलदर्शन के विशेषण हैं। सयोग-केवली नाम तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव चारों घातिकर्मों का क्षय करके लोकालोकप्रकाशी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। परन्तु जब

तक उसका शरीर रहता है तब तक वह शरीरसम्बन्धी क्रियाएँ करता है, परन्तु वे क्रियाएँ आसक्तिरहित होने से उसके वन्ध का कारण नहीं होतीं किन्तु आत्मप्रदेशों से उन शारीरिक कर्मों का वन्ध घट के साथ आकाश के सम्बन्ध की भाँति होता है और उनका स्पर्श भी इसी प्रकार का होता है जैसा पाषाण की दीवार के साथ सिकता—बालू—आदि का स्पर्श होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे पत्थर की दीवार से स्पर्श करते ही रेता विखर जाती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों से स्पर्श करते ही वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। इस विषय का अधिक विवेचन प्रज्ञापना-सूत्र और कर्म-प्रकृति आदि ग्रन्थों में किया गया है। यहाँ पर विस्तार भय से उल्लेख नहीं किया। जिज्ञासु जन वहाँ से देख लें।

अव कर्मरहित आत्मा की आगामी दशा का अर्थात् अयोग-केवली-अवस्था का वर्णन करते हैं—

अह आउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ, वइजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभइ, आणपाणनिरोहं करेइ। ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥७२॥

अथ यावदायुः पालयित्वाऽन्तर्मुहूर्ताद्धावशेषायुष्यकः (सन्) योगनिरोधं करिष्यमाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् तत्प्रथमतया मनोयोगं निरुणद्धि, (मनोयोगं निरुध्य) वाग्योगं निरुणद्धि, काययोगं निरुणद्धि, आनापाननिरोधं करोति। ईषत्पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्धायाञ्चानगारः समुच्छिन्नक्रियम-

निवृत्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् वेदनीयमायुर्नाम गोत्रञ्चैतान् चतुरः कर्मांशान् युगपत्क्षपयति ॥७२॥

पदार्थान्वयः—अह–अथ—केवल-ज्ञान के अनन्तर **आउयं**–आयुकर्म को **पालइत्ता**–भोगकर **अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए**–अन्तर्मुहूर्त कालप्रमाण अवशेष आयु में **जोगनिरोहं**–योग का निरोध **करेमाणे**–करता हुआ **सुहुमकिरियं**–सूक्ष्म क्रिया **अप्पडिवाइं**–अप्रतिपाति **सुक्कज्झाणं**–शुक्लध्यान को **झायमाणे**–ध्याता हुआ **तप्पढमयाए**–वह प्रथम **मणजोगं**–मनोयोग का **निरुंभइ**–निरोध करता है **वइजोगं**–वचनयोग का **निरुंभइ**–निरोध करता है **कायजोगं**–काययोग का **निरुंभइ**–निरोध करता है **आणपाणनिरोहं**–आनापान—श्वासोच्छ्वास का निरोध **करेइ**–करता है **ईसि**–ईषत्—स्वल्प **पंच**–पाँच **रहस्सक्खरुच्चारणद्धाए**–ह्रस्वाक्षर के उच्चारणकाल में **य**–फिर **अणगारे**–अनगार **समुच्छिन्नकिरियं**–समुच्छिन्नक्रिया **अनियट्टि**–अनिवृत्ति-नामक **सुक्कज्झाणं**–शुक्लध्यान को **झियायमाणे**–ध्याता हुआ **वेयणिज्जं**–वेदनीय **आउयं**–आयु **नामं**–नाम **गोत्तं**–गोत्र **एए**–इन **चत्तारि**–चार **कम्मंसे**–कर्मांशों को **जुगवं**–युगपत्—एक काल में **खवेइ**–क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन्! केवलज्ञानप्राप्ति के अनन्तर फिर क्या होता है? उत्तर—हे शिष्य! केवलज्ञान के अनन्तर यह आत्मा अपने अवशिष्ट आयुकर्म को भोगकर जब अन्तर्मुहूर्त—दो घड़ी—प्रमाण आयु शेष रह जाती है, तब योगों—मन, वचन और काया के व्यापारों—का निरोध करती हुई सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिनामक शुक्लध्यान के तृतीय पाद का ध्यान करके प्रथम मनोयोग का निरोध करती है। फिर वचन और काया योग का निरोध करती है। तदनन्तर श्वासोच्छ्वासक्रिया का निरोध करके, पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल में, वह अनगार, समुच्छिन्नक्रिया-अनिवृत्तिनामक शुक्लध्यान का चिन्तन करती हुई वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाति-कर्मांशों का एक ही काल में क्षय कर देती है अर्थात् सर्वथा क्रियारहित होकर परम निर्वाणपद को प्राप्त हो जाती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चौदहवे गुणस्थानवर्ती जीवात्मा की अवस्था का वर्णन किया गया है। केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने आयुकर्म को भोगती हुई

जब आयु में दो घड़ी का समय बाकी रह जाता है तब योगनिरोध अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोकती हुई, सूक्ष्मक्रियातिपाती शुक्लध्यान के तीसरे भेद का चिन्तन करके प्रथम मन के और बाद में वचन के और फिर काया के योगों का निरोध करती है । तात्पर्य यह है कि पर्याप्त संज्ञी जीव का जहाँ तक जघन्ययोग होता है उससे भी असंख्यात गुणहीन मनोयोग का निरोध करती है और फिर बढ़ते २ सर्वथा मनोयोग का निरोध कर देती है । तदनन्तर जो वचनयोग का निरोध है वह भी पर्याप्तमात्र द्वीन्द्रिय जीव का जितना जघन्य वचनयोग होता है उससे असंख्यात गुणहीन वचनयोग का निरोध करती है । फिर निरोध करते २ सर्वथा निरोध कर देती है । इसी प्रकार काया के विषय में भी समझ लेना चाहिए । तदनन्तर वह श्वासोच्छ्वास क्रिया का निरोधक बनती है । इस अवस्था को प्राप्त होने के बाद स्वल्प काल में 'अइउऋऌ' इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रहकर वह अनगार समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्तिनामक शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को ध्याती हुई चारों अघाति कर्मों की प्रकृतियों को एक ही समय में क्षय कर देती है । यहाँ पर इतना और स्मरण रहे कि शुक्ल-ध्यान के चार भेद हैं । यथा—१ पृथक्त्ववितर्कसविचार २ एकत्ववितर्कनिर्विचार ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ४ समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति । इन में प्रथम के दो भेद तो सालम्बन अर्थात् आलम्बनसहित हैं । कारण यह है कि इन को श्रुतज्ञान का आलम्बन है और अन्त के दोनों निरालम्बन—आलम्बन से रहित—हैं अर्थात् इन दोनों में किसी प्रकार के भी श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं होता । प्रथम के दो पूर्वधर में होते हैं और अन्त के दोनों केवली में होते हैं । (१) वितर्क—श्रुतज्ञान—सहित अर्थात् श्रुत के आधार से जो भेदप्रधानचिन्तन उसे पृथक्त्ववितर्कसविचार कहते हैं । (२) इसी प्रकार श्रुतज्ञानानुसारी अभेदप्रधानचिन्तन को एकत्ववितर्कनिर्विचार कहते हैं । (३) जिस में सूक्ष्म शरीरयोग के द्वारा मन, वचन और काया के योगों का निरोध किया जाता हो ऐसा अप्रतिपाति—पतनशून्य [जिसमे से फिर पतन होने की संभावना नहीं रहती]—जो ध्यान उसको सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती कहा है । कारण यह है कि इसमें केवल शरीर की श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है । (४) जिसमें स्थूल अथवा

सूक्ष्म किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया नहीं होती अर्थात् किसी प्रकार की भी क्रिया के न होने से जहाँ आत्मप्रदेशों की सर्वथा अकम्पनता—निश्चलता—है, इस प्रकार की कभी न जाने वाली स्थिति को समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति कहते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से यह आत्मा सर्व कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करती हुई परम निर्वाणपद को प्राप्त कर लेती है।

अब वेदनीयादि कर्मों के क्षय होने के अनन्तर की अवस्था का वर्णन करते हैं—

तओ ओरालियतेयकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, जाव अंतं करेइ ॥७३॥

तत औदारिकतेजःकर्माणि सर्वाभिर्विप्रहाणिभिस्त्यक्त्वा ऋजुश्रेणिं प्राप्तोऽस्पर्शद्गतिरुर्ध्वमेकसमयेनाविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति, बुध्यते, यावदन्तं करोति ॥७३॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर ओरालिय—औदारिक तेय—तैजस कम्माइं—कार्मण शरीर को सव्वाहिं—सर्व विप्पजहणाहिं—त्याग से विप्पजहित्ता—छोड़कर उज्जुसेढिपत्ते—ऋजु श्रेणि को प्राप्त हुआ अफुसमाणगई—अस्पर्शमानगति उड्ढं—ऊँचा एगसमएणं—एक समय में अविग्गहेणं—अविग्रहगति से तत्थ—वहाँ पर गंता—जाकर सागारोवउत्ते—साकारोपयुक्त सिज्झइ—सिद्ध होता है बुज्झइ—बुद्ध होता है जाव—यावत् अंतं करेइ—सर्व दुःखों का अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—वेदनीय आदि कर्मों के क्षय कर देने से फिर क्या होता है? उत्तर—तदनन्तर औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को त्यागकर ऋजुश्रेणि को प्राप्त हुआ अव्याहत गति तथा एक समय की ऊँची अविग्रह गति से यह जीव मोक्ष में जाकर ज्ञानोपयोग से सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, मुक्त हो जाता है तथा सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है।

टीका—वेदनीयादि कर्मों के क्षय हो जाने के अनन्तर यह आत्मा औदारिक, तैजस, और कार्मण, इन तीनों शरीरों का परित्याग कर देती है। फिर समश्रेणी को प्राप्त होकर जिन आकाशप्रदेशों में शरीर को छोड़ा है उनसे अतिरिक्त अन्य आकाशप्रदेशों को स्पर्श न करती हुई[1] एक समय की ऊँची अविग्रहगति से मोक्षस्थान मे जाकर अपने मूल शरीर की अवगाहना के दो तिहाई जितने आकाश-प्रदेशों में सर्व प्रकार के कर्ममल से सर्वथा रहित होकर ज्ञानोपयोग से विराजती है। यद्यपि उक्त सूत्र में ७३ प्रश्नों का उल्लेख किया गया है, परन्तु कतिपय प्रतियों में ७२वाँ और ७३वाँ इन दोनों को एक मानकर कुल ७२ प्रश्न माने हैं। कुछ भी हो इसमें सिद्धान्तगत कोई भेद नहीं आता, अतः यह विषयविशेष उपेक्षणीय या अपेक्षणीय प्रतीत नहीं है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पन्नविए परूविए दंसिए निदंसिए उवदंसिए ॥७४॥

त्ति बेमि ।

इति सम्मत्तपरक्कमे समत्ते ॥२९॥

एष खलु सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्यार्थः श्रमणेन भगवता महावीरेणाख्यातः प्रज्ञापितः प्ररूपितः दर्शितो निदर्शित उपदर्शितः ॥७४॥

इति ब्रवीमि ।

इतिसम्यक्त्वपराक्रमः समाप्तः ॥२९॥

---

१ अफुसमाणगइत्ति—अस्पृशद्गतिरिति—नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान्न स्पृशति, अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढः तावत्सु एव स्पृशति, न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि आकाशप्रदेशम्। इति वृत्तिकारः।

पदार्थान्वयः—**एस**—यह **खलु**—निश्चय में **सम्मत्तपरक्कमस्स**—सम्यक्त्व-पराक्रम **अज्झयणस्स**—अध्ययन का **अट्ठे**—अर्थ **समणेणं**—श्रमण **भगवया**—भगवान् **महावीरेणं**—महावीर ने **आघविए**—प्रतिपादन किया **पन्नविए**—प्रज्ञापित किया **परूविए**—प्ररूपण किया **दंसिए**—दिखलाया **निदंसिए**—दृष्टान्तों से वर्णन किया **उवदंसिए**—उपदेश किया **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूँ **इति सम्मत्त परक्कमे समत्ते**—यह सम्यक्त्व-पराक्रम-अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—**इस सम्यक्त्व-पराक्रम-अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया, प्रज्ञापित किया, निरूपण किया, दर्शाया, दृष्टान्तों के द्वारा वर्णन किया और उपदेश किया । इस प्रकार मैं कहता हूँ ।**

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार सम्यक्त्व-पराक्रम नाम के अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है, दिखाया है और उपदेश किया है । तात्पर्य यह है कि सामान्य और विशेष रूप से प्रतिपादन किया, हेतुफलादि के प्रकाशन से—प्रकर्षज्ञापन से—प्रज्ञापित किया, स्वरूप कथन से प्ररूपित किया, नानाविध भेददर्शन से वर्णन किया और दृष्टान्त, उपनय आदि के द्वारा उपदेश किया इत्यादि ।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! जिस प्रकार मैंने भगवान् महावीर स्वामी से श्रवण किया है उसी प्रकार मैंने तुम से कहा है । तात्पर्य यह है कि इस विषय में मेरी निज बुद्धि की कोई कल्पना नहीं है ।

एकोनत्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त ।

नोट—इन ७३ प्रश्नों का न्यूनाधिकरूप से श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र में भी उल्लेख आता है जो कि इस प्रकार से है—'अह भंते ! संवेगे निव्वेए गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया आलोयणया निंदणया गरहणया खमावणया सुयसहायता विउसमणया भावे अप्पडिबद्धया विणिवट्टणया विवित्त-सयणासणसेवणया सोइंदियसंवरे जाव फासिंदसंवरे जोगपच्चक्खाणे सरीरपच्चक्खाणे कसाय-पच्चक्खाणे संभोगपच्चक्खाणे उवहिपच्चक्खाणे भत्तपच्चक्खाणे खमा विरागया भावसच्चे जोगसच्चे करणसच्चे मणसमण्णाहरणया वयसमन्नाहरणया कायसमन्नाहरणया कोहविवेगे जाव मिच्छादंसण-सल्लविवेगे नाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरित्तसंपन्नया वेदणअहियासणया मारणंतियअहियासणया एए णं भंते ! पया किं पज्जवसणफलापण्णत्ता ? समणाउसो ! गोयमा ! संवेगे निव्वेगे जाव मारणंतिय अहियासणया, एए णं सिद्धिपज्जवसाणफलापण्णत्ता समणाउसो ! ॥ सेवं भंते ! २ जाव विहरति ।
[शत० १७ उ० ३ सू० ६००]

अह तवमग्गं तीसइमं अज्झयणं

अथ तपोमार्ग त्रिंशत्तममध्ययनम्

ऊनतीसवें अध्ययन में अप्रमादता का विशेष वर्णन किया गया है और साथ ही सम्यक्त्व में पराक्रम करने का भी उपदेश किया है, परन्तु सम्यक्त्वी और अप्रमादी जीव को संचित किये हुए पापकर्मों का क्षय करने के निमित्त तपश्चर्या की अधिक आवश्यकता है, अतः इस तीसवें अध्ययन में तपश्चर्या का वर्णन किया जाता है। यथा—

जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥१॥

यथा तु पापकं कर्म, रागद्वेषसमार्जितम् ।
क्षपयति तपसा भिक्षुः, तदेकाग्रमनाः शृणु ॥१॥

पदार्थान्वयः—जहा—जिस प्रकार से पावगं कम्मं—पापकर्म रागदोससमज्जियं—राग-द्वेष से उपार्जन किए हुए खवेइ—क्षय करता है तवसा—तप से भिक्खू—भिक्षु—साधु तं—वह एगग्गमणो—एकाग्रमन होकर सुण—सुनो उ—अवधारण मे।

मूलार्थ—राग-द्वेष से अर्जित किये हुए पापकर्म को भिक्षु जिस प्रकार तप के द्वारा क्षय करता है उसको तुम एकाग्रमन होकर श्रवण करो।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से तपश्चर्या का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं कि जितने भी पापकर्म हैं उन सबके उपार्जन करने का हेतु राग-द्वेष है। राग और द्वेष से ही पापकर्मों का संचय किया जाता है, अतः उन संचित किये पापकर्मों का क्षय करने के लिए मैं तुम को तपश्चर्या—तपकर्म के अनुष्ठान—का उपदेश करता हूँ। तुम उसको एकाग्रचित्त से अर्थात् ध्यानपूर्वक सुनो। यहाँ पर 'शृणु' इस क्रियापद के द्वारा शिष्य को श्रवणोन्मुख होने के लिए आमंत्रित किया गया है।

कर्मों का क्षय करने के लिए इस जीव को प्रथम अनास्रवी—आस्रव-रहित—होने की परम आवश्यकता है, अतः निम्नलिखित गाथा में अनास्रवी का स्वरूप वर्णन करते हैं। यथा—

पाणिवहमुसावाया-, अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥२॥

प्राणिवधमृषावाद-, अदत्तमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरतः।
रात्रिभोजनविरतः, जीवो भवति अनास्रवः ॥२॥

पदार्थान्वयः—पाणिवह—प्राणिवध मुसावाया—मृषावाद अदत्त—चोरी मेहुण—मैथुन परिग्गहा—परिग्रह से विरओ—विरत—विरक्त राईभोयणविरओ—रात्रिभोजन का त्यागी जीवो—जीव अणासवो—आस्रवरहित भवइ—होता है।

मूलार्थ—प्राणिवध—हिंसा, मृषावाद—झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से तथा रात्रिभोजन से विरत—विरक्त—हुआ जीव अनास्रवी—आस्रवरहित—होता है।

टीका—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ये पाँच आस्रव कहे जाते हैं। सो इन पाँचों आस्रवों तथा रात्रि-भोजन का त्याग करने वाला जीव अनास्रवी अर्थात् आस्रवरहित माना जाता है। यद्यपि रात्रि-भोजन का पहले व्रत में ही समावेश हो जाता है अर्थात् उक्त पाँच आस्रवों के त्याग में रात्रि-भोजन का त्याग भी आ जाता है तथापि उसकी प्रधानता बतलाने के लिए पृथक् ग्रहण किया है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि भव्य जीव का प्रधान लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है,

परन्तु मोक्ष का प्राप्त होना निरतिचार संयम की सम्यक् आराधना पर अवलंबित है तथा संयम की सम्यक् आराधना के लिए इस जीव को सर्वथा अनाश्रवी—आश्रवरहित—होने की आवश्यकता है। इसी विचार से भगवान् ने प्रथम अनास्रवी होने का उपदेश दिया है।

अब अनास्रवी होने का उपाय बतलाते हैं। यथा—

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥३॥

पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः, अकषायो जितेन्द्रियः।
अगौरवश्च निःशल्यः, जीवो भवत्यनास्रवः ॥३॥

पदार्थान्वयः—**पंचसमिओ**—पाँच समितियों से युक्त **तिगुत्तो**—तीनों गुप्तियों से गुप्त **अकसाओ**—कषायरहित **जिइंदियो**—जितेंद्रिय **अगारवो**—गर्व से रहित **य**—और **निस्सल्लो**—शल्य से रहित **जीवो**—जीव **अणासवो**—आस्रवरहित **होइ**—होता है।

मूलार्थ—पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों से युक्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय और तीन प्रकार के गर्वों तथा तीन प्रकार के शल्यों से रहित जो जीव है वह अनास्रवी होता है।

टीका—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और परिष्ठापनसमिति, इन पाँच समितियों तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन तीन गुप्तियों का वर्णन पीछे आ चुका है। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्द्रियों को जीतने अर्थात् वश में रखने वाला जितेन्द्रिय है। ऋद्धिगर्व, सातागर्व और रसगर्व, ये तीन प्रकार के गर्व माने गये हैं तथा माया, निदान और मिथ्यादर्शन, ये तीन शल्य हैं। ऊपर जो कुछ बतलाया गया है वह सब अनास्रव—आस्रवरहित—होने का साधन बतलाया गया है। जैसे—पाँचों समितियों का पालन करना, तीनों गुप्तियों का आराधन करना, चार प्रकार के कषाय से रहित होना, इन्द्रियों का दमन करना, तीन प्रकार के अभिमान और शल्यों से रहित होना, ये सब अनास्रवता के हेतु हैं; अतः इन उक्त साधनों का अनुष्ठान करने वाला जीव अनास्रवी कहा जाता है।

अब कर्मक्षय की विधि का वर्णन करते हैं। यथा—

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ उ जहा भिक्खू, तं मे एगमणो सुण ॥४॥

एतेषां तु विपर्यासे, रागद्वेषसमर्जितम् ।
क्षपयति तु यथा भिक्षुः, तन्मे एकमनाः शृणु ॥४॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन उक्त गुणों के विवच्चासे–विपर्यास में रागदोस–राग और द्वेष से समज्जियं–उपार्जन किया हुआ कर्म जहा–जिस प्रकार भिक्खू–भिक्षु खवेइ–खपाता है तं–उसको मे–मुझसे एगमणो–एकमन होकर सुण–श्रवण कर।

मूलार्थ—इन उक्त गुणों से विपरीत दोषों के द्वारा राग-द्वेष से अर्जित किये हुए कर्म को जिस विधि से भिक्षु नष्ट करता है उसको तुम एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कर्मों के क्षय करने के प्रकार को बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है। आचार्य कहते हैं कि जिस विधि से भिक्षु संचित किये हुए पाप कर्मों का क्षय करता है उस विधि का मैं तुम्हारे प्रति वर्णन करता हूँ। तुम एकाग्रचित्त से सुनो। तात्पर्य यह है कि अहिंसादि गुणों के विपरीत आस्रव के हेतु जो दोष हैं उनके द्वारा राग-द्वेष से पाप कर्मों का संचय किया जाता है। उन संचित किए हुए पाप कर्मों को नष्ट करने का जो मार्ग है उसको बतलाने की प्रस्तुत गाथा में प्रतिज्ञा की गई है।

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार कर्मक्षय का प्रकार बतलाते हुए प्रथम एक दृष्टान्त के द्वारा उसकी भूमिका रखते हैं। यथा—

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥५॥

यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिञ्चनेन तपनेन, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥५॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे महातलायस्स—महान् तालाव के जलागमे—जल के आने के मार्ग का संनिरुद्ध—निरोध किये जाने पर उस्सिचणाए—उलीचने से तवणाए—सूर्य के ताप से कमेणं—क्रम से सोसणा—सुखाया जाना भवे—होता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार किसी बड़े तालाव का पानी, जल के आने के मार्गों का निरोध करने से, पानी को उलीचने से तथा सूर्य के ताप से क्रमशः सुखाया जाता है—(आगे की गाथा से सम्बन्ध करके अर्थ करना)।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कर्म को क्षय करने के मार्ग को दृष्टान्त द्वारा प्रस्तावित किया गया है। जैसे किसी बड़े भारी तालाव का पानी सुखाने के लिए प्रथम उसमें जल के आने के मार्गों को रोका जाता है, फिर उसमें रहे हुए जल को उलीचकर वाहर फेंका जाता है और शेष जल को सूर्य के ताप से सुखाया जाता है—[इस का आगे की गाथा से सम्बन्ध है]।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥६॥

एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे।
भवकोटिसञ्चितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते ॥६॥

पदार्थान्वयः—एवं—उसी प्रकार संजयस्सावि—संयत के भी पावकम्मनिरासवे—पाप कर्म के निरास्रवविषय में भवकोडी—करोड़ भवों का संचियं—संचित किया हुआ कम्मं—पापकर्म तवसा—तप से निज्जरिज्जइ—जीर्ण किया जाता है।

मूलार्थ—उसी प्रकार संयमी पुरुष के नवीन पाप कर्म भी [व्रत आदि के द्वारा] निरास्रव—निरुद्ध—कर दिये जाते हैं और करोड़ों भवों—जन्मों—के संचित किये हुए पाप कर्म तप के द्वारा निर्जीर्ण किये जाते हैं।

टीका—उसी प्रकार इस संयमी पुरुष के भी नये पाप कर्म के आने के मार्गों का व्रत आदि के द्वारा निरोध किया जाता है। फिर उसमें अनेक जन्मों के संचित किये हुए पाप कर्मों को तप के द्वारा नष्ट किया जाता है। यहाँ पर तालाव के समान भिक्षु और तालाव में भरे हुए जल के समान करोड़ों जन्मों के संचित

किये हुए पाप कर्म, तथा जल के आने के मार्ग आस्रव हैं।-जिस प्रकार तालाब में भरे हुए जल को यंत्रादि के द्वारा उलीचकर बाहर निकाल दिया जाता है अथवा सूर्य के आतप से सुखा दिया जाता है उसी प्रकार आत्मा में संचित हुए अनेक जन्मों के पाप कर्मों का तपश्चर्या के द्वारा क्षय कर दिया जाता है। यहाँ पर आया हुआ कोटि शब्द बहुत्व का बोधक और अनेक जन्मों का सूचक है।

अब तप और उसके भेदों का वर्णन करते हैं—

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥७॥

तत्तपो द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ॥७॥

पदार्थान्वयः—**सो**—वह **तवो**—तप **दुविहो**—दो प्रकार से **वुत्तो**—कहा है **बाहिर**—बाह्य तप **तहा**—तथा **अब्भंतरो**—आभ्यन्तर तप **बाहिरो**—बाह्य तप **छव्विहो**—छः प्रकार का **वुत्तो**—कहा है **एवं**—इसी प्रकार **अब्भंतरो तवो**—आभ्यन्तर तप छः प्रकार का है।

मूलार्थ—वह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा है। उसमें बाह्य तप छः प्रकार का है और उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का है।

टीका—तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं। उनमें बाह्य तथा आभ्यन्तर तप भी छः छः प्रकार का है। बाह्य तप द्रव्य की अपेक्षा रखता है और आभ्यन्तर तप में भाव की प्रधानता है। बाह्य तप की लोक में विशेष प्रसिद्धि होती है। अन्य मत में भी इसका अनेक प्रकार से अनुष्ठान किया जाता है, अतः लोक और परमत में प्रसिद्ध होने से यह बाह्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त बाह्य तप का मुख्य प्रयोजन इस जीव को अप्रमत्त रखना है। क्योंकि अप्रमादी जीव ही संयमशील बन सकता है अन्यथा प्रमादयुक्त होने से उसकी प्रवृत्ति पाप की ओर झुकती रहती है जो कि किसी प्रकार से भी इष्ट नहीं है। आभ्यन्तर

तप की प्रसिद्धि प्रायः कुशल जनों में ही होती है। क्योंकि इस तप में अन्तःकरण का व्यापार ही मुख्य होता है, इसलिए यह तप भावप्रधान है।

अब प्रथम बाह्य तप के विषय में कहते हैं—

अणसणमूणोयरिया , भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ॥८॥

अनशनमूनोदरिका , भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः।
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति॥८॥

पदार्थान्वयः—अणसण—अनशन ऊणोयरिया—ऊनोदरी—प्रमाण से न्यून आहार करना भिक्खायरिया—भिक्षाचर्या य—और रसपरिच्चाओ—रस का परित्याग कायकिलेसो—कायक्लेश संलीणया—संलीनता बज्झो—बाह्य तवो—तप होइ—होता है।

मूलार्थ—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता, ये बाह्य तप के भेद हैं।

टीका—इस गाथा में बाह्य तप के भेदों का उल्लेख किया गया है तथा इन भेदों में से प्रत्येक का वर्णन आगे की गाथाओं में भली-भाँति किया है। प्रस्तुत गाथा में तो इनका केवल नाम मात्र दिया गया है जो कि वर्णन शैली के सर्वथा अनुरूप ही है।

अब क्रम-प्राप्त प्रथम अनशन-व्रत का वर्णन करते हैं—

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया॥९॥

इत्वरिकं मरणकालं च, अनशनं द्विविधं भवेत्।
इत्वरिकं सावकाङ्क्षं, निरवकाङ्क्षं तु द्वितीयम्॥९॥

पदार्थान्वयः—इत्तरिय—स्तोक-काल य—और मरणकाला—मरण-काल-पर्यन्त अणसणा—अनशन दुविहा—दो प्रकार का भवे—होता है इत्तरिय—स्तोक-काल

का सावकंखा—आकांक्षासहित है, बिइज्जिया—द्वितीय निरवकंखा—आकांक्षा से रहित होता है उ—भिन्न क्रम में है।

मूलार्थ—अनशन दो प्रकार का है—(१) इत्वरिक और (२) मरण-कालपर्यन्त। इनमें प्रथम आकांक्षा-अवधि-सहित और दूसरा आकांक्षा-अवधि से रहित है।

टीका—अनशन तप के दो भेद हैं—एक स्तोक-काल का, दूसरा मरणपर्यन्त का। इनमें इत्वरिक—स्तोक-काल का—जो अनशन है वह सावधिक है अर्थात् अमुक मर्यादा या नियत काल तक है। नियत काल के पश्चात् उसमें भोजन करने की आकांक्षा बनी रहती है इसलिये वह सावकांक्ष कहलाता है। मृत्युपर्यन्त जो अनशन—निराहार—उपवास—है वह निरवकांक्ष है, क्योंकि उसमें जीवन-पर्यन्त आहार की आकांक्षा नहीं होती। इत्वरकालिक अनशन तप दो घड़ी से लेकर छः मास तक माना गया है। दूसरे की कोई अवधि नहीं है, इसलिए पहले में भोजन की आकांक्षा विद्यमान है और दूसरे में उसका अभाव है। 'मरणकाला, अणसणा' यहाँ पर स्त्रीलिंग का निर्देश प्राकृत के कारण से किया गया है।

अब उद्देश्यनिर्देशन्याय से अर्थात् उद्देश्य के अनुसार ही निर्देश किया जाता है, इस न्याय का आश्रयण करके प्रथम इत्वर-तप के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्विहो।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥१०॥
तत्तो य वग्गवग्गो, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो।
मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥११॥

यत्तादित्वरिकं तपः, तत्समासेन षड्विधम्।
श्रेणितपः प्रतरतपः, घनश्च तथा भवति वर्गश्च ॥१०॥
ततश्च वर्गवर्गः, पञ्चमं षष्ठकं प्रकीर्णतपः।
मनईप्सितं चित्रार्थं, ज्ञातव्यं भवतीत्वरिकम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—जो–जो सो–वह इत्तरिय–इत्वरिक तवो–तप है सो–वह समासेण–संक्षेप से छव्विहो–छः प्रकार का है सेढितवो–श्रेणि-तप पयरतवो–प्रतर-तप य–तथा घणो–घन-तप तह–उसी प्रकार वग्गो–वर्ग-तप होइ–होता है य–समुच्चयार्थक है तत्तो–तदनन्तर वग्गवग्गो–वर्गवर्ग-तप य–पुनः पंचमो–पाँचवाँ है य–और पइण्णतवो–प्रकीर्ण-तप छट्ठओ–छठा है मणइच्छिय–मनोवाञ्छित चित्तत्थो–विचित्र स्वर्ग-अपवर्ग फल को देने वाला नायव्वो–जानना चाहिए इत्तरिओ–इत्वरिक होइ–होता है।

मूलार्थ—जो इत्वरिक तप है वह संक्षेप से छः प्रकार का है। यथा—१—श्रेणि-तप २—प्रतर-तप ३—घन-तप ४—वर्ग-तप ५—वर्गवर्ग-तप और ६—प्रकीर्ण-तप। इस प्रकार नाना प्रकार के मनोवांछित स्वर्गापवर्गादि फलों को देने वाला यह इत्वरिक सावधिक तप है।

टीका—काल-मर्यादा को लिए हुए जो पहला इत्वरनामा तप है उसके श्रेणि-तप आदि ऊपर बतलाये गये छः भेद हैं। (१) श्रेणितप—एक उपवास से लेकर छः मासपर्यन्त जो तप—(उपवास)—किया जाता है उसे श्रेणि-तप कहते हैं। (२) प्रतर-तप—श्रेणि से गुणाकार किया हुआ श्रेणि-तप प्रतर कहा जाता है। यथा—एक उपवास और दो, तीन, चार उपवास। इस प्रकार श्रेणि की स्थापना की जाती है। उस श्रेणि को चार गुणा करने से षोडशपदात्मक प्रतर होता है वही प्रतर-तप है। इसकी स्थापना निम्नलिखित यंत्रद्वारा जान लेनी चाहिए।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

(३) घन-तप—इस षोडशपदात्मक प्रतर को श्रेणि से गुणाकार करने पर घन-तप होता है जिसके ६४ कोष्ठक बनते हैं। यंत्र की स्थापना प्राग्वत् जाननी चाहिए। (४) वर्ग-तप—घन-तप को घन से गुणा करने अर्थात् ६४ को ६४ से गुण देने पर ४०९६ कोष्ठक बनते हैं। यही वर्ग-तप है। (५) वर्गवर्ग-तप—वर्ग को

वर्ग से गुणाकार करने पर वर्गवर्ग-तप होता है। तात्पर्य यह है कि ४०९६ को इतने ही अंकों से गुणने पर १६७७७२१६ कोष्ठक होते हैं। इसी का नाम वर्गवर्ग-तप है। इस तप की श्रेणी भी पदचतुष्टयरूप प्राग्वत् ही जाननी चाहिए। (६) प्रकीर्ण-तप—यह श्रेणिबद्ध नहीं होता किंतु अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है। इसके अनेक भेद हैं। यथा—नमस्कारादिसहित पूर्वपुरुष-आचरित यवमध्य, वज्रमध्य और चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक प्रकार के तपों का इसमें समावेश है। यह इत्वर-तप अनेक प्रकार के स्वर्ग, अपवर्ग और तेजो-लेश्या आदि मनोवांछित फलों का देने वाला कहा गया है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि तप-कर्म के अनुष्ठान का जो शास्त्र में विधान है वह अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार करने का विधान है न कि किसी हठ या रोष आदि के कारण से भी करने का आदेश है। कारण यह है कि अपनी इच्छा अर्थात् आत्म-शुद्धि को लक्ष्य में रखकर अपनी शक्ति के अनुसार जो तप किया जाता है वही तप उत्तम और अभीष्ट फल को देने वाला होता है। इससे विपरीत तो निष्फल होने के अतिरिक्त अनिष्टप्रद भी होता है।

अब यावत्कालिक अनशन के विषय में कहते हैं—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा, कायचिट्ठं पई भवे ॥१२॥

यत्तदनशनं मरणे, द्विविधं तद्व्याख्यातम्।
सविचारमविचारं, कायचेष्टां प्रति भवेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जा-जो सा-वह मरणे-मरणविषयक अणसणा-अनशन है सा-वह दुविहा-दो प्रकार का वियाहिया-प्रतिपादन किया है सवियारं-चेष्टारूपविचारसहित अवियारं-चेष्टारूपविचाररहित कायचिट्ठं-काय की चेष्टा के पई-प्रति—आश्रय से भवे-होता है।

मूलार्थ—मरणकालपर्यन्त के अनशन-तप के भी कायचेष्टा को लेकर सविचार और अविचार, ये दो भेद वर्णन किये हैं।

टीका—दूसरा अनशन-तप यावत्कालिक अर्थात् आयुपर्यन्त का होता है। उसके भी सविचार और अविचार, ये दो भेद हैं। (१) सविचार—शरीर की चेष्टा के साथ जो अनशन किया जाता है उसको सविचार कहते हैं। (२) अविचार—जो शरीर की चेष्टा के विना अनशन है वह अविचार कहलाता है। ये दोनों भेद शरीर की चेष्टा को दृष्टि में रखकर ही किये गये हैं। कारण कि भक्तप्रत्याख्यान और इंगिनीमरण, इन दोनों प्रकार के अनशन-तपों में काया की उद्वर्तन और परिवर्तनादि चेष्टाओं का परित्याग नहीं होता। भक्तप्रत्याख्यान-तप की प्रक्रिया इस प्रकार है—जब आयु का परिज्ञान हो जावे, तव गुरु के समीप जाकर अपने किये हुए नियमों की आलोचना करके और सब से क्षमापनादि क्रिया करके जीवनपर्यन्त तीन अथवा चार आहार के परित्याग की प्रतिज्ञा करे। तात्पर्य यह है कि इस व्रत में आयु की अवधि को जानकर गुरुजनों के समक्ष विधिपूर्वक यावदायु तीन या चार आहार का परित्याग किया जाता है, परन्तु शरीर की चेष्टाओं का परित्याग नही किया जाता अर्थात् उठना वैठना आदि क्रियाओं को वह अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। इंगिनीमरण—इस तप की अन्य सब विधि तो भक्तप्रत्याख्यान-तप की भाँति ही है, परन्तु इतना विशेष है कि इसमें भूमि का परिमाण करना पड़ता है अर्थात् मैं इतने स्थान में ही जाऊँ-आऊँगा इससे वाहर नहीं। तथा शरीर की चेष्टा भी उस परिमित भूमि में ही की जा सकती है उससे वाहर नहीं। ये दोनों सविचार अनशन हैं क्योंकि इनमें काया की चेष्टा वनी रहती है अर्थात् शरीर को हिलाने डुलाने का त्याग नहीं है। पादोपगमन—इसके अतिरिक्त पादोपगमन यह अविचार-संज्ञक अनशन-तप है। इसमें शरीर की कोई भी चेष्टा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार वृक्ष से कटकर भूमि पर गिरी हुई वृक्षशाखा स्वयं किसी प्रकार की भी चेष्टा नहीं करती, उसी प्रकार पादोपगमन-अनशन-तप में भी शरीर की कोई चेष्टा नहीं की जाती, अतः कायचेष्टा से रहित होने के कारण इसकी अविचार संज्ञा है। इसके अतिरिक्त इसके सकारणक और अकारणक ये दो भेद और भी हैं अर्थात् कारण होने पर अनशन करना तथा विना कारण [आयु का अन्त आ जाने पर] अनशन करना। इस प्रकार यावत्कालिक अनशन के दो और दो से अधिक भेद माने गये हैं।

अव प्रकारान्तर से उक्त तप के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमनीहारी , आहारच्छेओ दोसु वि ॥१३॥

अथवा सपरिकर्म, अपरिकर्म चाख्यातम्।
निर्हारि अनिर्हारि, आहारच्छेदो द्वयोरपि ॥१३॥

पदार्थान्वयः—अहवा–अथवा सपरिकम्मा–परिक्रमसहित य–और अपरिकम्मा–परिक्रमरहित आहिया–कथन किया है नीहारी–नगरादि से वाहर अनीहारी–नगरादि के भीतर आहारच्छेओ–आहार का व्यवच्छेद दोसु वि–दोनों में ही माना गया है।

मूलार्थ—अथवा सपरिक्रम और अपरिक्रम तथा नीहारी और अनिहारी, इस प्रकार यावत्कालिक अनशन-तप के दो भेद हैं। आहार का सर्वथा त्याग इन दोनों में ही होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में यावत्कालिक अनशन-तप के प्रकारान्तर से भी भेद वतलाये गये हैं। पहला सपरिक्रम—दूसरों से सेवा कराना—तथा दूसरा अपरिक्रम है। इनके निहारी और अनिहारी ये अन्य भी दो भेद हैं। भक्त-प्रत्याख्यान और इंगिनीमरण, ये दोनों सपरिक्रम हैं, क्योंकि इनमें स्थाननिषद्या और त्वक्परिवर्तन आदि क्रियाएँ की जा सकती हैं। भक्तप्रत्याख्यान में स्वयं अथवा और किसीसे शरीरसम्बन्धी वैयावृत्त्य—सेवा—करवा सकता है, परन्तु इंगिनीमरण में तो केवल आप ही उठने बैठने की क्रिया कर सकता है किसी दूसरे से नहीं करा सकता। जो पादोपगमन-अनशन-तप है वह अपरिक्रम कहलाता है, क्योंकि उसमें किसी दूसरे से अथवा स्वयं भी किसी प्रकार की चेष्टा अथवा सेवा नहीं करा सकता इसलिए यह अपरिक्रम तप है। तात्पर्य यह है कि जिस लेखना में परिक्रम—सेवा—आदि है वह सपरिक्रम और जिसमें उसका—सेवा आदि का—सर्वथा परित्याग हो वह अपरिक्रम है। इसी प्रकार सकारण और अकारण के विषय में भी समझ लेना चाहिए। भूकम्प या गिरिपतनादि से जो अनशन करना उसे

सकारण कहते हैं और आयु के परिमित समय पर किया गया अनशन अकारण कहलाता है। निहारी और अनिहारी, ये दो भेद भी इसी के हैं। किसी पर्वत आदि की गुफा में किया हुआ अनशनमरण नीहारी कहलाता है और ग्रामनगरादि में किया हुआ अनिहारी है। परन्तु आहार का प्रत्याख्यान तो सभी प्रकार के अनशनों में विहित है। तात्पर्य यह है कि आहार-त्यागी की दृष्टि से तो ये सब एक ही हैं और कायचेष्टा आदि की विभिन्नता से इनका भेद है।

अब ऊनोदरी-तप के विषय में कहते हैं—

ओमोयरणं पंचहा, समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेणं, भावेणं पज्जवेहि य ॥१४॥

अवमौदर्यं पञ्चधा, समासेन व्याख्यातम्।
द्रव्येण क्षेत्रकालेन, भावेन पर्यवैश्च ॥१४॥

पदार्थान्वयः—**ओमोयरणं**–ऊनोदर-तप **समासेण**–संक्षेप से **पंचहा**–पाँच प्रकार का **वियाहियं**–कथन किया है **दव्वओ**–द्रव्य से **खेत्तकालेणं**–क्षेत्र और काल से **भावेणं**–भाव से **य**–और **पज्जवेहि**–पर्यायों से।

मूलार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की दृष्टि से ऊनोदर-तप के संक्षेप से पाँच भेद कहे हैं।

टीका—अवम नाम न्यून का है, सो जिसका उदर न्यून—ऊना—हो उसको अवमोदर कहते हैं, उसका भाव अर्थात् उदर की न्यूनता—ऊनता—प्रमाण से कम भरना—अवमौदर्य है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण से कम आहार करना—उदर को कुछ खाली रखना—रूप जो तप है उसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों से पाँच भेद माने गये हैं। यह ऊनोदरी तप, कर्मनिर्जरा का हेतु होने के अतिरिक्त लौकिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है। कम आहार करने से उदर-सम्बन्धी अनेक प्रकार के रोगों की शांति होती है, चित्त भी प्रसन्न रहता है, आलस्य का भी आक्रमण नहीं होता; इसलिए मानसिक वृत्ति में भी विकास और निर्मलता का संचार होता है।

अब प्रथम द्रव्यसम्बन्धी भेद का वर्णन करते हैं—

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।
जहन्नेणेगसित्थाई , एवं दव्वेण ऊ भवे ॥१५॥

यो यस्य त्वाहारः, ततोऽवमं तु यः कुर्यात् ।
जघन्येनैकसिक्थकम् , एवं द्रव्येण तु भवेत् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—जो-जो—जितना जस्स-जिसका आहारो-आहार है तत्तो-उससे ओमं-न्यून करे-करे जहन्नेण-जघन्य से—न्यून से न्यून एगसित्थाई-एक सिक्थिक—एक कवल एवं-इस प्रकार दव्वेण-द्रव्य से (ऊनोदरी-तप) भवे-होता है (उ, तु) पदपूर्ति में आया हुआ है ।

मूलार्थ—जिसका जितना आहार है उसमें कम से कम एक कवल न्यून करना—कम खाना, द्रव्य-ऊनोदरी-तप कहलाता है ।

टीका—शास्त्रों में पुरुष का ३२ कवल-प्रमाण और स्त्री का २८ कवल-(ग्रास) प्रमाण आहार कहा है तथा २४ कवल-प्रमाण नपुंसक का माना है । सो इस प्रमाण से कम खाना ऊनोदर-तप है । इसके अतिरिक्त आगम में लिखा है कि जो कोई एक ग्रास से लेकर आठ ग्रास-पर्यन्त आहार करे वह अल्पाहारी कहा जाता है । नौ से लेकर बारह ग्रास तक आहार करने वाला अपार्द्ध कहलाता है । एवं जो १६ तक करे उसको दो भाग ऊनोदर-तप करने वाला कहते हैं तथा २४ कवल तक आहार करना पादोन-ऊनोदरी-तप है और ३१ तक आहार करना किंचिन्मात्र ऊनोदरी-तप है । तात्पर्य यह है कि जो ३२ ग्रास में से एक ग्रास भी कम लेता है उसको प्रमाण से अधिक आहार वाला नहीं कहा जाता किन्तु वह न्यूनतम ऊनोदर-तप का आचरण करने वाला माना जाता है । यदि संक्षेप से कहें तो प्रमाण से कम आहार करना ऊनोदरी-तप है ।

अब क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं । यथा—

गामे नगरे तह रायहाणि, निगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कव्वडदोणमुह- , पट्टणमडंबसंबाहे ॥१६॥

आसमपए विहारे, संनिवेसे समायघोसे य ।
थलिसेणाखंधारे , सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥१७॥
वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।
कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥१८॥

ग्रामे नगरे तथा राजधान्यां, निगमे चाकरे पल्ल्याम् ।
खेटे कर्वटे द्रोणमुखे, पत्तनमण्डपसम्बाधे ॥१६॥
आश्रमपदे विहारे, सन्निवेशे समाजघोषे च ।
स्थलसेनायां स्कन्धावारे, सार्थे संवर्तकोटे च ॥१७॥
वाटेषु वा रथ्यासु वा, गृहेषु वैवमेतावत् क्षेत्रम् ।
कल्पते त्वेवमादि , एवं क्षेत्रेण तु भवेत् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—गामे–ग्राम में नगरे–नगर में तह–तथा रायहाणि–राजधानी में निगमे–निगम में य–और आगरे–आकर में पल्ली–पल्ली में खेडे–खेड़े में कव्वडे–कर्वट में दोणमुहे–द्रोणमुख में पट्टणे–पत्तन में मडंबे–मंडप में संवाहे–संवाध में आसमपए–आश्रमपद में विहारे–विहार में संनिवेसे–सन्निवेश में समाय–समाज में घोसे–घोष में य–और थलि–स्थल में सेणा–सेना में खंधारे–स्कन्धावार मे सत्थे–सार्थ में संवट्ट–संवर्त में य–तथा कोट्टे–कोट में वाडेसु–घरों के समूह में य–और रत्थासु–गलियों में घरेसु–घरों में वा–अथवा एवं–इस प्रकार इत्तियं–एतावन्मात्र खेत्तं–क्षेत्र—भिक्षाचारी के वास्ते—कप्पइ–कल्पता है आई–आदि—शब्द से गृहशाला आदि एवं–इस प्रकार खेत्तेण–क्षेत्र से भवे–ऊनोदर-तप होता है ऊ–पूर्णाथक है ।

मूलार्थ—ग्राम, नगर, राजधानी और निगम में; आकर, पल्ली, खेटक और कर्वट में; द्रोणमुख, पत्तन और संवाध में; आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थल, सेना, स्कन्धावार, सार्थ, संवर्त और कोट में; तथा घरों के समूह, रथ्या और गृहों में; एतावन्मात्र क्षेत्र में भिक्षाचरण कल्पता है । आदि

शब्द से अन्य गृहशाला आदि जानना चाहिए। इस प्रकार से यह क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप कहा है।

टीका—ऊपर जितने स्थानों का नाम बतलाया है उनमें से, 'आज मैं इतने स्थानों में से भिक्षा ग्रहण करूँगा' इस प्रकार का जो अभिग्रह—नियम-मर्यादा—करना वह क्षेत्र-ऊनोदरी-तप है। जो गुणों को ग्रसता है और अष्टादश करों से युक्त है वह ग्राम है। जो कर से रहित है वह—न कर—नगर—है। राजा ने जिसको धारण किया अर्थात् राजा के रहने का स्थान, वह राजधानी है। जहाँ पर अनेक वणिक् लोग वसते हों और नाना प्रकार के भाँडे जहाँ से निकलते हों वह निगम-स्थान है। हिरण्यादि की उत्पत्ति का स्थान आकर कहलाता है। अटवी के मध्यगत प्रदेश को अथवा जहाँ दुष्ट जनों का पालन हो उसे पल्ली कहते हैं। मिट्टी के प्राकार से मंडित स्थान खेटक होता है। कर्वट—छोटे गाँव वाले प्रदेश को कहते हैं। जहाँ पर जल वा स्थल दोनों के प्रवेश का स्थान हो वह द्रोणमुख है। जहाँ पर सर्व दिशाओं से लोग आते हैं और व्यापार करते हैं वह पत्तन कहलाता है। इसी प्रकार जलपत्तन और स्थलपत्तन भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जलमध्यवर्ती जलपत्तन और स्थलमध्यवर्ती स्थलपत्तन है। चारों दिशाओं में जिसके अढ़ाई २ कोस तक कोई ग्राम न हो उसे मडंब अर्थात् मंडप कहते हैं। जहाँ पर चारों वर्ण विशेषता से निवास करते हों वह संवाध कहलाता है अथवा जो ग्राम और पर्वत के बीच मे वसा हो उसे संवाध कहते हैं। जहाँ पर तपस्वी लोग रहते हों वह आश्रम, भिक्षुओं के रहने का स्थान विहार, (देवस्थान भी विहार कहलाता है) तथा यात्रादि के समय पर जहाँ लोग एकत्रित हों वह संनिवेश, एवं पथिक लोगों के एकत्रित होने का स्थान समाज कहलाता है। गोकुलस्थान का नाम घोष है। ऊँची भूमी के भाग को स्थल कहते हैं। सेना—छावणी। स्कन्धावार—चतुरंगिणी सेना के ठहरने का स्थान। सार्थ—जहाँ पर पशुओं के व्यापारी लोग आकर ठहरते हों अर्थात् जहाँ पर पशुओं की मंडी हो। संवर्त—जहाँ पर भयसंत्रस्त लोग आकर आश्रय लें ऐसा प्रदेश। कोट—नगर की रक्षा के लिए प्राकार वाला प्रदेश। वृत्ति—वराडका (वाड़) आदि से व्याप्त गृहों के समूह को वाड़ कहते हैं। रथ्या—सेरी—गली-कूचा आदि। घर—सामान्य गृह। आदि शब्द से

अन्य गृहशाला आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। इन पूर्वोक्त स्थानों में साधु यदि गोचरी के लिए जावे तो अभिग्रहपूर्वक ही जावे अर्थात्—आज मैं इतने स्थानों से भिक्षा ग्रहण करूँगा या इतने स्थानों में भिक्षा के लिए जाऊँगा इस प्रकार का नियम करे। यदि उन नियत किये हुए क्षेत्रों से भिक्षा न मिले तो उपवास कर लेवे अथवा कम मिले तो उतने मात्र से निर्वाह कर लेवे, अन्य क्षेत्र में न जावे यह क्षेत्रसंबंधी ऊनोदरी-तप है। इसके अतिरिक्त दूर के क्षेत्रों में भिक्षा के निमित्त जाने से अप्रतिबद्धता और क्षेत्रस्पर्शना भी सहज में ही हो जाती है। अपि च—अभिग्रहपूर्वक गमन करने तथा सामान्य गमन करने पर लोगों के हृदय में क्षेत्रपरिज्ञान और साधुवृत्ति की प्रथा अंकित हुए बिना नहीं रहती।

अब अन्य प्रकार से क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं—

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव।
संबुक्कावट्टायगंतुं, पच्छागया छट्ठा ॥१९॥

पेटा चार्धपेटा, गोमूत्रिका पतङ्गवीथिका चैव।
शम्बूकावर्ता आयतं गत्वा, पश्चादागता षष्ठी ॥१९॥

पदार्थान्वयः—पेडा–पेटिकावत् गृहों की पंक्ति य–और अद्धपेडा–अर्द्ध पेटिकासदृश गृहपंक्ति गोमुत्ति–गोमूत्रिकासदृश पयंगवीहिया–पतंगवीथिका के सदृश च–पुनः एव–अवधारणा अर्थ में है संबुकावट्टा–शंबूकावर्त—शंखावर्त—के तुल्य आयगंतुं–दीर्घ—लम्बा—जाकर पीछे आना पच्छागया–प्रत्यागतनामक छट्ठा–छठी विधि है।

मूलार्थ—(१) पेटिका—सन्दूक—के आकार में (२) अर्द्धपेटिका के आकार में (३) गोमूत्रिका—टेढ़े मेढ़े—के आकार में (४) पतंगवीथिका के आकार में (५) शंखावर्त के आकार में और (६) लम्बा गमन करके फिर लौटते हुए भिक्षाचरी करना, यह छः प्रकार का क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है। जो महल्ला चतुष्कोण पेटिका के आकार के सदृश हो उसमें

अभिग्रहपूर्वक गोचरी करना—अर्थात् आज मैं पेटिका के समान चतुष्कोण घरों की पंक्ति में ही गोचरी के लिये जाऊँगा इस प्रकार नियमपूर्वक आहार को जाना, यह क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का प्रथम भेद है । इसी प्रकार अर्द्धपेटिकाकार गृहों मे भिक्षा के लिये जाने की प्रतिज्ञा करना दूसरा भेद है । गोमूत्रिका—वक्र—टेढ़े-मेढ़े—आकार के घरों में जाने का नियम करना तीसरा भेद है । पतंग नाम शलभ का है । जैसे पतंग उड़ता है तद्वत् आहार लेना, अर्थात् प्रथम एक घर से आहार लेकर, फिर उसके समीपवर्ती पाँच छः घरों को छोड़कर सातवें घर से आहार जा लेना, उसे पतंगवीथिका कहते हैं । शंखावर्त के समान घूम २ कर आहार लेने की प्रतिज्ञा करना यह पाँचवाँ भेद है । शंखावर्त के भी दो प्रकार हैं—एक आभ्यन्तर अर्थात् गली के अन्दर और दूसरा वाह्य अर्थात् गली के वाहर । इनके अतिरिक्त छठा भेद वह है जो कि प्रथम गली के आरम्भ से अन्त तक सीधे चले जाना और फिर वहाँ से लौटते हुए घरों से आहार लेना । यह छः प्रकार का क्षेत्र-सम्वन्धि-ऊनोदरी या अवमोदरण तप कहा है । यद्यपि यह अभिग्रहसम्वन्धी कथन भिक्षाचरी में किया है तथापि निमित्तभेद से इसका उक्त तपश्चर्या में भी ग्रहण अभीष्ट है । यथा एक ही देवदत्त के पिता-पुत्रादि के सम्वन्ध को लेकर अनेक प्रकार से वुलाया जाता है उसी प्रकार दृष्टिभेद से ऊनोदरी-तप का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है ।

अव काल-सम्वन्धि-ऊनोदर-तप के विषय में कहते हैं—

दिवसस्स पोरुसीणं, चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं ॥२०॥

दिवसस्य पौरुषीणां, चतसृणामपि तु यावान् भवेत् कालः ।
एवं चरन् खलु, कालावमत्वं ज्ञातव्यम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—दिवसस्स—दिन की चउण्हं पि—चार ही पोरिसीणं—पौरुषियों का जत्तिओ—यावन्मात्र कालो—अभिग्रहकाल भवे—होवे एवं—इस प्रकार चरमाणो—विचरते हुए खलु—निश्चय में कालोमाणं—कालावमोदर्य मुणेयव्वं—जानना चाहिए ।

मूलार्थ—दिन के चार पहरों में से यावन्मात्र अभिग्रह-काल हो उसमें आहार के लिए जाना कालसम्बन्धि-अवमौदर्य—ऊनोदरी-तप—है।

टीका—दिन के चार पहर होते हैं। प्रत्येक पहर का नाम पौरुषी है। इन चार पहरों में इस बात का अभिग्रह (प्रतिज्ञा) करना कि आज मैं अमुक पहर में भिक्षा को जाऊँगा, उसके अतिरिक्त अन्य पहरों में भिक्षा लेने का मैं त्याग करता हूँ। यदि नियत किये हुए समय पर भिक्षा मिल जावे तब तो वह आहार कर सकता है अन्यथा उपवास करना होगा, बस इसी का नाम काल-सम्बन्धि-ऊनोदरी-तप है। क्योंकि प्रतिज्ञात समय से अतिरिक्त समय में जाने का वह त्याग कर चुका है। 'चरमाणो' यहाँ पर सुप् का व्यत्यय किया हुआ है और 'पौरुषी' शब्द प्रहर के अर्थ में है।

अब प्रकारान्तर से उक्त विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाए घासमेसंतो।
चउभागूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ॥२१॥

अथवा तृतीयायां पौरुष्याम्, ऊनायां ग्रासमेषयन्।
चतुर्भागोनायां वा, एवं कालेन तु भवेत् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—अहवा-अथवा तइयाए-तीसरी पोरिसीए-पौरुषी में ऊणाए-ऊनी में घासं-ग्रास की एसंतो-अन्वेषणा करता हुआ चउभागूणाए-चतुर्थ-भागन्यून तृतीय पौरुषी में वा-अथवा पाँचवें भाग से न्यून एवं-इस प्रकार कालेण-काल से भवे-होता है—ऊनोदरी तप ऊ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—अथवा कुछ न्यून तीसरी पौरुषी में या चतुर्थ और पंचम भाग न्यून पौरुषी में भिक्षा लाने की प्रतिज्ञा करना भी कालसम्बन्धी ऊनोदरी-तप है।

टीका—तृतीय पौरुषी में आहार लाने की आज्ञा है, परन्तु तृतीय पौरुषी के भी दो दो घड़ी-प्रमाण चार भाग होते हैं। उन चार भागों में भी किसी एक भाग में ही भिक्षार्थ जाने और यदि उतने समय में उपलब्ध न हो तो वैसे ही सन्तुष्ट रहने का जो अभिग्रह—नियम—है उसको काल-ऊनोदरी-तप कहा है। तात्पर्य यह है

कि एक पौरुषी के चार भाग कल्पना करके उनमें से ग्रहण किये गये भाग में ही भिक्षा के लिए जाना अन्य में नहीं । इसीलिए उक्त गाथा में 'पोरिसीए ऊणाए' अर्थात् पौरुषी के न्यून भाग में—वा चतुर्थ भाग न्यून में ऐसा उल्लेख किया है। परन्तु यह उत्सर्गसूत्र है । अपवादसूत्र में तो 'काले कालं समायरे' अर्थात् जिस क्षेत्र में जो समय भिक्षा का होवे उस समय के अनुसार अपने धार्मिक क्रियानुष्ठान में तथा नियमादि में व्यवस्था कर लेवे ।

अब भाव-सम्बन्धि-ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं—

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वा नलंकिओ वावि ।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥२२॥
अन्नेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयंते उ ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ॥२३॥

स्त्री वा पुरुषो वा, अलंकृतो वाऽनलंकृतो वाऽपि ।
अन्यतरवयःस्थो वा, अन्यतरेण वा वस्त्रेण ॥२२॥
अन्येन विशेषेण, वर्णेन भावमनुन्मुञ्चन् तु ।
एवं चरन् खलु, भावावमत्वं ज्ञातव्यम् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—इत्थी–स्त्री वा–अथवा पुरिसो–पुरुष वा–अथवा अलंकिओ–अलंकृत वा–अथवा अनलंकिओ–अनलंकृत वा–अथवा अवि–संभावना में अन्नयर–अन्यतर वयत्थो–अवस्था वाला वा–अथवा अन्नयरेणं–अन्यतर वत्थेणं–वस्त्र से युक्त व–समुच्चय में है अन्नेण–अन्य विसेसेणं–विशेष से वण्णेणं–वर्ण से भावं–भाव को अणुमुयंते–न छोड़ता हुआ उ–अवधारणार्थक है एवं–इस प्रकार चरमाणो–आचरण करता हुआ खलु–निश्चय में है भावोमाणं–भाव-अवमौदर्य मुणेयव्वं–जानना चाहिए।

मूलार्थ—स्त्री अथवा पुरुष; अलंकार से युक्त वा अलंकाररहित तथा किसी वय वाला और किसी अमुक वस्त्र से युक्त हो; अथवा किसी विशेष वर्ण या भाव से युक्त हो; इस प्रकार आचरण करता हुआ अर्थात् उक्त प्रकार के

दाताओं से भिक्षाग्रहण करने की प्रतिज्ञा करने वाला साधु भाव-ऊनोदरी तप वाला होता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथाओं में भाव-ऊनोदरी-तप का वर्णन किया गया है । जैसे—भिक्षा-ग्रहण के लिए साधु इस प्रकार का अभिग्रह करे कि यदि अमुक स्त्री अथवा पुरुष अलंकार से युक्त हो वा रहित; बाल हो या युवा या वृद्ध; अमुक प्रकार के वस्त्रों से युक्त हो या अमुक रंग के वस्त्रों से विभूषित हो; हँसता हो या रोता हो; कोपयुक्त हो वा हर्षसहित हो; तथा कृष्णवर्ण हो या गौरवर्ण; इत्यादि निर्दिष्ट चिन्हों वाले दाताओं के हाथ से ही यदि भिक्षा मिलेगी तभी मैं ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं—इस प्रकार के अभिग्रह—संकल्प—को धारणकर भिक्षा के लिए जाना भाव-ऊनोदरी-तप कहलाता है । यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि अभिग्रह करने का तात्पर्य यह है कि जितने समय के लिए अभिग्रह किया है उतने समय तक यदि वह फलीभूत नहीं होता तो अभिग्रही का उतना समय विशिष्ट तपश्चर्या में व्यतीत होता है । प्रथम गाथा में आया हुआ 'वयत्थो—वयःस्थ' भी विचित्र भाव का सूचक है अर्थात् बाल, युवा और वृद्ध सभी प्रकार के जीवों को दान देने का अधिकार है और सभी की रुचि दान देने में बनी रहनी चाहिए । दूसरी गाथा में जो 'विशेष' शब्द का उल्लेख किया है उसका अभिप्राय यह है कि अभिग्रह के लिए रुचि ही विशेष कारण है, अतः जैसी इच्छा हो वैसा ही अभिग्रह धारण किया जा सकता है ।

अब पर्यायसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं—

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खु ॥२४॥

द्रव्ये क्षेत्रे काले, भावे चाख्यातास्तु ये भावाः ।
एतैरवमचरकः , पर्यवचरको भवेद् भिक्षुः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—दव्वे—द्रव्य में खेत्ते—क्षेत्र में काले—काल में य—और भावम्मि—भाव में जे—जो भावा—भाव आहिया—कथन किये हैं एएहिं—इन

भावों से ओमचरओ—अवमचरक मुनि पज्जवचरओ—पर्यवचरक भिक्खू-भिक्षु भवे—होता है।

मूलार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो भाव वर्णन किये गये हैं उन भावों से अवम चरने वाले भिक्षु को पर्यवचरक भिक्षु कहा जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पर्यव-अवमौदर्य का वर्णन किया गया है। यथा—अशनादि द्रव्य में, ग्रामादि क्षेत्रों में, पौरुष्यादि काल में और स्त्रीपुरुषादि भाव में जो एक सिक्थ—एक ग्रास—न्यूनादि भाव वर्णन किये गये हैं उन सर्व भावों से युक्त होकर जो विचरता है उसे पर्यवचरक भिक्षु अर्थात् पर्याय-ऊनोदरी-तप करने वाला कहते हैं। सारांश यह है कि जो भिक्षु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से उक्त चारों अभिग्रहों से युक्त होकर विचरता है उसको पर्यवचर-ऊनोदरी-तप वाला कहते हैं और इस प्रकार के तप का नाम ऊनोदरी-पर्यव-तप है। यदि कोई यह शंका करे कि कम से कम एक ग्रास की न्यूनता रखने से द्रव्य ऊनोघी तो हो सकता है परन्तु क्षेत्र-ग्रामादि, काल-पौरुषी आदि और भाव-स्त्री आदि, इनका अवमौदर्य किस प्रकार से हो सकता है? इसका समाधान यह है कि, विशिष्ट अभिग्रह आदि के धारण करने से इनके द्वारा भी अवमौदर्य किया जा सकता है। जिसकी प्रधानता होगी उसकी अपेक्षा से ही अवमौदर्य का प्रतिपादन किया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जहाँ पर द्रव्य से अवमौदर्य नहीं वहाँ पर क्षेत्रादि से किया जा सकता है।

अब भिक्षाचरी के विषय में कहते हैं—

अट्ठविहगोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥२५॥

अष्टविधगोचराग्रं तु, तथा सप्तैवैषणाः।
अभिग्रहाश्च येऽन्ये, भिक्षाचर्यायामाख्याताः ॥२५॥

पदार्थान्वयः—अट्ठविह—अष्टविध गोयरग्गं—गोचराग्र—प्रधान गोचरी तु—उत्तरभेद की अपेक्षा से समुच्चय अर्थ में है तहा—उसी प्रकार सत्तेव—सात ही

एसणा-एषणाएँ य-और जे-जो अन्ने-अन्य अभिग्गहा-अभिग्रह हैं—यह सब भिक्खायरियं-भिक्षाचर्या आहिया-कही गई है।

मूलार्थ—आठ प्रकार की गोचरी तथा सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं ये सब भिक्षाचरी में कहे गये हैं अर्थात् इन्हें भिक्षाचरी-तप कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भिक्षाचरी-तप का वर्णन किया गया है। भिक्षाचरी का दूसरा नाम गोचरी भी है। गोचरी अर्थात् गौ की तरह आचरण करना। तात्पर्य यह है कि जैसे गौ तृण आदि का भक्षण करती हुई उसको जड़ से नहीं उखाड़ती, ठीक उसी प्रकार मुनि भी गृहस्थों के घरों में गया हुआ इस प्रकार आहार की गवेषणा करे जिससे कि उनको फिरसे कोई नया आरम्भ न करना पड़े। उस गोचरी या भिक्षाचरी के आठ भेद हैं। उनमें छः तो पेटिका, अर्द्धपेटिका आदि के नाम से पूर्व में आ चुके हैं तथा ऋजुगति और वक्रगति ये दो भेद और हैं। ये आधाकर्मादिदोष से रहित भिक्षाचरी के आठ भेद हैं। तथा—(१) संसृष्ट (२) असंसृष्ट (३) उद्धृत (४) अल्पलेपिका (५) उद्गृहीता (६) प्रगृहीता और (७) उज्झितधर्मा, ये सात प्रकार एषणा के हैं। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह। यथा, द्रव्य से—यदि कुन्तादि के अग्रभाग में स्थित मंडक वा खंडक आदि मिलेगा तो लूँगा। क्षेत्र से—यदि आहार देने वाले की दोनों जंघाओं के मध्य में देहली—दलीज—हो तो आहार लूँगा। काल से—जब सारे भिक्षु भिक्षा ला चुकेंगे तब आहार को जाऊँगा। भाव से—दाता हँसता हो या रोता हो अथवा किसी के द्वारा बँधा हुआ हो, उसके हाथ से आहार मिलेगा तो लूँगा, इत्यादि प्रकार से समझना चाहिये।

अब रसपरित्याग के विषय मे कहते हैं—

खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥२६॥

क्षीरदधिसर्पिरादि , प्रणीतं पानभोजनम् ।
परिवर्जनं रसानां तु, भणितं रसविवर्जनम् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—खीर–क्षीर दहि–दधि सप्पिं–सर्पि—घृत आई–आदि पक्वान्न वगैरह पणीयं–प्रणीत पाणभोयणं–पानी और भोजन रसाणं–रसों का परिवज्जणं–परिवर्जन—त्याग भणियं–कहा गया है रसविवज्जणं–रसवर्जन-तप उ–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—दूध, दही, घृत और पक्वान्नादि पदार्थों तथा रसयुक्त अन्नपानादि पदार्थों का जो परित्याग है उसको रसवर्जन-तप कहते हैं ।

टीका—इस तप में रसयुक्त पदार्थों के परित्याग का विधान है, इसलिए इसको रसपरित्याग-तप कहते हैं । दूध, दधि, घृत तथा रसयुक्त अन्य पान भोजन अर्थात् वलवर्द्धक अन्य पदार्थ, अथवा मधुराम्लादि रसों में मर्यादा करना रस-त्याग-तप है । जैसे—आज मैं दुग्ध, दधि, घृत, अथवा अन्य कोई पौष्टिक पदार्थ नहीं खाऊँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना । प्रणीत शब्द का अर्थ है वलवर्द्धक—वल को वढ़ाने वाला पदार्थ [प्रणीतम्—अतिबृंहकम्] । तात्पर्य यह है कि उक्त रस-युक्त और वलवर्द्धक पदार्थों के परित्याग से इन्द्रियों का निग्रह और कामसम्बन्धी उत्तेजना शान्त होती है । उसके शान्त होने से आत्मा की वहिर्मुखता दूर होती है ।

अव कायक्लेशनामक तप के विषय में कहते हैं—

ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥२७॥

स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि ।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, कायक्लेशः स आख्यातः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—ठाणा–स्थान—कायस्थिति के भेद वीरासणाईया–वीर-आसन आदि जीवस्स–जीव को सुहावहा–सुख को देने वाले उ–अवधारणार्थक है उग्गा–उग्र—उत्कट जहा–जैसे धरिज्जंति–धारण किये जाते हैं कायकिलेसं–कायक्लेश तं–वह आहियं–कहा गया है ।

मूलार्थ—जीव को सुख देने वाले, उग्र—उत्कट—जो वीरासनादि तथा स्थान—कायस्थिति के भेद—उनको धारण करना काय-क्लेश है।

टीका—इस तप में काया को अप्रमत्त रखने के लिए वीरादि आसनों का उल्लेख किया गया है। जब तक वीरादि आसनों के द्वारा समाधि लगाकर काया को क्लेशित न किया जावे—कसा न जावे, तब तक काया का निगृहीत—अप्रमत्त—होना कठिन है। इसलिए साधक पुरुष को चाहिए कि वह उक्त आसनादि के द्वारा अपने शरीर को संयत करने का अभ्यास करे। वीरासन—कोई पुरुष अपने दोनों पैर भूमी पर रखकर किसी पीठ—चौकी आदि—पर बैठे और फिर उसके नीचे से वह पीठ उठा लिया जावे, उसके उठा लेने पर भी वह उसी प्रकार ध्यानारूढ़ होकर बैठा रहे तो उसको वीरासन कहते हैं। आदि शब्द से गोदुह-आसन, पद्म-आसन और उत्कट आदि आसनों को जानना चाहिए। उपलक्षण से केशलुञ्चन आदि क्रियाएँ भी इसी तप के अन्तर्गत समझी जाती हैं। शुभ कर्मों के बन्ध का हेतु होने, अथ च कर्मों की निर्जरा का कारण होने से इनको सुखावह—सुखप्रद—कहा है। एवं यह तप आत्मा के लिए जितना सुखप्रद है उतना ही इसका अनुष्ठान भी कठिन है। अतएव इसका आचरण भी कोई आत्मार्थी मुनि ही कर सकते हैं। अन्य दर्शनों में इस तप का हठयोग में समावेश किया है। 'ठाणा' 'उग्गा' इन दोनों में सुप् का व्यत्यय किया गया है।

अब प्रतिसंलीनता के विषय में कहते हैं—

एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥२८॥
एकान्तेऽनापाते, स्त्रीपशुविवर्जिते।
शयनासनसेवनया, विविक्तशयनासनम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—एगंतं-एकान्त में अणावाए-अनापात में इत्थी-स्त्री पसु-पशु विवज्जिए-विवर्जित स्थान में सयणासण-शयनासन का सेवणया-सेवन करना विवित्तसयणासणं-विविक्त-शयनासन-तप है।

मूलार्थ—एकान्त और जहाँ पर कोई न आता जाता हो ऐसे स्त्री, पशु और (उपलक्षण से) नपुंसकरहित स्थान में शयन और आसन करना, उसे विविक्तशयनासन अर्थात् प्रतिसंलीनता-तप कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिसंलीनता-तप का स्वरूप बतलाया है। इसी का दूसरा नाम विविक्तशय्या वा विविक्तशयनासन है। संयमशील मुनि को उचित है कि वह इस प्रकार के स्थान—वसती—उपाश्रय आदि—में निवास करने का विचार रखे कि जो एकान्त अर्थात् जनता से आकीर्ण न हो तथा जिस स्थान पर स्त्री आदि की दृष्टि न पड़े और वह स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से वर्जित हो अर्थात् इनका वहाँ पर निवास न हो। इस प्रकार के स्थान में रहना और सोना प्रतिसंलीनता है। उक्त प्रकार के एकान्त स्थान में रहने से समाधि और ध्यान-सम्बन्धी योग्यता के प्राप्त होने का अधिक संभव होता है। शास्त्र में इस तप के अन्तर्गत इन्द्रियकषाय और योगों के अशुभ व्यापार का निरोध भी प्रतिपादन किया है। यदि दूसरे शब्दों में व्यक्तरूप से कहें तो पाँचों इन्द्रिय, चारों कषाय और तीनों योग, इनका प्रमाण से अधिक धारण न करना प्रतिसंलीनता-तप है। यह बाह्य तप का संक्षेप से निरूपण किया गया है। इसका विशेष विस्तार औपपातिक-सूत्र से जानना चाहिए।

अब उक्त प्रकरण का उपसंहार और उत्तर प्रकरण का उपक्रम करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एसो बाहिरगं तवो, समासेण वियाहिओ।
अब्भिंतरं तवं एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥२९॥

एतद् बाह्यं तपः, समासेन व्याख्यातम्।
आभ्यन्तरं तप इतः, वक्ष्येऽनुपूर्वशः ॥२९॥

पदार्थान्वयः—एसो—यह बाहिरगं—बाह्य तवो—तप समासेण—संक्षेप से वियाहिओ—वर्णन किया है अब्भिंतरं—आभ्यन्तर तवं—तप एत्तो—इसके आगे वुच्छामि—कहूँगा अणुपुव्वसो—अनुक्रम से।

मूलार्थ—यह बाह्य तप संक्षेप से वर्णन किया गया। अब इसके आगे अनुक्रम से मैं आभ्यन्तर तप को कहूँगा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाह्य तप का उपसंहार और आभ्यन्तर तप का उपक्रम अर्थात् वर्णन करने की सूचना दी गई है। सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! यह बाह्य तप का संक्षेप से मैंने वर्णन कर दिया है। अब मैं अनुक्रम से आभ्यन्तर-तप के विषय में कहता हूँ। जिस विषय का वर्णन करना अभिप्रेत हो उसके नाम का प्रथम निर्देश कर देने से श्रोताओं को उसके समझने में विशेष सुगमता रहती है। इस आशय से ही शास्त्रकार ने यहाँ पर विषय का निर्देश किया है। तथा 'वुच्छामि' यह 'वक्ष्यामि' के स्थान पर प्राकृत आदेश है। इसके अतिरिक्त बाह्य तप के अनुष्ठान से निस्संगता, शरीर की लाघवता, इन्द्रियों पर विजय, संयम की रक्षा, शुभध्यान की प्राप्ति और योगों की निर्मलता होने से पुण्यबन्ध के अतिरिक्त कर्मों की निर्जरा भी होती है और अंतरंग गुणों में भी विकास होता है।

अब अन्तरंग तप के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥३०॥

प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—पायच्छित्तं–प्रायश्चित्त विणओ–विनय वेयावच्चं–वैयावृत्य तहेव–उसी प्रकार सज्झाओ–स्वाध्याय झाणं–ध्यान च–और विउस्सग्गो–व्युत्सर्ग एसो–यह अब्भिंतरो–आभ्यन्तर तवो–तप है।

मूलार्थ—(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य, तथा (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) कायोत्सर्ग यह आभ्यन्तर तप है अर्थात् ये उक्त छः भेद अन्तरंग तप के हैं।

टीका—बाह्य तप की भाँति अन्तरंग तप भी छः प्रकार का है। (१) दोषों के लग जाने पर प्रायश्चित्त का ग्रहण करना (२) बड़ों की विनय करना (३) स्थविर आदि की वैयावृत्य—सेवा—करना (४) कर्मों की निर्जरा के लिए स्वाध्याय करना (५) आत्मशुद्धि के लिए ध्यान करना और (६) काय का व्युत्सर्ग कर देना, ये छः प्रकार—भेद—आभ्यन्तर तप के हैं। यद्यपि अन्तरंग तप का बाह्य प्रभाव बहुत न्यून होता है तथापि अन्तरंग कर्म-शत्रुओं के विदारण में इसका वज्र के समान प्रभाव पड़ता है। मोक्षप्राप्ति के साधनों में इसका असाधारण स्थान है। उसमें भी ध्यान, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग तो मुमुक्षु के लिए विशेषरूप से उपादेय हैं, क्योंकि इनके द्वारा कर्मों का क्षय बहुत ही शीघ्र होता है।

अब प्रथम क्रमप्राप्त प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं—

आलोयणारिहाईयं , पायच्छित्तं तु दसविहं।
जं भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ॥३१॥

आलोचनार्हादिकं , प्रायश्चित्तं तु दशविधम्।
यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्, प्रायश्चित्तं तदाख्यातम् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—आलोयणारिहाईयं—आलोचना के योग्य पायच्छित्तं—प्रायश्चित्त दसविहं—दश प्रकार से वर्णन किया गया है जं—जिसको भिक्खू—भिक्षु सम्मं—भलीप्रकार वहई—आचरण करता है तं—उसको पायच्छित्तं—प्रायश्चित्त-तप आहियं—कहा जाता है।

मूलार्थ—आलोचना के योग्य दश प्रकार से प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से सेवन करता है; वह प्राश्चित्त-तप कहा जाता है।

टीका—इस सूत्र में प्रायश्चित्त नाम के तप का वर्णन किया गया है। पाप के लिए पश्चात्ताप करना प्रायश्चित्त कहलाता है। लगे हुए दोष को गुरु आदि के समक्ष प्रकट करने और आलोचना के द्वारा उसे शुद्ध करने को आलोचनार्ह कहते हैं। आदि शब्द से प्रतिक्रमणादि का ग्रहण करना चाहिए। उक्त सारे कथन का

अभिप्राय यह है कि आत्मशुद्धि के लिए शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है, उसके संक्षेप से दस भेद हैं। यथा—(१) आलोचनार्ह (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तपकर्म (७) छेद (८) मूल (९) अनवस्थापन और (१०) पाराञ्चिक। इनका सम्पूर्ण वर्णन औपपातिक-सूत्र में किया है वहाँ से देख लेना। तथा जिस प्रकार सन्निपात आदि रोगों की विशुद्धि—निवृत्ति—के लिए वैद्यकशास्त्र की उपादेयता है उसी प्रकार आत्मविशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त-तप का विधान किया गया है—[चिकित्सागम इव दोषविशुद्धि-हेतुर्दण्डः]—तथा प्रायश्चित्त के जितने भेद ऊपर बतलाये हैं उनमें अर्ह शब्द का सम्बन्ध सर्वत्र कर लेना चाहिए। यथा—आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह इत्यादि।

अब विनय-तप के विषय में कहते हैं—

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा , विणओ एस वियाहिओ ॥३२॥

अभ्युत्थानमञ्जलिकरणं , तथैवासनदानम् ।
गुरुभक्तिभावशुश्रूषा , विनय एष व्याख्यातः ॥३२॥

पदार्थान्वयः—**अब्भुट्ठाणं**–अभ्युत्थान देना **अंजलिकरणं**–हाथ जोड़ना **तहा**–तथा **एव**–पूर्ण अर्थ में है **आसण**–आसन **दायणं**–देना **गुरुभत्ति**–गुरु की भक्ति करना **भावसुस्सूसा**–भाव-शुश्रूषा करना **विणओ**–विनय **एस**–यह **वियाहिओ**–प्रतिपादन किया गया है।

मूलार्थ—गुरु आदि को अभ्युत्थान देना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरु की भक्ति करना और अन्तःकरण से उनकी सेवा करना, यह विनय-तप कहा गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विनय-तप के भेदों का उल्लेख किया है। यथा—(१) गुरु, स्थविर और रत्नाधिक को आते देखकर सत्कार के लिए उनके सामने जाना तथा उठकर खड़े होना (२) उनके आगे हाथ जोड़ना (३) उनको आसन देना (४) गुरु की अनन्य भक्ति करनी और (५) उनकी आज्ञा को श्रद्धापूर्वक

सुनना अथवा भावपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, ये पाँच भेद विनय-तप के हैं। तात्पर्य यह है कि यह पाँच प्रकार का विनय-तप कहा है। इसके अतिरिक्त विनय-धर्म का आराधन करने वाले साधु को उचित है कि यदि कोई छोटा साधु भी उसके पास आवे तो उसके साथ भी वह प्रेमपूर्वक सभ्यता से मृदु भाषण आदि का व्यवहार करता हुआ उसका समुचित आदर करे। क्योंकि विनय के आचरण से आत्मा की शुद्धि, अहङ्कार का नाश और गुणों की प्राप्ति होती है।

अब वैयावृत्य के विषय में कहते हैं—

आयरियमाईए , वेयावच्चम्मि दसविहे ।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ॥३३॥

आचार्यादिके , वैयावृत्ये दशविधे ।
आसेवनं यथास्थामं, वैयावृत्यं तदाख्यातम् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—**आयरियमाईए**—आचार्यादिविषयक **दसविहे**—दश प्रकार के **वेयावच्चम्मि**—वैयावृत्य में **आसेवणं**—सेवा करना **जहाथामं**—यथाशक्ति **वेयावच्चं**—वैयावृत्य तप **तं**—वह **आहियं**—कहा गया है।

मूलार्थ—वैयावृत्य के योग्य आचार्यादि दश स्थानों की यथाशक्ति सेवा-भक्ति करना वैयावृत्य-तप कहलाता है।

टीका—आचार्यादि की उचित आहारादि के द्वारा जो सेवा-भक्ति की जाती है उसको वैयावृत्य-तप कहते हैं। (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (६) शिष्य (७) साधर्मिक (८) कुल (९) गण और (१०) संघ, ये आचार्यादि दश स्थान कहे जाते हैं। इनकी यथा-शक्ति सेवा-शुश्रूषा करना अर्थात् अन्नपानादि से, ज्ञानदानादि से तथा अन्य प्रकार से उचित सत्कार करना वैयावृत्य-तप है। एक गुरु के शिष्यसमुदाय का नाम कुल है और बहुत से कुलों के समूह को गण कहते हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, इनके समुदाय का नाम संघ है।

अब स्वाध्याय-तप के विषय में कहते हैं—

वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पञ्चहा भवे ॥३४॥

वाचना प्रच्छना चैव, तथैव परिवर्तना।
अनुप्रेक्षा धर्मकथा, स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत् ॥३४॥

पदार्थान्वयः—वायणा–वाचना पुच्छणा–प्रश्न करना च–पुनः एव–प्राग्वत् तहेव–उसी प्रकार परियट्टणा–परिवर्तन करना अणुप्पेहा–अनुप्रेक्षा—और धम्म-कहा–धर्मकथा सज्झाओ–स्वाध्याय पंचहा–पाँच प्रकार से भवे–होता है।

मूलार्थ—(१) शास्त्र का वाचना—पढ़ना (२) प्रश्नोत्तर करना (३) पढ़े हुए की अनुवृत्ति करना (४) अर्थ की अनुप्रेक्षा करना—अर्थ पर गम्भीरता से विचार करना—और (५) धर्मोपदेश देना यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय-तप है।

टीका—स्वाध्याय-तप के पाँच भेद हैं जिनका ऊपर निदर्शन किया गया है। शास्त्र के पढ़ने को वाचना कहते हैं। उसमें किसी प्रकार की शंका उत्पन्न होने पर उसके विषय में प्रश्नोत्तर करना, प्रच्छना है। पढ़ा हुआ भूल न जावे तदर्थ उसकी बार २ आवृत्ति करना परिवर्तना है। पढ़े हुए पाठ के अर्थों का गम्भीरता-पूर्वक मनन और चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। स्वकृत कर्मों की निर्जरा के निमित्त तथा संसार में रहने वाले भव्य जीवों को धर्म का लाभ हो इस आशय से धर्म का उपदेश देना धर्मकथा है। इस तप का विशेष वर्णन गत २९वे अध्ययन में आ चुका है।

अब ध्यान के विषय में कहते हैं—

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए ॥३५॥

आर्तरौद्राणि वर्जयित्वा, ध्यायेत् सुसमाहितः।
धर्मशुक्ले ध्याने, ध्यानं तत्तु बुधा वदेयुः ॥३५॥

पदार्थान्वयः—अट्ट–आर्त रुद्दाणि–रौद्र को वज्जित्ता–वर्जकर झाएज्जा–ध्यान करे सुसमाहिए–समाधि से युक्त धम्मसुक्काइं–धर्म और शुक्ल झाणाइं–ध्यानों का तं–उसको तु–पादपूर्ति में झाणं–ध्यान-तप बुहा–बुध लोग वए–कहते हैं।

मूलार्थ—समाधियुक्त मुनि आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करे। इसको विद्वान् लोग ध्यान-तप कहते हैं।

टीका—इस गाथा में ध्यान-तप का वर्णन करते हुए आर्त तथा रौद्र ध्यान का त्याग एवं धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन, यह ध्यान-तप का स्वरूप बतलाया है। ऋत शब्द दुःख का पर्यायवाचक है, अतः जो ऋत—दुःख—में होने वाला हो उसे आर्तध्यान कहते हैं। रुद्र—जीव को रुलाने वाला—जो ध्यान है उसको रौद्र कहते हैं। ये दोनों ही ध्यान त्याज्य हैं। धर्मध्यान उसको कहते हैं कि जिसमें क्षमा आदि दशविध यति-धर्मों का सम्यक्तया आराधन हो। एवं आत्मगत सर्व प्रकार के मिथ्यात्वादि मल को दूर करने अथवा दुःख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्मावरणों का क्षय करने में समर्थ शुक्लध्यान है। शुक्—दुःख, उसको क्लामना देने वाला ध्यान शुक्लध्यान, यह उसकी सामान्य व्युत्पत्ति है। ये दोनों अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यान सदा उपादेय हैं। सारांश यह है कि समाधिशील मुनि को आर्त और रौद्र ध्यान को त्यागकर धर्म और शुक्ल ध्यान का अवलम्बन करना ध्यान-तप कहलाता है। इस विषय की पूर्ण व्याख्या औपपातिक और स्थानांग सूत्र से जान लेनी चाहिए। यहाँ पर द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयुक्त होना प्राकृत के नियम के अनुसार है। क्योंकि उसमें द्विवचन का अभाव है।

अब कायोत्सर्ग के विषय में कहते हैं—

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥३६॥

शयनासनस्थाने वा, यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते।
कायस्य व्युत्सर्गः, षष्ठः स परिकीर्तितः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—सयणासणठाणे वा—शयन, आसन और स्थान में जे—जो भिक्खू—भिक्षु न वावरे—स्थित हुआ चलनात्मक क्रिया न करे कायस्स—काया की चेष्टा का जो विउस्सग्गो—त्याग है सो—वही छट्ठो—छठा—व्युत्सर्गनामक तप परिकित्तिओ—परिकीर्तित—कथन किया—है।

मूलार्थ—सोते, बैठते अथवा खड़े होते समय जो भिक्षु काया के अन्य सब व्यापारों को त्याग देता है—शरीर को हिलाता डुलाता नहीं—उसे कायोत्सर्गनामक तप कहा गया है।

टीका—छठा कायोत्सर्गनामक तप है। काया का व्युत्सर्ग—त्याग—अर्थात् काया की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध जिसमें किया जावे उसे कायव्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग कहते हैं। जिस समय ध्यानारूढ़ हुआ पुरुष शैलवत् स्थिर हो जावे, तथा उसके शरीर की सर्व प्रकार की चेष्टाएँ रुक जावें, तब वह कायव्युत्सर्ग-तप वाला कहा जाता है। अन्य सूत्रों के अनुसार व्युत्सर्ग भी द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। द्रव्यव्युत्सर्ग—गण, देह, उपधि और भक्तपान आदि का त्याग करना। भावव्युत्सर्ग—जिसमें क्रोधादि कषायों का परित्याग हो। परन्तु यहाँ पर तो केवल शरीरव्युत्सर्ग का ही मुख्यतया प्रतिपादन करना इष्ट है। अन्य भेद तो इसी में गर्भित हो जाते हैं। इस तप के अनुष्ठान से ममत्व का त्याग होता है और आत्म-शक्तियों के विकास में अधिक सहायता मिलती है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए इसकी फलश्रुति के विषय में कहते हैं—

एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥३७॥

त्ति बेमि।

इति तवमग्गं समत्तं ॥३०॥

एवं तपस्तु द्विविधं, यत्सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्रं सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥३७॥
इति ब्रवीमि ।

इति तपोमार्ग समाप्तम् ॥३०॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस तरह से तवं–तप दुविहं–दो प्रकार का जे–जो सम्मं–सम्यक् प्रकार से आयरे–आचरण करे मुणी–साधु सो–वह पंडिओ–पंडित खिप्पं–शीघ्र सव्वसंसारा–सर्व संसार से विप्पमुच्चइ–छूट जाता है त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ। यह तपोमार्ग-अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इन दोनों प्रकार के तपों को भली-भाँति समझकर जो मुनि आचरण करता है वह पंडित पुरुष संसार के समस्त बन्धनों से शीघ्र ही छूट जाता है।

टीका—बाह्य और आभ्यन्तर तप का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इस द्विविध तप का जो भिक्षु सम्यक्तया अनुष्ठान करता है वह चतुर्गतिरूप इस संसारचक्र से बहुत ही शीघ्र छूट जाता है। जो स्वबुद्धि से सत् और असत् का विचार करने वाला हो उसे पंडित कहते हैं। इस प्रकार का विज्ञ पुरुष संसार के यथार्थ स्वरूप को और उसमें उपलब्ध होने वाले क्षणस्थायी विनश्वर सुखों को जानकर पूर्वोक्त तपश्चर्या में प्रवृत्त होता हुआ कर्मों की शीघ्र ही निर्जरा कर देता है जिससे संसार के बन्धनों को तोड़कर कैवल्य को प्राप्त करना उसके लिए सुकर हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले की भाँति ही जान लेना, अर्थात् श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् श्री वर्द्धमान स्वामी से श्रवण किया है उसी प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति कह दिया है। इसमे मेरी स्वतंत्र कल्पना कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार यह तपोमार्गनामक तीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

त्रिंशत्तमध्ययनं समाप्तम्

अह चरणविही एगतीसइमं अज्झयणं

अथ चरणविधिनामैकत्रिंशत्तममध्ययनम्



गत तीसवें अध्ययन में तपोमार्ग का वर्णन किया गया है परन्तु तपश्चर्या में वही आत्मा उपयुक्त हो सकती है जो कि चारित्रसम्पन्न हो, अतः इस इकतीसवे अध्ययन में चारित्र का वर्णन किया जाता है। यथा—

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥१॥

चरणविधिं प्रवक्ष्यामि, जीवस्य तु सुखावहम्।
यं चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—चरणविहिं–चारित्रविधि का पवक्खामि–कथन करता हूँ जीवस्स–जीव को सुहावहं–सुख देने वाली जं–जिसको चरित्ता–आचरण करके बहू जीवा–बहुत से जीव तिण्णा–तर गये संसारसागरं–संसारसागर को उ–अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—अब मैं चारित्रविधि को कहता हूँ जो कि जीव को सुख देने वाली है और जिसका आराधन करके बहुत से जीव संसारसागर से पार हो गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय और उसका फल इन दोनों बातों का निर्देश कर दिया है। प्रतिपाद्य विषय तो चारित्रविधि है और फल उसका संसारसमुद्र को पार करना अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है। यथा—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! अब मैं जीव को शुभ फल देने वाली चरणविधि का वर्णन करता हूँ, इससे विषय का निर्देश किया और जिस चारित्रविधि के अनुष्ठान से अनेक भव्य जीव दुस्तर संसारसागर को तर गये यह फलश्रुति बतलाई गई। इन दोनों के प्रथम निर्देश से, श्रोताओं को उसके तत्त्व को समझने में सुगमता का होना तो सुनिश्चित ही है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार प्रस्तावित विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥२॥
एकतो विरतिं कुर्यात्, एकतश्च प्रवर्तनम्।
असंयमान्निवृत्तिं च, संयमे च प्रवर्तनम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—**एगओ**-एक स्थान से **विरइं**-विरति **कुज्जा**-करे **य**-और **एगओ**-एक स्थान में **पवत्तणं**-प्रवृत्ति करे **असंजमे**-असंयम से **नियत्तिं**-निवृत्ति करे **च**-और **संजमे**-संयम मे **पवत्तणं**-प्रवृत्ति करे।

मूलार्थ—एक स्थान से निवृत्ति और एक स्थान में प्रवृत्ति करे। जैसे—असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चरणविधि का स्वरूप बतलाया गया है। यथा—एक ओर से निवृत्त होना और दूसरी ओर प्रवृत्त होना चरणविधि है। इसी बात को गाथा के उत्तरार्द्ध में व्यक्त कर दिया गया है अर्थात् असंयम से निवृत्ति—हिंसादि आस्रवद्वारों का निरोध, और संयम में प्रवृत्ति—अहिंसादि पाँच महाव्रतों का अनुष्ठान—करना चाहिए। यह चरणविधि का सामान्य लक्षण है। तथा प्रस्तुत गाथा के द्वितीय पाद में 'एगओ' यह तस्-प्रत्ययान्त का रूप सप्तमी विभक्ति

के अर्थ में विहित हुआ है और तृतीय पाद में 'असंजमे' यह पंचमी के अर्थ में सप्तमी का रूप है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

रागे दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥३॥

रागद्वेषौ च द्वौ पापौ, पापकर्मप्रवर्तकौ ।
यो भिक्षुः निरुणद्धि नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥३॥

पदार्थान्वयः—**रागे**–राग **य**–और **दोसे**–द्वेष **दो पावे**–दो पाप हैं **पावकम्मपवत्तणे**–पाप कर्म के प्रवर्त्तक हैं **जे**–जो **भिक्खू**–भिक्षु **निच्चं**–नित्य—सदैव **रुंभई**–इनका निरोध करता है **से**–वह **मंडले**–संसार में **न अच्छइ**–नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—पाप कर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष ये दो पाप कर्म हैं । जो भिक्षु इनका सतत निरोध करता है वह संसार में नहीं ठहरता अर्थात् उसका संसारभ्रमण छूट जाता है ।

टीका—राग-द्वेष के वशीभूत हुआ जीव पाप कर्म में प्रवृत्ति करता है । पाप कर्म में प्रवृत्त हुआ जीव ही संसार में परिभ्रमण करने वाला होता है । इसलिए जो भिक्षु राग और द्वेष का त्याग कर देता है वह इस मंडल अर्थात् संसार में परिभ्रमण नहीं करता । तात्पर्य यह है कि उसका जन्म-मरण छूट जाता है । 'मंडल' शब्द की व्याख्या वृद्धपरम्परा से 'संसार' ही चली आती है । 'मंडलग्रहणात् चतुरन्तः संसारः परिगृह्यते' अर्थात् मंडल से चतुर्गतिरूप संसार का ग्रहण किया जाता है । किसी २ प्रति में 'से न गच्छइ मंडले—स न गच्छति मण्डले' ऐसा पाठ भी देखने में आता है ।

अब फिर कहते हैं—

दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं ।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥४॥

दण्डानां गौरवाणां च, शल्यानां च त्रिकं त्रिकम् ।
यो भिक्षुस्त्यजति नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥४॥

पदार्थान्वयः—दंडाणं–दंडों के च–और गारवाणं–गौरवों के, तथा सल्लाणं–शल्यों के तियं तियं–जो तीन २ हैं, उनको जे–जो भिक्खू–साधु चयई–छोड़ता है निच्चं–सदैव से–वह मंडले–संसार में न अच्छइ–नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—तीन दंडों, तीन गर्वों और तीन शल्यों को जो भिक्षु सदैव के लिए त्याग कर देता है वह संसार में नहीं ठहरता ।

टीका—जिसके द्वारा चारित्र असार किया जावे और आत्मा दण्डनीय हो जावे उसको दंड कहते हैं । तात्पर्य यह है कि मन, वाणी और शरीर के अशुभ व्यापार का नाम दंड है । (क) तीन दण्ड—मनदंड, वचनदंड और कायादंड । (ख) तीन गर्व—ऋद्धिगर्व, रसगर्व, और सातागर्व । (ग) तीन शल्य—माया-शल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य । इस प्रकार दंड, गर्व और शल्यों का सर्वदा परित्याग करने वाला साधु इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता अर्थात् जन्म-मरण से रहित हो जाता है ।

उक्त विषय में ही अब फिर कहते हैं—

दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे ।
जे भिक्खू सहइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥५॥

दिव्यांश्च यानुपसर्गान्, तथा तैरश्चमानुषान् ।
यो भिक्षुः सहते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥५॥

पदार्थान्वयः—दिव्वे–देवतासम्बन्धी जे–जो उवसग्गे–उपसर्ग हैं तहा–तथा तेरिच्छमाणुसे–तिर्यक् और मनुष्यों के जे–जो भिक्खू–भिक्षु सहई–सहन करता है निच्चं–नित्य-प्रति से–वह न अच्छइ–नहीं ठहरता मंडले–संसार में ।

मूलार्थ—जो भिक्षु देवतासम्बन्धी तथा पशु और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को नित्य सहन करता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—देवसम्बन्धीउपसर्ग, यथा—हास्य, प्रद्वेष, विमर्श, पृथक् विमात्रा आदि। पशुसम्बन्धी उपसर्ग, यथा—भय, प्रद्वेष, आहारहेतु और आपत्य, वा लपन-संरक्षणरूप। मनुष्यसम्बन्धी उपसर्ग, जैसे—हास्य, प्रद्वेष, विमर्श और कुशील-प्रतिसेवनरूप। उपलक्षण से आत्मसम्बन्धी उपसर्ग भी जान लेना चाहिए। जैसे कि—घट्टन, प्रपतन, स्तंभन और श्लेषण इत्यादि। सारांश यह है कि जो साधु देवता, मनुष्य, पशु और आत्मा सम्बन्धी आकस्मिक उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करता है अर्थात् उनके प्राप्त होने पर धैर्य से च्युत नहीं होता—किसी प्रकार की व्याकुलता को प्राप्त नहीं होता, किन्तु शान्ति और गम्भीरता से उनका स्वागत करता है वह इस संसार के जन्ममरणरूप चक्र से छूट जाता है।

तथा—

विगहाकसायसन्नाणं , झाणाणं च दुयं तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥६॥

विकथाकषायसंज्ञानां , ध्यानानां च द्विकं तथा।
यो भिक्षुर्वर्जयति नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥६॥

पदार्थान्वयः—**विगहा**—विकथा **कसाय**—कषाय और **सन्नाणं**—संज्ञाओं को **तहा**—तथा **झाणाणं**—ध्यानों का **दुयं**—द्विक **जे**—जो **भिक्खू**—भिक्षु **वज्जई**—वर्जता है **निच्चं**—सदैव **से**—वह **मंडले**—संसार में **न अच्छइ**—नहीं ठहरता।

मूलार्थ—चार विकथा, चार कषाय, चार संज्ञा तथा दो ध्यान, इनको जो भिक्षु सदा के लिए त्याग देता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चारित्रविधि के अंगों का निरूपण किया गया है। विरुद्ध या विपरीत कथा को विकथा कहते हैं। स्त्रीकथा, भक्तकथा, देश-कथा और राजकथा, इन चारों की विकथा संज्ञा है। क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों की कषाय संज्ञा है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा, ये चारों संज्ञा कहलाती हैं। संज्ञा नाम [illegible]

योग्य आर्त और रौद्र ये दो ध्यान हैं। सारांश यह है कि जो भिक्षु विकथा, कषाय, संज्ञा और आर्त तथा रौद्र ध्यान का सदैव काल के लिये परित्याग कर देता है उसका संसारभ्रमण छूट जाता है। कारण यह है कि ये विकथादि चारों संसार-वृद्धि के हेतु हैं। इनका परित्याग कर देने से संसार का परिभ्रमण दूर हो जाता है।

अब पुनः कहते हैं—

वएसु इंदियत्थेसु, समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥७॥

व्रतेष्विन्द्रियार्थेषु , समितिषु क्रियासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥७॥

पदार्थान्वयः—वएसु-व्रतों में इंदियत्थेसु-इन्द्रियों के अर्थों में समिईसु-समितियों में य-और किरियासु-क्रियाओं में जे-जो भिक्खू-भिक्षु निच्चं-सदैव जयई-यत्न करता है से-वह मंडले-संसार में न अच्छइ-नहीं ठहरता है।

मूलार्थ—पाँच व्रत और पाँच समितियों के पालन में, तथा पाँच इन्द्रियों के विषय और पाँच पाप क्रियाओं के परित्याग में, जो भिक्षु निरन्तर परिश्रम करता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

टीका—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच व्रत हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये पाँच इन्द्रियार्थ—विषय—हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और परिष्ठापना, ये पाँच समितियाँ हैं। इसी प्रकार—कायिकी, अधिकरणकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी, और प्राणातिपातकी, ये पाँचों पापक्रिया क्रियाएँ हैं। जो साधु इन उक्त पाँच व्रत और पाँच समितियों के सतत सेवन में, तथा शब्दादि पाँच विषय और कायिकी आदि पाँच पाप क्रियाओं के परित्याग में यतनापूर्वक रहता है अर्थात् इनके सेवन और त्याग में सदा उपयुक्त रहता है—सावधान रहता है उसका यह संसारपरिभ्रमण मिट जाता है। यहाँ पर गाथा में जो 'जयई' क्रिया से निष्पन्न यत्न शब्द का अर्थतः उल्लेख किया है उससे यतना रखनी, विवेक रखना, परिश्रम करना और उपयोग रखना आदि

अनेक अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। जो अर्थ जहाँ पर उपयुक्त हो वैसा ही अर्थ वहाँ पर कर लेना चाहिये तथा जिसके साथ जैसा सम्बन्ध उचित और अभीष्ट हो वैसा भी कर लेना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥८॥

लेश्यासु षट्सु कायेषु, षट्के आहारकारणे।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥८॥

पदार्थान्वयः—**लेसासु**–लेश्याओं में **छसु काएसु**–छः कायों में **छक्के**–छः प्रकार के **आहारकारणे**–आहार के कारणों में **जे**–जो **भिक्खू**–भिक्षु **निच्चं**–सदैव **जयई**–यत्न करता है **से**–वह **मंडले**–संसार में **न अच्छइ**–नहीं ठहरता।

मूलार्थ—६ लेश्या, ६ काय और षट् प्रकार के आहारकारणों में जो साधु सदैव यत्न—उपयोग—रखता है वह इस संसार में नहीं ठहरता।

टीका—जीव के अध्यवसायरूप परिणामविशेष को लेश्या कहते हैं। वह लेश्या कृष्ण, नील आदि भेद से छः प्रकार की कही है। यथा—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या, और (६) शुक्ललेश्या। इनमें प्रथम की तीन तो त्याज्य हैं और उत्तर की तीन धारण करने के योग्य हैं। पृथिवी आदि छः प्रकार के काय की रक्षा में प्रयत्न करना चाहिये। (१) पृथिवीकाय (२) जलकाय (३) तेजःकाय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रासकाय, ये षट् काय के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत सूत्र के २६ वें अध्ययन में जो आहार के ६ कारण बतलाये हैं अर्थात् अमुक ६ कारणों से आहार लेना और अमुक ६ कारणों के उपस्थित होने पर आहार न लेना इत्यादि जो आहार के ६ कारण हैं उनमें यत्न—विवेक—रखना। तात्पर्य यह है कि कृष्णादि लेश्याओं, पृथिवी आदि कायों और आहार के कारणों मे हेयोपादेय का विचार करके जो साधु संयम का आराधन करता है वह संसार के आवागमन से छूट जाता है।

जिस समय इस जीव में उत्तर की तीनों लेश्याएँ वर्तेंगी उस समय षट् काय का संरक्षण भी भली भाँति हो सकेगा और शुभ लेश्या तथा कायरक्षा से इस जीव को आहार के ग्रहण और त्याग का बोध भी यथार्थरूप से हो जावेगा, इसलिए उक्त विषय में भिक्षु को यत्नपूर्वक ही व्यवहार करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

पिंडोग्गहपडिमासु , भयट्ठाणेसु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥९॥

पिण्डावग्रहप्रतिमासु , भयस्थानेषु सप्तसु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥९॥

पदार्थान्वयः—पिंडोग्गह—आहार के अवग्रह—ग्रहण—करने के पडिमासु—प्रतिमाओं में सत्तसु—सात भयट्ठाणेसु—भयस्थानों में जे—जो भिक्खू—भिक्षु निच्चं—सदैव जयई—यत्न रखता है से—वह मंडले—संसार में न अच्छइ—नहीं ठहरता।

मूलार्थ—सात पिंडावग्रह-प्रतिमाओं के पालन में और सात भयस्थानों को दूर करने में जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—इस गाथा में सात अंकों से चारित्रविधि का वर्णन किया गया है। पिंड नाम आहार का है। उसके ग्रहण करने की सात प्रतिमा अर्थात् प्रतिज्ञाएँ हैं। यथा—(१) संसृष्ट (२) असंसृष्ट (३) उद्धृत (४) अल्पस्पर्श (५) विकाररहित (६) उपगृहीत, प्रगृहीत और (७) उज्झित। तात्पर्य यह है कि इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार जो आहार की गवेषणा करता है तथा भय के सात स्थानों को दूर करने में जो सावधान रहता है वह साधु जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। (१) इहलोकभय (२) परलोकभय (३) धननाशभय (४) अकस्मात्-भय (५) आजीविकाभय (६) अपयशभय और (७) मृत्युभय, ये सात भयस्थान कहे जाते हैं। तथा, स्वजाति का भय अर्थात् मनुष्य से मनुष्य को भय, पशु से पशु को भय इत्यादि इहलोक भय है। परलोकभय—भिन्न जाति से भिन्न जाति को भय, जैसे कि

मनुष्य को पशु का और पशु को मनुष्य का भय होना । इसका तात्पर्य यह है कि संयमशील भिक्षु को सर्वथा निर्भय होना चाहिए अर्थात् वह न तो किसी से भय खावे और न किसी को भय देवे इत्यादि ।

अब फिर कहते हैं—

मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मंमि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१०॥

मदेषु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु, भिक्षुधर्मे दशविधे ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१०॥

पदार्थान्वयः—**मएसु**—मदस्थानों में **बंभगुत्तीसु**—ब्रह्मचर्य की गुप्तियों में **दसविहे**—दश प्रकार के **भिक्खुधम्मंमि**—यतिधर्म में **जे भिक्खू**—जो भिक्षु **निच्चं**—सदैव **जयई**—यत्न करता है **से न अच्छइ मंडले**—वह संसार में नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—आठ मद के स्थानों के त्याग में, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों के पालन में तथा दस प्रकार के यतिधर्म के आराधन में, जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ८, ९ और १० के अंक से चारित्रविधि की रचना की गई है । (क) आठ मदस्थान—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) रूपमद (४) बलमद (५) लाभमद (६) श्रुतमद (७) ऐश्वर्यमद और (८) तपोमद, ये आठ मद के स्थान कहे जाते हैं । (ख) नव ब्रह्मचर्यगुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले नियमविशेष को गुप्ति कहा जाता है । उसके नौ भेद हैं—(१) स्त्री, पशु और नपुंसक रहित स्थान में निवास करना (२) स्त्रियों की कथा न करनी (३) स्त्री के साथ न बैठना, अथवा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हुई थी कुछ समय तक उस स्थान में न बैठना (४) स्त्री की इन्द्रियों को न देखना (५) भित्ति आदि के अन्तर से स्त्री के शब्दों को सुनने का प्रयत्न न करना (६) पूर्वानुभूत विषयों को स्मृति में न लाना (७) स्निग्ध आहार न करना (८) प्रमाण से अधिक न खाना और (९) शरीर को विभूषित न करना, ये नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ

अर्थात् ब्रह्मचर्यरूप खेती को सुरक्षित रखने के लिए बाड़ के समान हैं। (ग) दश प्रकार का यतिधर्म—(१) क्षमा (२) मुक्ति (३) आर्जव (४) मार्दव (५) लाघव (६) सत्य (७) संयम (८) तपकर्म (९) त्याग—दान, और (१०) ब्रह्मचर्य, ये दस भेद भिक्षुधर्म के हैं। सारांश यह है कि आठ प्रकार के मदस्थानों के त्याग, ब्रह्मचर्यसम्बन्धी नव गुप्तियों के पालन तथा दस प्रकार के यतिधर्म के अनुष्ठान में जो भिक्षु सदा उपयुक्त रहता है वह इस संसार से मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्मबन्धनों को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

अब फिर कहते हैं—

उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥११॥

उपासकानां प्रतिमासु, भिक्षूणां प्रतिमासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥११॥

पदार्थान्वयः—**उवासगाणं**–उपासकों की **पडिमासु**–प्रतिमाओं में **य**–फिर **भिक्खूणं**–भिक्षुओं की **पडिमासु**–प्रतिमाओं में **जे भिक्खू**–जो भिक्षु **जयई**–यत्न करता है **से न अच्छइ मंडले**–वह संसार में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—श्रावकों की ग्यारह और भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं के विषय में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चारित्र के विशोधक श्रावक की ११ प्रतिमाओं तथा भिक्षु की १२ प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है। प्रतिमा, प्रतिज्ञाविशेष का नाम है। मुनियों की सेवा करने वालों को उपासक कहते हैं। उपासक की ११ प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं—(१) सम्यक्त्व का पालन करना (२) व्रतों का धारण करना (३) काल में प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ करना (४) तिथियों में पौषध करना (५) रात्रि में कायोत्सर्ग करना तथा स्नान आदि का परित्याग करना और धोती आदि की लांग न बाँधना (६) ब्रह्मचर्य का धारण करना (७) सचित्ताहार का

त्याग करना (८) स्वयं आरम्भ न करना (९) दूसरों से आरम्भ न कराना (१०) उद्दिष्ट आहार का त्याग करना और (११) श्रमणवत् आचरण करना[1] इन सब प्रतिमाओं—प्रतिज्ञाओं—का सविस्तर वर्णन दशाश्रुत-स्कन्ध में किया गया है[2]। भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ इस प्रकार से हैं—एक मास से लेकर सात मास तक सात प्रतिमाएँ होती हैं । [एक मास की एक प्रतिमा, ऐसे सात मास पर्यन्त सात प्रतिमाएँ हुईं]। तथा आठवीं, नवमीं और दसमीं, ये तीन प्रतिमाएँ सात सात अहोरात्र की हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्र की, और बारहवीं केवल एक रात्रि की होती है [तथा—मासादयः सप्तान्ताः, प्रथमा द्वितीया तृतीया सप्तरात्रिदिनाः, अहोरात्रिकी एकरात्रिकी, एवं भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकम्]। इनकी सविस्तर व्याख्या दशाश्रुतस्कंधसूत्र की सातवीं दशा में की गई है। अधिक जानने की इच्छा रखने वाले वहाँ पर देखें।

अब फिर कहते हैं—

किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१२॥

क्रियासु भूतग्रामेषु, परमाधार्मिकेषु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१२॥

पदार्थान्वयः—किरियासु–क्रियाओं में भूयगामेसु–भूतग्रामों में य–और परमाहम्मिएसु–परमाधार्मिकों में जे–जो भिक्खू–साधु निच्चं–सदैव जयई–यत्न करता है से न अच्छइ मंडले–वह संसार में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—तेरह प्रकार के क्रियास्थानों में, चौदह प्रकार के भूतसमुदायों में और पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु सदैव यत—विवेक—रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

---

१ दर्शन व्रतानि सामायिकं पौषधं प्रतिमा अब्रह्मचर्यसचित्तमारम्भ प्रेष्य उद्दिष्टवर्जक श्रमणभूतश्चेति।

२ देखो, उक्त सूत्र की छठी और सातवीं दशा।

टीका—(१) अर्थदंड (२) अनर्थदंड (३) हिंसादंड (४) अकस्मात्-दंड (५) दृष्टिविपर्यास (६) मृषावाद (७) अदत्तादान (८) अध्यात्मवर्तिकी (९) मान (१०) मित्रद्वेषप्रत्ययिकी (११) माया (१२) लोभ और (१३) ईर्यापथिकी, ये १३ क्रियास्थान कहलाते हैं। इनके द्वारा कर्मों का वन्ध होता है, परन्तु प्रथम और वारहवें क्रियास्थान से संसार की वृद्धि होती है तथा तेरहवें क्रियास्थान के सेवन से केवल-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जो प्रथम थे, अव हैं और आगे को होंगे, उनको भूत कहते हैं। उनका समुदाय भूतग्राम कहलाता है। उसके १४ भेद हैं। यथा—(१) सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त (२) सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्त (३) वादर-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त (४) वादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्त (५) द्वीन्द्रिय-अपर्याप्त (६) द्वीन्द्रिय-पर्याप्त (७) त्रीन्द्रिय-अपर्याप्त (८) त्रीन्द्रिय-पर्याप्त (९) चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्त (१०) चतुरिन्द्रिय-पर्याप्त (११) असंज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अपर्याप्त (१२) असंज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त (१३) संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अपर्याप्त और (१४) संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त। इन सव प्रकार के प्राणियों की रक्षा करने में यत्न करना चाहिए। इसी प्रकार नरक के अधिवासी परमाधार्मिकदेव हैं। उनके १५ भेद इस प्रकार हैं—(१) आम्र (२) आम्ररस (३) शाम (४) सवल (५) रौद्र (६) वैरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनुष (११) कुंभ (१२) वालुक (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष, ये १५ प्रकार के असुरकुमार देवविशेष हैं जो कि नारकी जीवों को नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित करते हैं। इनके विषय में जो भिक्षु सदा सचेत रहता है तथा पूर्वोक्त क्रियाओं और भूतसमुदाय के सम्वन्ध में जो पूर्ण विवेक रखता है, उसका संसारभ्रमण दूर हो जाता है यह इस गाथा का तात्पर्य है।

अव फिर इसी विषय मे कहते हैं—

गाहासोलसएहिं , तहा असंजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१३॥

गाथाषोडशकेषु , तथाऽसंयमे च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१३॥

पदार्थान्वयः—**गाहा**—गाथानामक **सोलसएहिं**—सोलहवें अध्ययन में **तहा**—उसी प्रकार **असंजमम्मि**—असंयम में **जे भिक्खू**—जो भिक्षु **निच्चं**—सदैव **जयई**—यत्न रखता है **से न अच्छइ**—वह नहीं ठहरता **मंडले**—संसार में।

मूलार्थ—गाथानामक सोलहवें अध्ययन में तथा असंयम में जो भिक्षु यत्न रखता है वह इस संसार में नहीं ठहरता अर्थात् उसका संसारभ्रमण मिट जाता है।

टीका—जो गाई जावे तथा जिसमें स्व और पर समय के स्वरूप को शब्दों के द्वारा गाया जावे उसको गाथा कहते हैं। सूयगड़ांग-सूत्र के प्रथम स्कन्ध के सोलहवें अध्ययन को भी गाथा-अध्ययन कहते हैं तथा भीमसेनन्याय से गाथा-अध्ययन को गाथा भी कहा जाता है। उपचार से १६ अध्ययनों की ही गाथा संज्ञा प्रसिद्ध हो गई। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) स्वसमय पर-समय (२) वैदारिक (३) उपसर्ग-परिज्ञा (४) स्त्री-परिज्ञा (५) नरक-विभक्ति (६) वीरस्तुति (७) कुशील-परिभाषा (८) वीर्याध्ययन (९) धर्मध्यान (१०) समाधि (११) मोक्षमार्ग (१२) समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) यमदीयं और (१६) गाथा। संजम के १७ भेद हैं, उसके विपरीत असंयम भी १७ प्रकार का है। संयम के १७ भेद इस प्रकार हैं—(१) पृथिवीकाय-संयम (२) अप्काय-संयम (३) वायुकाय-संयम (४) तेजस्काय-संयम (५) वनस्पतिकाय-संयम (६) द्वीन्द्रिय-संयम (७) त्रीन्द्रिय-संयम (८) चतुरिन्द्रिय-संयम (९) पंचेन्द्रिय-संयम (१०) अजीवकाय-संयम (११) प्रेक्षा-संयम (१२) उत्प्रेक्षा-संयम (१३) अपहृत-संयम (१४) प्रमार्जना-संयम (१५) मन-संयम (१६) वचन-संयम और (१७) काय-संयम। इनके विरुद्ध पृथिवीकाय-असंयम, अप्काय-असंयम इत्यादि प्रकार से असंयम के १७ भेद हैं। तात्पर्य यह है कि सूयगडांग-सूत्र के १६ अध्ययनों के निरन्तर अभ्यास करने में और १७ प्रकार के असंयमों—असंयमस्थानों—से निवृत्त होने मे जो साधु सदा उपयोग रखता है उसका इस संसार मे आवागमन मिट जाता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

बंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१४॥
ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु, स्थानेषु असमाधेः।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१४॥

पदार्थान्वयः—बंभम्मि—ब्रह्मचर्य के १८ भेदों में नायज्झयणेसु—ज्ञाता-सूत्र के १९ अध्ययनों में असमाहिए—असमाधि के ठाणेसु—२० स्थानों में जे भिक्खू—जो भिक्षु निच्चं—सदैव जयई—यतना रखता है से—वह न अच्छइ—नहीं ठहरता मंडले—संसार में।

मूलार्थ—जो भिक्षु १८ ब्रह्मचर्य के भेदों में, १९ ज्ञाता-अध्ययनों में और बीस असमाधि-स्थानों में सदैव यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—अब्रह्म—मैथुन—से निवृत्त होना ब्रह्मचर्य है। उसके अठारह भेद इस प्रकार हैं। यथा—नौ प्रकार के औदारिकशरीरसम्बन्धिमैथुनत्याग और नौ प्रकार के देवशरीरसम्बन्धिमैथुनत्याग, इस प्रकार मिलकर दोनों के १८ भेद होते हैं। औदारिकसम्बन्धी नौ भेद इस रीति से होते हैं—तीन मन के, तीन वचन के और तीन काया के, ये नौ भेद हुए। मन से यथा—(१) मैथुन का सेवन करूँगा नहीं (२) किसी से कराऊँगा नहीं और (३) सेवन करने वालों की अनुमोदना नहीं करूँगा। इसी प्रकार वचन और काया के विषय में जान लेना। इसी तरह नौ भेद देवसम्बन्धिवैक्रियमैथुन के हैं। ज्ञाता-सूत्र के १९ अध्ययनों के नाम निम्नलिखित हैं—(१) मेघकुमार (२) संघाटक (३) मयूरी-अंडक (४) कूर्म (५) शैलर्षि (६) तुम्बक (७) रोहिणी (८) मल्ली (९) माकंदीपुत्र (१०) चन्द्रमा (११) दावद्रक (१२) उदकशुद्धि (१३) मंडुक (१४) तेतली-अमात्य (१५) नन्दीफल (१६) अमरकंका (१७) आकीर्ण (१८) सुसमादारिका और (१९) पुंडरीक, कुंडरीक। आत्मा को असमाहित करने वाले २० असमाधि-स्थान इस भाँति हैं—(१) शीघ्र चलना (२) विना प्रमार्जन किये चलना (३) दुष्प्रमार्जन करके चलना (४)

प्रमाण से अधिक शयनासन रखना (५) रत्नाधिक के सन्मुख बोलना (६) स्थविरों के घात के भाव उत्पन्न करना (७) जीवों के घात करने के भाव उत्पन्न करना (८) प्रतिक्षण क्रोध करना (९) क्रोध करना (१०) पिशुनता करनी (११) पुनः पुनः निश्चयात्मक वाणी बोलनी (१२) नूतनक्लेश उत्पन्न करना (१३) शान्त हुए क्लेश को फिर से जगा देना (१४) सचित्त रज से हाथ पैर भरे हुए होने पर भी शय्यादि पर यत्न से न बैठना (१५) अकाल में स्वाध्याय करना (१६) शब्द करना (१७) क्लेश करना (१८) झंझा शब्द करना (१९) सूर्यास्त तक भोजन करते रहना और (२०) एषणासमिति से असमित रहना । सारांश यह है कि १८ प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करने तथा ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययनों का पाठ करने और बीस प्रकार के असमाधि-स्थानों के टालने में जो भिक्षु यत्न करता है वह संसारचक्र से पार हो जाता है ।

अब फिर कहते हैं—

एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१५॥

एकविंशतिशबलेषु , द्वाविंशतिपरिषहेषु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१५॥

पदार्थान्वयः—एगवीसाए-इक्कीस सबले-शबलों—दोषों—में बावीसाए-बाईस परीसहे-परिषहों में जे-जो भिक्खू-भिक्षु निच्चं-निरन्तर जयई-यत्न करता है से न अच्छइ मंडले-वह संसार में नहीं ठहरता ।

मूलार्थ—ईक्कीस प्रकार के शबलों—दोषों—में और बाईस प्रकार के परिषहों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है अर्थात् दोषों के त्यागने और परिषहों के सहन करने में सदैव उद्यत रहता है वह इस संसार में भ्रमण नहीं करता ।

टीका—शास्त्रकार ने २१ शबल-दोष प्रतिपादन किये हैं । चारित्र को अतिचारों के द्वारा कर्बुर करने वाले दोषों को 'शबल' कहते हैं । वे सब क्रियाविशेष

ही हैं। तथा प्राकृत में तालव्य के स्थान पर दंती सकार हो जाता है और यहाँ पर दंती सकार मानकर 'सवल' का वलवान् अर्थ भी हो जाता है अर्थात् २१ प्रकार के वलवान् दोषों के साथ जो क्रियास्थान वर्णन किये गये हैं उनको सदा के लिए त्याग देना चाहिए। वे २१ दोष निम्नलिखित हैं। यथा—(१) हस्तकर्म करना (२) मैथुन का सेवन करना (३) रात्रि का भोजन करना (४) आधाकर्मी आहार करना (५) राजपिंड लेना (६) मोल लिया हुआ आहार करना (७) उधार लिया हुआ आहार लेना (८) उपाश्रय में लाया हुआ आहार लेना (९) निर्वल से छीना हुआ आहार लेना (१०) प्रत्याख्यान करके पुनः पुनः तोड देना (११) छः मास के अन्दर गण से गण संक्रमण करना (१२) मास के अभ्यन्तर तीन पानी के लेप और तीन माया के स्थान का सेवन करे (१३) जानकर हिंसा करना (१४) जानकर असत्य वोलना (१५) जानकर अदत्तादान का सेवन करना (१६) जानकर सचित्त मृत्तिकादि पर वैठना (१७) जानकर सचित्त रज वा शिला पर तथा घुण वाले काष्ठ पर वैठना (१८) जानवूझकर वीज, कीडी आदि के अंडों और जाला लगे हुए स्थान पर वैठना (१९) जानकर कंद, मूल, फल, पुष्प, वीज और हरि आदि का भोजन करना (२०) एक वर्ष के भीतर दस पानी के लेप और दस माया के स्थानों का सेवन करना और (२१) शीत जल से हाथ गीले करना अथवा भाजन तथा दर्वी आदि से भोजन लेकर खाना। भिक्षु को इन २१ प्रकार के शवल दोषों का त्याग कर देना चाहिये। कारण यह है कि इनसे चारित्र में मलिनता आ जाती है। २२ प्रकार के परिषहों—जिनका वर्णन प्रस्तुत सूत्र के दूसरे अध्ययन मे आ चुका है—को भी शांतिपूर्वक सहन करना चाहिए। सारांश यह है कि जो साधु उक्त २१ प्रकार के शवल—दोषों—को दूर करने और २२ प्रकार के परिषहों को सहन करने मे उपयुक्त—उपयोगसहित—होता है वह इस संसार मे परिभ्रमण नहीं करता अर्थात् संसार के वन्धनों से मुक्त हो जाता है

अव फिर इसी विषय मे कहते हैं—

तेवीसईसूयगडेसु , रूवाहिएसु सुरेसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१६॥

त्रयोविंशतिसूत्रकृतेषु , रूपाधिकेषु सुरेषु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१६॥

पदार्थान्वयः—तेवीसईसूयगडेसु-२३ सूत्रकृत सूत्र के अध्ययनों में रूवाहिएसु-रूपाधिक सुरेसु-सुरों में य-और जे-जो भिक्खू-साधु निच्चं-सदैव जयई-यत्न करता है से न अच्छइ मंडले-वह इस संसार में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययनों के स्वाध्याय में और २४ प्रकार के देवों के विषय में जो भिक्षु सदा यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—सूत्रकृतांग के १६ अध्ययनों का नाम तो पीछे कथन कर दिया गया है और अवशिष्ट सात अध्ययनों—जो कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आते हैं—का नामनिर्देश इस प्रकार से है। यथा—(१) पुंडरीक (२) क्रियास्थान (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यान (५) अनगार (६) आर्द्रकुमार और (७) नालंदीय, ये कुल मिलाकर २३ होते हैं। २४ प्रकार के देव इस प्रकार हैं—दस जाति के भवनपति, आठ जाति के व्यन्तर, पाँच जाति के ज्योतिषी और एक जाति के वैमानिक। अथवा २४ रूपाधिक-देव अर्थात् ऋषभादि २४ देवाधिदेव—तीर्थंकर—हैं। तात्पर्य यह है कि जो भिक्षु सूत्रकृतांग के २३ अध्ययनों का स्वाध्याय करता है और २४ रूपाधिक देवों अर्थात् तीर्थंकरों की सम्यक्तया आराधना करता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

अब पुनः इसी विषय में कहते हैं—

पणवीसभावणासु , उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१७॥

पञ्चविंशतिभावनासु , उद्देशेषु दशादीनाम्।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१७॥

पदार्थान्वयः—पणवीस-पच्चीस भावणासु-भावनाओं में दसाइणं-दशादि के उद्देसेसु-उद्देशों में जे-जो भिक्खू-साधु निच्चं-सदैव जयई-यत्न करता है से-वह न अच्छइ-नहीं ठहरता मंडले-संसार मे।

मूलार्थ—जो भिक्षु पच्चीस प्रकार की भावनाओं में तथा दशाश्रुत, व्यवहार और बृहत्कल्प के २६ उद्देशों में यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—शास्त्रकारों ने पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ कही हैं। ये संसाररूप समुद्र से पार होने के लिए होड़ियों के समान हैं। एक २ महाव्रत की पाँच २ भावनाएँ हैं। प्रथम महाव्रत—(१) ईर्यासमिति-भावना (२) मनःसमिति-भावना (३) वचनसमिति-भावना (४) कायसमिति-भावना और (५) एषणासमिति-भावना। द्वितीय महाव्रत—(१) विना विचारे नहीं बोलना (२) क्रोध से नहीं बोलना (३) लोभ से नहीं बोलना और (५) हास्य से नहीं बोलना। तृतीय महाव्रत—(१) निर्दोष वसती का सेवन करना (२) तृणादि के ग्रहण करने की आज्ञा लेना (३) आज्ञा लेकर आहारादि करना (४) सम विभाग करना और (५) तपस्वी आदि की सेवा करना। चतुर्थ महाव्रत—(१) स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित स्थान का सेवन करना (२) स्त्रीकथा का त्याग करना (३) स्त्री के अंगोपांगों को नहीं देखना (४) विषयों का स्मरण न करना और (५) अतीत आहार का सेवन न करना। पंचम महाव्रत—(१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस और (५) गन्ध, इन पाँचों में आसक्त न होना। इस प्रकार से पाँच महाव्रतों की ये २५ भावनाएँ हैं। एवं दशाश्रुतस्कन्धसूत्र के १० और व्यवहारसूत्र के भी १० उद्देश हैं, किन्तु बृहत्कल्पसूत्र के ६ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर सब २६ हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो साधु उक्त २५ भावनाओं की भावना में और उक्त सूत्रों के २६ उद्देशों का स्वाध्याय करने में निरन्तर यत्न रखता है वह इस संसारचक्र से छूट जाता है। उक्त उद्देशों में उत्सर्ग, अपवाद और विधिवाद का बहुत ही विस्तृत वर्णन किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अणगारगुणेहिं च, पगप्पंमि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१८॥

अनगारगुणेषु च, प्रकल्पे तथैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥१८॥

पदार्थान्वयः—**अणगारगुणेहिं**—अनगार के गुणों में **च**—और **तहेव**—उसी प्रकार **पगप्पंमि**—आचार-प्रकल्प में **जे**—जो **भिक्खू**—साधु **निच्चं**—सदैव **जयई**—यत्न करता है **से न अच्छइ मंडले**—वह संसार में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—साधु के गुणों में और आचार के प्रकल्पों में जो साधु निरन्तर उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—अनगार साधु के २७ गुण कहे जाते हैं और आचार-प्रकल्प के २८ भेद हैं। जो साधु इनके विषय में सदा सावधान रहता है उसका संसार-भ्रमण छूट जाता है अर्थात् वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। साधु के २७ गुण निम्नलिखित हैं—(५) पाँच महाव्रतों का पालन करना (१०) पाँच इन्द्रियों का निग्रह करना (१४) चार कषायों को जीतना (१५) भावसत्य (१६) करणसत्य (१७) योगसत्य (१८) क्षमा (१९) वैराग्यभाव (२०) मनःसमाधि (२१) वचनसमाधि (२२) कायसमाधि (२३) ज्ञान (२४) दर्शन (२५) चारित्र (२६) वेदना-सहिष्णुता और (२७) मरणांतिक कष्ट का सहारना। प्रकल्प नाम प्रायश्चित्त का है। प्रकल्प—प्रकृष्ट कल्प—यतिव्यवहार—का जिसमें प्रतिपादन किया हो वह शास्त्र आचार-प्रकल्प के नाम से प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि २८ अध्ययनरूप आचारांगसूत्र को प्रकृत में आचार-प्रकल्प कहा है। उन २८ अध्ययनों का नामनिर्देश इस प्रकार है। यथा—(१) शास्त्र-परिज्ञा (२) लोकविजय (३) शीतोष्णीय (४) सम्यक्त्व (५) आवंति (६) ध्रुव (७) विमोह (८) उपधानश्रुत (९) महापरिज्ञा (१०) पिंडेषणा (११) शय्या (१२) ईर्या (१३) भाषा (१५) वस्त्रेपणा (१५) पात्रेषणा (१६) अवग्रहप्रतिमा (१६+७=२३) सप्तशतिका (२४) भावना (२५) विमुक्ति (२६) उपघात (२७) अनुपघात (२८) आरोपणा, यह २८ प्रकार से आचार-प्रकल्प कहा गया है। इसके अतिरिक्त समवायांगसूत्र में २८ प्रकार का आचार-प्रकल्प इस प्रकार से वर्णन किया है। यथा—(१) एक मास का प्रायश्चित्त

(२) एक मास पाँच दिन का प्रायश्चित्त (३) एक मास दस दिन का प्रायश्चित्त। इसी प्रकार पाँच २ दिन बढ़ाते हुए पाँच मास तक कहना चाहिए। इस प्रकार २५ हुए। (२६) उपघातक-अनुपघातक (२७) आरोपण और (२८) कृत्स्न-सम्पूर्ण, अकृत्स्न-असम्पूर्ण। इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन निशीथसूत्र के बीसवें उद्देश से जानना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

पावसुयपसंगेसु , मोहठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१९॥

पापश्रुतप्रसंगेषु , मोहस्थानेषु चैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं , स न तिष्ठति मण्डले ॥१९॥

पदार्थान्वयः—पावसुयपसंगेसु-पापश्रुत के प्रसंग में य-और मोहठाणेसु-मोह के स्थानों में एव-निश्चय ही च-पुनः जे भिक्खू जयई निच्चं-जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है से न अच्छइ मंडले-वह नहीं ठहरता संसार में।

मूलार्थ—जो भिक्षु पापश्रुत के प्रसंगों में और मोह के स्थानों में सदा उपयोग रखता है अर्थात् इनको दूर करने का सदैव यत्न करता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—शास्त्रकारों ने २९ प्रकार का पाप-श्रुत बतलाया है। जिसके अभ्यास से जीव की पाप-कर्म में रुचि उत्पन्न हो जावे उसे पाप-श्रुत कहते हैं। यथा—(१) भूकम्पशास्त्र, (२) उत्पातशास्त्र (३) स्वप्नशास्त्र (४) अन्तरिक्ष-शास्त्र (५) अंगस्फुरणशास्त्र (६) स्वरशास्त्र (७) व्यंजन, तिल, मसा आदि चिह्न-शास्त्र (८) लक्षणशास्त्र, ये सब आठ ही सूत्ररूप, आठ ही वृत्तिरूप और आठ ही वार्तिकरूप, इस प्रकार २४ होते हैं। (२५) विकथानुयोग (२६) विद्यानुयोग (२७) मंत्रानुयोग (२८) योगानुयोग और (२९) अन्य-तीर्थ प्रवृत्ति-अनुयोग। मोह-कर्म के तीस स्थान इस प्रकार से हैं। यथा—(१) त्रस्त जीव को पानी में डुबोकर मारना (२) हस्त आदि से मुख बाँधकर मारना

(३) सिर पर चर्म आदि बाँधकर मारना (४) शस्त्रादि से मस्तक का छेदन करना (५) जो पुरुष द्वीप के समान सब का रक्षक है उसको मारना (६) साधारण अन्न-पानी से रोगी की सेवा न करना (७) किसी को धर्म से भ्रष्ट करना (८) न्याययुक्त मार्ग का नाश करना (९) जिनेन्द्र, आचार्य और उपाध्याय आदि की अवगणना करना (१०) अनन्त ज्ञानियों की उपासना का त्याग करना (११) पुनः पुनः क्लेश उत्पन्न करना (१२) तीर्थ का भेद करना (१३) अधर्म में पुनः पुनः प्रवृत्ति करना (१४) विषय-विकारों का त्याग करके फिर उनकी इच्छा करना अर्थात् इहलोक तथा परलोक के कामभोगों की इच्छा करना (१५) अपने आपको बहुश्रुत मानना (१६) तपस्वी न होने पर अपने आपको तपस्वी सिद्ध करना (१७) अग्नि के धूम से जीवों को मारना (१८) स्वयं पाप करके उसको दूसरे के सिर लगाना (१९) छल आदि क्रियाएँ विशेषरूप से करनीं (२०) सर्व प्रकार से असत्य बोलना (२१) सदा क्लेश करते रहना (२२) मार्ग में लोगों को लूटना (२३) विश्वास देकर दूसरे की स्त्री से कुकर्म करना (२४) आबाल ब्रह्मचारी न होने पर आबाल ब्रह्मचारी कहलाना (२५) अब्रह्मचारी होने पर ब्रह्मचारी कहलाना (२६) अपने को अनाथ से सनाथ बनाने वाले स्वामी के ही धन का नाश करना (२७) स्वामी के प्रभाव में अन्तराय डालना (२८) सेनापति, शासक, राष्ट्रपति और ग्रामनायक आदि का विनाश करना (२९) देवता के पास न आने पर भी ऐसा कहना कि मेरे पास देवता आता है (३०) देवता का अवर्णवाद बोलना इत्यादि मोहनीय के स्थान हैं। इनके द्वारा यह जीव अनेक प्रकार के विकट कर्मों का बन्ध करता है। सारांश यह है कि जो भिक्षु उक्त २९ प्रकार के पापश्रुत-प्रसंग में और तीस प्रकार के मोहस्थान में पूर्णतया विवेक से काम लेता है अर्थात् इनके परिहार में सदा उद्यत रहता है उसका इस संसार में परिभ्रमण नहीं होता। पापश्रुत के द्वारा पापकर्म के उपार्जन करने की अधिक सम्भावना रहती है और मोहनीय कर्म के प्रभाव से निर्दयता और कृतघ्नता आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनके त्याग मे उद्यत रहना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सिद्धाइगुणजोगेसु , तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥२०॥

सिद्धादिगुणयोगेषु , त्रयस्त्रिंशदाशातनासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं , स न तिष्ठति मण्डले ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सिद्धाइ–सिद्ध के आदि समय में जो गुण–गुण हैं तथा सिद्धों के अतिशयरूप गुण, वा जोगेसु–योगसंग्रहों में य–और तेत्तीस–तेतीस आसायणासु–आशातनाओं में जे भिक्खू–जो साधु निच्चं–सदैव जयई–यत्न करता है से–वह न अच्छइ मंडले–नहीं ठहरता संसार में।

मूलार्थ—सिद्धों के अतिशयरूप गुणों में, योगसंग्रहों में तथा ३३ प्रकार की आशातनाओं में, जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सिद्धों के अतिशय गुणों, योगसंग्रहों और आशातनाओं के विपय का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस समय इस आत्मा को सिद्धपद की प्राप्ति होती है उस समय प्रथम समय में ही उनके ३१ गुण प्रकट होते हैं जो कि सिद्धों के अतिशय गुण कहे जाते हैं। वे ३१ गुण इस प्रकार हैं। यथा—(१) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय की पाँच प्रकृतियाँ (२) दर्शनावरणीय कर्म के क्षय की नौ प्रकृतियाँ (३) वेदनीय कर्म के क्षय की दो प्रकृतियाँ (४) दो प्रकृतियाँ मोहनीय कर्म के क्षय की (५) आयुष्य कर्म के क्षय की चार प्रकृतियाँ (६) दो प्रकृतियाँ नामकर्म के क्षय की (७) दो प्रकृतियाँ गोत्रकर्म के क्षय की और (८) पाँच प्रकृतियाँ अन्तरायकर्म की। इस प्रकार आठों कर्मों की प्रकृतियों का क्षय करने से प्रकट होने वाले व्यवहारपक्ष मे ३१ गुण सिद्धों के कहे जाते हैं। इनके मनन करने में उद्योग करना चाहिए और उसी प्रकार से उक्त कर्म-प्रकृतियों का क्षय करके सिद्धों के गुणों को प्राप्त करने में प्रयत्न करना चाहिए तथा शुभ मन, वचन और काय के व्यापाररूप जो योग हैं उनके संग्रह करने में यत्न रखना चाहिए। योगसंग्रह के निम्नलिखित रीति से ३२ भेद हैं। यथा—(१)

आलोचना करना (२) आलोचना का प्रकाश न करना (३) आपत्ति के समय धर्म में दृढ़ता रखना (४) आशारहित तप करना (५) शिक्षा ग्रहण करना (६) शरीर के शृंगार का परित्याग करना (७) अज्ञात कुल की गोचरी करना (८) लोभ न करना (९) तितिक्षा धारण करना (१०) आर्जव भाव रखना (११) शुचि रहना—व्रतों में दोष न लगाना (१२) सम्यग्दृष्टि बनना (१३) समाधियुक्त होना (१४) आचार का संग्रह करना (१५) विनययुक्त होना (१६) धृतियुक्त होना (१७) संवेग धारण करना (१८) प्रणिधिवान् होना (१९) सुन्दर अनुष्ठान का पालन करना (२०) आश्रव का निरोध करना (२१) आत्मा के दोषों का परिहार करना (२२) सर्व प्रकार के काम-भोगों से विरक्त होना (२३) प्रत्याख्यान करना (२४) कायोत्सर्ग करना (२५) प्रमाद न करना (२६) नियत समय पर क्रियानुष्ठान करना (२७) ध्यान करना (२८) संवर में योगों को लगाना (२९) मरणान्तिक कष्ट का सहन करना (३०) स्वजनादि के संग का परित्याग करना (३१) दोष लगने पर प्रायश्चित्त का ग्रहण करना और (३२) अन्त समय में आराधक होने का संकल्प धारण करना । तात्पर्य यह है कि इन पूर्वोक्त योगसंग्रहों के संचित करने में प्रयत्नशील होना चाहिए । तथा प्रतिक्रमणसूत्र और समवायांगसूत्र में ३३ प्रकार की आशातनाओं का वर्णन किया गया है, उनके परित्याग में उद्यत रहने का प्रयत्न करना चाहिए । कारण यह है कि आशातना करने से आत्मगुणों का विनाश होता है । वे ३३ प्रकार की आशातनाएँ इस प्रकार हैं—(१) गुरु के आगे चलना (२) गुरु के बराबर चलना (३) गुरु के पीछे अविनय से चलना (४) इसी प्रकार तीन आशातनाएँ खड़े होने और तीन बैठने में हैं । ये कुल ९ आशातनाएँ हुईं । (१०) यदि एक पात्र में जल लेकर गुरु और शिष्य कहीं बाहर गये हुए हों तो गुरु से प्रथम उस जल में से जल लेकर आचमन करना (११) बाहर से आकर गुरु से पहले ध्यान करना (१२) गुरु के साथ कोई बात करने को आवे तो गुरु से पहले उससे स्वयं बात करने लग जाना (१३) रात्रि को गुरु के बुलाने पर न बोलना (१४) अन्न-पानी लाकर पहले छोटों के आगे आलोचना करनी (१५) अन्न-पानी लाकर पहले छोटों को दिखलाना (१६) अन्न-पानी की निमंत्रणा पहले छोटों को

करना (१७) गुरु के विना पूछे किसी को सरस भोजन देना (१८) गुरु के साथ भोजन करते समय स्वयं शीघ्र २ अच्छा २ भोजन कर लेना (१९) गुरु के बुलाने पर न वोलना (२०) गुरु के बुलाने पर आसन पर वैठे हुए उत्तर देना (२१) आसन पर बैठे हुए ही यह कहना कि क्या कहते हो (२२) गुरु को तूँ कहना (२३) यदि गुरु कहे कि तुम यह काम करो, इससे कर्मों की निर्जरा होती है, इसके उत्तर मे यह कहना कि तुम ही कर लो (२४) गुरु की कथा को प्रसन्नतापूर्वक न सुनना (२५) गुरु की कथा में भेद उत्पन्न करना (२६) कथा में छेद उत्पन्न करना (२७) उसी सभा में गुरु की बुद्धि को न्यून दिखलाने के लिये उसी प्रकरण की विस्तृत व्याख्या करना (२८) गुरु के शय्या-संस्तारक आदि को पैर का स्पर्श हो जाने पर विना क्षमायाचना के चले जाना (२९) गुरु के आसन पर विना आज्ञा के वैठना (३०) गुरु के आसन पर विना आज्ञा के शयन करना (३१) गुरु से ऊँचे आसन पर बैठना (३२) वड़ों की शय्या पर खड़ा रहना और वैठना (३३) गुरु के सम आसन करना । ये ३३ आशातनाएँ हैं जिनका टालना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है । सारांश यह है कि ३१ प्रकार के सिद्धों के गुणों में, उक्त ३२ प्रकार के योगसंग्रहों में तथा उक्त ३३ प्रकार की आशातनाओं में, जो भिक्षु निरन्तर उपयोग रखता है अर्थात् गुणों के सम्पादन मे, योगसंग्रहों के संचय में और आशातनाओं के टालने में यत्न करता है वह इस संसारचक्र से छूट जाता है ।

अव अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं कि—

इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयई सया ।
खिप्पं से सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥२१॥

त्ति बेमि ।

इति चरणविही समत्ता ॥३१॥

नोट—प्रथम अंक से लेकर ३३ अंक पर्यन्त जिन विधानों का उल्लेख किया है उनका पूर्ण विवरण समवायांगसूत्र से जान लेना ।

इत्येतेषु स्थानेषु, यो भिक्षुर्यतते सदा।
क्षिप्रं स सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥२१॥

इति ब्रवीमि।

इति चरणविधिः समाप्तः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—इय—इस प्रकार एएसु—इन ठाणेसु—स्थानों में जे—जो भिक्खू—भिक्षु सया—सदैव जयई—यत्न करता है खिप्पं—शीघ्र ही से—वह सव्वसंसारा—सर्व संसार से विप्पमुच्चइ—छूट जाता है पंडिओ—पंडित—विचारशील त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ। इति चरणविही समत्ता—यह चरणविधि समाप्त हुई।

मूलार्थ—उक्त प्रकार से इन पूर्वोक्त स्थानों में जो भिक्षु निरन्तर उपयोग रखता है वह पंडित इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की पूर्वोक्त २० गाथाओं में चारित्रशुद्धि का प्रकार वर्णन किया है। जो भिक्षु उक्त चारित्रविधि का अनुसरण करता है वह पंडित अर्थात् सत्-असत् वस्तु का विचार करने वाला इस संसार से शीघ्र ही छूट जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। अतः मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को उचित है कि वे उक्त चारित्रविधि के अनुष्ठान द्वारा इस आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त कराने का अवश्य प्रयत्न करें। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही जान लेना। यह चरणविधिनामक ३१ वाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

एकत्रिंशत्तममध्ययनं समाप्तम्।

अह पमायट्ठाणं बत्तीसइमं अज्झयणं

अथ प्रमादस्थानं द्वात्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्व अध्ययन में अनेक प्रकार से चरणविधि का निरूपण किया गया है, परन्तु चारित्रविधि का यथावत् पालन करने के लिए प्रमाद के त्याग की आवश्यकता है, अतः इस बत्तीसवें अध्ययन में प्रमाद के त्याग का उपदेश किया गया है। प्रमाद द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। मदिरा आदि पदार्थों का सेवन द्रव्य-प्रमाद है और निद्रा, विकथा और कषाय-विषयादि भावप्रमाद हैं। प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यप्रमाद का त्याग करने पर भाव से प्रमाद के त्याग का वर्णन किया गया है। जैसे श्रीऋषभदेव और वर्द्धमानस्वामी ने प्रमाद का त्याग किया उसी प्रकार सर्व प्राणियों को प्रमाद का त्याग करना चाहिए। यद्यपि अप्रमत्तगुणस्थान की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है, तथापि अन्तःकरण के संकल्पों से अप्रमत्तभाव की अनेक बार प्राप्ति हो सकती है। प्रमाद के कारण यह प्राणी अनन्त संसारचक्र में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए प्रमाद सर्वथा त्याज्य है। अब शास्त्रकार निम्नलिखित गाथाओं के द्वारा इसी विषय को स्फुट करते हुए कहते हैं कि—

अच्चंतकालस्स समूलगस्स,
सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो।
तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता,
सुणेह एगंतहियं हियत्थं ॥१॥

अत्यन्तकालस्य समूलकस्य,
सर्वस्य दुःखस्य तु यः प्रमोक्षः।
तं भाषमाणस्य मम प्रतिपूर्णचित्ताः,
शृणुतैकान्तहितं हितार्थम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—अच्चंत–अत्यन्त कालस्स–काल समूलगस्स–मिथ्यात्वादि से संयुक्त सव्वस्स–सर्व दुक्खस्स–दुःख के जो–जो पमोक्खो–प्रमोक्ष का हेतु तं–उसको भासओ–भाषण करते हुए मे–मुझसे एगंत–एकान्त हियं–हितकर हियत्थं–मोक्ष के अर्थ को सुणेह–सुनो पडिपुण्णचित्ता–प्रतिपूर्ण चित्त होकर उ–निश्चय अर्थ में है।

मूलार्थ—हे भव्य जीवो! अत्यन्त—अनादि—काल से मूलसहित रहे हुए सर्व दुःखों से मोक्ष देने वाला, एकान्त हित और कल्याणकारी जो उपाय है उसे मैं तुम्हें कहता हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय का निर्देश किया गया है। अत्यन्त नाम अनादि का है। भगवान् कहते हैं कि यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, अविरति और विषय-कषायों के साथ वर्त रहा है। ये मिथ्यात्वादि ही सर्व प्रकार के दुःखों के कारण और संसारपरिभ्रमण के हेतु हैं। अतः सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्त होने और संसारचक्र से छूटने का जो एकान्त हितकारी तथा परम कल्याणकारी उपाय—साधन—है उसको मैं आप लोगों के प्रति कहता हूँ, आप उसे एकाग्रचित्त से श्रवण करें। यहाँ पर एकान्तहित विशेषण से साधन की विशिष्ट उपादेयता का सूचन किया गया है। जिस प्रकार खान से निकला हुआ मलसहित स्वर्ण अग्नि आदि के संयोग से शुद्धि को प्राप्त होता हुआ अपने असली स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-कषायादि से युक्त हुआ जीव विशिष्ट साधनों के द्वारा कषायरहित होता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करके इस जन्म-मरण-रूप संसारचक्र से छूट जाता है।

अब उन साधनों का वर्णन करते हैं जिनके द्वारा यह जीव कर्म-बन्धनों को तोडकर दुःखों से सर्वथा रहित हो जाता है। तथा हि—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२॥

ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया,
अज्ञानमोहस्य विवर्जनया ।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण,
एकान्तसौख्यं समुपैति मोक्षम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—सव्वस्स–सर्व नाणस्स–ज्ञान के पगासणाए–प्रकाश होने से अन्नाणमोहस्स–अज्ञान और मोह को विवज्जणाए–वर्जने से रागस्स–राग और दोसस्स–द्वेष का संखएणं–क्षय करने से एगंतसोक्खं–एकान्त सुखरूप मोक्खं–मोक्ष को समुवेइ–प्राप्त करता है ।

मूलार्थ—सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के सम्पूर्ण त्याग से तथा राग और द्वेष के सम्पूर्ण क्षय से, एकान्त सुखरूप मोक्ष को यह जीव प्राप्त कर लेता है ।

टीका—शास्त्रों मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इन तीनों को मोक्षप्राप्ति का साधन वतलाया गया है, अतः प्रस्तुत गाथा में भी इन्हीं तीनों का उल्लेख किया है । 'सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश होने से' इस वाक्य के द्वारा ज्ञान का उल्लेख किया तथा 'अज्ञान और मोह के सम्पूर्ण त्याग से' इस वाक्य के द्वारा दर्शन का वर्णन किया और 'राग-द्वेष के सम्यक् क्षय से' इस वाक्य के द्वारा चारित्र का वोध कराया गया है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान के सम्यक् प्रकाश से, मति-अज्ञान और दर्शन-मोहनीय अर्थात् मिथ्याश्रुत के श्रवण और कुदृष्टिसंग के त्याग से तथा राग-द्वेष के सम्यक् क्षय होने से, एकान्त सुखरूप जो मोक्षपद है उसको यह जीव प्राप्त कर लेता है । ज्ञान से अज्ञान का विनाश होता है और दर्शन से मोह दूर होता है ।

एवं राग-द्वेष के त्याग से अर्थात् सर्वथा क्षय कर देने से आत्मा में लगा हुआ कर्ममल धोया जाता है। इस प्रकार परमविशुद्धि को प्राप्त हुआ यह जीव एकान्त सुख जिसमें विद्यमान है ऐसे मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'एकान्त सुखरूप' यह मोक्ष का विशेषण इसलिए दिया गया है कि बहुत से दार्शनिक लोग मोक्ष में सुख और दुःख दोनों का ही अभाव मानते हैं तथा मोक्ष को दुःख का अभावरूप स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका यह कथन युक्ति और प्रमाण से शून्य होने से अग्राह्य है। इसी के लिए उक्त विशेषण दिया गया अर्थात् मोक्ष दुःख का अभावरूप नहीं किन्तु सुखरूप है।

मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्षप्राप्ति के जो उपाय हैं, अब शास्त्रकार उस विषय में कहते हैं। यथा—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य ॥३॥

तस्यैष मार्गो गुरुवृद्धसेवा,
विवर्जना बालजनस्य दूरात्।
स्वाध्यायैकान्तनिषेवणा च,
सूत्रार्थसञ्चिन्तनया धृतिश्च ॥३॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस मोक्ष का एस—यह मग्गो—मार्ग है गुरुविद्ध-सेवा—गुरु और वृद्धों की सेवा बालजणस्स—बाल जन का दूरा—दूर से विवज्जणा—परित्याग य—फिर सज्झाय—स्वाध्याय का एगंतनिसेवणा—एकान्त सेवन य—और सुत्तत्थसंचिंतणया—सूत्रार्थ का सम्यक् चिन्तन करना य—तथा धिई—धैर्यपूर्वक।

मूलार्थ—गुरु और वृद्ध जनों की सेवा करना, बाल जीवों के संग को दूर से छोड़ना और धैर्यपूर्वक एकान्त में स्वध्याय तथा सूत्रार्थ का भली-प्रकार चिन्तन करना, यह मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय है।

टीका—जिससे शास्त्र पढ़ा जाता है अथवा जिसने चारित्र का उपदेश किया है उसकी गुरु संज्ञा है तथा जो श्रुत अथवा चारित्र पर्याय में बड़ा हो उसे वृद्ध कहते हैं। ज्ञानप्राप्ति के लिए गुरु और वृद्धों की सेवा करनी चाहिए। इसी को दूसरे शब्दों मे गुरुकुलवास कहा है। कारण यह है कि गुरुकुल में वास करने से ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति शीघ्र होती है। अज्ञानी और पार्श्वस्थादि को बाल जन कहते हैं। इनके संसर्ग से सदा दूर रहना चाहिए। कारण यह है कि इनका संसर्ग अनेक प्रकार के दोषों को उत्पन्न करने वाला है। इसी आशय से उक्त गाथा में 'दूरा—दूरात्' शब्द का उल्लेख किया है अर्थात् इनका संग कभी नहीं करना चाहिए। केवल सूत्रपाठ से ही अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए एकान्त में बैठकर सूत्र और उसके अर्थ का भली-भाँति चिन्तन करना चाहिए। एवं अनुप्रेक्षा करते समय अर्थात् सूत्रार्थचिन्तन के समय, मन में किसी प्रकार का उद्वेग न होना चाहिए। इसी के वास्ते गाथा में 'धिई—धृति' शब्द का उल्लेख किया है।

उक्त गाथा में ज्ञानप्राप्ति के साधनों का उल्लेख किया है। अब इस निम्नलिखित गाथा में ज्ञानप्राप्ति की इच्छा रखने वाले के अन्य कृत्यों का वर्णन करते हैं। यथा—

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४॥

आहारमिच्छेन्मितमेषणीयं,
साहाय्यमिच्छेन्निपुणार्थबुद्धिम्।
निकेतमिच्छेत् विवेकयोग्यं,
समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥४॥

पदार्थान्वयः—मियं—प्रमाणपूर्वक और एसणिज्जं—एषणीय आहारं—आहार की इच्छे—इच्छा करे तथा—निउणत्थबुद्धिं—निपुणार्थबुद्धि सहायं—सहायक की इच्छे—इच्छा करे विवेगजोग्गं—स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित निकेयं—स्थान की इच्छेज्ज—इच्छा करे समाहिकामे—समाधि की इच्छा वाला तवस्सी—तपस्वी समणे—श्रमण—साधु।

मूलार्थ—समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वी साधु मितप्रमाणयुक्त और एषणीय आहार की इच्छा करे तथा निपुणार्थ बुद्धि वाले साथी की इच्छा करे और स्त्री, पशु तथा नपुंसक आदि से रहित एकान्त स्थान की इच्छा करे।

टीका—जो भिक्षु परिमित और निर्दोष आहार की इच्छा करता है वही गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा तथा ज्ञानादि की आराधना में समर्थ हो सकता है। कारण यह है कि जिसका भोजनविधि में विवेक नहीं वह सेवा और ज्ञानादि की प्राप्ति में सफलमनोरथ नहीं हो सकता। सहचर अर्थात् साथी भी उसको बनाना चाहिए जो कि तत्त्व के ग्रहण और विवेचन में निपुण हो। कारण यह है कि यदि स्वेच्छाचारी और मूर्ख को मित्र बना लिया गया तो, न तो वह वृद्धों की सेवा करने देगा और न ज्ञानादि की प्राप्ति ही होने देगा। वसती—उपाश्रय—इस प्रकार का स्वीकार करे कि जिसमें स्त्री, पशु और नपुंसक तथा मन मे विकृति उत्पन्न करने वाले अन्य किसी पदार्थ का संसर्ग न हो। यदि निवासस्थान में उक्त प्रकार के पदार्थों का संयोग होगा तो साधु, गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा से वंचित रह जाता है। कारण यह है कि उन पदार्थों में आसक्त हो जाने पर अन्यत्र दृष्टि नहीं जाती, इसलिए समाधि की इच्छा रखने वाले तपस्वी साधु को इन पूर्वोक्त बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, तभी समाधि की सम्यक् प्राप्ति हो सकती है। तथा द्रव्यसमाधि तो क्षीर, शर्करा आदि पदार्थों का परस्पर अविरोध भाव से मिलने पर होती है और भावसमाधि ज्ञानादि की प्राप्ति से हो सकती है। प्रस्तुत प्रकरण में भावसमाधि का ही कथन है।

यदि दैववशात् पूर्वोक्त सहायक आदि साधन न मिले तो उस समय साधु का जो कर्तव्य है, अब उसका वर्णन करते हैं—

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एगो वि पावाइ विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥५॥

न वा लभेत निपुणं सहायं,
गुणाधिकं वा गुणतः समं वा।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्,
विहरेत् कामेष्वसजन् ॥५॥

पदार्थान्वयः—वा—यदि निउणं—निपुण सहायं—सहचर न लभेज्जा—न होवे गुणाहियं—गुणों से अधिक वा—अथवा गुणओ—गुण से समं—समान विकल्प अर्थ में है एगो वि—अकेला ही पावाइ—पापानुष्ठान को विवज्जयंतो—वर्जता हुआ कामेसु—काम-भोगों में असज्जमाणो—आसक्त न होता हुआ विहरेज्ज—विचरे।

मूलार्थ—यदि गुणों से अधिक अथवा समान निपुण सहायक न मिले तो अकेला ही पापानुष्ठान का परित्याग करता हुआ और कामभोगादि में आसक्त न होता हुआ विचरे।

टीका—यदि निपुणबुद्धि मित्र न मिले तो काम-भोगों में आसक्ति न रखता हुआ और पापानुष्ठान का त्याग करके अकेला ही विचरे। कारण यह है कि यदि मूर्ख अथवा अगीतार्थ को मित्र बना लेगा तो अपने ज्ञानादि का नाश कर लेगा तथा उसके वश में पड़ा हुआ दुःखी होकर ज्ञानादिमार्ग से पराङ्मुख हो जावेगा। इस सूत्र से यह शिक्षा मिलती है कि जो अपने से गुणों में अधिक अथवा समान होवे उसे ही मित्र बनाना चाहिए। परन्तु यह कथन गीतार्थविषयक है। वर्तमान समय में एकाकी विहार करने का आगम में निषेध है। इसलिए यह अपवादसूत्र समझना चाहिए। जैसे मध्य का ग्रहण करने से आदि और अन्त दोनों का ग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार आहार और वसती के विषय में भी

कथंचित् कारण की अपेक्षा से अपवाद जान लेना चाहिए। सारांश यह है कि गुणी पुरुषों का संग करता हुआ और मूर्ख जनों का संग छोड़ता हुआ साधु संयममार्ग में गमन करे।

अब दुःख के परस्पर कारणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥६॥

यथा चाण्डप्रभवा बलाका,
अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च।
एवमेव मोहायतनां खलु तृष्णां,
मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति ॥६॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे बलागा–बलाका अंडप्पभवा–अंड से उत्पन्न होती है य–और जहा–जैसे अंडं–अंडा बलागप्पभवं–बलाका से उत्पन्न होता है एमेव–इसी प्रकार खु–निश्चय ही तण्हा–तृष्णा मोहाययणं–मोह की उत्पत्ति का स्थान है च–और मोहं–मोह को तण्हाययणं–तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान वयंति–कहते हैं।

मूलार्थ—जैसे बलाका की उत्पत्ति अंड से और अंड की उत्पत्ति बलाका से होती है, उसी प्रकार मोह की उत्पत्ति का स्थान तृष्णा और तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान मोह है।

टीका—जिस प्रकार अंडे से बलाका—बगुला—पक्षी उत्पन्न होता है और बलाका से अंडे की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार मोह तृष्णा को उत्पन्न करता है और तृष्णा से मोह की उत्पत्ति होती है। जिसके प्रभाव से आत्मा मूढ़ता को प्राप्त हो जावे उसका नाम मोह है और वह मिथ्यात्व से युक्त दुष्ट ज्ञान का नाम है। उसी के द्वारा फिर तृष्णा की उत्पत्ति हो जाती है। जब मोह

न रहा तब तृष्णा का क्षय भी साथ ही हो गया । इसी प्रकार तृष्णा के द्वारा मोह की उत्पत्ति हो जाती है । अतएव इनका परस्पर में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध सिद्ध हो गया । इसलिए एक का क्षय होने से दूसरे का क्षय साथ ही माना जाता है । जैसे—देवदत्त पढ़ेगा तो पंडित बन जायगा और जब पठन क्रिया का अभाव हुआ तो पंडितपद का अभाव भी साथ ही मानना पड़ेगा । तद्वत् मोह और तृष्णा का परस्पर सम्बन्ध कथन किया गया है । यहाँ पर तृष्णा शब्द से राग और द्वेष दोनों का ही ग्रहण अभीष्ट है ।

अब इनकी दुःखहेतुता का वर्णन करते हैं । यथा—

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥७॥

रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीजं,
कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति ।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्,
दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ॥७॥

पदार्थान्वयः—रागो-राग य-और दोसो-द्वेष वि-अपि—समुच्चयार्थक है य-पुनः कम्म-कर्म बीयं-बीज है च-फिर कम्मं-कर्म मोहप्पभवं-मोह से उत्पन्न हुआ वयंति-कहते हैं च-फिर कम्मं-कर्म जाई-जाति—जन्म मरणस्स-मृत्यु का मूलं-मूल है च-पुनः जाई-जन्म मरणं-मृत्यु दुक्खं-दुःख का हेतु वयंति-कहते हैं ।

मूलार्थ—राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । फिर कर्म जन्म और मरण का मूल है तथा जन्म और मृत्यु दुःख के हेतु कहे जाते हैं ।

टीका—माया और लोभ रूप राग, क्रोध और मान रूप द्वेष, ये दोनों कर्म के बीज हैं अर्थात् कर्मोपार्जन में ये दोनों ही कारणभूत माने जाते हैं। अपि च—मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म को जन्म तथा मृत्यु का कारण कहा है। तात्पर्य यह है कि जन्म और मृत्यु का मूल कर्म है। जन्म और मरण ये दुःख के कारण प्रसिद्ध ही हैं। तथा च—जन्म-मरण का अभाव होने से दुःख का अभाव हो जाता है और जन्म-मरण का अभाव कर्म के नाश पर निर्भर है। कर्म का नाश मोह के अन्त से होता है तथा मोह का अन्त राग-द्वेष के अन्त की अपेक्षा रखता है। इसलिये प्रथम राग और द्वेष का अन्त करना चाहिए जिससे कि मोह और तज्जन्य कर्म तथा कर्मजन्य जन्म-मरण का अन्त हो सके। किसी २ स्थान पर दुःख शब्द कर्म और संसार का वाची भी ग्रहण किया गया है, परन्तु यहाँ पर तो दुःख शब्द केवल असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न होने वाली असुखरूप अवस्था का ही बोधक है जिसका प्रतिकूलता से वेदन किया जाता है।

अब दुःख के कारणभूत मोहादि के त्याग के विषय में वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥८॥

दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः,
मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः,
लोभो हतो यस्य न किञ्चन ॥८॥

पदार्थान्वयः—उसने दुक्खं—दुःख का हयं—नाश कर दिया जस्स—जिसको मोहो—मोह न होइ—नहीं होता मोहो—मोह का—उसने हओ—नाश कर दिया जस्स—

जिसको तण्हा—तृष्णा न होइ—नहीं है तण्हा—तृष्णा का उसने हया—नाश कर दिया जस्स—जिसको न होइ—नहीं है लोहो—लोभ, उसने लोहो हओ—लोभ का नाश कर दिया जस्स—जिसकी न किंचणाइं—अकिंचनवृत्ति है।

मूलार्थ—जिसको मोह नहीं उसने दुःख का नाश कर दिया; जिसको तृष्णा नहीं उसने मोह का अन्त कर दिया; जिसने लोभ का परित्याग कर दिया उसने तृष्णा का क्षय कर डाला और जो अकिंचन है उसने लोभ का विनाश कर दिया।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दुःखों से छूटने के मार्ग का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—जिस व्यक्ति ने मोह का परित्याग कर दिया उसने दुःखों का भी अन्त कर दिया। कारण यह है कि मोह से ही दुःखों की उत्पत्ति होती है [जैसे कि पूर्व की गाथा में बतलाया गया है]। जब मोह का नाश हुआ तब तृष्णा भी गई, क्योंकि तृष्णा की उत्पत्ति का कारण मोह है और जब तृष्णा का क्षय हुआ तो लोभ भी साथ ही जाता रहा, क्योंकि तृष्णा ही लोभ की जननी है। एवं जब लोभ न रहा तब अकिंचनता आ गई। सारांश यह है कि एक अज्ञानता के नष्ट होने से सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं। अंत में जो लोभ शब्द का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य राग की प्रधानता दिखलाना मात्र है। कारण यह है कि माया और लोभ ये दोनों ही राग के अन्तर्गत हैं।

अब मोहादि के उन्मूलन का उपाय बतलाने की प्रतिज्ञा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रागं च दोसं च तहेव मोहं,
उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा,
ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥९॥

रागं च द्वेषं च तथैव मोहम्,
उद्धर्तुकामेन समूलजालम्।

ये ये उपायाः प्रतिपत्तव्याः,
तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्व्या ॥९॥

पदार्थान्वयः—रागं–राग च–और दोसं–द्वेष च–तथा तहेव–उसी प्रकार मोहं–मोह को समूलजालं–मूलसहित उद्धत्तुकामेण–उखाड़ने की इच्छा वाले को जे जे–जो जो उवाया–उपाय पडिवज्जियव्वा–ग्रहण करने चाहिएँ ते–उन उपायों को अहाणुपुव्विं–क्रमपूर्वक मैं कित्तइस्सामि–कथन करूँगा—करता हूँ।

मूलार्थ—राग-द्वेष और मोह के जाल को मूलसहित उखाड़कर फेंकने की इच्छा वाले साधु को जिन २ उपायों का अवलम्बन करना चाहिये उनको मैं क्रमपूर्वक यहाँ पर कहूँगा—या कहता हूँ।

टीका—गुरु शिष्य के प्रति कहते हैं कि हे शिष्य! राग-द्वेष और मोह को दूर करने की कामना वाले जीव के लिए जो २ उपाय हैं उनको मैं अनुक्रम से तुम्हारे प्रति कहता हूँ। तात्पर्य यह है कि जैसे कोई वैद्य किसी औषधि को मूल से उखाड़ डालता है, ठीक उसी प्रकार तीव्र कषायोदय के साथ जो मोह की प्रकृतियों का समूह है उसका समूल-घात करने के लिए जो जो उपाय शास्त्रकारों ने बतलाये हैं उनको मैं तुम्हारे प्रति क्रमपूर्वक कहता हूँ।

अब उपायों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१०॥

रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः,
प्रायो रसा दीप्तिकरा नराणाम्।
दीप्तं च कामाः समभिद्रवन्ति,
द्रुमं यथा स्वादुफलमिव पक्षिणः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—पगामं—अति रसा—रसों का न निसेवियव्वा—सेवन नहीं करना चाहिए पायं—प्रायः रसा—रस दित्तिकरा—दीप्त करने वाले हैं नराणं—नरों को च—फिर दित्तं—दीप्त को कामा—कामादि समभिद्दवंति—पराभव करते हैं—दुःख देते हैं जहा—जैसे साउफलं—स्वादु फल वाले दुमं—द्रुम—वृक्ष—को पक्खी—पक्षी पराभव करते हैं व—तद्वत्।

मूलार्थ—रसों का अत्यन्त सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि रस प्रायः मनुष्यों को दीप्त करते हैं और दीप्त जीवों को कामादि विषय दुःख देते हैं। जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षीगण दुःखी करते हैं—कष्ट देते हैं तद्वत्।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मोह को दूर करने के उपायों का वर्णन किया है। उनमें प्रथम रससेवन के विषय में कहते हैं अर्थात् क्षीर प्रभृति रसों का अत्यन्त सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि रसयुक्त पदार्थों का अत्यन्त सेवन करने से इन्द्रियें प्रदीप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि रसों के सेवन से धातु आदि की पुष्टि होने पर कामाग्नि प्रचंड हो उठती है। प्रचण्ड हुई कामाग्नि जीवों का विषयों के द्वारा पराभव कराती है। इसलिए कामवर्द्धक रसादि पदार्थों का त्याग करना ही कल्याणप्रद है। इस विषय को समझाने के लिए वृक्ष और पक्षी का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे स्वादु फल वाले वृक्ष पर पक्षी आकर बैठते हैं और अनेक प्रकार से उसको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार रससेवी पुरुष को कामादि विषय भी अत्यन्त दुःखी करते हैं। यहाँ पर द्रुम के समान तो मनुष्य है और पक्षीगण के समान कामादि विषय हैं तथा स्वादु फल के समान दीप्त भाव है। गाथा में 'प्रायः' शब्द इसलिए दिया गया है कि किसी २ महान् सत्त्व वाले जीव को ये रसादि पदार्थ दीप्त नहीं भी कर सकते। इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि यह उत्सर्ग-सूत्र है। अपवाद में तो किसी वातादिदोषविशेष के शमनार्थ रसादि पदार्थों का सेवन भी करना अनावश्यक नहीं है। तब सिद्धान्त यह निकला कि अल्प सत्त्व वाले जीवों को विना कारण क्षीरादि विकृतियों का सेवन नहीं करना चाहिए इत्यादि।

अब सामान्यरूप से प्रकाम भोजन के दोष बतलाते हैं। यथा—

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥११॥

यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने,
समारुतो नोपशममुपैति।
एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनः,
न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित् ॥११॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे दवग्गी–दावाग्नि पउरिंधणे–प्रचुर इन्धन से युक्त वणे–वन में समारुओ–वायु के साथ नोवसमं–उपशम को नहीं उवेइ–प्राप्त होती एविंदियग्गी–उसी प्रकार इन्द्रियरूप अग्नि पगामभोइणो–अति भोजन करने वाले को कस्सई–किसी भी बंभयारिस्स–ब्रह्मचारी को न हियाय–हित के लिए नहीं होती।

मूलार्थ—जैसे प्रचुरइन्धनयुक्त वन में वायुसहित उत्पन्न हुई दावाग्नि उपशम को प्राप्त नहीं होती अर्थात् बुझती नहीं, उसी प्रकार प्रकामभोजी अर्थात् विविध प्रकार के रसयुक्त पदार्थों को भोगने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूप अग्नि शान्त नहीं होती।

टीका—प्रमाण से अधिक रस वाले आहार के करने से संयमशील साधु का क्या अहित होता है? प्रस्तुत गाथा में दृष्टान्त के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया गया है। जैसे इन्धन—सूखे हुए वृक्षों—से भरे हुए वन मे वायु के द्वारा प्रेरित की गई दवाग्नि शांत नहीं होती, उसी प्रकार सरस पदार्थों का अति भोजन करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूप अग्नि भी शांति को प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जैसे वायु के साथ मिलने से वन मे लगी हुई अग्नि शीघ्र शान्त नहीं होती, उसी तरह इन्द्रियों के द्वारा विषय-वासना की पूर्ति के लिए जो राग उत्पन्न

होता है वह प्रमाण से अधिक सरस आहार करने वाले ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता। जिस प्रकार दावानल वन का दाह कर देता है, उसी प्रकार वह इन्द्रियजन्य राग धर्मरूप आराम को भस्मसात् कर देता है। एवं जैसे प्रचुर इन्धन और वायु की सहायता से वह दावानल प्रचंड हो जाता है, उसी प्रकार स्निग्ध और अति आहार भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि को प्रचंड कर देता है। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचारी को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्रणीत और अति मात्रा में आहार करना उचित नहीं।

अब राग के त्याग करने वाले व्यक्ति के अन्य कर्तव्य का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

विवित्तसेज्जासणजंतियाणं,
ओमासणाणं दमिइंदियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥१२॥

विविक्तशय्यासनयन्त्रितानाम्,
अवमाशनानां दमितेन्द्रियाणाम्।
न रागशत्रुर्धर्षयति चित्तं,
पराजितो व्याधिरिवौषधैः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—विवित्त—स्त्री, पशु आदि से रहित सेज्जासण—शय्या और आसन से जंतियाणं—नियंत्रित ओमासणाणं—अल्पाहारी—अवमौदर्य-तप करने वालों और दमिइंदियाणं—इन्द्रियों का दमन करने वालों के रागसत्त—रागरूप शत्रु चित्तं—चित्त को न धरिसेइ—धर्षित नहीं करता ओसहेहिं—औषधियों से वाहि—व्याधि इव—जैसे पराइओ—पराजित हुई।

मूलार्थ—जैसे उत्तम औषधियों से पराजित हुई व्याधि पुनः आक्रमण नहीं करती, उसी प्रकार एकान्त और शुद्ध वसती में रहने वाले, अल्पाहारी

और इन्द्रियों का दमन करने वाले पुरुषों के चित्त को यह रागरूप शत्रु धर्षित नहीं कर सकता।

टीका—रागरूप शत्रु का किन पुरुषों पर आक्रमण नहीं होता ? प्रस्तुत गाथा में दृष्टान्त के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया है। जिन महापुरुषों ने स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित निर्दोष स्थान का सेवन किया है, जो सदा अल्प आहार करने वाले हैं और जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर काबू पा लिया है, ऐसे महात्मा जनों पर इस रागरूप शत्रु का आक्रमण नहीं होता अर्थात् ऐसे पुरुषों का यह पराभव नहीं कर सकता। इस विषय को दृष्टान्त के द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया गया है। अर्थात् जैसे उत्तम औषधियों के उपयोग से पराजित हुआ रोग फिर से आक्रमण नहीं करता, इसी प्रकार उक्त रीति से संयमरूप औषधि के सेवन से रागरूप शत्रु भी पराजित होता हुआ फिर से आक्रमण करने की शक्ति नहीं रखता। सारांश यह है कि एकान्त शयन, एकान्त आसन, स्वल्पाहार और इन्द्रियों के दमन से पराजित हुए ये रागादि दोष इस आत्मा को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकते। यहाँ पर गाथा में अर्थरूप से दिया गया 'नियंत्रित' शब्द साधु को नियमबद्ध रहने की सूचना करता है।

जो साधु इन पूर्वोक्त नियमों का यथाविधि पालन नहीं करते उनको क्या दोष होता है ? अब इस विषय में कहते हैं—

जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥१३॥

यथा बिडालावसथस्य मूले,
न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये,
न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे विरालावसहस्स–विडाल-वसती के मूले–समीप में मूसगाणं–मूषकों की वसही–वसती न पसत्था–प्रशस्त नहीं है एमेव–इसी प्रकार इत्थीनिलयस्स–स्त्री के निवास के मज्झे–मध्य में बंभयारिस्स–ब्रह्मचारी का निवासो–निवास न खमो–युक्त नहीं।

मूलार्थ—जैसे बिल्लियों के स्थान के पास मूषकों—चूहों—का रहना प्रशस्त—योग्य—नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के समीप ब्रह्मचारी को निवास करना उचित नहीं है।

टीका—जैसे विडाल—बिल्ली—मार्जार—के समीप रहने से मूषकों को हानि पहुँचने की सम्भावना होती है, उसी प्रकार स्त्रियों की वसती में रहने से ब्रह्मचारी को भी हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है, इसलिए उसका वहाँ पर रहना ठीक नहीं। स्त्रियों के साथ परस्पर के संभाषण और मिलाप में उसके ब्रह्मचर्य में दोष लगने की हर समय शंका बनी रहती है तथा अल्पसत्त्व वाले जीव के पतित होने की अधिक संभावना रहती है, अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा में सावधान रहने वाला साधु इनके संसर्ग में आने का कभी भी साहस न करे। यहाँ पर 'आवसह'—आवसथ—शब्द आश्रय वा वसती का वाचक है। जिस प्रकार बिल्ली के समीप चूहों का रहना हितकर नहीं, उसी प्रकार स्त्री आदि के समीप बसना ब्रह्मचारी के लिए भी अनेक प्रकार के दोषों को उत्पन्न करने वाला है, यह भावप्रशस्त शब्द से व्यक्त होता है।

विविक्त स्थान में रहते हुए साधु की दृष्टि यदि स्त्री पर पड़ जावे तो उस समय भी उसको मन से देखने की इच्छा न करनी चाहिए, अब इसी विषय का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥१४॥

न　रूपलावण्यविलासहास्यं,
न जल्पितमिङ्गितं प्रेक्षितं वा।
स्त्रीणां चित्ते निवेश्य,
द्रष्टुं　व्यवस्येच्छ्रमणस्तपस्वी ॥१४॥

पदार्थान्वयः—न–न तो रूवलावण्णविलासहासं–रूप, लावण्य, विलास और हास्य को न–नाहि जंपियं–प्रिय बोलना आदि इंगियं–अङ्गभङ्ग्यादि वा–अथवा पेहियं–कटाक्षपूर्वक देखने को इत्थीण–स्त्रियों के चित्तंसि–चित्त में निवेसइत्ता–स्थापन करके दट्ठुं–देखने को ववस्से–अध्यवसाय करे तवस्सी–तपस्वी समणे–श्रमण।

मूलार्थ—तपस्वी साधु स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, प्रिय भाषण, इंगित और कटाक्ष पूर्वक अवलोकन इत्यादि बातों को चित्त में स्थापन करके, अहो! यह कैसी सुन्दरी है! इस प्रकार के अध्यवसाय को धारण न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में स्त्री के संग मात्र का त्याग करने के अतिरिक्त उनके हाव-भाव आदि को देखने का भी यति को निषेध किया गया है। यथा—स्त्रियों के सुन्दर संस्थान, नेत्रों और मन को प्रसन्न करने वाले विशिष्ट प्रकार के वस्त्र और आभूषण तथा सुन्दर कोमल मनोहर भाषण, विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टा और कटाक्षपूर्वक अवलोकन करना इत्यादि प्रकार के हाव-भावयुक्त दृश्यों को देखकर तथा उनको अपने चित्त में स्थापन करके यह कहना कि अहो! यह स्त्री कैसी सुन्दर है! इसके शरीर की रचना कितनी मनोहर है! तथा इसका विलास भी कितना प्रिय है! इस प्रकार के अध्यवसाय को तपस्वी साधु कभी धारण न करे। कारण यह है कि इस प्रकार के अध्यवसाय से मन में कामविकार की विशेष उत्पत्ति होती है जिसका निवारण करना अतीव कठिन हो जाता है। इसलिए साधु प्रथम तो स्त्री को देखे ही नहीं और यदि दैवयोग से उस पर दृष्टि पड़ भी जावे तो उसके रूप-लावण्यादि को मन से देखने की चेष्टा न करे अर्थात् उसमें किसी प्रकार से आसक्त होने की चेष्टा न करे। यद्यपि नेत्रों का देखना एक प्रकार का स्वभाव है, तथापि साधारणरूप से किसी पदार्थ का दृष्टिगोचर होना और आसक्तिपूर्वक देखने

का प्रयत्न करना इसमें रात-दिन का अन्तर है। प्रथम प्रकार के देखने में तो किसी प्रकार के कर्मबन्ध की संभावना नहीं होती और द्वितीय प्रकार के अर्थात् रागपूर्वक देखने में अवश्य कर्मों का बन्ध होता है, अतः शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी को जो देखने का निषेध किया है वह रागपूर्वक देखने का निषेध है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥१५॥

अदर्शनं चैवाप्रार्थनं च,
अचिन्तनं चैवाकीर्तनं च।
स्त्रीजनस्यार्यध्यानयोग्यं,
हितं सदा ब्रह्मव्रते रतानाम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—अदंसणं—न देखना अपत्थणं—प्रार्थना न करना च—तथा अचिंतणं—चिन्तन न करना च—फिर अकित्तणं—कीर्तन न करना इत्थीजणस्स—स्त्री जन का आरियझाणं—आर्य-ध्यान में जुग्गं—योग—जोड़ना हियं—हितरूप सया—सदा है बंभवए—ब्रह्मचर्यव्रत में रयाणं—रतों को च—समुच्चय में एव—अवधारण में।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य-व्रत में सदा अनुरक्त रहने वालों का आर्य-ध्यान-योग्य परम हित इसी में है कि वे स्त्री जन का अवलोकन, उनसे किसी प्रकार की प्रार्थना, उनका चिन्तन और कीर्तन न करें।

टीका—प्रस्तुत गाथा में स्त्रियों के रागपूर्वक अवलोकन, उनसे विषयादि की प्रार्थना, उनके रूप-लावण्य का चिन्तन और उनके नामादि का कीर्तन करने आदि का निषेध किया गया है। स्त्रियों के दर्शन, मिलन, चिन्तन और कीर्तन से हृदय में कामविकार का उत्पन्न होना एक स्वाभाविक-सी बात है। तथा कामविकार से

ब्रह्मचर्य का व्याघात होना भी अस्वाभाविक नहीं। इसलिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले यति को इन सब विघ्नों को जीतकर—दूरकर, आर्यध्यान—धर्मध्यान—में अपने मन को लगाना ही सर्व प्रकार से हितकर है यह इस गाथा का तात्पर्य है। किसी २ प्रति में 'बंभचेरे—ब्रह्मचर्ये' ऐसा पाठ भी देखने में आता है परन्तु अर्थ में अन्तर नहीं है।

अब संयम में सदा दृढ रहने वाले समर्थ साधु को भी विविक्त स्थान में ही रहने की शास्त्रकार आज्ञा देते हैं। यथा—

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं,
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा,
विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥१६॥

कामं तु देवीभिर्विभूषिताभिः,
न शकिताः क्षोभयितुं त्रिगुप्ताः।
तथाप्येकान्तहितमिति ज्ञात्वा,
विविक्तवासो मुनीनां प्रशस्तः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—कामं-अति वा अनुमत देवीहिं-देवियाँ विभूसियाहिं-वेष-भूषा से युक्त न चाइया-समर्थ नहीं हो सकीं खोभइउं-क्षुभित करने को—संयम से गिराने को, जो तिगुत्ता-मन, वचन और शरीर से गुप्त हैं तहा वि-तो भी एगंतहियं-एकान्त हित ति-इस प्रकार नच्चा-जानकर विवित्तवासो-विविक्त-वास ही मुणिणं-मुनियों को पसत्थो-प्रशस्त है।

मूलार्थ—मन, वचन और काया से गुप्त रहने वाले जिस परम संयमी साधु को वेष-भूषा से युक्त देवांगनाएँ भी क्षुभित नहीं कर सकतीं अर्थात् संयम से गिरा नहीं सकतीं, ऐसे साधु को भी एकान्तवास ही परम हितकारी है ऐसा जानकर एकान्त स्थान—स्त्री आदि से रहित स्थान—में ही निवास करना श्रेष्ठ है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में परम संयमी अर्थात् सुमेरु की भाँति संयम में स्थिर रहने वाले मुनियों को भी एकान्तवास ही करने का जो उपदेश दिया है उसका तात्पर्य साधारण संयम रखने वाले मुनियों को संयम में स्थिर करने और लोक-मर्यादा को सुरक्षित रखने में है, क्योंकि क्षुद्र जीवों की निकृष्ट अनुकरण में अधिक प्रवृत्ति देखने में आती है। इसके अतिरिक्त मानसिक प्रवृत्ति में अन्तर आते भी कुछ देर नहीं लगती, अतः परम संयमी को भी शास्त्रविहित मर्यादा का पालन करना आवश्यक है यह भी इससे ध्वनित किया है। अपि शब्द से मानुषी स्त्रियों का ग्रहण समझ लेना। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिस मुनि को देवांगनाएँ भी (मानवियों का तो कहना ही क्या है) मोहित नहीं कर सकतीं अर्थात् संयम से चलायमान नहीं कर सकतीं ऐसे परम योगी मुनि को भी स्त्री, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में ही निवास करने की तीर्थंकर और गणधर देवों ने आज्ञा दी है अर्थात् उसका हित भी एकान्त निवास में ही है तो सामान्य—अगीतार्थ—साधुओं के लिए विविक्त स्थान के सेवन के विषय में कहना ही क्या है अर्थात् उनको तो कभी भी इस आज्ञा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। वास्तव में मुनियों का निवास प्रायः निर्जन प्रदेश में ही होना चाहिए इसी में उनका परम कल्याण है।

अब स्त्रीत्याग की दुष्करता के विषय में कहते हैं—

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१७॥

मोक्षाभिकाङ्क्षिणस्तु मानवस्य,
संसारभीरोः स्थितस्य धर्मे।
नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके,
यथा स्त्रियो बालमनोहराः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—**मोक्खाभिकंखिस्स**–मोक्ष के अभिलाषी **माणवस्स**–मनुष्य को **संसारभीरुस्स**–संसार से डरने वाले को **धम्मे**–धर्म में **ठियस्स**–स्थित को **एयारिसं**–इसके समान **दुत्तरं**–दुस्तर **लोए**–लोक में **न**–नहीं **अत्थि**–है **जह**–जैसे **इत्थिओ**–स्त्रियाँ हैं **बालमणोहराओ**–बाल जीवों के मन को हरने वाली **उ**–वितर्क में।

मूलार्थ—मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले संसारभीरु और धर्म में स्थित रहने वाले पुरुषों को भी इतना दुस्तर—कठिन—इस लोक में और कोई काम नहीं जितना कि बाल जीवों के मन को हरने वाली स्त्रियों का त्याग करना कठिन है।[1]

टीका—इस गाथा में अल्प सत्त्व वाले जीवों के लिए स्त्रियों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है इस विषय की चर्चा की गई है। जैसे—जो आत्माएँ मुक्ति की इच्छा रखने वाली हैं, चार गतिरूप संसारभ्रमण से भययुक्त होने वाली हैं और श्रुतादि धर्मों मे सदा स्थिति करने वाली हैं, उनके लिए भी इसके समान—स्त्रीत्याग के समान—जगत में कोई दुस्तर कार्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसे और पदार्थ सुखपूर्वक त्यागे जा सकते हैं वैसे बाल जीवों के मन को हरने वाली स्त्रियों का त्याग करना सुकर नहीं किन्तु अत्यन्त कठिन है। बाल जीवों—निर्विवेकी जनों—के मन को हर लेने के कारण इनको बालमनोहर कहते हैं।

स्त्रीसंग के त्याग से किस गुण की प्राप्ति होती है ? अब इस विषय में कहते हैं—

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१८॥

१ इसी भाव से मिलती-जुलती एक गाथा सूत्रकृताङ्गसूत्र में भी आती है। यथा—
जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमया। एवं लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमईमया॥
[अध्या० ३ उद्दे० ३ गा० १६]

एतांश्च सङ्गान् समतिक्रम्य,
सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य,
नदी भवेदपि गंगासमाना ॥१८॥

पदार्थान्वयः—एए-ये पूर्वोक्त य-स्त्री आदि संगे-संग को समइक्कमित्ता-समतिक्रम करके सेसा-शेष पदार्थ सुदुत्तरा-सुखोत्तर भवंति-होते हैं च-एव-प्राग्वत् जहा-जैसे महासागरं-महासागर को उत्तरित्ता-तैरकर नई-नदी—सुखोत्तर भवे-होती है अवि-संभावना में है गंगासमाणा-गंगा के समान ।

मूलार्थ—इस पूर्वोक्त स्त्रीप्रसंग को उल्लंघ करके शेष पदार्थ सुखोत्तर हो जाते हैं। जैसे महासागर को तैरकर गंगा समान नदियाँ सुखोत्तर—सुख से उतरने योग्य—हो जाती हैं।

टीका—इस काव्य में इस बात का वर्णन किया है कि जैसे स्वयं भूरमण समुद्र का तैरना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार स्त्रियों के संग का परित्याग करना भी नितान्त कठिन है। अतः जिन महात्माओं ने स्त्रियों के संग को छोड़ दिया है उनको अन्य द्रव्यादिक पदार्थों को छोडना कोई दुस्तर नहीं। कारण यह है कि अत्यन्त राग के कारणभूत स्त्रियाँ हैं, जब इन्हीं का परित्याग कर दिया तब अन्य पदार्थों का परित्याग तो सुकर ही है। जैसे कि जिस आत्मा ने अपनी भुजाओं से स्वयं भू-रमण समुद्र को पार कर लिया उसके लिए गंगा समान क्षुद्र नदियों का पार करना कोई कठिन काम नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्त्रीसंग का अन्तःकरण से परित्याग करना मानों भुजाओं द्वारा समुद्र का पार करना है अर्थात् अत्यन्त कठिन है। सारांश यह है कि विषयराग के परित्याग से अन्य स्नेहादि रागों का सुखपूर्वक त्याग किया जा सकता है, इसलिए संयमशील साधु को सब से प्रथम विषयराग का ही त्याग करना चाहिए। इसी हेतु से पिछली तीन गाथाओं में कामराग का प्रबलता से निषेध किया है।

अब कामराग को दुःख का एक मात्र कारण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१९॥

कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं,
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत्कायिकं मानसिकं च किंचित्,
तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—कामाणुगिद्धि–काम की सतत अभिलाषा से प्पभवं–उत्पन्न होता है खु–निश्चयार्थक है दुक्खं–दुःख सव्वस्स–सर्व लोगस्स–लोक को सदेवगस्स–देवों के साथ जं–जो काइयं–काया के रोग च–और माणसियं–मानसिक पीड़ा किंचि–किंचित् मात्र भी है तस्संतगं–उसके अंत को गच्छइ–प्राप्त करता है वीयरागो–वीतराग पुरुष।

मूलार्थ—काम की निरन्तर अभिलाषा से दुःख की उत्पत्ति होती है तथा देवों सहित सर्व लोक में जितने भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वीतराग पुरुष उनका भी अन्त कर देता है।

टीका—लोक में यावन्मात्र कायिक और मानसिक दुःख हैं वे सब काम-भोगों में मूर्छित होने वाली व्यक्तियों को ही प्राप्त होते हैं। कारण यह है कि सर्व प्रकार के दुःखों का मूल कारण काम-भोग ही हैं। इस काम-भोगादि से देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि जितने भी जगत के जीव हैं वे सब दुःखी हो रहे हैं, अतः जिस आत्मा ने इन काम-भोगादि को सर्वथा छोड़ दिया ऐसा वीतराग पुरुष ही संसार के समस्त दुःखों का अन्त कर सकता है अर्थात् उसको किसी प्रकार का भी शारीरिक वा मानसिक दुःख नहीं होता।

जब कि काम-भोगादि का सुख से उपभोग किया जाता है और वे भोग के समय सुखरूप प्रतीत होते हैं, तो फिर ये दुःख का कारण अथवा दुःखरूप क्यों हैं ? इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥२०॥

यथा च किम्पाकफलानि मनोरमाणि,
रसेन वर्णेन च भुज्यमानानि ।
तानि क्षोदयन्ति जीवितं पच्यमानानि,
एतदुपमाः कामगुणा विपाके ॥२०॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे किंपागफला–किंपाकफल मणोरमा–मन को आनन्द देने वाले रसेण–रस से वण्णेण–वर्ण से य–और गन्धादि से भुज्जमाणा–खाए हुए—परन्तु ते–वे खुड्डए–विनाश कर देते हैं जीविय–जीवन का पच्चमाणा–परिणत होते हुए एओवमा–यही उपमा विवागे–विपाक में—परिणाम में कामगुणा–कामगुणों की है ।

मूलार्थ—जैसे किंपाक-वृक्ष के रस और वर्णादि से युक्त सुन्दर फल खाने पर जीवन का विनाश कर देते हैं, इसी प्रकार विपाक में काम-भोगादि को जानना चाहिए ।

टीका—जैसे किंपाक-वृक्ष के फल देखने में सुन्दर और रस में मधुर तथा खाने में स्वादु और सुगन्धियुक्त होते हैं, परन्तु भक्षण करने के अनन्तर वे प्राणों का हरण कर लेते हैं; इसी प्रकार काम-भोगादि विषय भोगकाल में तो सुखप्रद होते हैं, परन्तु परिणाम में वे दुःखप्रद हैं अर्थात् नरकादि गति में ले जाकर महान् कष्ट के देने वाले हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे किंपाकफल देखने में सुन्दर

और खाने में मधुर होता हुआ भी प्राणों का संहारक है, उसी भाँति काम-भोगादि विषय भी आरम्भ में सुख देने वाले प्रतीत होते हैं, किन्तु परिणाम में ये अत्यन्त कष्ट देने वाले हैं। अतः ये सुख के साधन अथवा सुखरूप नहीं हो सकते।

इस प्रकार राग के विषय में हेयोपादेय का विचार करने के अनंतर अब राग और द्वेष दोनों के विषय मे कहते हैं। यथा—

जे इंदियाणं विसया मणुन्ना,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥२१॥

य इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः,
न तेषु भावं निसृजेत् कदापि।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्,
समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥२१॥

पदार्थान्वयः—जे–जो इंदियाणं–इन्द्रियों के विसया–विषय मणुन्ना–मनोज्ञ हैं तेसु–उनमें भावं–रागभाव कयाइ–कदाचित् न निसिरे–न करे य–और अमणुन्नेसु–अमनोज्ञ विषयों में मणं पि–मन से भी द्वेष न कुज्जा–न करे समाहिकामे–समाधि की इच्छा रखने वाला समणे–श्रमण तवस्सी–तपस्वी।

मूलार्थ—समाधि की इच्छा वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनमें रागभाव कदाचित् न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं उनमें मन से भी द्वेष न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि मनोहर विषयों मे राग और अमनोहर विषयों में द्वेष, इन दोनों का ही त्याग करना बतलाया गया है। कारण यह है कि इनके त्याग के विना तपस्वी साधु को समाधि की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार जब इन्द्रियजन्य विषय मे राग का त्याग कर दिया तो फिर

उसमें प्रवृत्ति नहीं होती तथा अप्रिय विषय में द्वेष के त्याग से कषायों की निवृत्ति हो जाती है। एवं जब राग और द्वेष की निवृत्ति हो गई तब चित्त की एकाग्रतारूप समाधि की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि मन की आकुलता के कारण राग और द्वेष हैं। इनके निवृत्त होने से मन में निराकुलता और स्वस्थता आ जाती है। वही समाधि है, इसलिए समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वी श्रमण प्रिय और अप्रिय विषय में राग-द्वेष के भावों को अपने मन में कदाचित् भी धारण न करे।

अब इसी विषय को विस्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥२२॥

चक्षुषो रूपं ग्रहणं वदन्ति,
तद् रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तद् (रूपं) द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥२२॥

पदार्थान्वयः—चक्खुस्स—चक्षु को रूवं—रूप का गहणं—ग्रहण करने वाला वयंति—कहते हैं तं—वह रागहेउं—राग का हेतु तु—तो मणुन्नं—मनोज्ञ आहु—कहा है तं—वह अमणुन्नं—अमनोज्ञ रूप दोसहेउं—द्वेष का हेतु आहु—कहा है य—तथा जो—जो तेसु—इन दोनों में समो—समभाव रखता है स—वह वीयरागो—वीतराग है।

मूलार्थ—चक्षु रूप का ग्रहण करता है। वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है और असुन्दर द्वेष का कारण है। जो इन दोनों प्रकार के रूपों में सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—इस गाथा में चक्षु के द्वारा ग्रहण किये गये रूप की सुन्दरता और असुन्दरता को राग-द्वेष का कारण बतलाते हुए उसमें सम भाव रखने का उपदेश

किया गया है । सूत्रकार का तात्पर्य यह है कि चक्षु-द्वारा जो रूप ग्रहण किया जाता है उसकी मनोहरता राग के उत्पादन का कारण है । रूप की विकलता से द्वेष की उत्पत्ति होती है, परन्तु जो महात्मा इन दोनों प्रकार के अर्थात् सुन्दर और विकल इन दोनों प्रकार के रूप को आँखों से देखता हुआ भी अपने अन्तःकरण में किसी प्रकार के राग अथवा द्वेष के भाव को नहीं आने देता किन्तु दोनों में सम भाव रखता है वह वीतराग है । कारण यह है कि जब उसने दोनों मे समान भाव धारण कर लिया तब उसकी आत्मा में किसी प्रकार के हर्ष अथवा शोक का आविर्भाव नहीं होता अर्थात् वह इनसे विमुक्त हो जाता है । जिस आत्मा में राग और द्वेष की परिणति विद्यमान है उसको प्रिय पदार्थ से राग और अप्रिय के संयोग से द्वेष का होना स्वाभाविक है, इसलिये चक्षुगृहीत रूप की प्रियता और अप्रियता में सम भाव रखने वाला ही निराकुल अथवा सुखी रहता है जिसको कि दूसरे शब्दों में वीतराग कहते हैं ।

अब उक्त विषय को फिर से और स्फुट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति,
चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥२३॥

रूपस्य चक्षुर्ग्राहकं वदन्ति,
चक्षुषो रूपं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥२३॥

पदार्थान्वयः—रूवस्स–रूप का चक्खुं–चक्षु गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं चक्खुस्स–चक्षु का रूवं–रूप को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं रागस्स हेउं–राग का हेतु समणुन्नं–मनोज्ञ आहु–कहा है दोसस्स हेउं–द्वेष का हेतु अमणुन्नं–अमनोज्ञ आहु–कहा है ।

मूलार्थ—रूप को चक्षु ग्रहण करता है और चक्षु को रूप ग्रहण करता है अर्थात् चक्षु रूप का ग्राहक है और रूप चक्षु का ग्राह्य है। प्रिय रूप राग का हेतु है और अप्रिय द्वेष का कारण है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में रूप और चक्षु का ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध बतलाया गया है। कारण यह है कि न तो ग्राह्य के बिना ग्राहकभाव हो सकता है और ना ही ग्राहक के बिना ग्राह्यभाव रह सकता है। इसलिये इन दोनों का आपस में उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है। इससे सिद्ध हुआ कि जैसे चक्षुग्राह्य रूप राग-द्वेष का कारण है, उसी प्रकार रूपग्राहक चक्षु भी राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण है। अतः जब चक्षु प्रिय रूप के साथ सम्बन्ध करता है तब राग को उत्पन्न करने वाला होता है और जब उसका सम्बन्ध अप्रिय रूप से होता है तब वह द्वेष का उत्पादक हो जाता है। इस प्रकार रूप और चक्षु दोनों ही राग-द्वेष के उत्पादक बतलाये गये हैं।

इस रीति से राग और द्वेष का परित्याग करके सम भाव में स्थिर रहकर समाधि और वीतरागता की प्राप्ति का उपदेश करने के अनन्तर, अब शास्त्रकार राग-द्वेष का त्याग करने अर्थात् उनमें अत्यन्त आसक्त होने से इस जीव की जो दशा होती है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥२४॥

रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः,
आलोकलोलः समुपैति मृत्युम् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—रूवेसु—रूपों में जो—जो गिद्धिं—राग तिव्वं—तीव्र उवेइ—प्राप्त करता है अकालियं—अकाल में से—वह विणासं—विनाश को पावइ—पाता है रागाउरे—राग से आतुर हुआ से—वह जह—यथा—जैसे पयंगे—पतंग—शलभ आलोयलोले—आलोक मे लम्पट मच्चुं—मृत्यु को समुवेइ—प्राप्त करता है वा—एवार्थक है।

मूलार्थ—आलोक-लम्पट पतंग रूप के राग में आतुर होकर जैसे मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही रूप में अत्यन्त आसक्ति रखने वाला जीव अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में रूपादिविषयक अत्यन्त आसक्ति होने से जो परिणाम निकलता है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि जो व्यक्ति रूपादि विषय में अत्यन्त गृद्धि रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है अर्थात् राग की तीव्रता के कारण उसका बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। यद्यपि आयु-कर्म अपने नियत समय पर ही पूर्ण होता है, तथापि सोपक्रम और व्यवहारनय की दृष्टि से यह कथन किया गया है। तात्पर्य यह है कि उपक्रम की अपेक्षा से और व्यवहार की दृष्टि से अकाल-मृत्यु का होना संभव माना गया है। उक्त विषय पर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे रूपविषयक उत्कट राग रखने वाला पतंग अग्नि-शिखा में जल मरता है अर्थात् रूप में अत्यन्त मूर्छित होने के कारण दीप्त शिखा को पकड़ने जाता हुआ स्वयं उसमें भस्म हो जाता है, इसी प्रकार रूपादि में मूर्छित होने वाला जीव भी अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जो व्यक्ति रूपादि विषयों मे सामान्य—मंद—राग भी रखने वाले हैं वे नाना प्रकार के क्लेशों और कष्टों का सामना करते हैं। इसलिए रूपादिविषयक राग का सर्वथा त्याग कर देना ही मुमुक्षु जनों के लिए अत्यन्त लाभ का हेतु है।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं—

जे यावि दोसं समुवेइ निच्चं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥२५॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति नित्यम्,
तस्मिन्क्षणे स तु समुपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किंचिद्रूपमपराध्यति तस्य ॥२५॥

पदार्थान्वयः—जे–जो य–पुनः अवि–संभावना में दोसं–द्वेष को समुवेइ–उत्पन्न करता है निच्चं–सदैव तंसि क्खणे–उसी क्षण मे दुक्खं–दुःख को से–वह उवेइ–प्राप्त करता है उ–पादपूर्ति में है दुद्दंतदोसेण–दुर्दान्त दोष से सएण–स्वकन से जंतू–जीव से–उसको किंचि–किंचिन्मात्र भी रूवं–कुरूप—कुत्सितरूप न अवरज्झई–अपराध नहीं करता—दुःख नहीं देता।

मूलार्थ—जो जीव अमनोज्ञ रूप के विषय में सदैव द्वेष करता है वह उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है और वह जीव अपने ही दोष से दुःखी होता है। उसमें रूप का कोई भी दोष नहीं है।

टीका—यदि कोई आत्मा अपने तीव्र भावों से अमनोज्ञ रूप को देखकर द्वेष को प्राप्त होती है तो वह उसी समय दुःख को भी उत्पन्न कर लेती है। तात्पर्य यह है कि हा! मैंने इस अनिष्ट रूप को क्यों देखा! इस प्रकार के भावों से उसका मन व्याकुल हो उठता है और मन के व्याकुल होने से वाणी और शरीर भी दुःख से पीड़ित होने लगते हैं। सारांश यह है कि जो आत्मा अपनी चक्षु-इन्द्रिय का दमन नहीं करती वह अपने दोष से युक्त हुई अवश्य दुःख पाती है। परंच इतना स्मरण रहे कि अमनोज्ञ रूप ने उसको—आत्मा को—दुःखी नहीं किया किन्तु वह अपने ही राग-द्वेपयुक्त भावों से दुःखित होती है। कारण यह है कि रूप का आँखों मे प्रविष्ट होने का और चक्षु का उसे ग्रहण करने का स्वभाव ही है, इसलिए दोनों ही दुःख के मूलोत्पादक नहीं हैं। दुःख का उत्पादक तो आत्मा में उत्पन्न होने वाला राग-द्वेष का भावविशेष है। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि 'रूप का इसमे कोई अपराध नहीं है'। किसी २ प्रति मे 'निच्चं' के स्थान पर 'तिव्वं'—तीव्र ऐसा पाठ उपलब्ध होता है।

अव फिर इसी विषय मे अर्थात् राग-द्वेषमूलक अनर्थ और उसके त्याग के विषय में कहते हैं । यथा—

एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे,
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥२६॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रूपे,
अतादृशे स करोति प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥२६॥

पदार्थान्वयः—एगंतरत्ते–एकान्त रक्त रुइरंसि–रुचिर—सुन्दर रूवे–रूप में अतालिसे–असुन्दर रूप में से–वह पओसं–प्रद्वेष कुणई–करता है दुक्खस्स–दुःख के संपीलं–समूह को बाले–बाल जीव उवेइ–प्राप्त करता है, परंच विरागो–विरागी मुणी–मुनि तेण–उससे—राग के द्वारा उत्पन्न हुए दुःख से न लिप्पई–लिप्त नही होता ।

मूलार्थ—जो एकान्त मनोहर रूप के विषय में अनुरक्त होता है तथा असुन्दर रूप में प्रद्वेष करता है, वह बाल—अज्ञानी—जीव दुःखसमूह को प्राप्त होता है, परन्तु वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता अर्थात् वीतराग मुनि को वह दुःख प्राप्त नहीं होता ।

टीका—राग-द्वेष को दुःख का कारण वतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि एकान्त सुन्दर रूप में अनुरक्त होने वाला और कुत्सित रूप से द्वेष करने वाला पुरुष दुःख के समुदाय को एकत्रित कर लेता है, परन्तु जो वीतराग मुनि है उसको किसी प्रकार के दुःख का सम्पर्क नहीं होता । तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष के कारण से ही दुःख की उत्पत्ति होती है और राग-द्वेष के अन्तःकरण से मिट जाने पर तज्जन्य दुःख की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिए जिस आत्मा में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न

नहीं होते उसको दुःख का सम्पर्क नहीं होता अर्थात् वह इष्ट-वियोग और अनिष्ट संयोग के होने पर भी दुःखी नहीं होती किन्तु पद्मपत्र की तरह सदा अलिप्त रहती है।

राग ही एक मात्र दुःखों का मूल स्रोत है। उसी से हिंसादि अनेक प्रकार के आस्रवों की उत्पत्ति होती है। अब शास्त्रकार इसी विषय का स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं। यथा—

रूवाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥२७॥

रूपानुगाशानुगतश्च जीवान्,
चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—रूवाणुगासा—रूप की आशा के अणुगए—अनुगत हुआ जीवे—जीव चराचरे—चर और अचर प्राणियों की हिंसइ—हिंसा करता है अणेगरूवे—अनेक प्रकार के ते—उन जीवों को चित्तेहि—नाना प्रकार से बाले—अज्ञानी जीव परितावेइ—परिताप देता है पीलेइ—पीड़ा देता है अत्तट्ठ—आत्मा का अर्थ गुरु—गुरु है जिसका किलिट्ठे—राग से पीड़ित हुआ।

मूलार्थ—रूप की आशा के वश हुआ अज्ञानी जीव जंगम और स्थावर प्राणियों की नाना प्रकार से हिंसा करता है, उनको परिताप देता है तथा अपना ही प्रयोजन सिद्ध करने वाला रागी जीव नाना प्रकार से उन जीवों को पीड़ा पहुँचाता है।

टीका—राग की अनर्थमूलकता का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि रूप की आशा के अनुगत हुआ जीव जङ्गम और स्थावर प्राणियों की अनेक प्रकार

से हिंसा करने लग जाता है। तात्पर्य यह है कि जब उसकी आत्मा मनोज्ञ रूप की आशा में लग जाती है तब उसकी प्राप्ति के लिए वह चराचर प्राणियों की हिंसा करने में कोई विवेक नहीं करता तथा अनेक प्रकार से उनको परिताप देता है, कष्ट पहुँचाता है और अनेक प्रकार की बाधाओं का स्थान बनाता है। क्योंकि वह स्वार्थी है, उसको केवल अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना इष्ट है, इसलिए वह अज्ञानी जीव है। कारण यह है कि उसकी आत्मा उत्कट राग से अत्यन्त व्याकुल हो रही होती है। यद्यपि परिताप और पीड़ा ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, तथापि परिताप से सर्व देश और पीड़ा से एक देश का ग्रहण करना यहाँ पर अभिप्रेत है। सारांश यह है कि सर्व देश में कष्ट पहुँचाना परिताप और एक देश में कष्ट देना पीड़ा है। गाथा में दिया गया 'अनेकरूप' पद जातिभेद से जीवों की विभिन्नता का परिचायक है अर्थात् जातिभेद से भिन्न २ जीव अनेक प्रकार से कहे गये हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

रूवाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥२८॥

रूपानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तलाभः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—रूवाणुवाएण—रूपविषयक राग होने से परिग्गहेण—मूर्च्छा-भाव से उप्पायणे—उत्पादन में रक्खणे—रक्षण में संनिओगे—संनियोग में वए—उसके विनाश होने पर य—और विओगे—वियोग के समय से—उस रागी पुरुष को कहं—कहाँ सुहं—सुख है संभोगकाले—संभोगकाल में य—फिर अतित्तलाभे—अतृप्त-लाभ ही रहता है।

मूलार्थ—रूपविषयक मूर्च्छाभाव होने से, फिर उसके उत्पादन और रक्षण के संनियोग में तथा विनाश और वियोग में उस रागी जीव को कहाँ सुख है ! तथा संभोगकाल में वह अतृप्तलाभ ही रहता है।

टीका—जो जीव मनोज्ञ रूप में अत्यन्त आसक्त हैं उनको किसी प्रकार से भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती । प्रथम तो उसके उत्पादन और यत्न से रक्षण करने में कष्ट होता है तथा विनाश अथवा वियोग होने में भी अत्यन्त क्लेश का अनुभव करना पड़ता है । इतना ही नहीं, किन्तु आगामी काल में वह संभोग के समय अतृप्त ही रहता है । अथवा यों कहें कि जिसको रूप देखने का व्यसन पड़ जाता है वह कभी भी तृप्ति का लाभ नहीं कर सकता अर्थात् तृप्त नहीं हो सकता । इस कथन का तात्पर्य इतना ही मात्र है कि स्त्री-पुरुष और हाथी-घोड़ा आदि जितने भी रूपवान् पदार्थ हैं उनमें आसक्त होने वाला पुरुष उत्तरोत्तर दुःख का ही उपार्जन करता है तथा रूपासक्त पुरुष को वार २ देखने पर भी तृप्ति नहीं हो सकती । इससे सिद्ध होता है रूपविषयक मूर्छा रखने वाले पुरुष किसी दशा में भी सुख का अनुभव नहीं कर सकते ।

अव फिर इसी विषय में कहते हैं—

रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥२९॥

रूपेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—रूवे–रूप में अतित्ते–अतृप्त य–और परिग्गहंमि–परिग्रह में सत्तोवसत्तो–सक्त और उपसक्त न उवेइ–नहीं प्राप्त होता तुट्ठिं–तुष्टि को—सन्तोष को अतुट्ठिदोसेण–अतुष्टिदोष से दुही–दुःखी हुआ परस्स–दूसरे की रूप वाली वस्तु के विषय में लोभाविले–लोभ से व्याप्त हुआ अदत्तं–अदत्त को आययई–ग्रहण करता है।

मूलार्थ—रूप के विषय में अतृप्त और परिग्रह—मूर्छा—में अत्यन्त आसक्त रहने वाला पुरुष कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। फिर असन्तोष के दोष से दुःखी हुआ २ वह परपदार्थ का लोभी बनकर अदत्त का भी ग्रहण करने लगता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में राग से उत्पन्न होने वाले अन्य दोषों का वर्णन किया गया है। रूप के विषय में अतृप्त तथा उस मनोहर रूप के विषय में सामान्य और विशेष रूप से मूर्छित होने वाले पुरुष को सन्तोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। उस असन्तोष से दुःख को प्राप्त हुआ वह अन्य जीवों के पास उपलब्ध होने वाले रूपवान् मनोज्ञ पदार्थों को लेने की इच्छा करता है और लोभ के वशीभूत होने से दूसरों के न देने पर भी उनको—परपदार्थों को—प्राप्त करने का यत्न करता है। तात्पर्य यह है कि रूपादि-पदार्थ-विषयक अत्यन्त राग होने से इस जीव में लोभ की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। उस बढ़े हुए लोभ से आकर्षित होकर वह अन्य की वस्तु को चुरा लेने में प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् परसम्बन्धी रूपवान् पदार्थों की चोरी करता है। यद्यपि परिग्रह शब्द प्रायः धन का वाची ही प्रसिद्ध है, तथापि इस स्थान पर उसका मूर्छा अर्थ ही अभिप्रेत है। सारांश यह है कि रूपविषयक आसक्ति रखने वाला पुरुष जहाँ हिंसा में प्रवृत्त होता है वहाँ चोरी में भी उसकी प्रवृत्ति अनिवार्य-सी हो जाती है। यह राग से उत्पन्न होने वाला दूसरा दोष है।

अब राग से उत्पन्न होने वाले अन्य दोष का वर्णन करते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥३०॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः ,
रूपेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्द्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—तण्हाभिभूयस्स–तृष्णा से पराजित हुआ अदत्तहारिणो–चोरी को करने वाला रूवे–रूप के विषय में अतित्तस्स–अतृप्त य–तथा परिग्गहे–परिग्रह में अतृप्त लोभदोसा–लोभरूप दोष से मायामुसं–माया और मृषावाद की वड्ढइ–वृद्धि करता है तत्थावि–फिर भी से–वह दुक्खा–दुःख से न विमुच्चई–नहीं छूटता ।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला तथा रूपपरिग्रह में अतृप्त पुरुष माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दुःख से छुटकारा नहीं पाता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में राग के कारण से बढ़ी हुई रूपासक्ति के दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है । जो पुरुष तृष्णा के वशीभूत हो रहा है और अदत्तहारी अर्थात् चौर्यकर्म मे प्रवृत्त है तथा रूप मे अत्यन्त मूर्छित हो रहा है, वह लोभ के दोष से असत्यभाषण और छल-कपट की वृद्धि करता है अर्थात् लोभ के वशीभूत होकर जो उसने परवस्तु का अपहरण किया है उसको छिपाने के लिए छल करता है तथा झूठ बोलता है । कारण यह है कि लोभी पुरुष अपने किये हुए दुष्ट कर्म को छिपाने के लिये अनेक प्रकार से छल-कपट और मिथ्याभाषण आदि का व्यवहार करते हुए प्रायः देखे जाते हैं, परन्तु ऐसा करने पर भी वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकते । तात्पर्य यह है कि दुष्ट कर्म दुष्ट कर्म के द्वारा शान्त नहीं हो सकता । जैसे पुरीष—विष्ठा—को पुरीष से आच्छादित कर देने पर भी उसकी दुर्गन्ध नहीं मिटती, उसी प्रकार अनिष्टाचरण की शुद्धि भी दूसरे अनिष्टाचरण से नहीं हो

सकती। इसलिए रूपलोलुप पुरुष अपने स्तेयकर्म को असत्यभाषणादि के द्वारा छिपाने का प्रयत्न करता हुआ भी उसे पूर्णतया छिपा नहीं सकता, किन्तु अन्त में दुःखों का ही भाजन बनता है।

अब पूर्वोक्त विषय को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥३१॥

मृषावाक्यस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः,
रूपेऽतृप्तो दुःखितोऽनीशः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स-मृषा—झूठ—बोलने के पच्छा-पश्चात् य-तथा पुरत्थओ-पहले य-वा पओगकाले-बोलने के समय दुही-दुःखी होता हुआ दुरंते-दुरन्त जीव य-पुनः एवं-इसी प्रकार अदत्ताणि-अदत्तादान समाययंतो-ग्रहण करता हुआ रूवे-रूप के विषय मे अतित्तो-अतृप्त दुहिओ-दुःखित होता है अणिस्सो-अनाश्रित।

मूलार्थ—जीव, झूठ बोलने के पीछे अथवा पहले तथा बोलते समय दुःखी होता है तथा अदत्त का ग्रहण करता हुआ और रूपविपयक अतृप्ति को प्राप्त होता हुआ दुःखी तथा अनीश्वर होता है।

टीका—असत्यभाषण करने वाला जीव किसी समय भी समाधिनिराकुलता को प्राप्त नहीं होता यह इस गाथा का भाव है। जैसे कि असत्य बोलने के पीछे उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है और असत्य बोलने से पहले भी उसको भय-कंपादि अवश्य उत्पन्न होते हैं तथा असत्य भाषण के समय पर भी वह निश्चिन्त

नहीं होता। कारण यह है कि उसको यह भय लगा रहता है कि कहीं उसका यह असत्यभाषण व्यक्त न हो जावे, इसलिए मृषावादी जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं होता। जिनसे जन्म और मरण का अन्त नहीं आता इस प्रकार के कर्मों का आचरण करने वाला जीव 'दुरन्त' संज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला रूपलोलुप जीव भी कभी सुखी नहीं हो सकता। उपलक्षण से मैथुन आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार से दुःख का विचार कर लेना। एवं असत्यभाषी और चौर्यकर्म में प्रवृत्ति रखने वाला रूपलोलुप जीव अनीश्वर अर्थात् साहाय्य-रहित हो जाता है—उसका कोई सहायक नहीं बनता।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥३२॥

रूपानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—एवं-इस प्रकार रूवाणुरत्तस्स-रूप में अनुरक्त नरस्स-नर को कत्तो-कहाँ से सुहं-सुख होज्ज-होवे कयाइ-कदाचित् किंचि-किंचिन्मात्र तत्थ-वहाँ पर उवभोगे वि-भोगने के समय पर भी किलेस-क्लेश और दुक्खं-दुःख को निव्वत्तई-उत्पन्न करता है जस्स-जिसके कए-लिए दुक्खं-दुःख को ण-वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—रूप के विषय में अनुरक्त पुरुष को सुख कहाँ से हो! उसको तो कदाचित् और किंचिन्मात्र भी सुख नहीं हो सकता। उस रूप के विषय में

अनुरक्त होने वाले जीव को उपभोग के समय पर भी क्लेश और दुःख का ही सम्पादन करना पड़ता है तथा उपभोग के सम्पन्न होने पर भी तृप्ति के न होने से दुःख ही उपलब्ध होता है ।

टीका—रूपादि के लोलुप जीव को कभी और किंचिन्मात्र भी सुख की उपलब्धि नहीं होती । तृप्ति न होने से सुख के बदले दुःख ही प्राप्त होता है तथा जब रूप के उपभोग का समय आता है तब भी पर्याप्त सामग्री के न मिलने से क्लेश और दुःख ही उत्पन्न होते हैं । इससे सिद्ध यह हुआ कि रूपासक्त जीव किसी प्रकार से भी सुख का सम्पादन नहीं कर सकता । इसलिए सुख की इच्छा रखने वाली मुमुक्षु आत्मा को इस अशुभ आसक्ति का परित्याग ही कर देना चाहिए ।

रागविषयक वर्णन करने के अनन्तर अब द्वेष के विषय में कहते हैं । यथा—

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥३३॥

एवमेव रूपे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥३३॥

पदार्थान्वयः—**एमेव**—इसी प्रकार **रूवम्मि**—रूप में **पओसं**—प्रद्वेष को **गओ**—प्राप्त हुआ **उवेइ**—पाता है **दुक्खोहपरंपराओ**—दुःखसमूह की परम्परा को **य**—फिर **पदुट्ठचित्तो**—प्रदुष्टचित्त हुआ **कम्मं**—कर्म को **चिणाइ**—उपार्जन करता है **पुणो**—फिर वह कर्म **जं**—जो **से**—उसको **विवागे**—विपाककाल मे **दुहं**—दुःखरूप **होइ**—हो जाता है ।

मूलार्थ—इसी प्रकार रूप के विषय में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख के समूह की परम्परा को प्राप्त हो जाता है तथा दुष्ट चित्त से कर्म का उपार्जन करता है। फिर वही कर्म उसके लिए विपाककाल में दुःखरूप हो जाता है।

टीका—जिस प्रकार रूप के विषय में अत्यन्त मूर्छित हुआ पुरुष दुःख का भागी बनता है, ठीक उसी प्रकार जो जीव कुत्सित रूप के देखने से प्रद्वेष को प्राप्त होता है वह भी दुःख-परम्परा को प्राप्त होता है। वह दुष्ट चित्त से जिन कर्मों को एकत्रित करता है विपाककाल में वे ही कर्म उसके लिए दुःखरूप हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि रूपविषयक प्रद्वेष होने से अशुभ कर्म की प्रकृतियों का बन्ध होता है और जब वे उदय में आती हैं तब उनका फल अशुभ अर्थात् दुःखरूप होता है। इन्हीं के कारण यह जीव इस लोक तथा परलोक में अनेकविध दुःखों का अनुभव करता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को राग की भाँति द्वेष का भी परित्याग कर देना चाहिए।

राग-द्वेष के परित्याग से जिस गुण की प्राप्ति होती है, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं। यथा—

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥३४॥

रूपे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥३४॥

पदार्थान्वयः—रूवे—रूप में विरत्तो—विरक्त मणुओ—मनुष्य विसोगो—शोकरहित होता है एएण—इस दुक्खोहपरंपरेण—दुःखसमूह की परम्परा से भवमज्झे वि-

संसार के मध्य में भी संतो—रहता हुआ न लिप्पई—लिप्त नहीं होता जलेण वा—जल में जैसे—पोक्खरिणीपलासं—पद्मिनी का पत्र।

मूलार्थ—रूप के विषय में विरक्त मनुष्य शोक से रहित होता हुआ दुःखसमूह की परम्परा से, संसार में रहता हुआ भी दुःखों से लिप्त नहीं होता। जैसे जल में रहता हुआ भी कमलिनी का पत्र जल से लिप्यमान नहीं होता।

टीका—रूपादि के विषय में अनुराग का परित्याग कर देने वाला पुरुष शोक का अनुभव नहीं करता तथा दुःखपरम्परा के सम्पर्क से भी रहित होता है अर्थात् उसको दुःखसमूह नहीं सताता। एवं विरक्त पुरुष की इस संसार में वही स्थिति होती है जो कि जल में रहने वाले कमलिनीदल की है अर्थात् जैसे जल में रहता हुआ भी कमलिनीदल जल के सम्पर्क से अलग रहता है, उसी प्रकार संसार में रहता हुआ भी विरक्त पुरुष संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता। कारण यह है कि दुःख के हेतु राग और द्वेष हैं, उनके परित्याग से तन्मूलक दुःख का भी अभाव हो जाता है, इसलिए रूपविषयक विरक्त मनुष्य विगतशोक होता हुआ सांसारिक दुःखों से भी सर्वथा अलिप्त रहता है। यहाँ पर 'वा' शब्द इव के अर्थ में आया हुआ है।

इस प्रकार चक्षु के विषय में वर्णन करने के अनन्तर अब सूत्रकार श्रोत्र-इन्द्रिय के विषय में कहते हैं। यथा—

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥३५॥

श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहणं वदन्ति,
तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥३५॥

पदार्थान्वयः—सोयस्स–श्रोत्र का सद्दं–शब्द को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं तं–वह मणुन्नं–मनोज्ञ रागहेउं–राग का हेतु आहु–कहा है तं–वह अमणुन्नं–अमनोज्ञ दोसहेउं–द्वेष का हेतु आहु–कहा है य–और जो–जो तेसु–उनमें समो–सम भाव रखता है स–वह वीयरागो–वीतराग है तु–प्राग्वत्।

मूलार्थ—श्रोत्र का शब्द ग्राह्य—विषय—है। मनोज्ञ शब्द तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है, परन्तु जो इन दोनों शब्दों में सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—चक्षुविषयक वर्णन करने के अनन्तर अब श्रोत्र के विषय में कहते हैं। श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द का ग्राहक और शब्द श्रोत्र का ग्राह्य—विषय—है। तात्पर्य यह है कि जिस समय शब्द के परमाणु श्रोत्र में प्रविष्ट होते हैं तब श्रोत्र उनको ग्रहण करता है, इसलिये शब्द को श्रोत्र का विषय कहा गया है। इनमें जो प्रिय शब्द है वह तो राग का हेतु है और जो कटु—अप्रिय—शब्द है उसको द्वेष का कारण बतलाया है। परन्तु जो पुरुष इन दोनों प्रकार के शब्दों को सुनकर सम भाव में रहता है अर्थात् प्रिय शब्द को सुनकर उसमें अनुरक्त नहीं होता और कटु शब्द के प्रति द्वेष प्रकट नहीं करता वह समभावभावित होने से वीतराग कहा वा माना जाता है। उक्त कथन का सारांश यह है कि शब्द का ग्राहक श्रोत्र ही है, यही उसका लक्षण है तथा शब्द यह श्रोत्र का विषय होने से उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, परन्तु शब्द का ग्रहण होने के अनन्तर उसका अच्छा या बुरा प्रभाव आत्मा पर पड़ता है जहाँ पर कि राग-द्वेष की परिणति होती है। इस विचार को लेकर ही प्रिय और अप्रिय शब्द को क्रमशः राग और द्वेष का हेतु बतलाया गया है, परन्तु जिस आत्मा में भावों की सम परिणति होती है उस पर शब्द की प्रियता और अप्रियता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् वह प्रिय शब्द को सुनकर उसमें अनुरक्त नहीं होता और अप्रिय शब्द से उसमें द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। इस हेतु से उसको वीतराग कहा गया है इत्यादि।

अब इसी विषय को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं—

सद्दस्स सोयं गहणं वयंति,
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥३६॥

शब्दस्य श्रोत्रं ग्राहकं वदन्ति,
श्रोत्रस्य शब्दं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—सद्दस्स–शब्द का सोयं–श्रोत्र को गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं—और सोयस्स–श्रोत्र का सद्दं–शब्द को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं रागस्स–राग का हेउं–हेतु समणुन्नं–मनोज्ञ को आहु–कहा है दोसस्स–द्वेष का हेउं–हेतु अमणुन्नं–अमनोज्ञ को आहु–कहा है।

मूलार्थ—श्रोत्र-इन्द्रिय को शब्द का ग्राहक और शब्द को श्रोत्र का ग्राह्य कहते हैं। जो मनोज्ञ शब्द है वह राग का हेतु है और अमनोज्ञ शब्द को द्वेष का कारण बतलाया है।

टीका—तीर्थंकरों ने शब्द और श्रोत्र-इन्द्रिय का परस्पर ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध प्रतिपादन किया है अर्थात् श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द का ग्रहण करती है और शब्द उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, परन्तु इनमें जो प्रिय शब्द है वह राग का उत्पादक है और जो कटु शब्द है उससे द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस विषय की उपयोगी अधिक व्याख्या पूर्व में—चक्षु-इन्द्रिय के प्रकरण में—कर दी गई है, इसलिए यहाँ पर नहीं की।

प्रिय शब्द में आसक्त होने से जो हानि होती है, अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥३७॥

शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः,
शब्देऽतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—सद्देसु–शब्दों में जो–जो तिव्वं–तीव्र गिद्धिं–गृद्धि—मूर्च्छा—को उवेइ–प्राप्त होता है से–वह अकालियं–अकाल में ही विणासं–विनाश को पावइ–प्राप्त होता है रागाउरे–राग में आतुर हुआ हरिणमिगे–हरिण-मृग व–की तरह मुद्धे–मुग्ध सद्दे–शब्द मे अतित्ते–अतृप्त हुआ मच्चुं–मृत्यु को समुवेइ–प्राप्त होता है।

मूलार्थ—शब्दों के विषय में अत्यन्त मूर्छित होने वाला जीव अकाल में ही विनाश—मृत्यु—को प्राप्त हो जाता है। जैसे राग में आतुर हुआ हरिण-मृग मुग्ध होकर शब्द के श्रवण में सन्तोष को न प्राप्त होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे शब्दविषयक बढ़े हुए राग से उत्पन्न होने वाली हानि का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे राग में मस्त हुआ हरिण-मृग (पशुविशेष) अपने प्राणों को दे देता है अर्थात् राग के लोभ मे वह अपने प्राणों को खो बैठता है, ठीक उसी प्रकार से शब्दों के श्रवण में अत्यन्त मूर्च्छित—आसक्त—होने वाला जीव अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि मृग शब्द हरिण के अर्थ में

१ किसी भाषा के कवि ने इस विषय में क्या ही अच्छा कहा है—'नाद के लोभ दये मृग प्राणन, बीन सुने अहि आप बँधावे'। [भावरसामृत]

भी प्रसिद्ध है, तथापि हरिण शब्द का पृथक् प्रयोग होने से वह यहाँ पर सामान्य पशु का वाचक बन जाता है।

अब द्वेष के विषय मे कहते हैं—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि सद्दं अवरज्झई से ॥३८॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चिच्छब्दोऽपराध्यति तस्य ॥३८॥

पदार्थान्वयः—जे–जो कोई—अमनोज्ञ शब्द में तिव्वं–तीव्र दोसं–द्वेष समुवेइ–करता है से–वह तंसि क्खणे–उसी क्षण मे दुक्खं–दुःख को उवेइ–प्राप्त हो जाता है सएण–स्वकृत दुद्दंतेण–दुर्दान्त दोसेण–दोष से जंतू–जीव, परंच से–उसका सद्दं–शब्द किंचि–किंचिन्मात्र भी न अवरज्झई–अपराध नहीं करता ।

मूलार्थ—जो कोई जीव अप्रिय शब्द में तीव्र द्वेष करता है वह स्वकृत दुर्दान्त दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु यह अप्रिय शब्द उस जीव का कुछ भी अपराध नहीं करता अर्थात् यह शब्द उसको दुःख देने वाला नहीं होता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में शब्दविषयक द्वेष करने का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि शब्दविषयक द्वेष करने से अर्थात् अप्रिय शब्द को सुनकर मन में द्वेष उत्पन्न करने से यह जीव उसी क्षण में दुःख का अनुभव करने लग जाता है, परन्तु इस दुःख का कारण उसका अपना दोष है न कि अप्रिय शब्द का इसमें कोई अपराध है। कारण यह है कि दुःख का हेतु अन्तःकरण मे उत्पन्न होने

वाला द्वेषमूलक निकृष्ट अध्यवसाय है। उसी के कारण यह जीव दुःख का संवेदन करता है। इसलिए श्रोत्र-इन्द्रिय का दमन करना ही मुमुक्षु पुरुष का सब से पहला कर्तव्य है।

अब राग और द्वेष को अनर्थ का कारण बतलाते हुए फिर कहते हैं—

एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥३९॥

एकान्तरक्तो रुचिरे शब्दे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः ॥३९॥

पदार्थान्वयः—एगंतरत्ते—एकान्त रक्त रुइरंसि—मनोहर सद्दे—शब्द में अतालिसे—अमनोहर शब्द में पओसं—प्रद्वेष कुणई—करता है बाले—अज्ञानी दुक्खस्स—दुःख की संपीलं—पीड़ा को उवेइ—प्राप्त होता है तेण—उस पीड़ा से विरागो—वैराग्ययुक्त मुणी—मुनि न—नहीं लिप्पई—लिप्त होता।

मूलार्थ—जो जीव एकान्त मनोहर शब्द में तो अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द में द्वेष करता है वह अज्ञानी जीव दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है, परन्तु जो विरक्त मुनि है वह उससे लिप्त नहीं होता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में राग-द्वेष की परिणति और उसके त्याग का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो जीव प्रिय शब्द में राग और अप्रिय में द्वेष करता है वह दुःखसम्बन्धी वेदना का अवश्य अनुभव करता है, अतएव वह बाल अर्थात् अज्ञानी जीव है, परन्तु जो मुनि विरक्त है अर्थात् जिसके आत्मा में प्रिय और अप्रिय शब्द को सुनकर राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते उसको दुःख का

सम्पर्क नहीं होता अर्थात् वह सुखी है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि दुखःरूप व्याधि का मूल कारण राग-द्वेष की परिणतिविशेष ही है। अतः सुख की इच्छा रखने वाले को इसके परित्याग में ही उद्यम करना चाहिए।

अब राग को हिंसादि आस्रवों का कारण बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

सद्दाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥४०॥

शब्दानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥४०॥

पदार्थान्वयः—सद्दाणुगासा—शब्द की आशा से अणुगए—अनुगत जीवे—जीव य—फिर चराचरे—चर और अचर अणेगरूवे—अनेक प्रकार के जीवों की हिंसइ—हिंसा करता है बाले—अज्ञानी चित्तेहि—नाना प्रकार से ते—उनको परितावेइ—परिताप देता है किलिट्ठे—रागादि से पीड़ित हुआ अतट्ठगुरू—अपने स्वार्थ के लिए पीलेइ—पीड़ा उपजाता है।

मूलार्थ—बढ़े हुए रागादि के कारण शब्द की आशा के वशीभूत हुआ यह अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ के लिए अनेक जाति के जङ्गम और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उनको परिताप देता है और अनेक प्रकार की पीड़ा उपजाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि प्रिय शब्द में अत्यन्त राग रखने वाला पुरुष किसी प्रकार के भी प्राणी की हिंसा करने या

उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाने मे प्रवृत्त होता हुआ अपनी स्वार्थपरायण प्रवृत्ति को रोकने में समर्थ नहीं हो सकता अर्थात् अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति में उसे उचितानुचित का भान नहीं रहता ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं । यथा—

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥४१॥

शब्दानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥४१॥

पदार्थान्वयः—सद्दाणुवाएण—शब्द के अनुराग से परिग्गहेण—परिग्रह से उप्पायणे—उत्पादन मे रक्खणे—रक्षण में संनिओगे—प्रबन्ध में वए—विनाश में विओगे—वियोग मे से—उसको कहं—कैसे—कहाँ से सुहं—सुख हो सकता है य—और संभोगकाले—संभोगकाल में अतित्तलाभे—तृप्ति न होने पर ।

मूलार्थ—शब्द में बढ़े हुए अनुराग और ममत्व से शब्दादि द्रव्यों के उपार्जन करने में, उसके रक्षण और यथाविधि व्यवस्था करने में तथा उसके विनाश अथवा वियोग हो जाने पर और संभोगकाल में भी तृप्ति का लाभ न होने पर इस जीव को कहाँ से सुख हो सकता है ?

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व दी गई २८वीं गाथा की व्याख्या के समान ही जान लेनी चाहिए । तात्पर्य इतना ही मात्र है कि मनोहर शब्द में अत्यन्त लुब्ध होने वाला जीव किसी समय में भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता किन्तु उत्तरोत्तर दुःख का ही उसे संवेदन होता रहता है ।

अब फिर इसी के विषय में कहते हैं । यथा—

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥४२॥

शब्देऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥४२॥

पदार्थान्वयः—सद्दे—शब्द के विषय में अतित्ते—अतृप्त य—और परिग्गहम्मि—परिग्रह में सत्तोवसत्तो—सक्त और उपसक्त तुट्ठिं—तुष्टि—सन्तोष—को न उवेइ—नहीं प्राप्त होता अतुट्ठिदोसेण—अतुष्टि के दोष से दुही—दुःखी परस्स—पर के लोभाविले—लोभ से व्याकुल हुआ जीव अदत्तं—चोरी के कर्म को आययई—अङ्गीकार करता है ।

मूलार्थ—शब्द में अतृप्त और परिग्रह में सामान्य तथा विशेष रूप से आसक्ति रखने वाला जीव लोभ के वशीभूत होकर कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु असन्तोषरूप दोष से दुःखी होकर पर के शब्दों की इच्छा करता हुआ चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में यही बतलाया है कि जो पुरुष प्रिय शब्द के अधिक रसिक और परिग्रह में आसक्त हैं वे लोभ के वशीभूत होकर पराई वस्तु को चुराने में प्रवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि उनको अपनी उपलब्ध सामग्री से सन्तोष नहीं होता ।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥४३॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः ,
शब्देऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥४३॥

पदार्थान्वयः—तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से पराजित अदत्तहारिणो—अदत्त का ग्रहण करने वाला (चोर) सद्दे—शब्द के विषय में अतित्तस्स—अतृप्त य—और परिग्गहे—परिग्रह में आसक्त लोभदोसा—लोभरूप दोष से माया—छल मुसं—मृषावाद को वड्ढइ—बढ़ाता है तत्थावि—फिर भी से—वह दुक्खा—दुःख से न विमुच्चई—नहीं छूटता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत, चौर्य-कर्म में प्रवृत्त और शब्द तथा परिग्रह के विषय में अतृप्त पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है परन्तु फिर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका—इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व में की गई ३०वीं गाथा की व्याख्या के समान ही जान लेनी चाहिए। केवल रूप और शब्द, इन दो पदों में अन्तर है।

अब पूर्वोक्त विषय को फिर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥४४॥

मृषा- (वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः,
शब्देऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥४४॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स–मृषावाद के पच्छा–पीछे य–और पुरत्थओ–पहले य–तथा पओगकाले–प्रयोगकाल में दुही–दुःखी होता है दुरंते–दुरंत—दुष्ट कर्म करने वाला एवं–इसी प्रकार अदत्ताणि–अदत्त को समाययंतो–ग्रहण करने वाला सद्द–शब्द के विषय में अतित्तो–अतृप्त दुहिओ–दुखित होता है तथा अणिस्सो–असहाय होता है ।

मूलार्थ—मृषावाद के पहले और पीछे अथवा मृषाभाषण करते समय यह दुरन्त—दुष्ट कर्म करने वाली—आत्मा अवश्य दुःखी होती है। उसी प्रकार चोरी में प्रवृत्त और शब्द में अतृप्त हुई आत्मा भी दुःख को प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता ।

टीका—इसकी टीका भी गत ३१वीं गाथा के समान ही समझनी चाहिए ।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥४५॥

शब्दानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं भवेत् कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—सद्दाणुरत्तस्स—शब्दानुरक्त नरस्स—पुरुष को एवं—इस प्रकार कत्तो—कहाँ से सुहं—सुख होज्ज—होवे कयाइ—कदाचित् किंचि—यत्किंचित् भी तस्स—उस शब्द के उवभोगे वि—उपभोग में भी जस्स कए—जिसके लिए किलेसदुक्खं—क्लेश और दुःख को निव्वत्तई—उत्पन्न करता है ।

मूलार्थ—शब्द के अनुरागी पुरुष को उक्त प्रकार से कैसे सुख हो सकता है, अपि तु किसी काल में भी स्तोक मात्र सुख नहीं होता तथा शब्द के उपभोगकाल में भी वह क्लेश और दुःख को ही एकत्रित करता है ।

टीका—शब्द के विषय में विशिष्ट अनुराग रखने वाला पुरुष किसी प्रकार से भी सुखी नहीं हो सकता, किन्तु असन्तोष की वृद्धि के कारण उसे निरन्तर दुःख का ही अनुभव करना पड़ता है, यह इस गाथा का तात्पर्य है ।

अब शास्त्रकार द्वेष के विषय में वर्णन करते हैं । यथा—

एमेव सद्दम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥४६॥

एवमेव शब्दे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥४६॥

पदार्थान्वयः—एमेव—इसी प्रकार सद्दम्मि—शब्द के विषय में पओसं—प्रद्वेष को गओ—प्राप्त हुआ दुक्खोह—दुःखसमूह की परंपराओ—परम्परा को उवेइ—प्राप्त करता है पदुट्ठचित्तो—दुष्ट है चित्त जिसका कम्मं—कर्म का चिणाइ—उपार्जन करता है जं—जो से—उस कर्म करने वाले को पुणो—फिर विवागे—विपाककाल में दुहं—दुःख होइ—होता है उ—प्राग्वत् ।

मूलार्थ—इसी प्रकार शब्द के विषय में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त करता है तथा दूषित चित्त से वह ऐसे कर्मों का उपार्जन करता है कि जो विपाककाल में उसे दुःख के देने वाले होते हैं।

टीका—जिस प्रकार राग दुःख का हेतु है, उसी प्रकार द्वेष को भी दुःख का कारण माना गया है और उसकी यह कारणता अनुभवसिद्ध भी है। तात्पर्य यह है कि राग की भाँति शब्दादिविषयक द्वेष करने वाला जीव भी नाना प्रकार के दुःखों का भाजन बनता है। कारण यह है कि द्वेष के प्रभाव से कलुषित हुए चित्त से वह जिन कर्माणुओं को एकत्रित करता है वे ही कर्माणु विपाकसमय पर उसके लिए दुःख का साधन बन जाते हैं। इसलिए राग और द्वेष इन दोनों को दूर करके इनके स्थान में अलौकिक सुख की प्राप्ति के साधनों को सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब राग-द्वेष के त्याग से प्राप्त होने वाले गुण के विषय में कहते हैं—

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥४७॥

शब्दे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—सद्दे—शब्द में मणुओ—मनुष्य विरत्तो—विरक्त है विसोगो—शोक से रहित है एएण—इस दुक्खोह—दुःखसमूह की परंपरेण—परम्परा से भवमज्झे—संसार में वि संतो—वसता हुआ भी न लिप्पई—लिप्त नहीं होता वा—जैसे जलेण—जल से पोक्खरिणीपलासं—कमलिनी का पत्र लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जिस प्रकार कमलपत्र जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो मनुष्य शब्द के विषय में विरक्त अर्थात् राग द्वेष से रहित है वह विगतशोक होकर संसार में बसता हुआ भी इस दुःखसमूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व में आ चुकी है, उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार उक्त १३ गाथाओं के द्वारा श्रोत्रविषयक वर्णन किया गया। अब शास्त्रकार घ्राण-इन्द्रिय के विषय में कहते हैं। यथा—

घाणस्स गंधं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥४८॥

घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति,
तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥४८॥

पदार्थान्वयः—घाणस्स–घ्राण को गंधं–गन्ध का गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं तीर्थंकरादि तं–वह रागहेउं–राग का हेतु तु–तो मणुन्नं–मनोज्ञ आहु–कहा है तं–वह अमणुन्नं–अमनोज्ञ दोसहेउं–द्वेष का हेतु आहु–कहा है जो–जो तेसु–इनमें समो–सम भाव रखता है स–वह वीयरागो–वीतराग है।

मूलार्थ—घ्राण-इन्द्रिय को गन्ध का ग्राहक कहते हैं। वह मनोज्ञ गन्ध तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है, परन्तु इनमें जो सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—घ्राण-इन्द्रिय गन्ध का ग्रहण करती है अर्थात् जब गन्ध के परमाणु घ्राण-इन्द्रिय में प्रविष्ट होते हैं तब वह उनका अनुभव करती है, परन्तु सुन्दर गन्ध वाले परमाणु तो राग के उत्पादक हैं और दुर्गन्ध के अणु द्वेष को उत्पन्न करते हैं। जो पुरुष इन सुगन्ध और दुर्गन्ध के परमाणुओं के सम्पर्क से भी राग-द्वेषयुक्त नहीं होता अर्थात् इनमें सम भाव रखता है वह वीतराग है।

अब फिर कहते हैं—

गंधस्स घाणं गहणं वयंति,
घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥४९॥
गन्धस्य घ्राणं ग्राहकं वदन्ति,
घ्राणस्य गन्धं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥४९॥

पदार्थान्वयः—**गंधस्स**—गन्ध का **घाणं**—घ्राण-इन्द्रिय को **गहणं**—ग्राहक **वयंति**—कहते हैं **घाणस्स**—घ्राण-इन्द्रिय का **गंधं**—गन्ध को **गहणं**—ग्राह्य **वयंति**—कहते हैं **रागस्स हेउं**—राग का हेतु **समणुन्नं**—मनोज्ञ गन्ध **आहु**—कहा है **दोसस्स हेउं**—द्वेष का हेतु **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ गन्ध को **आहु**—कहा है।

मूलार्थ—गन्ध को नासिका ग्रहण करती है और नासिका को गन्ध ग्रहण करता है। इनमें सुगन्ध तो राग का हेतु है और दुर्गन्ध द्वेष का।

टीका—इसकी व्याख्या पूर्व मे आ चुकी है [चक्षु और श्रोत्र के प्रकरण में]। घ्राण-इन्द्रिय गन्ध का ग्राहक है और गन्ध उसके द्वारा गृहीत होने से ग्राह्य कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों का आपस मे ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध माना जाता है। आत्मा की राग-द्वेषपरिणति से सुन्दर गन्ध तो राग

का कारण बन जाता है और कुत्सित गन्ध द्वेष का। ये सब आत्मा के अन्दर रहे हुए अध्यवसाय पर निर्भर हैं। कारण यह है कि राग-द्वेष के वशीभूत हुई यह जीवात्मा अनुकूल पदार्थों में रुचि उत्पन्न करती है और प्रतिकूल पदार्थों से घृणा करती है।

अब गन्धविषयक बढ़े हुए राग के कटु परिणाम का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार फिर कहते हैं कि—

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥५०॥

गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुर औषधिगन्धगृद्धः,
सर्पो बिलादिव निष्क्रामन् ॥५०॥

पदार्थान्वयः—जो-जो जीव **गंधेसु**-गन्ध के विषय मे **तिव्व**-अति **गिद्धिं**-मूर्च्छा को **उवेइ**-प्राप्त होता है **से**-वह **अकालियं**-अकाल में **विणासं**-विनाश को **पावइ**-प्राप्त हो जाता है **रागाउरे**-राग से आतुर हुआ **ओसहि**-औषधि की **गंध**-गंध में **गिद्धे**-मूर्च्छित **विव**-जैसे **सप्पे**-सर्प **बिलाओ**-बिल से **निक्खमंते**-निकलता हुआ विनाश को पाता है।

मूलार्थ—जो पुरुष गन्ध में अत्यन्त मूर्च्छित होता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे राग से आतुर हुआ सर्प औषधि के गन्ध में मूर्च्छित होकर बिल से बाहर निकलता हुआ विनाश को पाता है।

टीका—गन्ध के विषय मे बढ़े हुए राग का परिणाम क्या होता है ? इस बात को सर्प के दृष्टान्त से बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो जीव गन्ध में

अत्यन्त आसक्ति रखता है वह सद्यः विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे कि नागदमनी आदि औषधियों के गन्ध में अत्यन्त मूर्छित होने वाला सर्प उसकी गन्ध में मुग्ध होकर विल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध हुआ कि बढ़ा हुआ राग इस जीव के विनाश का एक मात्र कारण है।

अब राग की भाँति द्वेष का भी फल वतलाते हैं। यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि गंधं अवरज्झई से ॥५१॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चिद्गन्धोऽपराध्यति तस्य ॥५१॥

पदार्थान्वयः—ये यावि—जो कोई—अप्रिय गन्ध में तिव्वं—तीव्र भावों से दोसं—द्वेष को समुवेइ—प्राप्त होता है से—वह तंसि क्खणे—उसी क्षण में दुक्खं—दुःख को उवेइ—प्राप्त हो जाता है उ—वितर्क अर्थ में है सएण—स्वकृत दुद्दंतदोसेण—दुर्दान्त दोष से जंतू—जीव से—उसका किंचि—यत्किंचित् भी गंधं—गन्ध न अवरज्झई—अपराध नहीं करता।

मूलार्थ—जो कोई जीव अप्रिय गन्ध के विषय में तीव्र द्वेष करता है वह उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु यह जीव स्वकृत दुर्दान्त दोष से ही दुःख को प्राप्त होता है, इसमें गन्ध का कोई भी अपराध नहीं अर्थात् इस जीव को अप्रिय गन्ध दुःख देने वाला नहीं है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्वेष के फल का वर्णन करने के साथ २ प्रिय और अप्रिय गन्ध में मानी हुई दुःखजनकता का भी निषेध किया गया है। इसका

अभिप्राय यह है कि ऊपर की गाथाओं में सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को जो राग और द्वेष का कारण वतलाया गया है वह परम्परया है, साक्षात् नहीं। कारण यह है कि राग-द्वेष की परिणति तो मुख्यतया आत्मा में होती है और सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध तो उसमें निमित्त मात्र हैं। अतएव आत्मा मे जो सुख अथवा दुःख का भान होता है उसका कारण भी राग-द्वेष का परिणामविशेष ही है। यह आत्मा अपने तीव्र भावों से जिस प्रकार के कर्मों का वन्ध करती है उसी के अनुरूप इसको विपाकदशा में न्यूनाधिक फल की प्राप्ति होती है। इसलिए सुगन्ध या दुर्गन्ध को दुःख का हेतु न मानकर राग-द्वेष को ही उसका हेतु मानना चाहिए, यह इस गाथा का तात्पर्य है।

अव राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले अन्य दोषों का वर्णन करते हैं। यथा—

एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥५२॥

एकान्तरक्तो रुचिरे गन्धे,
अतादृशे स करोति प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥५२॥

पदार्थान्वयः—रुइरंसि—रुचिर गंधे—गन्ध मे एगंतरत्ते—एकान्त अनुरक्त अतालिसे—अरुचिर गन्ध में से—वह पओसं—प्रद्वेष कुणई—करता है बाले—अज्ञानी जीव दुक्खस्स संपीलं—दुःखसम्वन्धी पीड़ा को उवेइ—पाता है तेण—उससे विरागो—विरक्त-आत्मा मुणी—मुनि न लिप्पई—लिप्यमान नहीं होता।

मूलार्थ—जो जीव रुचिर गन्ध में अत्यन्त आसक्त है और दुर्गन्ध में द्वेष करता है वह अज्ञानी जीव दुःखसम्वन्धी पीड़ा को प्राप्त होता है, परन्तु जो विरक्त मुनि है वह इस पीड़ा से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसको यह दुःख-बाधा नहीं सताती।

टीका—प्रस्तुत गाथा में राग-द्वेषयुक्त और राग-रहित आत्मा में जो अन्तर है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। जो आत्मा राग-द्वेष से युक्त है वह दुःखों का भाजन बनती है और राग द्वेष से रहित—विरक्त—आत्मा को दुःख का सम्पर्क नहीं होता, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब राग को हिंसादि आस्रवों का कारण बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

गंधाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥५३॥

गन्धानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥५३॥

पदार्थान्वयः—गंधाणुगासाणुगए—सुगन्ध की आशा के अनुगत हुआ जीवे—जीव चराचरे—चर और अचर अणेगरूवे—अनेक प्रकार के जीवों की हिंसइ—हिंसा करता है चित्तेहि—नाना प्रकार के शस्त्रों से ते—उन जीवों को परितावेइ—परिताप देता है बाले—अज्ञानी जीव अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे—अपने स्वार्थ में अत्यन्त आसक्त और राग से आकर्षित हुआ पीलेइ—प्राणियों को पीड़ा देता है।

मूलार्थ—गन्ध की आशा से अनुगत हुआ बाल जीव अनेक प्रकार के चराचर जीवों को मारता है और नाना प्रकार के शस्त्रों से उनको परिताप देता है तथा राग से आकर्षित हुआ अपने स्वार्थ के लिए उनको पीड़ा पहुँचाता है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या में जो कुछ वक्तव्य था वह पूर्व में कह दिया गया है, इसलिए यहाँ पर कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

गंधाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥५४॥

गन्धानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥५४॥

पदार्थान्वयः—गंधाणुवाएण–गन्ध के अनुराग से परिग्गहेण–परिग्रह से उप्पायणे–उत्पादन में रक्खणसंनिओगे–रक्षण और संनियोग में वए–विनाश में विओगे–वियोग में से–उसको कहं–कैसे सुहं–सुख हो सकता है संभोगकाले–संभोग-काल में य–और अतित्तलाभे–अतृप्तिलाभ में।

मूलार्थ—गन्धविषयक अनुराग और परिग्रह से गन्ध के उत्पादन में, रक्षा करने में और सम्यक् व्यवहार करने में, विनाश में, वियोग में तथा संभोगकाल में, सन्तोष का लाभ न होने से उस रागी जीव को कैसे सुख हो सकता है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या प्रथम आ चुकी है। उसी के अनुसार यहाँ पर भी समझ लेनी चाहिए।

फिर कहते हैं—

गंधे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥५५॥

गन्धेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥५५॥

पदार्थान्वयः—गंधे–गन्ध के विषय में अतित्ते–अतृप्त य–और परिग्गहम्मि–परिग्रह मे सत्तोवसत्तो–सामान्य और विशेष रूप से आसक्त तुट्ठिं–सन्तोष को न उवेइ–प्राप्त नहीं होता अतुट्ठिदोसेण–अतुष्टिदोष से दुही–दुःखी हुआ परस्स–पर के पदार्थ को लोभाविले–लोभ के वशीभूत हुआ अदत्तं–नहीं दिये हुए को आययई–ग्रहण करता है।

मूलार्थ—गंध में अतृप्त और परिग्रह में सामान्य-विशेषरूप से आसक्त रहने वाला जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता और बढ़े हुए असंतोष से दुःखी होता हुआ लोभ के वशीभूत होकर पर के पदार्थों को चुराने लग जाता है।

टीका—गन्धानुरागी जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। इसी से वह दूसरों के सुगन्धमय पदार्थों को ग्रहण करने की लालसा से आकृष्ट हुआ चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥५६॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः,
गन्धेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥५६॥

पदार्थान्वयः—तण्हाभिभूयस्स-तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो-अदत्त का लेने वाला गंधे-गन्ध में अतित्तस्स-अतृप्त य-और परिग्गहे-परिग्रह में आसक्त लोभदोसा-लोभ के दोष से मायामुसं-माया और मृषा वाद को बढ़ाता है तत्थावि-फिर भी से-वह दुक्खा-दुःख से न विमुच्चई-मुक्त नहीं होता—नहीं छूटता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला, गन्ध में अतृप्त और परिग्रह में मूर्छित जीव लोभ के दोष से माया और मृषा वाद की वृद्धि करता है परन्तु फिर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका—इस पर जो कुछ वक्तव्य था वह पहले कह दिया गया है।

अब फिर कहते हैं—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥५७॥

मृषा-(वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः,
गन्धेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥५७॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स-मृषावाद के पच्छा-पश्चात् य-और पुरत्थओ-पहले य-तथा पओगकाले-प्रयोगकाल में दुरंते-दुष्ट अन्तःकरण वाला दुही-दुःखी होता है एवं-इसी प्रकार अदत्ताणि-अदत्त का समाययंतो-ग्रहण करता हुआ गंधे-गन्ध के विषय में अतित्तो-अतृप्त दुहिओ-दुःखित होता है अणिस्सो-असहाय।

मूलार्थ—मृषाभाषण के पश्चात् या पहले तथा बोलने के समय दुरन्त—दुष्ट-अन्तःकरण—अथवा नासिका को वश में न करने वाला जीव अवश्य दुःखी होता है तथा चौर्यकर्म में प्रवृत्त और गन्ध में अतृप्त रहने वाला जीव भी सहायकशून्य और दुःखी होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मिथ्याभाषण और अदत्तापहरण का दुःखरूप जो कटु परिणाम है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। इसके अतिरिक्त इस पर जो वक्तव्य था वह पूर्व में कह दिया गया है, इसलिए यहाँ पर नहीं लिखा।

अब उक्त विषय का निगमन करते हुए फिर कहते हैं—

गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥५८॥

गन्धानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥५८॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार गंधाणुरत्तस्स–गन्ध के विषय में अनुरक्त नरस्स–पुरुष को कत्तो–कहाँ से सुहं–सुख होज्ज–होवे कयाइ–कदाचित् किंचि–यत्किंचित् भी तत्थोवभोगे वि–वहाँ पर उपभोगने मे भी किलेस–क्लेश—और दुक्खं–दुःख को निव्वत्तई–उत्पन्न करता है जस्स–जिसके कएण–लिए दुक्खं–दुःख को।

मूलार्थ—गन्धविषयक अनुराग रखने वाले पुरुष को कदाचित् भी लेश मात्र सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, तथा जिसके लिए वह कष्ट उठाता है उसके उपभोगकाल में भी वह क्लेश और दुःख का ही उपार्जन करता है।

टीका—इसकी व्याख्या प्रथम कई बार आ चुकी है।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं। यथा—

एमेव गंधम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥५९॥

एवमेव गन्धे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥५९॥

पदार्थान्वयः—एमेव-इसी प्रकार गंधम्मि-गन्ध के विषय में पओसं-प्रद्वेष को गओ-प्राप्त हुआ दुक्खोह-दुःखसमूह की परंपराओ-परम्परा को उवेइ-पाता है य-फिर पदुट्ठचित्तो-दुष्ट है चित्त जिसका—दूषित चित्त वाला कम्मं-कर्म का चिणाइ-उपार्जन करता है जं-जो कर्म से-उसको विवागे-विपाकसमय में दुहं-दुःखरूप होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार गन्धविषयक विशिष्ट द्वेष को प्राप्त होने वाला पुरुष भी दुःखसमुदाय की परम्परा को प्राप्त होता है। फिर वह दूषित मन से जिस कर्म का उपार्जन करता है वही कर्म उसको फल देने के समय दुःख-रूप हो जाता है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व की भाँति ही जान लेनी।

अब राग-द्वेष के त्याग से प्राप्त होने वाले गुण के विषय में कहते हैं—

गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥६०॥

गन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥९०॥

पदार्थान्वयः—गंधे—गन्धविषयक विरत्तो—विरक्त मणुओ—मनुज विसोगो—शोकरहित हुआ एएण—इस दुक्खोहपरंपरेण—दुःखसमूह की परम्परा से न लिप्पई—लिप्त नहीं होता भवमज्झे वि संतो—संसार में रहता हुआ भी वा—जैसे जलेण—जल से पोक्खरिणीपलासं—पद्मिनीदल लिप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—जैसे जल में रहता हुआ भी कमलदल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार गन्धविषयक विरक्त शोकरहित मनुज संसार में वसता हुआ भी उक्त प्रकार की दुःखपरम्परा से लिप्त नहीं होता अर्थात् राग-द्वेष से रहित होने पर उसको किसी प्रकार की भी सांसारिक दुःख-बाधा नहीं पहुँचती ।

टीका—विरक्त अर्थात् राग-द्वेष से रहित आत्मा ही शोक से रहित हो सकती है तथा गन्धादि विषयों में अनासक्त होने के कारण वह संसार में रहती हुई भी पद्मपत्र की तरह उससे अलिप्त रहती है । तात्पर्य यह है कि उसका कर्मानुष्ठान किसी प्रकार से बन्ध का हेतु नहीं होता । इस प्रकार इन पूर्वोक्त १३ गाथाओं के द्वारा घ्राणविषयक वर्णन किया गया है ।

अब शास्त्रकार रसना के विषय में कहते हैं । यथा—

जिब्भाए रसं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥९१॥

जिह्वाया रसं ग्रहणं वदन्ति,
तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः ,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥६१॥

पदार्थान्वयः—जिब्भाए–जिह्वा का रसं–रस को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं—तीर्थंकरादि तं–उस मणुन्नं–मनोज्ञ को रागहेउं–राग का हेतु आहु–कहा है अमणुन्नं–अमनोज्ञ तं–उस रस को दोसहेउं–द्वेष का हेतु आहु–कहा है जो–जो तेसु–उन दोनों प्रकार के रसों में समो–सम भाव रखता है से–वह वीयरागो–वीतराग होता है।

मूलार्थ—तीर्थंकरादि ने रस को जिह्वा का ग्राह्य कहा है । वह रस यदि मनोज्ञ—सुन्दर—हो तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ को द्वेष का कारण बतलाया है । परन्तु इन दोनों प्रकार के रसों में जो समान भाव रखता है वह वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित है ।

टीका—इसकी व्याख्या पूर्व में आ चुकी है अतः यहाँ पर नहीं लिखी ।

अब इन दोनों का अर्थात् इन्द्रिय और विषय का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए फिर कहते हैं—

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति,
जिब्भाए रसं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥६२॥

रसस्य जिह्वां ग्राहिकां वदन्ति,
जिह्वाया रसं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥६२॥

पदार्थान्वयः—जिब्भं–जिह्वा को रसस्स–रस का गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं और रसं–रस को जिब्भाए–जिह्वा का गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं समणुन्नं–मनोज्ञ रस को रागस्स–राग का हेउं–हेतु आहु–कहा है अमणुन्नं–अमनोज्ञ रस को दोसस्स–द्वेष का हेउं–हेतु आहु–कहा है ।

मूलार्थ—रस को जिह्वा ग्रहण करती है और जिह्वा को रस ग्रहण करता है । वह रस मनोज्ञ तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुष कहते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी रस और रसना-इन्द्रिय के ग्राह्यग्राहकभाव का दिग्दर्शन कराते हुए रस की मनोज्ञामनोज्ञता को राग-द्वेष का हेतु बतलाया गया है । अन्य व्याख्या पूर्व की भाँति ही जान लेनी चाहिए ।

अब रसविषयक बढ़े हुए राग का दोष बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥६३॥

रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो बडिशविभिन्नकायः,
मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्धः ॥६३॥

पदार्थान्वयः—जो–जो रसेसु–रसों मे तिव्वं–अति उत्कट गिद्धिं–मूर्छा को उवेइ–प्राप्त होता है से–वह अकालियं–अकाल में ही विणासं–विनाश को पावइ–पाता है रागाउरे–रागातुर बडिसविभिन्नकाए–बड़िश—लोहमय कंटक—से वेधा गया है शरीर जिसका ऐसा मच्छे–मत्स्य जहा–जैसे आमिसभोगगिद्धे–आमिष के भोग से मूर्छित ।

मूलार्थ—जो मनुष्य रस का अत्यन्त रागी है अर्थात् रस में अत्यन्त मूर्छित हो रहा है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे राग से आतुर हुआ मत्स्य मांस के लोभ में ग्रसित होने से लोहमय कंटक से विभिन्न-काय होकर विनाश को प्राप्त होता है।

टीका—जो पुरुष रसों में अत्यन्त मूर्छित है वह मांस के टुकड़े में आसक्त होने वाले मच्छ की भाँति सद्यः विनाश को प्राप्त हो जाता है। मत्स्य के विनाश का कारण उसकी बढ़ी हुई रसासक्ति है। जैसे मत्स्य पकड़ने वाले लोहे के कांटे में मांस का टुकड़ा लगाकर उसको जल में फेंक देते हैं, उस मांस के टुकड़े को खाने के लिए मत्स्य आते हैं, जब वह उनके मुख में जाता है तब मांस के अन्दर जो लोहे का कांटा है वह उनके गले में फंस जाता है, उससे वे खिंचे चले आते हैं और बाहर आते ही मृत्यु की शरण को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि मत्स्यों के अन्दर मांस की लोलुपता न होती तो वे पकड़े जाकर विनाश को प्राप्त न होते। इसी प्रकार जो जीव रसों में अत्यन्त मूर्छित हो रहा है वह अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करता हुआ अकाल में ही विनष्ट हो जाता है।

इस प्रकार रागजन्य अनर्थ का वर्णन करके, अब द्वेष के विषय में कहते हैं। यथा—

> जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
> तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
> दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
> न किंचि रसं अवरज्झई से ॥६४॥
>
> यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
> तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
> दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
> न किञ्चिद्रसोऽपराध्यति तस्य ॥६४॥

पदार्थान्वयः—जे यावि–जो कोई तिव्वं–तीव्र दोसं–द्वेष को समुवेइ–प्राप्त करता है से–वह तंसि क्खणे–उसी क्षण मे उ–वितर्क अर्थ मे है दुक्खं–दुःख को उवेइ–पाता है सएण–अपने दुद्दंतदोसेण–दुर्दान्त दोष से जंतू–जीव—दुःख को प्राप्त होता है से–उसका रसं–रस किंचि–किंचिन्मात्र भी न अवरज्झई–अपराध नहीं करता।

मूलार्थ—जो जीव रसविषयक अत्यन्त द्वेष को प्राप्त होता है वह स्वकृत दुर्दान्त अपराध से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है। इसमें रस का कोई अपराध नहीं है।

टीका—उक्त गाथा का तात्पर्य यह है कि जीव के दुःखी होने का कारण उसके अन्दर रहा हुआ उत्कट द्वेष ही है। उसी के कारण वह दुःख को प्राप्त होता है। अप्रिय रस का इसमें कोई दोष नहीं अर्थात् वह दुःख का हेतु नहीं है।

रसों में आसक्ति और अनासक्ति रखने वाले जीव को जिस दोष और गुण की प्राप्ति होती है, अब शास्त्रकार उसके विषय में कहते हैं। यथा—

एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥६५॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रसे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥६५॥

पदार्थान्वयः—एगंतरत्ते–एकान्त रक्त रुइरे–रुचिर रसम्मि–रस में से–वह अतालिसे–अमनोहर रस में पओसं–प्रद्वेष को कुणई–करता है दुक्खस्स–दुःख-सम्बन्धी संपीलं–पीड़ा को उवेइ–प्राप्त होता है बाले–अज्ञानी तेण–उस पीडा से विरागो–विरक्त मुणी–मुनि न लिप्पई–लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो जीव मनोहर रस में अत्यन्त आसक्त होता है और अमनोहर रस में अत्यन्त द्वेष रखता है वह अज्ञानी जीव दुःख-बाधा से अत्यन्त पीड़ित होता है, किन्तु रसों से विरक्त मुनि दुःख-बाधा से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसको इस दुःख का सम्पर्क नहीं होता।

टीका—इस पर जो कुछ वक्तव्य था वह पूर्व में कह दिया गया है।

अब राग से उत्पन्न होने वाले अन्य अनर्थ का वर्णन करते हैं। यथा—

रसाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥६६॥

रसानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥६६॥

पदार्थान्वयः—रसाणुगासाणुगए—रस की आशा के अनुगत हुआ जीवे—जीव अणेगरूवे—अनेक जाति के चराचरे—जङ्गम और स्थावर प्राणियों की हिंसइ—हिंसा करता है तथा चित्तेहि—नानाविध शस्त्रों से ते—उन जीवों को परितावेइ—परिताप पहुँचाता है पीलेइ—पीड़ा देता है बाले—अज्ञानी जीव अत्तट्ठगुरू—स्वार्थपरायण किलिट्ठे—क्लेशित हुआ।

मूलार्थ—राग के वशीभूत हुआ स्वार्थपरायण अज्ञानी जीव रस की आशा के वश में आकर अनेक प्रकार के जङ्गम और स्थावर जीवों की हिंसा करने में प्रवृत्त हो जाता है तथा नाना प्रकार के शस्त्रों से उनको परिताप देता है और पीड़ा पहुँचाता है।

टीका—रसों में अत्यन्त मूर्छित हुआ अज्ञानी जीव कितना अनर्थ करता है, इस बात का दिग्दर्शन इस गाथा में भली-भाँति करा दिया गया है। अन्य व्याख्या पूर्व की भाँति जाननी चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

रसाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥६७॥

रसानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥६७॥

पदार्थान्वयः—रसाणुवाएण–रस के अनुराग से परिग्गहेण–रस में मूर्छित होने से उप्पायणे–रस के उत्पादन में रक्खणसंनिओगे–रक्षण और सन्नियोग में वए–विनाश में विओगे–वियोग में से–उस रागी जीव को कहं–कैसे सुहं–सुख हो सकता है य–फिर संभोगकाले–संभोगकाल में अतित्तलाभे–अतृप्ति का लाभ होने पर—दुःख पाता है।

मूलार्थ—रसविषयक अत्यन्त राग और मूर्च्छा से रस के उत्पादन, रक्षण, और सन्नियोग में लगे हुए उस रागी पुरुष को कहाँ से सुख हो सकता है? तथा विनाश अथ च वियोग होने पर और संभोगकाल में भी तृप्ति का लाभ न होने पर उसको दुःख ही होता है।

टीका—रसों में मूर्छित होने वाला पुरुष किसी समय में भी सुखी नहीं हो सकता, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

पुनः उक्त विषय में ही कहते हैं—

रसे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥६८॥

रसेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥६८॥

पदार्थान्वयः—रसे अतित्ते—रस के विषय में अतृप्त य—और परिग्गहम्मि—परिग्रह में सत्तोवसत्तो—सामान्य-विशेषरूप से आसक्त तुट्ठिं—तुष्टि को न उवेइ—प्राप्त नहीं होता अतुट्ठिदोसेण—अतुष्टि-दोष से दुही—दुःखी हुआ परस्स—अन्य के पदार्थ को लोभाविले—लोभ के वशीभूत होकर अदत्तं—अदत्त को आययई—ग्रहण करने लगता है।

मूलार्थ—रस के विषय में अतृप्त और परिग्रह में सामान्य-विशेषरूप से आसक्त हुआ जीव तुष्टि—सन्तोष—को प्राप्त नहीं होता तथा अतुष्टि-दोष से दुःखी हुआ लोभ के वश में आकर दूसरों के पदार्थों की चोरी करने लग जाता है।

टीका—लोभ के वशीभूत हुआ असन्तोषी जीव चोरी आदि अनर्थों के करने में प्रवृत्त हो जाता है, यही इस गाथा मे प्रदर्शित किया गया है।

अब लोभवृद्धि का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं। यथा—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥६९॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः ,
रसेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥६९॥

पदार्थान्वयः—तण्हाभिभूयस्स–तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो–अदत्त का अपहरण करने वाला रसे–रसविषयक य–और परिग्गहे–परिग्रहविषयक अतित्तस्स–अतृप्त का लोभदोसा–लोभ के दोष से मायामुसं–माया और मृषावाद वड्ढइ–बढ़ जाता है तत्थावि–तो भी—छल-कपट और असत्यभाषण किये जाने पर भी से–वह दुक्खा–दुःख से न विमुच्चई–मुक्त नहीं होता ।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत, चोरी में प्रवृत्त, रस और परिग्रह में अतृप्त रहने वाला पुरुष लोभ के दोष से छल-कपट और असत्यभाषण की वृद्धि करता है परन्तु दुःख से मुक्त नहीं हो सकता ।

टीका—तृष्णावृद्धि का फल माया और मृषावाद की वृद्धि होना है । तात्पर्य यह है कि जो पुरुष तृष्णा के वशीभूत होकर रस के परिग्रह में प्रवृत्ति करता है वह माया और मृषावाद को ही बढ़ाता है इत्यादि ।

अब फिर कहते हैं—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥७०॥

मृषा-(वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः,
रसेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥७०॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स-मृषावाद के पच्छा-पीछे य-और पुरत्थओ-पहले य-तथा पओगकाले-प्रयोगकाल में—बोलने के समय में दुरंते-दुरन्त जीव दुही-दुःखी होता है एव-इसी प्रकार अदत्ताणि-अदत्त को समाययंतो-ग्रहण करता हुआ रसे-रस में अतित्तो-अतृप्त दुहिओ-दुःखित होता है और अणिस्सो-सहायता से रहित होता है।

मूलार्थ—यह दुरन्त—दुष्ट प्रवृत्ति वाला—जीव मिथ्याभाषण के पहले और पीछे तथा बोलने के समय भी दुःखी होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला (चोर) और रस के विषय में अतृप्त रहने वाला भी दुःखित और आश्रय से रहित होता है।

टीका—असत्यभाषी, चोरी करने वाला और रसों का लोलुप जीव किसी दशा में भी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता, यह इस गाथा का तात्पर्य है।

अब फिर इसी सम्बन्ध में कहते हैं—

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७१॥

रसानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं स्यात् कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥७१॥

पदार्थान्वयः—रसाणुरत्तस्स-रसों में अनुरक्त नरस्स-मनुष्य को एवं-इ प्रकार से कत्तो-कहाँ से सुहं-सुख होज्ज-हो सकता है कयाइ-कदाचित् किंचि-किंचिन्मात्र भी तत्थोवभोगे वि-रसों के उपभोगकाल में भी किलेसदुक्खं-क्ले और दुःख को ही निव्वत्तई-सम्पादन करता है।

मूलार्थ—रसों में मूर्छित होने वाले पुरुष को कभी और किंचिन्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अपि च रसों के उपभोग के समय में भी उसको क्लेश और दुःख का ही अनुभव करना पड़ता है।

अब द्वेष के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

एमेव रसम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥७२॥

एवमेव रसे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥७२॥

पदार्थान्वयः—एमेव–इसी प्रकार रसम्मि–रसों में पओसं–उत्कट द्वेष को गओ–प्राप्त हुआ दुक्खोहपरंपराओ–दुःखसमूह की परम्परा को उवेइ–प्राप्त होता है पदुट्ठचित्तो–दुष्टचित्त होकर—वह उस कम्मं–कर्म को चिणाइ–एकत्रित करता है जं–जिस कर्म से से–उसको पुणो–फिर विवागे–विपाककाल में दुहं–दुःख होइ–होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार रस के विषय में उत्कट द्वेष को प्राप्त होने वाला जीव भी दुःखसमुदाय की परम्परा का अनुभव करता है तथा दूषित चित्त से वह जिस कर्म का उपार्जन करता है वही कर्म विपाककाल में उसके लिए दुःख-रूप हो जाता है।

टीका—इस पर जो कुछ वक्तव्य था उसका उल्लेख प्रथम आ चुका है।

अब उक्त विषय में राग-द्वेष के त्याग का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रसे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥७३॥

रसे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥७३॥

पदार्थान्वयः—रसे विरत्तो—रसों में विरक्त मणुओ—मनुष्य विसोगो—शोक से रहित एएण—इस दुक्खोहपरंपरेण—दुःखसमूह की परंपरा से भवमज्झे—संसार में वि संतो—होता हुआ भी न लिप्पई—लिप्त नहीं होता वा—जैसे जलेण—जल से पोक्खरिणीपलासं—कमलिनी का पत्र लिप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—जो मनुष्य रसों में विरक्त और शोक से रहित है वह संसार में रहता हुआ भी इस दुःखपरंपरा से अलिप्त रहता है अर्थात् उक्त प्रकार के दुःखों का उसको सम्पर्क नहीं होता, जैसे जल से कमलदल अलिप्त रहता है । तात्पर्य यह है कि जैसे जल में रहने वाला कमलपत्र जल में रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार रसादिविषयक अनासक्ति रखने वाला पुरुष भी सांसारिक दुःखों से व्याप्त नहीं होता ।

अब स्पर्श-इन्द्रिय के विषय में कहते हैं । यथा—

कायस्स फासं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥७४॥

कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति,
तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥७४॥

पदार्थान्वयः—कायस्स–काया का फासं–स्पर्श को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं तं–उस मणुन्नं–मनोज्ञ स्पर्श को रागहेउं–राग का हेतु आहु–कहा है तु–वितर्क में है तं–उस अमणुन्नं–अमनोज्ञ को दोसहेउं–द्वेष का हेतु आहु–कहा है जो–जो तेसु–उनमें समो–सम भाव रखता है स–वह वीयरागो–वीतराग होता है।

मूलार्थ—काया का स्पर्श ग्राह्य माना गया है। उसमें मनोज्ञ स्पर्श को राग का हेतु और अमनोज्ञ को द्वेष का कारण बतलाया है, परन्तु इन दोनों प्रकार के स्पर्शों में जो सम भाव रखने वाला है वह वीतराग है।

टीका—प्रिय स्पर्श राग का कारण और अप्रिय द्वेष का हेतु है, ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुषों का कथन है, परन्तु यह कथन राग-द्वेषयुक्त आत्मा की अपेक्षा से है। कारण यह है कि उसी में प्रियाप्रिय के स्पर्श से राग-द्वेष के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। जो वीतराग आत्मा है उसको तो दोनों में ही समानता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि वह प्रिय और अप्रिय दोनों में ही सम भाव रखने वाला होता है।

अब इनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि का वर्णन करते हैं। यथा—

फासस्स कायं गहणं वयंति,
कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥७५॥

स्पर्शस्य कायं ग्राहकं वदन्ति,
कायस्य स्पर्शं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥७५॥

पदार्थान्वयः—कायं–काया को फासस्स–स्पर्श का गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं—और फासं–स्पर्श को कायस्स–काया का गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं समणुन्नं–मनोज्ञ स्पर्श को रागस्स हेउं–राग का हेतु आहु–कहा है अमणुन्नं–अमनोज्ञ स्पर्श को दोसस्स हेउं–द्वेष का हेतु आहु–कहा है ।

मूलार्थ—काया—त्वक्—स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श काया का ग्राह्य है । तात्पर्य यह है कि इन दोनों का आपस में ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध है । इनमें जो मनोज्ञ स्पर्श है वह तो राग का हेतु है और जो अमनोज्ञ है उसको द्वेष का कारण कहते हैं ।

टीका—स्पर्श के शीतोष्णादिरूप से अनेक भेद हैं ।

अब स्पर्शविषयक बढ़े हुए राग के फल का वर्णन करते हैं । यथा—

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे वरण्णे ॥७६॥

स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः शीतजलावसन्नः,
ग्राहगृहीतो महिष इवारण्ये ॥७६॥

पदार्थान्वयः—जो–जो फासेसु–स्पर्शविषयक तिव्वं–तीव्र भाव से गिद्धिं–मूर्च्छाभाव को उवेइ–प्राप्त होता है से–वह अकालियं–अकाल में ही विणासं–विनाश को पावइ–प्राप्त हो जाता है रागाउरे–राग से आतुर हुआ सीयजलावसन्ने–शीतल जल में निमग्न व–जैसे अरण्णे–वन में गाहग्गहीए–ग्राह के द्वारा पकड़ा हुआ महिसे–महिष—भैंसा—विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

मूलार्थ—जैसे वन के जलाशय में शीतल जल के स्पर्श में अत्यन्त मूर्छित हुआ महिष ग्राह—जलचर जीव—के द्वारा पकड़ा जाने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार मनोज्ञ स्पर्श के विषय में अत्यन्त आसक्त होने वाला पुरुष भी अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—यहाँ पर महिष के साथ जो अरण्यवर्ती जलाशय का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य यह है कि यदि वह नगर के समीपवर्ती किसी जलाशय मे होगा तो कोई न कोई उसको मृत्यु के मुख से छुड़ा भी सकता है, परन्तु वन में उसको बन्धन से मुक्त कराने वाला कोई नहीं है, इसलिये उसका विनाश अवश्यम्भावी है ।

अव अमनोज्ञ स्पर्श के विषय में बढ़े हुए द्वेष के फल का वर्णन करते हैं । यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि फासं अवरज्झई से ॥७७॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चित्स्पर्शोऽपराध्यति तस्य ॥७७॥

पदार्थान्वयः—जे यावि—जो कोई अप्रिय स्पर्श मे तिव्वं—अत्युत्कट दोसं—द्वेष समुवेइ—करता है से—वह तंसि क्खणे—उसी क्षण में दुक्खं—दुःख को उवेइ—प्राप्त हो जाता है सएण—स्वकृत दुद्दंतदोसेण—दुर्दमनीय दोष से जंतू—जीव—दुःख पाता है से—उसका फासं—स्पर्श किंचि—यत्किंचित् भी न अवरज्झई—अपराध नहीं करता।

मूलार्थ—जो कोई अप्रिय स्पर्श के विषय में तीव्र भाव से द्वेष को करता है वह स्वकृत दुर्दमनीय दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु अप्रिय स्पर्श उसका किंचिन्मात्र भी अपराध नहीं करता। तात्पर्य यह है कि इस दुःखोत्पत्ति का कारण उसका अपना अन्दर का बढ़ा हुआ द्वेष है, इसमें अप्रिय स्पर्श का कोई अपराध नहीं है। इसकी व्याख्या पूर्व की भाँति जाननी चाहिए।

अब राग-द्वेष और उसकी निवृत्ति के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार इसी विषय में फिर कहते हैं। यथा—

एगंतरत्ते रुइरंसि फासे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥७८॥

एकान्तरक्तो रुचिरे स्पर्शे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥७८॥

पदार्थान्वयः—रुइरंसि—रुचिर फासे—स्पर्श में जो एगंतरत्ते—अत्यन्त अनुरक्त है और अतालिसे—अमनोहर स्पर्श मे पओसं—अत्यन्त द्वेष कुणई—करता है से—वह दुक्खस्स संपीलं—दुःखसम्बन्धी पीड़ा को उवेइ—प्राप्त होता है बाले—अज्ञानी तेण—उस पीड़ा से विरागो—विरक्त मुणी—मुनि न लिप्पई—लिप्यमान नहीं होता।

मूलार्थ—जो मनुष्य प्रिय स्पर्श में अत्यन्त आसक्त है और अप्रिय स्पर्श में अत्यन्त द्वेष रखता है वह अज्ञानी जीव ही दुःखसम्बन्धी पीड़ा को प्राप्त होता है। जो विरक्त मुनि है वह इस दुःखसम्बन्धी पीड़ा से लिप्त नहीं होता।

अब बढ़े हुए राग से होने वाले हिंसादि अनर्थों का वर्णन करते हैं—

फासाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥७९॥

स्पर्शानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥७९॥

पदार्थान्वयः—फासाणुगासाणुगए–सुन्दर स्पर्श की आशा के अनुगत हुआ जीवे–जीव य–फिर चराचरे–जंगम और स्थावर अणेगरूवे–अनेक जाति के जीवों की हिंसइ–हिंसा करता है चित्तेहि–नाना प्रकार के शस्त्रों से बाले–अज्ञानी जीव ते–उन जीवों को परितावेइ–परिताप देता है पीलेइ–पीड़ा पहुँचाता है अत्तट्ठगुरू–अपने स्वार्थ के लिए किलिट्ठे–राग से आकर्षित हुआ।

मूलार्थ—सुन्दर स्पर्श की आशा के अनुगत हुआ यह अज्ञानी जीव अनेक प्रकार के जंगम और स्थावर जीवों की हिंसा करता है तथा राग से आकर्षित हुआ स्वार्थ के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के शस्त्रादिप्रयोगों से उन जीवों को परिताप देता है और पीड़ा पहुँचाता है।

टीका—इसकी व्याख्या प्रथम आ चुकी है।

अब फिर कहते हैं—

फासाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥८०॥

स्पर्शानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥८०॥

पदार्थान्वयः—फासाणुवाएण—स्पर्श के अनुराग से परिग्गहेण—परिग्रह से उप्पायणे—उत्पादन में रक्खणसंनिओगे—रक्षण और संनियोग में वए—विनाश होने पर विओगे—वियोग में से—उस रागी पुरुष को कहं—कैसे सुहं—सुख हो सकता है संभोगकाले—संभोगकाल में अतित्तलाभे—तृप्ति का लाभ न होने से।

मूलार्थ—सुन्दर स्पर्श के अनुराग से और परिग्रह से स्पर्श के उत्पादन में, रक्षण में, सन्नियोग में, व्यय होने पर, विनाश होने पर और संभोगकाल में तृप्ति न होने से उस रागी जीव को कहाँ से सुख हो सकता है अर्थात् उसे सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

टीका—जो व्यक्ति स्पर्शादि के विषय में अत्यन्त मूर्छित है उसको किसी समय भी सुख का प्राप्त होना कठिन है। इस विषय का अधिक विवेचन पीछे अनेक वार किया गया है, उसी के अनुसार यहाँ पर भी समझ लेना चाहिए।

अव फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

फासे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥८१॥

स्पर्शेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥८१॥

पदार्थान्वयः—फासे–स्पर्शविषयक अतित्ते–अतृप्त य–तथा परिग्गहम्मि–परिग्रह में सत्तोवसत्तो–सामान्य-विशेषरूप से आसक्त तुट्ठिं–सन्तोष को न उवेइ–प्राप्त नहीं होता अतुट्ठिदोसेण–असन्तोष के दोष से दुही–दुःखी हुआ परस्स–पर के स्पर्श को लोभाविले–लोभाकुल होकर अदत्तं–अदत्त को आययई–ग्रहण करने लगता है।

मूलार्थ—स्पर्श के विषय में अतृप्त और परिग्रह में सक्तोपसक्त—विशिष्ट आसक्ति रखने वाला—पुरुष कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता तथा असन्तोष के दोष से दुःखी होता हुआ लोभ के वशीभूत होकर दूसरों के अदत्त को ग्रहण करने लगता है अर्थात् चोरी के कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

टीका—स्पर्शादिविषयक बढ़े हुए असन्तोष से पुरुष कहाँ तक अनर्थ करने में प्रवृत्त होता है इस बात का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है।

पुनः कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥८२॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः ,
स्पर्शेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥८२॥

पदार्थान्वयः—तण्हाभिभूयस्स-तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो-अदत्त का अपहरण करने वाला फासे-स्पर्श में अतित्तस्स-अतृप्त य-और परिग्गहे-परिग्रह में—मूर्छित लोभदोसा-लोभ के दोष से मायामुसं-माया और मृषावाद की वड्ढइ-वृद्धि करता है तत्थावि-माया और मृषावाद की वृद्धि से भी से-वह दुक्खा-दुःख से न विमुच्चई-मुक्त नहीं होता ।

मूलार्थ—तृष्णा से व्याप्त, अदत्त का अपहारक, स्पर्श में अतृप्त और परिग्रह में मूर्छित होने वाला पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता—छुटकारा नहीं पा सकता ।

टीका—इसकी व्याख्या प्रथम आ चुकी है ।

अब असत्यभाषण के विषय मे कहते हैं । यथा—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥८३॥

मृषा- (वाक्यस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः,
स्पर्शेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥८३॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स–मृषावाद के पच्छा–पश्चात् य–और पुरत्थओ–पहले य–तथा पओगकाले–प्रयोगकाल मे दुरंते–दुरन्त—स्पर्श-इन्द्रिय के पराधीन दुही–दुःखी होता है एवं–इसी प्रकार अदत्ताणि–अदत्त का समाययंतो–अंगीकार करने वाला फासे–स्पर्शविषयक अतित्तो–अतृप्त दुहिओ–दुःखित अणिस्सो–सहायक से रहित।

मूलार्थ—मिथ्याभाषण के पीछे और पहले तथा बोलते समय स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होने वाला पुरुष दुःखी होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला स्पर्श के विषय में अतृप्त होता हुआ दुःखी और सहाय से रहित हो जाता है।

टीका—मिथ्याभाषण और चोरी करने वाला जीव न तो कभी सुख को प्राप्त होता है और ना ही उसको किसी के आश्रय की प्राप्ति होती है। विपरीत इसके वह दुःखी और असहाय होता है।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए फिर कहते हैं—

फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥८४॥

स्पर्शानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं भूयात्कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥८४॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार फासाणुरत्तस्स–स्पर्श में अनुरक्त नरस्स–पुरुष को कयाइ–किसी काल मे किंचि–किंचिन्मात्र भी कत्तो–कहाँ से सुहं–सुख होज्ज–होवे तत्थ–वहाँ—स्पर्श मे उवभोगे वि–उपभोग के होने पर भी

किलेसदुक्खं—क्लेश और दुःख को ही **निव्वत्तई**—उत्पन्न करता है **जस्स कए**—जिसके लिए आत्मा को **दुक्खं**—दुःख होता है **ण**—वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—स्पर्श में अनुरक्त रहने वाले पुरुष को किसी काल में किंचिन्मात्र भी सुख की प्राप्ति कहाँ से हो ? क्योंकि स्पर्श के उपभोग में भी वह क्लेश और दुःख का ही सम्पादन करता है और जिसके लिए आत्मा निरन्तर दुःख का अनुभव करती है। तात्पर्य यह है कि स्पर्श के विषय में मूर्छित होने वाला जीव किसी समय भी सुख को प्राप्त नहीं करता।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं। यथा—

एमेव फासम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८५॥

एवमेव स्पर्शे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥८५॥

पदार्थान्वयः—**एमेव**—उसी प्रकार **फासम्मि**—स्पर्श में **पओसं**—उत्कट द्वेष को **गओ**—प्राप्त हुआ **दुक्खोहपरंपराओ**—दुःखसमूह की परम्परा को **उवेइ**—पाता है **पदुट्ठचित्तो**—दूषित-चित्त **कम्मं**—कर्म को **चिणाइ**—एकत्रित करता है **जं**—जो कर्म से—उसको **पुणो**—फिर **विवागे**—विपाककाल मे **दुहं**—दुःखरूप **होइ**—हो जाता है।

मूलार्थ—उसी प्रकार स्पर्शविषयक प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव भी दुःखसमूह की परम्परा को प्राप्त होता है और दुष्ट चित्त से वह उस कर्म का उपार्जन करता है जो विपाककाल में उसके लिए दुःख का हेतुभूत होता है।

तात्पर्य यह है कि दूषित अध्यवसाय से उपार्जन किया हुआ कर्म ही उसके लिए दुःखरूप हो जाता है।

अब राग-द्वेष के त्याग का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

फासे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥८६॥

स्पर्शे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥८६॥

पदार्थान्वयः—फासे-स्पर्श में विरत्तो-विरक्त मणुओ-मनुज विसोगो-शोक से रहित एएण-इस दुक्खोहपरंपरेण-दुःखसमूह की परंपरा से भवमज्झे-संसार में वि संतो-रहता हुआ भी न लिप्पई-लिप्त नहीं होता वा-जैसे जलेण-जल से पोक्खरिणीपलासं-कमलिनी का पत्र लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—स्पर्श में विरक्त और शोकरहित पुरुष संसार में वसता हुआ भी इस दुःखपरम्परा से लिप्त नहीं होता। जैसे सरोवर में रहता हुआ भी कमलपत्र जल से लिप्यमान नहीं होता।

इस प्रकार इन उक्त १३ गाथाओं के द्वारा स्पर्श-इन्द्रिय के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है और प्रत्येक इन्द्रिय के लिए १३ गाथाएं कही गई हैं। इस प्रकार कुल ६५ गाथाओं में पाँचों इन्द्रियों का वर्णन किया गया है। अब इसके आगे मन के विषय मे वर्णन करते हैं। यथा—

मणस्स भावं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥८७॥

मनसो भावं ग्रहणं वदन्ति,
तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः,
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥८७॥

पदार्थान्वयः—मणस्स–मन का भावं–भाव को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं—तीर्थंकरादि तं–उस मणुन्नं–मनोज्ञ भाव को रागहेउं–राग का हेतु आहु–कहा है तं–उस अमणुन्नं–अमनोज्ञ भाव को दोसहेउं–द्वेष का हेतु आहु–कहा है जो–जो तेसु–उनमें समो–सम है स–वह वीयरागो–वीतराग है।

मूलार्थ—भाव को मन ग्रहण करता है। वह मनोज्ञ भाव तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव को द्वेष का हेतु कहा है। परन्तु जो इनमें सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—भाव, नाम अभिप्राय का है। उसका ग्राहक चित्त है अर्थात् चित्त—मन—के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। वह भाव यदि मनोज्ञ हो तो राग का कारण बनता है और यदि अमनोज्ञ हो तो द्वेष को उत्पन्न करने वाला हो जाता है। जो पुरुष इनमें समान भाव रखता है अर्थात् इनके निमित्त से आत्मा में राग-द्वेष को उत्पन्न नहीं होने देता अथवा जिसमें राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती वह वीतराग है, ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुषों का कथन है।

अब मन और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध आदि का वर्णन करते हुए शास्त्रकार फिर कहते हैं—

भावस्स मणं गहणं वयंति,
मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥८८॥

भावस्य मनो ग्राहकं वदन्ति,
मनसो भावं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः,
द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥८८॥

पदार्थान्वयः—भावस्स–भाव का मणं–मन को गहणं–ग्राहक वयंति–कहते हैं मणसो–मन का भावं–भाव को गहणं–ग्राह्य वयंति–कहते हैं रागस्स हेउं–राग का हेतु समणुन्नं–मनोज्ञ भाव आहु–कहा है दोसस्स हेउं–द्वेष का हेतु अमणुन्नं–अमनोज्ञ भाव आहु–कहा है।

मूलार्थ—मन भाव का ग्राहक है और भाव मन का ग्राह्य है। मनोज्ञ भाव राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का हेतु है।

टीका—मन और भाव का ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्बन्ध है। भाव मन के द्वारा गृहीत होते हैं और मन उनको ग्रहण करता है। इस प्रकार इनकी परस्पर ग्राह्य-ग्राहकता है। इनमें शुभ भाव तो राग की उत्पत्ति का हेतु माना है और अशुभ भाव से द्वेष की उत्पत्ति होती है।

अब भावविषयक बढ़े हुए राग के विषय में कहते हैं। यथा—

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
करेणुमग्गावहिए व नागे ॥८९॥

भावेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः कामगुणेषु गृद्धः,
करेणुमार्गापहृत इव नागः ॥८९॥

पदार्थान्वयः—भावेसु–भावविषयक जो–जो तिव्वं–उत्कट भाव से गिद्धिं–मूर्छा को उवेइ–प्राप्त होता है से–वह अकालियं–अकाल में विणासं–विनाश को पावइ–प्राप्त होता है रागाउरे–रागातुर कामगुणेसु गिद्धे–कामगुणों में मूर्छित करेणु–हस्तिनी के द्वारा मग्गावहिए–मार्गापहृत व–जैसे नागे–हस्ती—विनाश को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—जो मनुष्य भावविषयक उत्कट राग रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे रागातुर और कामगुणों में मूर्छित हस्ती हस्तिनी के द्वारा मार्गापहृत होकर विनाश को प्राप्त हो जाता है।

टीका—जैसे कोई मदोन्मत्त हस्ती दूर से ही जब किसी हस्तिनी को देखता है तब वह स्वमार्ग को छोड़कर उसके पीछे लग पड़ता है। इस प्रकार मानसिक भाव के वशीभूत हुए उस मार्गभ्रष्ट हस्ती को विषमस्थल गर्तादि मे डालकर मनुष्य पकड़ लेते अथवा मार देते हैं। इसी प्रकार भाव के विषय में मूर्छित हुए पुरुष को भी अकाल ही में मृत्यु आकर दवोच लेती है। [करेणुमग्गावहिए व नागे=करेण्वा—करिण्या मार्गेण—निजपथेन—अपहृतः—आकृष्टः=करेणुमार्गापहृतः नाग इव—हस्तीव]। सारांश यह है कि हस्तिनी को देखकर उस पर मोहित हुआ मदोन्मत्त हस्ती जब उसके पीछे लग पड़ता है तब गर्त आदि मे गिराकर अथवा संग्रामादि में ले जाकर शिकारी उसको पकड़ लेते हैं। यहाँ पर यदि कोई यह शंका करे कि यह तो चक्षु-इन्द्रिय के वशीभूत हुए हस्ती की इस प्रकार की दशा देखने में आती है तो फिर भाव को लेकर उक्त दृष्टान्त का देना कैसे संभव हो सकता है? इसका समाधान यह है कि इस विषय को मन की प्रधानता को लेकर समझना चाहिए। कारण यह है कि यदि मन की उत्कट प्रवृत्ति न हो तो चक्षु के द्वारा देखे जाने पर भी हस्तिनी के पीछे लगकर हस्ती मार्ग से भ्रष्ट नहीं हो सकता और न ही हस्तिनी उसको अपना अनुगामी वना

सकती है। इसीलिए जितनी भी इन्द्रियाँ हैं वे सब मन के संयोग से ही अपने २ कार्य में यथावत् प्रवृत्ति कर सकती हैं। यदि मन का उनसे पूर्ण संयोग न हो तो आँखें देखती हुई भी नहीं देखतीं, और कान सुनते हुए भी नहीं सुनते इत्यादि। अतः इन्द्रिय और विषय के संयोग में मन को ही प्रधान माना गया है। इसी विचार से उक्त भाव को लेकर उक्त दृष्टान्त दिया गया है।

अब द्वेष की उत्कटता के विषय में कहते हैं। यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि भावं अवरज्झई से ॥९०॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं,
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः,
न किञ्चिद्भावोऽपराध्यति तस्य ॥९०॥

पदार्थान्वयः—जे यावि—जो कोई भी—अप्रिय भाव में तिव्वं—तीव्र दोसं—द्वेष को समुवेइ—उत्पन्न करता है से—वह तंसि क्खणे—उसी क्षण में दुक्खं—दुःख को उवेइ—पाता है सएण—स्वकीय दुद्दंत—दुर्दान्त दोसेण—दोष से जंतू—जीव—दुःख पाता है से—उसका भावं—भाव किंचि—किंचिन्मात्र भी न अवरज्झई—अपराध नहीं करता उ—वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—जो कोई जीव अमनोज्ञ भाव में उत्कट द्वेष करता है वह उसी समय दुःखी हो जाता है, परन्तु वह स्वकृत दुर्दमनीय दोष के कारण ही दुःखी होता है, भाव का इसमें कोई अपराध नहीं। तात्पर्य यह है कि अप्रिय भाव उसको दुःखी नहीं करता किन्तु उसके दुःखी होने का कारण उसका अपना द्वेषजन्य अध्यवसाय ही है। अर्थात् मन का वश में न होना ही प्रिय भाव में राग

और अप्रिय में द्वेष को उत्पन्न करने वाला है। इसी से राग और द्वेष की परिणति होती है, अतः भाव की प्रियता और अप्रियता का इसमें कोई अपराध नहीं है।

अब राग-द्वेष और उसके त्याग का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

एगंतरत्ते रुइरंसि भावे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥९१॥

एकान्तरक्तो रुचिरे भावे,
अतादृशे स कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः,
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥९१॥

पदार्थान्वयः—एगंतरत्ते-एकान्त रक्त रुइरंसि-रुचिर भावे-भाव में से-वह अतालिसे-अमनोहर भाव में पओसं-प्रद्वेष को कुणई-करता है बाले-अज्ञानी जीव दुक्खस्स-दुःख की संपील-पीड़ा को उवेइ-प्राप्त होता है तेण-उस दुःखसम्बन्धी पीड़ा से विरागो-विरक्त मुणी-मुनि न लिप्पई-लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो पुरुष मनोहर भाव में एकान्त रक्त और अमनोहर भाव में एकान्त द्वेष करता है वह अज्ञानी जीव दुःखसम्बन्धी पीड़ा से पीड़ित होता है, परन्तु जो विरक्त है वह उस दुःखजन्य पीड़ा से लिप्त नहीं होता।

अब उक्त राग को हिंसा आदि आश्रवों का कारण बतलाते हुए फिर कहते हैं। यथा—

भावाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥९२॥

भावानुगाशानुगतश्च जीवः,
चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः,
पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥९२॥

पदार्थान्वयः—भावाणुगासाणुगए—भाव की आशा के अनुगत हुआ जीवे—जीव अणेगरूवे—अनेक जाति के चराचरे—जंगम और स्थावर जीवों की हिंसइ—हिंसा करता है चित्तेहि—नाना प्रकार के शस्त्रों से ते—उन जीवों को बाले—अज्ञानी जीव परितावेइ—परिताप देता है किलिट्ठे—राग से आकृष्ट चित्त अत्तट्ठगुरू—अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के वास्ते पीलेइ—जीवों को पीड़ा देता है ।

मूलार्थ—भाव की आशा के वशीभूत हुआ जीव अनेक जाति के जंगम और स्थावर जीवों की हिंसा करता है तथा नाना प्रकार के शस्त्र-प्रयोगों से उन जीवों को परिताप देता है और राग से आकृष्ट होकर अपने स्वार्थ के लिए उनको पीड़ा पहुँचाता है ।

टीका—भावाशा के वशीभूत होने वाला जीव अनेक प्रकार के संकल्पों द्वारा हिंसा के भावों को उत्पन्न करता है । जैसे—इस औषधि से उसको वश कर लूँ, इस औषधि से स्वर्णसिद्धि कर लूँ और इसके द्वारा पुत्र उत्पन्न कर लूँ इत्यादि, तथा इस प्रकार से उन जीवों को मार सकता हूँ और इस प्रकार से कष्ट पहुँचा सकता हूँ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि किसी जीव के लिए जघन्य संकल्प करना अथवा उसकी मृत्यु अथवा कष्ट के लिए विचार करना भावहिंसा है । यह हिंसा अनेक प्रकार के अनर्थों की जननी है । इसका मूल स्रोत राग है, जिसके विषय में ऊपर कहा गया है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

भावाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥९३॥

भावानुपातेन परिग्रहेण,
उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य,
सम्भोगकाले चाऽतृप्तिलाभे ॥९३॥

पदार्थान्वयः—भावाणुवाएण-भावविषयक अनुराग से परिग्गहेण-परिग्रह से उप्पायणे-उत्पादन में रक्खणसंनिओगे-रक्षण और संनियोग में वए-व्यय होने पर विओगे-वियोग होने पर से-उस जीव को कहं सुहं-कैसे सुख हो य-तथा संभोगकाले-संभोगकाल में अतित्तलाभे-तृप्ति का लाभ न होने से ।

मूलार्थ—भाव के अनुराग से और परिग्रह से भाव के उत्पादन में, रक्षण और सन्नियोग में, विनाश हो जाने पर तथा वियोग हो जाने पर, उस रागी पुरुष को कहाँ से सुख की प्राप्ति हो सकती है ? तथा संभोगकाल में भी तृप्ति का लाभ न होने से उसे सुख नहीं मिलता ।

टीका—भावविषयक उत्कट राग रखने वाला जीव किसी समय भी सुख की उपलब्धि नहीं कर सकता, यही इस गाथा का तात्पर्य है । विषयादि के अधिक चिन्तन से, विषयादि के अधिक संग्रह करने की लालसा से, तथा यह विषयादि पदार्थ किस प्रकार से मिल सकेंगे इस प्रकार के चिन्तन से, आरोग्य तथा बुद्धि आदि भावो की रक्षा करने मे, दूसरे को सद्बुद्धि अथवा कुबुद्धि के देने मे, एवं निद्रा आदि के द्वारा स्मृति के हीन हो जाने पर, दूसरे

को उत्तर देने में स्फूर्ति के न होने पर, अर्थात् इस प्रकार की उलझन में पड़ने से भावानुरागी जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

अब फिर कहते हैं—

भावे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥९४॥

भावेऽतृप्तश्च परिग्रहे,
सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य,
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥९४॥

पदार्थान्वयः—भावे–भाव में अतित्ते–अतृप्त य–और परिग्गहम्मि–परिग्रह में सत्तोवसत्तो–विशेष आसक्त तुट्ठिं–संतोष को न उवेइ–प्राप्त नहीं होता अतुट्ठिदोसेण–अतुष्टिरूप दोष से दुही–दुःखी हुआ परस्स–पर के द्रव्य में लोभाविले–लोभ से आकुल होकर अदत्तं–अदत्त को आययई–ग्रहण करने लग जाता है।

मूलार्थ—भाव के विषय में असंतोषी और परिग्रह में अधिक आसक्ति रखने वाला जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु असन्तोष के दोष से दुःखी होता हुआ वह लोभ के वशीभूत होकर पर के द्रव्य को विना दिये ग्रहण करने लगता है अर्थात् चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इसकी व्याख्या पूर्व में आ चुकी है।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥९५॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः,
भावेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्,
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥९५॥

पदार्थान्वयः—तण्हाभिभूयस्स–तृष्णा के वशीभूत अदत्तहारिणो–अदत्त का अपहरण करने वाला भावे–भाव के विषय में अतित्तस्स–अतृप्त य–और परिग्गहे–परिग्रह मे मूर्छित लोभदोसा–लोभ के दोष से मायामुसं–माया और मृषावाद की वड्ढइ–वृद्धि करता है तत्थावि–फिर भी से–वह दुक्खा–दुःख से न विमुच्चई–छुटकारा नहीं पाता ।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला, अपनी महिमा कराने में अतृप्त और परिग्रह में मूर्छित पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है किन्तु फिर भी वह दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता ।

टीका—जो पुरुष अपनी महिमा आदि कराने में सन्तोष को प्राप्त नहीं होता अर्थात् यश-कीर्ति के होते हुए भी और अधिक यश-कीर्ति का इच्छुक रहता है तथा अन्य आत्माओं से असूया करता हुआ ममत्व में ही मूर्छित हो रहा है, एवं लोभ के वशीभूत होकर छल-कपट और असत्यभाषण मे प्रवृत्ति कर रहा है और मैं ही पंडित और सर्व शास्त्रों का जानने वाला हूँ इस प्रकार के अभिमान मे डूब रहा है; ऐसे पुरुष को दुःखों से कभी छुटकारा नहीं हो सकता, यह उक्त गाथा का रहस्य है ।

अब असत्यभाषणादि के परिणाम के विषय में फिर कहते हैं । यथा—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।

एवं अदत्ताणि समाययंतो,
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥९६॥

मृषा- (वाक्यस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च,
प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः,
भावेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥९६॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स-मृषावाद के पच्छा-पीछे य-और पुरत्थओ-पहिले य-तथा पओगकाले-प्रयोगकाल में दुही-दुःखी दुरंते-दुष्ट अन्तःकरण वाला एवं-इसी प्रकार अदत्ताणि-अदत्त वस्तुओं को समाययंतो-ग्रहण करता हुआ भावे-भाव में अतित्तो-अतृप्त दुहिओ-दुःखित हुआ अणिस्सो-असहाय ।

मूलार्थ—मिथ्याभाषण के प्रथम और पीछे तथा मिथ्याभाषण करते समय दुष्ट अन्तःकरण वाला जीव दुःखी होता है । इसी प्रकार अदत्त पदार्थों का ग्रहण करता हुआ भाव में अतृप्त रहकर और भी दुःखी तथा असहाय—निराश्रित—हो जाता है ।

टीका—निरन्तर असत्य बोलने और चोरी करने वाला जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिए संसार में उसका कोई सहायक भी नहीं बनता, यह उक्त गाथा का भावार्थ है ।

भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥९७॥

भावानुरक्तस्य नरस्यैवं,
कुतः सुखं स्यात्कदापि किञ्चित् ।

तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं,
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥९७॥

पदार्थान्वयः—भावाणुरत्तस्स–भावविषयक अनुरक्त नरस्स–नर को एवं-उक्त न्याय से कयाइ–कदापि किंचि–किंचिन्मात्र भी कत्तो–कैसे सुहं–सुख होज्ज-होवे तत्थोवभोगे वि–भाव के उपभोग में भी किलेसदुक्खं–क्लेश और दुःख का निव्वत्तई–सम्पादन करता है जस्स कए–जिसके लिए दुक्खं–कष्ट भोगा है।

मूलार्थ—भावविषयक अनुरक्त पुरुष को उक्त प्रकार से कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। संकल्प और विकल्पों के पुनः पुनः चिन्तन करने से क्लेश और दुःख ही उत्पन्न होता है, क्योंकि चिरकालपर्यन्त भावविषयक चिन्ता करने से कष्ट उत्पन्न हो जाया करता है।

टीका—जो पुरुष मन के संकल्पों में निरन्तर खचित रहता है वह किसी समय भी सुखी नहीं हो सकता तथा जिन संकल्पों को एकत्रित करने में उसने कष्ट उठाया है उनके उपभोग में भी वह क्लेश और दुःख का ही अनुभव करता है। इसलिए भावानुरक्त पुरुष को सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं। यथा—

एमेव भावम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥९८॥

एवमेव भावे गतः प्रद्वेषम्,
उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म,
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥९८॥

पदार्थान्वयः—एमेव—इसी प्रकार भावम्मि—भावविषयक पओसं—उत्कट द्वेष को गओ—प्राप्त हुआ दुक्खोहपरंपराओ—दुःखों की परम्परा को उवेइ—प्राप्त करता है पदुट्ठचित्तो—द्वेषपूर्ण चित्त से उस कम्मं—कर्म का चिणाइ—उपार्जन करता है जं—जो कर्म से—उसको विवागे—विपाकसमय मे दुहं—दुःखरूप होइ—होता है ।

मूलार्थ—उसी प्रकार भावविषयक द्वेष को प्राप्त हुआ जीव भी दुःख की परम्परा को प्राप्त करता है और द्वेषपूर्ण चित्त से वह जिस कर्म का संचय करता है वही कर्म उसको विपाकसमय में दुःखरूप हो जाता है ।

टीका—जिस प्रकार राग से दुखों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार द्वेष भी दुःखों का मूल स्रोत है इत्यादि ।

अब राग-द्वेष के त्याग का फल बतलाते हुए फिर कहते हैं—

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥९९॥

भावे विरक्तो मनुजो विशोकः,
एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्,
जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥९९॥

पदार्थान्वयः—भावे विरत्तो—भाव में विरक्त मणुओ—मनुज विसोगो—शोक से रहित एएण—इस दुक्खोहपरंपरेण—दुःखों की परंपरा से भवमज्झे—संसार में वि संतो—रहता हुआ भी न—नहीं लिप्पई—लिप्त होता वा—जैसे जलेण—जल से पोक्खरिणीपलासं—कमलिनीपत्र लिप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—जो पुरुष भाव में विरक्त और शोक से रहित है वह संसार में रहता हुआ भी उक्त प्रकार के दुःख से अलिप्त रहता है, जैसे कि जल में उत्पन्न हुआ कमलदल जल से लिप्यमान नहीं होता।

टीका—जिस आत्मा ने मानसिक विकल्पों का परित्याग कर दिया है और शोक से भी रहित हो गई है, उस आत्मा को इन सांसारिक दुःखों का सम्पर्क नहीं होता। वह संसार में रहती हुई भी जल में रहने वाले कमलदल की भाँति सांसारिक दुःखों से अलिप्त रहती है। तात्पर्य यह है कि वीतराग आत्मा को दुःखों का लेप नहीं होता, क्योंकि वह बन्ध के हेतुभूत कर्मों का अर्जन नहीं करती। यद्यपि मन में संकल्प-विकल्प तो उत्पन्न होते ही रहते हैं और उनके द्वारा पदार्थों का विचार भी होता रहता है, तथापि राग-द्वेष से रहित होने के कारण पूर्वोक्त विचारों का उस आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता अर्थात् वे कर्म बन्ध के कारण नहीं बनते। इस प्रकार इन उक्त १३ गाथाओं के द्वारा छठे अधिकार की पूर्णता की गई है।

अब इस प्रस्तावित विषय का उपसंहार करते हुए पुनः राग-द्वेष और उसके त्याग का फल वर्णन करते हैं। यथा—

एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥१००॥

एवमिन्द्रियार्थाश्च मनसोऽर्थाः,
दुःखस्य हेतवो मनुजस्य रागिणः।
ते चैव स्तोकमपि कदापि दुःखं,
न वीतरागस्य कुर्वन्ति किञ्चित् ॥१००॥

पदार्थान्वयः—एवं–इसी प्रकार इंदियत्था–इन्द्रियों का अर्थ य–और मणस्स–मन का अत्था–अर्थ दुक्खस्स–दुःख का हेउं–हेतु रागिणो–रागी

मणुयस्स–मनुष्य को ते–वे अर्थ थोवं पि–स्तोकमात्र भी कयाइ–कदापि दुक्खं–दुःख को वीयरागस्स–वीतराग को किंचि–किंचिन्मात्र भी न करेंति–नहीं करते।

मूलार्थ—इसी प्रकार मन और इन्द्रियों के विषय रागी पुरुष के दुःख के हेतु होते हैं, और वे ही विषय वीतराग को कदापि किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं दे सकते।

टीका—इन्द्रियों के विषयरूपादि पदार्थ और मन के विषयसंकल्प-विकल्पादि रागी पुरुष के लिए दुःख का कारण बनते हैं अर्थात् राग-द्वेष से युक्त पुरुष को इनके निमित्त से अवश्य ही दुःख का अनुभव करना पड़ता है, परन्तु जो पुरुष वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित है उस पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब राग-द्वेष के कारण से ही सुख अथवा दुःख रूप होते हैं और वास्तव में तो इनमें सुख अथवा दुःख रूप कोई तत्त्व नहीं है। इसलिए वीतराग पुरुष के समक्ष तो इनमें सुख अथवा दुःख का कारण बनने की कोई भी शक्ति नहीं। यदि दूसरे शब्दों मे कहें तो इनकी सुख-दुख के रूप में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वैषयिक सुख अथवा दुःख की मूल-कारणता केवल राग और द्वेष में ही विद्यमान है। अतः मुमुक्षु पुरुष को इन्हीं के त्याग का यत्न करना चाहिये।

अब इसी विषय को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं। यथा—

न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥१०१॥

न कामभोगाः समतामुपयन्ति,
न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति।

यस्तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च,
स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति ॥१०१॥

पदार्थान्वयः—**कामभोगा**–काम-भोग **समयं**–समता—राग-द्वेष के उपशम—को **न उवेंति**–प्राप्त नहीं होते—उपशम के कारण नहीं होते **न यावि**–न ही **भोगा**–काम-भोग **विगइं**–विकृति को **उवेंति**–प्राप्त होते हैं—विकृति के हेतु हैं **जे**–जो **तेसु**–उन काम-भोगों में **तप्पओसी**–प्रद्वेष करने वाला है **य**–और **परिग्गही**–परिग्रह से युक्त है **सो**–वह जीव **मोहा**–मोह से **विगइं**–विकृति को **उवेइ**–प्राप्त करता है।

मूलार्थ—काम-भोगादि विषय न तो राग-द्वेष को दूर कर सकते हैं और न उनकी उत्पत्ति के कारण हैं, किन्तु जो पुरुष उनमें राग अथवा द्वेष करता है वही राग और द्वेष के कारण विकृति को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में 'समो य जो तेसु स वीयरागो—समश्च यस्तेषु स वीतरागः' इस पद का स्पष्टीकरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि काम-भोगादि विषय न तो राग-द्वेष को उपशान्त करते हैं और न ही किसी प्रकार की विकृति के कारण हैं अर्थात् क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राग-द्वेष की उपशमता और आत्मा का निज स्वभाव को त्यागकर क्रोधादिरूप कषायों के द्वारा विकृतिभाव को प्राप्त होना, यह सब काम-भोगादि के अधीन नहीं है किन्तु जो व्यक्ति इनमें राग अथवा द्वेष करता है वही व्यक्ति राग-द्वेष के कारण मोह के वशीभूत होकर विकृतिभाव को प्राप्त होता है। जिस आत्मा में राग-द्वेष की परिणति नहीं होती उसके लिये ये काम-भोगादि विषय सर्वथा अकिंचन हैं। इसलिए आत्मा का जो विकारयुक्त होना है उसका कारण काम-भोगादि विषय नहीं किन्तु राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाला मोह है। यदि संक्षेप से कहें तो राग-द्वेष से इस आत्मा में विकृति और राग-द्वेष के क्षय से वीतरागता की उपलब्धि होती है।

इस प्रकार राग-द्वेष के वशीभूत हुई आत्मा में जो विकार उत्पन्न होते हैं, अब उनका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोहं दुगुच्छं अरइं रइं च ।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं,
नपुंसवेयं विविहे य भावे ॥१०२॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां,
लोभं जुगुप्सामरतिं रतिं च ।
हास्यं भयं शोकं पुंस्त्रीवेदं,
नपुंसकवेदं विविधाँश्च भावान् ॥१०२॥

पदार्थान्वयः—कोहं-क्रोध च-और माणं-मान च-पुनः तहेव-उसी प्रकार मायं-माया लोहं-लोभ दुगुच्छं-जुगुप्सा अरइं-अरति च-और रइं-रति हासं-हास्य भयं-भय सोगं-शोक पुं-पुरुषवेद इत्थिवेयं-स्त्रीवेद नपुंसवेयं-नपुंसकवेद य-और विविहे-नाना प्रकार के भावे-हर्ष-विषादादि भाव ।

आवज्जई एवमणेगरूवे,
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो ।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे,
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ॥१०३॥

आपद्यते एवमनेकरूपान्,
एवंविधान् कामगुणेषु सक्तः ।
अन्याँश्चैतत्प्रभवान् विशेषान्,
कारुण्यदीनो ह्रीमान् द्वेष्यः ॥१०३॥

पदार्थान्वयः—आवज्जई–पाता है एवं–इस प्रकार से अणेगरूवे–अनेक रूपों को एवंविहे–पूर्वोक्त क्रोधादि भावों को कामगुणेसु–कामगुणों में सत्तो–आसक्त य–और अन्ने–अन्य एयप्पभवे–इस क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले विसेसे–विशेष नरकादि के दुःख कारुण्ण–करुणा के योग्य दीणे–अत्यन्त दीन हिरिमे–लज्जायुक्त वइस्से–अप्रीति को उत्पन्न करने वाला।

मूलार्थ—कामगुणों में आसक्त जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद तथा नाना प्रकार के हर्ष-विषाद आदि भावों और इस प्रकार के नानाविध रूपों को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले अन्य नरकादि सन्तापों को भी प्राप्त होता है, तथा इसी कारण से करुणायोग्य, अत्यन्त दीन लज्जालु और अप्रीति का भाजन बन जाता है। (युग्म)

टीका—प्रस्तुत गाथाद्वय में राग-द्वेष की बहुलता से उत्पन्न होने वाले विकारों का दिग्दर्शन कराया गया है। माया नाम छल का है, घृणा को जुगुप्सा कहते हैं, चित्त की विकलता का नाम अरति है, विषयासक्ति रति कहलाती है। स्त्री की इच्छा करने वाला पुरुषवेद, पुरुष के समागम की इच्छा जिससे प्राप्त हो वह स्त्रीवेद, तथा जिससे दोनों के समागम की इच्छा बनी रहे उसको नपुंसकवेद कहते हैं। इसके अतिरिक्त हर्ष, विषाद और क्रोधादि के द्वारा बाँधी गई नरकादि गतियों में भोगी जाने वाली विविध यातनाएँ, ये सब काम-भोगादि में अत्यन्त आसक्त होने वाली आत्मा के राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले विकार कहलाते हैं। इन विकारों से युक्त हुई जीवात्मा अनेक प्रकार के उच्चावच कर्मों का बन्ध करती है और भविष्य में अनेक प्रकार के रूपों को धारण करती है। सारांश यह है कि जो जीव काम-भोगादि में आसक्त है उसको इन पूर्वोक्त क्रोधादि भावों की प्राप्ति होती है तथा इसके अतिरिक्त नरक आदि के सन्ताप भी उसको भोगने पड़ते हैं। फिर वह कामी पुरुष नाना प्रकार के जघन्य कार्यों में प्रवृत्त होने से अत्यन्त दीन और दया का पात्र बनता हुआ कभी २ विशेष लज्जित और अप्रीति का भाजन बन जाता है। तब सिद्धान्त यह हुआ कि काम-गुणों से राग और द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा राग-द्वेष से यह जीवात्मा उक्त प्रकार की विकृतियों को प्राप्त होती है। अतः ये त्याज्य

हैं । 'कारुण्णदीणे—कारुण्यदीनः' इसमें मध्यमपदलोपी समास है । यथा—'कारुण्यास्पदीभूतो दीनः=कारुण्यदीनः' और 'वइस्से' यह आर्ष वाणी होने से 'द्वेष्य' का प्रतिरूप कहा जाता है ।

अब दुःख के कारणभूत राग-द्वेष को दूर करने के उपायों को प्रकारान्तर से बतलाने के पूर्व इसके विपर्यय मे जो दोष है उसका वर्णन करते हैं । यथा—

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू,
पच्छाणुतावे न तवप्पभावं ।
एवं वियारे अमियप्पयारे,
आवज्जई इंदियचोरवस्से ॥१०४॥

कल्पं नेच्छेत्साहाय्यलिप्सुः,
पश्चादनुतापो न तपःप्रभावम् ।
एवं विकारानमितप्रकारान्,
आपद्यते इन्द्रियचौरवश्यः ॥१०४॥

पदार्थान्वयः—कप्पं–योग्य सहायलिच्छू–सहायक—शिष्य—को अपनी सेवा के लिए न इच्छिज्ज–इच्छा न करे पच्छाणुतावे न–संयम ग्रहण करने के पश्चात् पश्चात्ताप न करे तवप्पभावं–तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे इंदिय-चोरवस्से–इन्द्रियरूप चोरों के वशीभूत हुआ एवं–इस प्रकार के वियारे–विकारों को—जो अमियप्पयारे–अमित प्रकार के—प्रमाणरहित हैं उनको आवज्जई–प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—अपने शरीर की सेवा के लिए योग्य शिष्य की भी इच्छा न करे । दीक्षा लेकर पश्चात्ताप न करे और तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे । क्योंकि इन्द्रियरूप चोरों के वशीभूत हुआ यह जीव इस प्रकार के असंख्य दोषों को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—इस गाथा में भगवान् ने तीन बातों की शिक्षा दी है। जैसे कि—(१) 'मुझे एक ऐसे शिष्य की आवश्यकता है जो कि मेरी सेवा-शुश्रूषा अच्छी तरह से कर सके' इस प्रकार की इच्छा रखने वाले साधु के प्रति भगवान् कहते हैं कि साधारण तो क्या ! किन्तु स्वाध्याय आदि करने के योग्य और विनयादि सर्व प्रकार के गुणों से सम्पन्न, ऐसे शिष्य की भी साधु अपनी सेवा के लिए इच्छा न करे। तात्पर्य यह है कि शरीरादि पर ममत्व लाकर, अयोग्य शिष्य की बात दूर रही, योग्य शिष्य की भी लालसा मन में न रखे। (२) संयम ग्रहण करने के अनन्तर पश्चात्ताप न करे। जैसे कि—'हा ! मैंने दीक्षा क्यों ली, हा ! इस काय-क्लेश को मैंने क्यों अंगीकार किया' इत्यादि। (३) इस लोक में यश-कीर्ति के लिए और परलोक में चक्रवर्ती सम्राट् और इन्द्रादि की पदवी प्राप्त करने के लिए संभूत यति की तरह तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे अर्थात् किसी निदान को लेकर तपश्चर्या न करे। अब इसमें हेतु बतलाते हुए कहते हैं कि यदि इस प्रकार से आचरण न करेगा तो इन्द्रियरूप चोरों के हाथों में पड़कर इस प्रकार के अनेकानेक विकारों को प्राप्त हो जावेगा इत्यादि। यद्यपि यह कथन जिन-कल्पी की अपेक्षा से ही किया गया है, तथापि स्थविर-कल्पी साधुओं को भी अयोग्य शिष्यों के संग्रह से तो सदा दूर ही रहना चाहिये और योग्य शिष्यों को भी अनुग्रह-बुद्धि से तथा धर्मोन्नति के लिए ही दीक्षित करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि उपकार-बुद्धि को छोड़कर केवल अपने ही स्वार्थ के लिए इन उक्त कार्यों को करेगा तो वह इन्द्रियरूप चोरों के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के दोषों को प्राप्त हो जावेगा।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

तओ से जायंति पओयणाइं,
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा,
तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥१०५॥

ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि,
निमज्जयितुं मोहमहार्णवे ।
सुखैषिणो दुःखविनोदनार्थं,
तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी ॥१०५॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर से—उसको जायंति—उत्पन्न होते हैं पओयणाइं—हिंसादि वा विषयसेवनादि प्रयोजन मोह—मोहरूप महण्णवम्मि—महार्णव में निमज्जिउं—डूबने के लिए सुहेसिणो—सुख की इच्छा करने वाले दुक्खविणोयणट्ठा—दुःखों को दूर करने के लिए तप्पच्चयं—तत्प्रत्ययिक रागी—राग करने वाला उज्जमए—उद्यम करता है ।

मूलार्थ—तदनन्तर उसको विषयादि-सेवन के प्रयोजन उत्पन्न होते हैं । फिर वह रागी पुरुष मोहरूप सागर में डूब जाता है, तथा सुख की इच्छा करने वाला वह दुःखों को दूर करने के लिए विषयादि-संयोगों में ही उद्योग करता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में रागी पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं । जब राग-द्वेषयुक्त आत्मा अनेकविध विकारों को प्राप्त होती है तब उसको विषय-सेवनादि अनेक प्रकार के प्रयोजन उपस्थित होते हैं, जिनके कारण वह मोहरूप सागर में डूबने को तैयार हो जाती है । इसके अतिरिक्त सुख की अभिलाषा और दुःख के विनोदनार्थ वह विषयादि के लिए ही उद्योग करती है । तात्पर्य यह है कि उसके अन्तःकरण में यही विचार दृढ़ हो जाता है कि मैं विषयसेवनादि-क्रियाओं से ही दुःख से छूट सकती हूँ और सुख को प्राप्त हो सकती हूँ । परन्तु इस प्रकार के विचारों से वह दुःखों से मुक्त होने के स्थान में मोहरूप सागर में ही डूबती हुई दिखाई देती है । इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे विषय-वासना के वशीभूत होकर मोहरूप महासमुद्र में डूबने वाले प्राणी की तरह विषय-सेवनादि में ही सुख को न माने, किन्तु इनको मधुमिश्रित विष के तुल्य समझकर इनका त्याग करने में ही उद्यम करे ।

अब विरक्त आत्मा के विषय में कहते हैं । यथा—

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा,
निव्वतयंती अमणुन्नयं वा ॥१०६॥

विरज्यमानस्य चेन्द्रियार्थाः,
शब्दाद्यास्तावत्प्रकाराः ।
न तस्य सर्वेऽपि मनोज्ञतां वा,
निर्वर्तयन्ति अमनोज्ञतां वा ॥१०६॥

पदार्थान्वयः—विरज्जमाणस्स—विरक्त आत्मा को य—पुनः इंदियत्था—इन्द्रियों के अर्थ—विषय सद्दाइया—शब्दादिक तावइयप्पगारा—सब प्रकार के तस्स—उस जीव को सव्वे वि—सर्व ही मणुन्नयं—मनोज्ञता वा—अथवा अमणुन्नयं—अमनोज्ञता को वा—परस्पर समुच्चय में है न निव्वतयंती—उत्पन्न नहीं करते ।

मूलार्थ—इन्द्रियों के यावन्मात्र शब्दादि विषय हैं वे सर्व ही विरक्त आत्मा के लिए मनोज्ञता का सम्पादन नहीं करते अर्थात् शब्दादि विषयों की प्रियता या अप्रियता का विरक्त—राग-द्वेषरहित—आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विरक्त आत्मा के समक्ष शब्दादि विषयों की अकिंचनता का वर्णन किया गया है । तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के जितने भी विषय हैं उनका प्रभाव राग-द्वेष से युक्त जो आत्मा है उसी पर पड़ता है अर्थात् राग-द्वेष विशिष्ट आत्मा ही उनसे आकर्षित होती है, किन्तु जिस आत्मा में राग-द्वेष का अभाव है उसके समक्ष ये सब अकिंचित्कर हैं ।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

एवं ससंकप्पविकप्पणासुं,
संजायई समयमुवट्ठियस्स ।

अत्थे य संकप्पयओ तओ से,
　　पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥१०७॥
एवं स्वसङ्कल्पविकल्पनासु,
　　संजायते समतोपस्थितस्य ।
अर्थांश्च सङ्कल्पयतस्ततस्तस्य,
　　प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णा ॥१०७॥

पदार्थान्वयः—एवं-उक्त प्रकार से ससंकप्पविकप्पणासुं-स्वसंकल्प की विल्पना में—ये सब राग-द्वेष और मोह जन्य विपयजाल केवल दोषरूप ही हैं, इस प्रकार की भावना में उवट्ठियस्स-उद्यत हुए को समयं-समता—मध्यस्थभाव संजायई-उत्पन्न हो जाता है य-और अत्थे-इन्द्रियों के रूपादि अर्थों को संकप्पयओ-शुभ ध्यान से विचार करने वाला तओ-तदनन्तर से-उसकी कामगुणेसु-कामगुणों में तण्हा-तृष्णा पहीयए-नष्ट हो जाती है ।

मूलार्थ—उक्त प्रकार से, 'राग-द्वेष और मोहरूप जो अध्यवसाय हैं वे सब अनर्थ के कारण हैं' इस प्रकार की भावना में उद्यत हुए जीव को समता—मध्यस्थभाव—की प्राप्ति हो जाती है, तथा अर्थों के विषय में सद् विचार करने के अनन्तर उस आत्मा की कामगुणों में बढ़ी हुई तृष्णा सर्व प्रकार से नष्ट हो जाती है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कामभोगादि के विषय में वढ़ी हुई तृष्णा के क्षय करने का प्रकार बतलाया गया है । राग-द्वेष और मोहादि के विषय में दोषों का उद्भावन करने से अर्थात् इन राग-द्वेषादिजन्य कामभोगादि विषयों में नाना प्रकार के दोषों को देखने से विचारशील आत्मा में समतागुण की प्राप्ति होती है अर्थात् वह इनसे विरक्त होती हुई इनमे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखती । इसके अतिरिक्त मध्यस्थभाव को प्राप्त हुई वह आत्मा शब्दादि विषयों के सम्बन्ध में यह भी विचार करती है कि जितने भी शब्दादि विषय हैं वे सब निरपराध हैं, व्यक्तिरूप से इनका कोई दोष नहीं, दोष तो आत्मा मे उत्पन्न होने वाले राग

और द्वेष का है, उसी से कर्मों का बन्ध होता है, ये काम-भोगादि विषय तो केवल निमित्तमात्र हैं। इस प्रकार की सद्विचारणा से उस आत्मा की काम-भोगादि में बढ़ी हुई तृष्णा भी क्षीण हो जाती है अर्थात् काम-भोगादिजन्य अनर्थों का विचार करती हुई वह इनके विषय में विरक्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो काम-भोगादिविषयक तृष्णा के क्षय हो जाने से इस जीवात्मा को बादर-संपराय नामक गुणस्थान की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जब शुभध्यानविषयक अध्यवसाय उत्पन्न होने के अनन्तर ही उस जीव को मध्यस्थभाव की प्राप्ति हो जाती है, फिर उत्तरोत्तर गुणस्थानों की प्राप्ति से लोभ के पर्याय भी क्षीण होते चले जाते हैं, तथा यदि उक्त प्रकार से एक काल में ही रागादि को दूर करने के भाव उसमें उत्पन्न हो गये अथवा एक काल में ही सिद्धान्तविषयक प्रीति के भाव जागृत हो गए, तब उस आत्मा के राग-द्वेषरूप जो संकल्प हैं उन सब का उसी समय कल्प अर्थात् उच्छेद हो जाता है[1]।

इस प्रकार राग-द्वेष आदि के क्षय से तृष्णा के क्षय हो जाने के अनन्तर इस आत्मा को किस गुण की उपलब्धि होती है अर्थात् यह क्या हो जाती है? अब इस विषय में कहते हैं। यथा—

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो,
खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ,
जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥१०८॥

स वीतरागः कृतसर्वकृत्यः,
क्षपयति ज्ञानावरणं क्षणेन।

---

१ कल्प शब्द का छेदन अर्थ भी देखा जाता है—'सामर्थ्ये वर्णनायाञ्च छेदने करणे तथा। औपम्ये अधिवासे च कल्पशब्दं विदुर्बुधाः' तब 'स्वसङ्कल्पविकल्पना' का राग-द्वेषजन्य स्वसङ्कल्पों के विनाश की भावना यह अर्थ हो जाता है।

तथैव यत् दर्शनमावृणोति,
यदन्तरायं प्रकरोति कर्म ॥१०८॥

पदार्थान्वयः—स—वह वीयरागो—वीतराग कयसव्वकिच्चो—कर लिया है सर्व कृत्य जिसने नाणावरणं—ज्ञानावरणीय कर्म खणेणं—क्षण भर में खवेइ—क्षय कर देता है तहेव—उसी प्रकार जं—जो दंसणं—दर्शन को आवरेइ—आवरण करता है जं—जो च—पुनः अंतरायं—अन्तराय—विघ्न—को पकरेई—करता है कम्मं—कर्म—अन्तराय-कर्म।

मूलार्थ—समाप्त कर दिये हैं सर्व कर्तव्य जिसने ऐसी वीतराग आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों कर्मों का एक ही समय में क्षय कर देती है।

टीका—जिस आत्मा ने तृष्णा का नाश कर दिया है वह वीतराग आत्मा क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होकर करणीय कार्यों के यथावत् सम्पादित हो जाने पर कृतकृत्य होती हुई ज्ञान के आवरक, दर्शन के आवरक और दानादिविषयक विघ्न उपस्थित करने वाले कर्म का एक ही समय में समूल घात कर देती है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के अनन्तर उक्त ज्ञानावरणादि तीनों घाती कर्मों का यह आत्मा एक ही समय में क्षय कर देती है। क्योंकि ये तीनों कर्म मोहनीय कर्म के आश्रित हैं और जब मोहनीय कर्म को क्षय कर दिया गया तब इन ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करना अतीव सुकर हो जाता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है। यथा—मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त विश्राम लेकर उस अन्तर्मुहूर्त के चरम दो समय में निद्राप्रचला और देवगत्यादि नाम प्रकृतियों का क्षय करती है तथा चरम समय में ज्ञानावरणादि तीनों कर्मों का क्षय करती है। सारांश यह है कि क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीवात्मा ज्ञानावरणादि तीनों कर्मों का एक ही समय में क्षय कर डालती है।

इस प्रकार उक्त कर्मों के क्षय करने के अनन्तर जिस गुण की प्राप्ति होती है अब सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

सव्वं तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥१०९॥

सर्वं ततो जानाति पश्यति च,
अमोहनो भवति निरन्तरायः।
अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः,
आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥१०९॥

पदार्थान्वयः—तओ–तदनन्तर सव्वं–सर्व, को जाणइ–जानती है य–और पासए–सर्व को देखती है अमोहणे–मोहरहित निरंतराए–अन्तरायरहित होइ–होती है अणासवे–आस्रवों से रहित झाणसमाहिजुत्ते–शुक्लध्यान और समाधि से युक्त होती है आउक्खए–आयुकर्म के क्षय होने पर सुद्धे–शुद्ध होकर मोक्खं–मोक्षपद को उवेइ–प्राप्त हो जाती है।

मूलार्थ—तदनन्तर वह जीवात्मा सब कुछ जानती है, सब कुछ देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर असवों से रहित, ध्यान और समाधि से युक्त होकर परम विशुद्ध दशा को प्राप्त होती हुई आयु तथा नाम कर्म के समाप्त होने पर मोक्षपद को प्राप्त हो जाती है।

टीका—मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर जिस समय यह आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों ही कर्मों का क्षय कर देती है उस समय वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाती है। इसके अतिरिक्त मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक-सम्यक्त्व के साथ २ उसमें रही हुई अनन्तानन्त शक्तियाँ भी आविर्भूत हो जाती हैं। फिर सर्व प्रकार के आस्रवों से रहित होकर शुक्लध्यानरूप समाधि से युक्त होती हुई आयुकर्म—उपलक्षण से—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के क्षय हो जाने पर परम विशुद्ध दशा

को प्राप्त करती हुई वह परम कल्याणस्वरूप मोक्षपद को प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि केवली में ज्ञान-दर्शन का उपयोग एक ही समय में नहीं होता किन्तु भिन्न २ समय में होता है, ऐसा आगमानुसारी वृत्तिकार का मत है। यह बात गाथा में आये हुए 'चकार' से भी ध्वनित की गई है। इसके अतिरिक्त केवली के ज्ञान और दर्शन के पौर्वापर्य के विषय में पूर्वाचार्यों के भिन्न २ मत हैं। कई एक तो दर्शन को पहले और ज्ञान को पीछे मानते हैं, तथा कई एक के मत में ज्ञानोपयोग प्रथम और दर्शन को उसके अनन्तर स्वीकार किया गया है। इस विषय की अधिक चर्चा कहीं अन्यत्र की जावेगी[1]।

मोक्ष-प्राप्ति के अनन्तर उस आत्मा की जो अवस्था होती है अब सूत्रकार उसके विषय में कहते हैं। यथा—

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को,
जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो,
तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥११०॥

स तस्मात् सर्वस्माद् दुःखाद् मुक्तः,
यद् बाधते सततं जन्तुमेनम्।
दीर्घामयविप्रमुक्तः प्रशस्तः,
ततो भवत्यन्तसुखी कृतार्थः ॥११०॥

पदार्थान्वयः—सो–वह तस्स–उस सव्वस्स–सर्व दुहस्स–दुःख से मुक्को–मुक्त हुआ जं–जो बाहई–पीड़ा देता है सययं–निरंतर एयं–इस जंतुं–जीव को दीहामयं विप्पमुक्को–दीर्घ रोग से विप्रमुक्त पसत्थो–प्रशस्त तो–तदनन्तर अच्चंत–अत्यन्त सुही–सुखी कयत्थो–कृतार्थ होइ–हो जाता है।

१ परिशिष्ट में।

मूलार्थ—वह मुक्तात्मा उन सर्व प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूट जाती है जो इस जीव को निरन्तर दुःख देते हैं । फिर इस दीर्घ रोग से सर्वथा छूटकर वह प्रशंसनीय और कृतकृत्य होती हुई सदा के लिए अत्यन्त सुखी हो जाती है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुक्तात्मा की निराकुल—अत्यन्त सुखमयी—अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है । जिस समय सर्व प्रकार के कर्म-मल से सर्वथा पृथक् होकर यह आत्मा मोक्षपद को प्राप्त करती है उस समय वह जन्म, जरा और मृत्यु आदि सर्व प्रकार के दुःखों से रहित हो जाती है । जो कर्मजन्य दुःख इन संसारी जीवों को निरन्तर पीड़ा दे रहा है उसका इस मोक्षगामी जीवात्मा को बिलकुल स्पर्श नहीं होता । इसी लिए अनादि काल से चला आया यह कर्मजन्य आधि-व्याधिरूप जो दीर्घ रोग है उससे वह सदा के लिये छुटकारा पा जाती है और जिस सुख में दुःख का कभी लेशमात्र भी नहीं ऐसे निराबाध सुख को वह प्राप्त हो जाती है । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में मोक्ष के सुख को दुःख से सर्वथा भिन्न, निरतिशय और नित्य भी बतलाया गया है जो कि सर्वथा समुचित और युक्तियुक्त ही है । 'तस्स, सव्वस्स, दुहस्स' इन तीनों पदों में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है ।

अब प्रस्तावित विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चंतसुही भवंति ॥१११॥

त्ति बेमि ।

इति पमायट्ठाणं समत्तं ॥३२॥

अनादिकालप्रभवस्यैष: ,
सर्वस्य दुःखस्य प्रमोक्षमार्गः ।
व्याख्यातः यं समुपेत्य सत्त्वाः,
क्रमेणाऽत्यन्तसुखिनो भवन्ति ॥१११॥

इति ब्रवीमि ।

इति प्रमादस्थानं समाप्तम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—अणाइकालप्पभवस्स–अनादि काल से उत्पन्न हुए सव्वस्स–सर्व दुक्खस्स–दुःख के पमोक्ख–छूटने का मग्गो–मार्ग एसो–यह वियाहिओ–कथन किया है जं–जिसको समुविच्च–अंगीकार करके सत्ता–जीव कमेण–क्रम से अच्चंत–अत्यन्त सुही–सुखी भवंति–होते हैं त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—अनादि काल से उत्पन्न हुए सर्व प्रकार के दुःखों से छूटने का यह मार्ग कथन किया गया है, जिस मार्ग को सम्यक्रूप से अंगीकार करके जीव अत्यन्त सुखी होते हैं।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि अनादि-कालीन दुःखपरंपरा से सर्वथा छुटकारा पाने का यही मार्ग है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। जो जीव इस मार्ग का सम्यक्तया अनुसरण करते हैं वे सदा के लिए सर्व प्रकार के दुःखों से रहित परम-आनन्दरूप मोक्षपद को प्राप्त हो जाते हैं। तथा पाँचों इन्द्रियों और छठे मन का निग्रह करना, प्रमादरहित होकर पाँचों महाव्रतों का पालन करना तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक्तया आराधना करनी, यह मोक्षमार्ग का संक्षिप्त क्रम है जिसका अनुसरण करना प्रत्येक भव्य जीव के लिए परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पूर्व की भाँति ही जान लेनी चाहिए।

द्वात्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त।

अह कम्मप्पयडी तेत्तीसइमं अज्झयणं

अथ कर्मप्रकृति त्रयस्त्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्व बत्तीसवें अध्ययन में प्रमादस्थानों का वर्णन किया गया है। वे ही कर्मबन्ध के स्थान कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा यह जीव कर्मों को बाँधता और उन्हीं से बाँधा जाता है। परन्तु यह जीव जिन कर्मों को बाँधता वा जिनसे बाँधा जाता है उनका स्वरूप क्या है? तथा उनके भेदोपभेद कितने हैं? इत्यादि बातों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। बस इसी उद्देश्य से इस तेतीसवें अध्ययन का आरम्भ किया जाता है जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार से है। यथा—

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहाकमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्टई ॥१॥

अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।
यैर्बद्धोऽयं जीवः, संसारे परिवर्तते ॥१॥

पदार्थान्वयः—अट्ठ—आठ कम्माइं—कर्मों को वोच्छामि—कहूँगा आणुपुव्विं—आनुपूर्वी से जहाकमं—क्रमपूर्वक जेहिं—जिन कर्मों से बद्धो—बँधा हुआ अयं—यह जीवो—जीव संसारे—संसार में परिवट्टई—परिवर्तन करता है।

मूलार्थ—मैं आठ प्रकार के कर्मों को आनुपूर्वी और यथाक्रम से कहूँगा, जिन कर्मों से बँधा हुआ यह जीव इस संसार में परिवर्तन करता है।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे शिष्य ! मैं तुम्हारे प्रति आठ प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन करूँगा। इससे प्रतिपाद्य विषय और उसकी संख्या का निर्देश किया गया है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा ये कर्म बाँधे जाते हैं। इनके द्वारा बँधा हुआ जीव इस संसार में नाना प्रकार के स्वरूपों को धारण करता है। इस कथन से प्रतिपाद्य विषय के फल का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में आनुपूर्वी और यथाक्रम, इन दो शब्दों का उल्लेख किया है। यद्यपि ये दोनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ के बोधक प्रतीत होते हैं, तथापि यथाक्रम शब्द के पृथक् उल्लेख करने से यहाँ पर आनुपूर्वी का उससे भिन्न अर्थ ही सूत्रकार को अभिप्रेत है, ऐसा प्रतीत होता है। यथा—आनुपूर्वी का तीन प्रकार से वर्णन किया गया है (१) आनुपूर्वी (२) पश्चानुपूर्वी और (३) अनानुपूर्वी। यहाँ पर जो कर्मों का वर्णन किया जावेगा वह आनुपूर्वी से किया जावेगा और वह यथाक्रम होगा।

अब प्रस्तावित कर्मों के नाम का निर्देश करते हैं। यथा—

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा।
वेदनीयं तथा मोहम्, आयुःकर्म तथैव च ॥२॥
नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समासतः ॥३॥

पदार्थान्वयः—**नाणस्सावरणिज्जं**—ज्ञान का आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म **दंसणावरणं**—दर्शनावरणीय **तहा**—तथा **वेयणिज्जं**—वेदनीय कर्म **तहा**—तथा **मोहं**—मोहनीय कर्म **य**—और **तहेव**—उसी प्रकार **आउकम्मं**—आयुकर्म **च**—और

नामकम्मं—नामकर्म **च**—तथा **गोयं**—गोत्रकर्म **य**—पुनः **तहेव**—उसी प्रकार **अंतरायं**—अन्तरायकर्म **एवं**—इस प्रकार **एयाइ**—ये **अट्ठेव**—आठ ही **कम्माइं**—कर्म **समासओ**—संक्षेप से कहे हैं **उ**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुः, नाम, **गोत्र और अन्तराय, ये आठ ही कर्म संक्षेप से कहे हैं।**

टीका—प्रस्तुत गाथा में कर्मों की आठ मूल प्रकृतियों का नामनिर्देशपूर्वक संक्षेप से उल्लेख कर दिया गया है। (१) ज्ञानावरणीय—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जावे उसका नाम ज्ञान है। सो जो कर्म ज्ञान का आच्छादन करने वाला हो उसको ज्ञानावरणीय कहते हैं। जैसे सूर्य को बादल आच्छादित कर लेता है अथवा जैसे नेत्रों के प्रकाश को कपड़ा आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार जिन कर्माणुओं के द्वारा इस जीवात्मा का ज्ञान आवृत हो रहा है उन कर्माणुओं या कर्म-वर्गणाओं का नाम ज्ञानावरणीय कर्म है। (२) दर्शनावरणीय—पदार्थों के सामान्य बोध का नाम दर्शन है। सो जिस कर्म के द्वारा इस जीवात्मा का सामान्य बोध आवृत हो जावे उसे दर्शनावरणीय कहते हैं। इस कर्म को शास्त्रों में द्वारपाल की उपमा दी गई है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है, ठीक उसी प्रकार इस कर्म के द्वारा भी आत्मा के चक्षुदर्शनादि में रुकावट पड़ जाती है। (३) वेदनीय—जिस कर्म के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव किया जावे उसका नाम वेदनीय कर्म है। इस कर्म को मधुलिप्त असिधारा की उपमा दी गई है। जैसे मधुलिप्त असिधारा को चाटने से सुख और दुःख दोनों ही होते हैं, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा सुख और दुःख दोनों की अनुभूति करती है। (४) मोहनीय—जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा जानती हुई भी मूढ़ता को प्राप्त हो जावे उसको मोहनीय कर्म के नाम से अभिहित किया है। इस कर्म को शास्त्रकारों ने मदिरा के तुल्य बतलाया है अर्थात् जिस प्रकार मदिरा के नशे में चूर हुआ पुरुष अपने कर्तव्याकर्तव्य के भान से च्युत हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से इस जीवात्मा को भी अपने हेयोपादेय का ज्ञान नहीं रहता। (५) आयुः—जो अपने समय पर पूरा हो अर्थात् जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा अपनी भवस्थिति—आयु—को पूर्ण करे उसको आयु-कर्म

कहते हैं। इस कर्म को कारागार के सदृश बतलाया गया है। जैसे कारागार में पड़ा हुआ कैदी अपने नियत्त समय से पहले निकल नहीं सकता, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा अपनी नियत्त भवस्थिति को पूरा किये विना संसार से छूट नहीं सकती। (६) नाम—शरीर आदि की रचना का हेतु जो कर्म है उसको नाम-कर्म कहते हैं। इस कर्म को चित्रकार—चितेरे—की उपमा दी गई है। जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी नाम-कर्म के प्रभाव से अनेक प्रकार की आकृतियों में परिवर्तित होती है। (७) गोत्र—जिसके द्वारा यह जीवात्मा ऊँच-नीच कुल में उत्पन्न हो अर्थात् ऊँच-नीच संज्ञा से सम्बोधित की जावे उसका नाम गोत्र-कर्म है। यह कर्म कुलाल के सदृश माना गया है। जैसे कुलाल—कुम्हार—छोटे-बड़े वर्तनों को वनाता है, उसी प्रकार गोत्र-कर्म के प्रभाव से इस जीवात्मा को ऊँच-नीच पद की प्राप्ति होती है। (८) अन्तराय—जो कर्म दानादि में अन्तराय—विघ्न—उपस्थित कर देवे उसकी अन्तराय संज्ञा है। तात्पर्य यह है कि देने वाले की इच्छा तो देने की हो और लेने वाले की इच्छा लेने की हो, परन्तु ऐसी दशा में भी दाता और याचक की इच्छा पूरी न हो सकने का जो कारण है उसको जैन-परिभाषा में अन्तराय-कर्म कहा है। इस कर्म को भंडारी के तुल्य बतलाया गया है। जैसे राजा ने दरवाजे पर आये हुए किसी याचक को कुछ द्रव्य देने की इच्छा प्रकट की और अपने भंडारी के नाम पत्र लिखकर उस याचक को दे दिया, परन्तु वह भंडारी उसको नहीं देता। यही दशा इस कर्म की है अर्थात् इसके उदय से दानादिसामग्री के उपस्थित होते हुए भी कोई न कोई ऐसा विघ्न उपस्थित हो जाता है कि उसकी सफलता नहीं होने पाती। इस प्रकार से इन आठों कर्मों का संक्षिप्त स्वरूप जानना चाहिए। शंका—कर्म के इस प्रस्ताव में प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म का उल्लेख क्यों किया गया ? समाधान—जीवात्मा का मूल स्वभाव ज्ञान और दर्शन रूप है। इसलिए आत्मा के मूल स्वभाव का प्रतिवन्धक जो कर्म अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म, उसी का प्रथम उल्लेख करना युक्तियुक्त एवं प्रमाणसंगत है। विशिष्ट बोध का कारण ज्ञान और सामान्य बोध का हेतु दर्शन है, अतः ज्ञान और दर्शन के आवरक जो कर्म हैं उन्हीं का प्रथम निर्देश किया गया है। इसी प्रकार वेदनीय, मोहनीय, आयु,

नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म का क्रम भी समझ लेना। शंका—जैसे वीतरागावस्था में तो वेदनीय कर्म अपना रस दिये विना रह सकता है परन्तु संसारी आत्माओं को उसके द्वारा सुख-दुःख का अनुभव अवश्य करना पड़ता है इसका क्या कारण है ? समाधान—संसारी जीवों में मोहनीय कर्म की सत्ता विद्यमान है, इसलिए उनको वेदनीय कर्मजन्य सुख-दुःख का अनुभव करना पड़ता है और वीतरागावस्था में उसका—मोहनीय कर्म का—क्षय हो जाता है।

अब उक्त कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों का वर्णन करते हैं। यथा—

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

ज्ञानावरणं पञ्चविधं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—नाणावरणं-ज्ञानावरण पंचविहं-पाँच प्रकार का है सुयं-श्रुत आभिणिबोहियं-आभिनिबोधिक तइयं-तृतीय ओहिनाणं-अवधिज्ञान मणनाणं-मनःपर्यवज्ञान च-और केवलं-केवलज्ञान।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है। यथा—(१) श्रुतज्ञानावरण (२) आभिनिबोधिकज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्यवज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।

टीका—इस गाथा में ज्ञानावरणीय की पाँच उत्तर-प्रकृतियों—उत्तरभेदों—का वर्णन किया गया है। ज्ञान के पाँच भेद हैं, अतः उसके आवरक कर्म भी पाँच प्रकार के कहे गये हैं। श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान, ये पाँच भेद ज्ञान के हैं। (१) श्रुतज्ञानावरण—शास्त्रों के वाँचने तथा सुनने से जो अर्थ-ज्ञान होता है उसको श्रुतज्ञान कहते हैं, उसका आवरक—ढाँपने वाला—जो कर्म है उसे श्रुतज्ञानावरण कहा है। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की जिसमें पर्यालोचना हो वह श्रुतज्ञान

कहलाता है। उसके आच्छादक कर्म को श्रुतज्ञानावरण कहते हैं[1]। इसके उत्तरभेद चौदह कहे गये हैं। (२) आभिनिवोधिकज्ञानावरण—आभिनिवोधिक ज्ञान का दूसरा नाम मतिज्ञान है। इन्द्रिय और मन के द्वारा सन्मुख आये हुए पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे आभिनिवोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। इसके अट्ठाईस भेद हैं। इसको आवरण करने वाला कर्म आभिनिवोधिकज्ञानावरण कहलाता है। (३) अवधिज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना अवधि—मर्यादा—को लिए हुए रूपी पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। उसका आवरण करने वाले कर्म का नाम अवधिज्ञानावरण है। इसके छः उत्तर भेद हैं। (४) मनःपर्यवज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना कुछ मर्यादा को लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत विचारों को जान लेना मनःपर्यवज्ञान है। उस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को मनःपर्यवज्ञानावरण कहते हैं। इसके दो भेद माने गये हैं। (५) केवलज्ञानावरण—विश्व के भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन समस्त पदार्थों का एक काल में जान लेना केवल ज्ञान है। ऐसे ज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को केवलज्ञानावरण कहा है।

इस प्रकार पहले ज्ञानावरणीय कर्म के ये पाँच उत्तर भेद कहे हैं। अब दूसरे दर्शनावरणीय कर्म के उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥

निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला च।
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमी भवति ज्ञातव्या ॥५॥

पदार्थान्वयः—निद्दा—निद्रा तहेव—उसी प्रकार पयला—प्रचला निद्दानिद्दा—निद्रानिद्रा य—और पयलपयला—प्रचलाप्रचला तत्तो—तदनन्तर य—पुनः थीणगिद्धी—

---

१ यद्यपि व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानांग और अनुयोग, द्वार तथा नन्दी एवं प्रज्ञापना आदि आगमों में प्रथम मतिज्ञान का—जिसका दूसरा नाम आभिनिवोधिक ज्ञान है—उल्लेख किया है, तथापि श्रुतज्ञान की प्रधानता दिखलाने के लिए ही यहाँ पर इसका प्रथम उल्लेख किया गया है। इसलिए विरोध की कोई आशंका नहीं करनी चाहिए।

अत्यन्त घोर निद्रा **पंचमा**–पाँचवीं **होइ**–होती **है नायव्वा**–इस प्रकार जाननी चाहिए।

मूलार्थ—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि, यह **पाँच प्रकार की निद्रा जाननी चाहिए।**

टीका—दर्शनावरणीय कर्म के उत्तर भेदों का वर्णन करते हुए प्रथम पाँच प्रकार की निद्राओं का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ—उत्तर भेद नौ हैं। उनमें से निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि, इन पाँच उत्तर भेदों का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है। (१) निद्रा—जो जीव सोया हुआ थोड़ी-सी आवाज से जाग पड़ता है उसकी नींद को निद्रा कहते हैं, तथा जिस कर्म के प्रभाव से ऐसी निद्रा होती है उस कर्म को भी निद्रा कहते हैं। (२) निद्रानिद्रा—जो जीव सोया हुआ, बड़े जोर से चिल्लाने अथवा हाथ से हिलाने पर भी बड़ी कठिनता से जागता है उस जीव की नींद को निद्रानिद्रा कहते हैं, तथा जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उसका नाम भी निद्रानिद्रा है। (३) प्रचला—जिसको खड़े खड़े या बैठे बैठे नींद आती है उसकी नींद को प्रचला कहते हैं, ऐसी निद्रा जिस कर्म के प्रभाव से आती है उस कर्म का नाम प्रचला है। (४) प्रचलाप्रचला—चलते फिरते जो नींद आती है उसको प्रचलाप्रचला कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उस कर्म को प्रचलाप्रचला कहा है। (५) स्त्यानगृद्धि—जो जीव दिन में अथवा रात मे विचारे हुए काम को निद्रा की हालत में ही कर डालता है उसकी नींद का नाम स्त्यानगृद्धि या स्त्यानर्द्धि है। ऐसी निद्रा का आना जिस कर्म के प्रभाव का फल है उसे भी स्त्यानगृद्धि या स्त्यानर्द्धि कहते हैं। इस निद्रा में जीव को वासुदेव के आधे बल की प्राप्ति होती है। यह निद्रा अतीव निकृष्ट मानी गई है क्योंकि इस निद्रा वाला जीव मरने पर अवश्य नरक में जाता है। इसलिए जिस आत्मा में राग-द्वेष के उदय की अत्यन्त बहुलता होती है उसी को इस पाँचवीं निद्रा का आवेश होता है, तथा प्रथम निद्रा को अशुभ नहीं माना गया, क्योंकि वह साता का साधक है।

अब उक्त कर्म के दूसरे भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

चक्खुमचक्खूओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥६॥

चक्षुरचक्षुरवधेः , दर्शने केवले चावरणे ।
एवं तु नवविकल्पं, ज्ञातव्यं दर्शनावरणम् ॥६॥

पदार्थान्वयः—चक्खु-चक्षु अचक्खू-अचक्षु ओहिस्स-अवधि के दंसणे-दर्शन में य-और केवले-केवल-ज्ञान में आवरणे-आवरणरूप एवं-इस प्रकार नवविगप्पं-नौ विकल्प-भेद दंसणावरणं-दर्शनावरण के नायव्वं-जानने चाहिएँ तु-पादपूर्ति में ।

मूलार्थ—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण, ये चार तथा पूर्वोक्त पाँच निद्रा; इस प्रकार नौ भेद दर्शनावरणीय कर्म के जानने चाहिएँ ।

टीका—दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद हैं । उनमें से पाँच का उल्लेख तो ऊपर आ चुका और शेष चार भेदों का वर्णन इस गाथा में किया है । (१) चक्षुदर्शनावरण—आँख के द्वारा पदार्थों के जो सामान्य धर्म का ग्रहण होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं, उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण कहलाता है । (२) अचक्षुदर्शनावरण—आँख को छोड़कर त्वचा, कान, जिह्वा, नासिका और मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का बोध होता है उसका नाम अचक्षुदर्शन है, उसके आवरक कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं । (३) अवधिदर्शनावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही इस आत्मा को रूपी पदार्थों के सामान्य धर्म का जो बोध होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं, उसको आवृत करने वाले कर्म का नाम अवधिदर्शनावरण है । (४) केवलदर्शनावरण—संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्यरूप से प्रतिभास होता है उसे केवल-दर्शन कहते हैं, उसका आवरक कर्म केवलदर्शनावरण कहलाता है । इस प्रकार से ये नौ भेद दर्शनावरणीय कर्म के कहे जाते हैं अर्थात् पाँच निद्रा और चार दर्शना-वरण, ऐसे नौ भेद होते हैं ।

अब तीसरे वेदनीय कर्म के विषय में कहते हैं। यथा—

वेयणीयं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥७॥

वेदनीयमपि च द्विविधं, सातमसातं चाख्यातम्।
सातस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाऽसातस्यापि ॥७॥

पदार्थान्वयः—वेयणीयं पि-वेदनीय कर्म भी दुविहं-दो प्रकार का आहियं-कहा गया है सायं-सातारूप च-और असायं-असातारूप सायस्स-साता के उ-भी बहू-बहुत से भेया-भेद हैं एमेव-इसी प्रकार असायस्स वि-असाता के भी बहुत भेद हैं।

मूलार्थ—वेदनीय कर्म भी दो प्रकार का है, १—सातावेदनीय और २—असातावेदनीय। सातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं तथा असातावेदनीय भी बहुत प्रकार का कहा गया है।

टीका—जिस कर्म के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव किया जाता है अर्थात् जो कर्म आत्मा को सुख-दुःख पहुँचाने में हेतुभूत हो उसको वेदनीय कहते हैं। इसका दूसरा नाम वेध-कर्म भी है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। १ सातावेदनीय और २—असातावेदनीय। इनमें सातावेदनीय तो मधुलिप्त असिधारा को चाटने के समान है और खड्गधारा से जीभ कटने के समान असातावेदनीय है। जिस कर्म के अभाव से इस जीवात्मा को विषयसम्बन्धी सुख की अनुभूति होती है उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं तथा जिस कर्म के उदय से इस आत्मा को इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से दुःख का अनुभव करना पड़ता है वह असातावेदनीय कर्म है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि इस जीवात्मा को जो अपने स्वरूप के सुख की अनुभूति होती है वह किसी भी कर्म का फल नहीं है, किन्तु यह उसका निजी स्वरूप है जिसका पूर्ण विकास कर्मों के आत्यन्तिक क्षय पर अवलंबित है। सातावेदनीय और असातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं जिनका यहाँ पर विस्तार के भय से उल्लेख नहीं किया गया।

हाँ ! इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि जो आत्मा प्रत्येक प्राणधारी पर दया का भाव रखती है वह सातावेदनीय कर्म को बाँधती है और विपरीत इसके जो नाना प्रकार से उनको पीड़ा देने का यत्न करती है वह असातावेदनीय का बन्ध करती है।

अब चौथे मोहनीय कर्म के विषय में कहते हैं। यथा—

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥

मोहनीयमपि द्विविधं, दर्शने चरणे तथा।
दर्शने त्रिविधमुक्तं, चरणे द्विविधं भवेत् ॥८॥

पदार्थान्वयः—**मोहणिज्जं पि**—मोहनीय भी **दुविहं**—दो प्रकार का है **दंसणे**—दर्शन में **तहा**—तथा **चरणे**—चारित्र में **दंसणे**—दर्शन में **तिविहं**—तीन प्रकार का **वुत्तं**—कहा है **चरणे**—चरणविषयक **दुविहं**—दो प्रकार का **भवे**—होता है।

मूलार्थ—मोहनीय कर्म भी दो प्रकार का कहा है। जैसे कि दर्शन में और चारित्र में अर्थात् दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें दर्शनमोहनीय के तीन भेद कहे हैं और चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है।

टीका—जो कर्म आत्मा के स्व-परविवेक में बाधा पहुँचाता है, अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र-गुण का घात करता है उसे मोहनीय कहते हैं। यह कर्म भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय—तत्त्वार्थश्रद्धान—तत्त्वाभिरुचि को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का निजी गुण है। इसके घात करने वाले कर्म का नाम दर्शनमोहनीय है। चारित्रमोहनीय—जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है उसका नाम चारित्र है। यह भी आत्मा का ही गुण है। इसके घातक कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं। इनमें भी दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—(१) सम्यक्त्वमोहनीय (२) मिश्रमोहनीय और (३) मिथ्यात्वमोहनीय।

इनमें सम्यक्त्वमोहनीय के दलिक विशुद्ध, मिश्रमोहनीय के अर्द्धविशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय के अशुद्ध हैं। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—(१) कषायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय। कष का अर्थ है जन्ममरणरूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ, इनकी कषाय संज्ञा है। कषायों के साथ ही जिनका उदय हो, अथवा कषायों को जो उत्तेजित करने वाले हों उनको नोकषाय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि हास्यादि नव को नोकषाय माना है।[1]

अब इस प्रस्तुत विषय का वर्णन शास्त्रकार स्वयं करते हैं। इसमें भी प्रथम दर्शनमोहनीय के तीन भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥

सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।
एतास्तिस्रः प्रकृतयः, मोहनीयस्य दर्शने ॥९॥

पदार्थान्वयः—**सम्मत्तं**-सम्यक्त्व **मिच्छत्तं**-मिथ्यात्व **एव**-उसी प्रकार **सम्मामिच्छत्तं**-सम्यक्त्व और मिथ्यात्व **य**-पुनः **एयाओ**-ये **तिन्नि**-तीनों **पयडीओ**-प्रकृतियाँ **मोहणिज्जस्स**-मोहनीय कर्म की **दंसणे**-दर्शन में **चेव**-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, और सम्यक्त्वमिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय, ये तीनों प्रकृतियाँ मोहनीय कर्म की दर्शनविषयक होती हैं अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म की ये तीन प्रकृतियाँ उत्तर भेद हैं।

टीका—तत्त्वार्थ-श्रद्धान को दर्शन कहते हैं। उसमें मोह उत्पन्न करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहा है। उसके—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय

१ इस विषय का एक प्राचीन श्लोक भी देखने में आता है। यथा—
कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥१॥
हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद, ये हास्यादिनवक हैं।

और सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय-मिश्रमोहनीय, ये तीन भेद हैं। (१) सम्यक्त्वमोहनीय—जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा को जीवाजीवादि पदार्थों में श्रद्धा उत्पन्न हो अर्थात् तत्त्वविषयिणी रुचि उत्पन्न हो उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। शंका—जब कि यह कर्म मोहरूप है और आत्मा के दर्शनगुण का विघातक माना गया है, तब आवरणस्वरूप इस कर्म को तत्त्वविषयक श्रद्धा का उत्पादक किस प्रकार से माना जा सकता है? तथा "सम्यक्त्वमोहनीय" इस वाक्य का सीधा और स्पष्ट अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि जो सम्यक्त्व में मोह—मूढ़ता—उत्पन्न करे अर्थात् दर्शन-श्रद्धान में रुकावट पैदा करे उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। समाधान—जिस प्रकार उपनेत्र (चश्मा) आँखों का आच्छादक होने पर भी देखने में प्रतिवन्धक नहीं होता, उसी प्रकार यह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म आवरणस्वरूप—आत्मा के दर्शनगुण का आच्छादक होने पर भी शुद्ध होने के कारण आत्मा के दर्शनगुण—तत्त्वार्थाभिरुचि—तत्त्वार्थ-श्रद्धा—का विघात नहीं करता। अब रही 'सम्यक्त्वमोहनीय' इस वाक्य के शब्दार्थ की बात। सो इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ पर सम्यक्त्व शब्द से आत्मा के स्वभावरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का ग्रहण अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से इस आत्मा को क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु तत्त्वाभिरुचिरूप सम्यक्त्व में यह बाधक नहीं होता, किन्तु शुद्ध होने से उसमें सहायक ही होता है। इसके अतिरिक्त इस कर्म के प्रभाव से सम्यक्त्व में कुछ मलिनता अवश्य आ जाती है। जिसके कारण सूक्ष्म तत्त्वों के विचारने में अनेक प्रकार की शंकायें उत्पन्न होने लगती हैं। इस प्रकार इस सारे कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा का सम्यक्त्व अर्थात् क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो सके और जीवादितत्त्वों पर श्रद्धा हो परन्तु कुछ संशय वना रहे, उसका नाम सम्यक्त्वमोहनीय है। सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और वेदकसम्यक्त्व आदि अनेक भेद हैं जिनका विस्तार-भय से यहाँ पर उल्लेख नहीं किया गया। (२) मिथ्यात्वमोहनीय—जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा में पदार्थों के स्वरूप को विपरीत भाव से जानने की बुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् हित को अहित और

अहित को हित रूप समझने लगता है उस कर्म का नाम मिथ्यात्वमोहनीय है। (३) सम्यक्-मिथ्यात्वमोहनीय—इस कर्म के उदय से आत्मा को तत्त्व की रुचि और अतत्त्व की अरुचि भी नहीं होती अर्थात् उसका जिन-धर्म पर न तो राग ही होता है और न द्वेष ही होता है, किन्तु सभी धर्मों को वह एक ही जैसा देखता है। तात्पर्य यह है कि उसकी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों में तुल्य भावना रहती है। इसका दूसरा नाम मिश्रमोहनीय है।

अब चारित्रमोहनीय के विषय में कहते हैं। यथा—

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं च, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

चारित्रमोहनं कर्म, द्विविधं तु व्याख्यातम्।
कषायमोहनीयं च, नोकषायं तथैव च ॥१०॥

पदार्थान्वयः—**चरित्तमोहणं**-चारित्रमोहनीय **कम्मं**-कर्म **दुविहं**-दो प्रकार का **वियाहियं**-कथन किया है **कसायमोहणिज्जं**-कषायमोहनीय **तहेव**-उसी प्रकार **नोकसायं**-नोकषायमोहनीय **च**-समुच्चयार्थक है **य-तु**-प्राग्वत्।

मूलार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा है। यथा—कषाय-मोहनीय और नोकषायमोहनीय।

टीका—आत्मा के चारित्र-गुण के विघातक कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से यह आत्मा चारित्र के सुन्दर फल को जानती हुई भी चारित्र का ग्रहण न कर सके किन्तु चारित्रविषयक मूढ़ता को प्राप्त हो जावे उसका नाम चारित्रमोहनीय है। इस कर्म के दो भेद हैं, कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। जो कषायों के साथ वर्तता है वह कषायमोहनीय कहा जाता है और जो हास्यादि नोकषाय के साथ वर्त रहा है वह नोकषायमोहनीय है। कषाय और नोकषाय ये दोनों ही चारित्र में विघ्न उपस्थित करते हैं।

अब कषाय और नोकषाय के विषय में कहते हैं। यथा—

सोलसविहभेएणं , कम्मं तु कसायजं ।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

षोडशविधं भेदेन, कर्म तु कषायजम् ।
सप्तविधं नवविधं वा, कर्म च नोकषायजम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—**सोलसविहं**–सोलह प्रकार के **भेएणं**–भेद से **कम्मं**–कर्म **कसायजं**–कषाय से उत्पन्न होने वाला होता है **तु**–फिर **कम्मं**–कर्म **नोकसायजं**–नोकषाय के कारण से उत्पन्न होने वाला **सत्तविहं**–सात प्रकार का **वा**–अथवा **नवविहं**–नव प्रकार का होता है ।

मूलार्थ—कषायमोहनीय कर्म सोलह प्रकार का है और सात अथवा नव प्रकार का नोकषायमोहनीय कहा है ।

टीका—कषायमोहनीय के सोलह भेद हैं। यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार तो मूल कषाय हैं । फिर इनमें से—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन भेद से एक एक के चार चार भेद होने से, सब मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं । जैसे कि—१—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया, और अनन्तानुबंधी लोभ, ये चार; २—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया और अप्रत्याख्यानावरण लोभ, ये चार, ३—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण लोभ, ये चार; ४—संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोभ, ये चार; इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं । (क) अनन्तानुबंधी—जिस कषाय के प्रभाव से यह जीवात्मा अनन्तकाल तक इस संसार में भ्रमण करती रहती है उस कषाय को अनन्तानुबंधी कहते हैं । (ख) अप्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से देश-विरतिरूप अल्पप्रत्याख्यान की प्राप्ति नहीं होती वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है । (ग) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के प्रभाव से सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान—मुनिधर्म—को यह जीव प्राप्त नहीं कर सकता उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं ।

(घ) संज्वलन—जो कषाय, परीषह तथा उपसर्गों के आ जाने पर मुनियों को भी थोड़ा-सा जलावे अर्थात् उन पर जिसका थोड़ा-सा असर हो जावे उसे संज्वलन-कषाय कहते हैं। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि यह संज्वलनरूप कषाय, सर्व-विरतिरूप साधुधर्म में तो किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता किन्तु सब से ऊँचे, यथाख्यातचारित्र और केवलज्ञान में बाधक अवश्य होता है। नोकषाय के सात अथवा नौ भेद हैं। यथा—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद, ये सात भेद हैं। और यदि वेद को पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इस प्रकार तीन भेद किये जावें तो (६+३=९) कुल नौ भेद होते हैं। इन कषायों के उदय से इस जीवात्मा को चारित्रधर्म में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार यह मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार आयु-कर्म के विषय में कहते हैं—

नेरइयतिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

नैरयिकतिर्यगायुः, मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थं तु, आयुःकर्म चतुर्विधम् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—**नेरइय**—नैरयिकायु—नरक की आयु **तिरिक्खाउं**—तिर्यक् की आयु **य**—और **तहेव**—उसी प्रकार **मणुस्साउं**—मनुष्य की आयु **तु**—फिर **चउत्थं**—चतुर्थ **देवाउयं**—देवों की आयु **आउकम्मं**—आयुकर्म **चउव्विहं**—चार प्रकार का है।

मूलार्थ—आयुकर्म चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु।

टीका—जिस कर्म के अस्तित्व से यह प्राणी जीवित रहता है और क्षय हो जाने से मर जाता है उसको आयु कहते हैं। आयुकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ चार हैं। यथा (१) देवायु (२) मनुष्यायु (३) तिर्यगायु और (४) नरकायु। तात्पर्य यह है कि नरक, तिर्यग्, देव और मनुष्य, इन चारों गतियों में यह जीव इस आयुकर्म के सहारे से ही स्थिति करता है। पूर्व जन्म में वह जितनी आयु

बाँधकर आता है उसकी उतनी स्थिति वह इस जन्म में पूरी कर लेता है, परन्तु यह सब आयुकर्म के प्रभाव से ही होता है।

अब नाम-कर्म के विषय में कहते हैं—

नामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

नामकर्म तु द्विविधं, शुभमशुभं चाख्यातम्।
शुभस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाशुभस्यापि ॥१३॥

पदार्थान्वयः—**नामकम्मं**—नामकर्म **दुविहं**—दो प्रकार का **आहियं**—कहा है **सुहं**—शुभ **च**—और **असुहं**—अशुभ **सुहस्स उ**—शुभ नामकर्म के भी **बहू भेया**—बहुत भेद हैं **एमेव**—इसी प्रकार **असुहस्स वि**—अशुभ के भी बहुत भेद हैं।

मूलार्थ—नामकर्म का दो प्रकार से वर्णन किया गया है—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नामकर्म के बहुत भेद हैं तथा अशुभ नामकर्म के भी अनेक भेद हैं।

टीका—जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी आदि नामों से सम्बोधित की जावे उसे नामकर्म कहते हैं। नामकर्म के शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म ऐसे दो भेद हैं। यद्यपि शुभ और अशुभ इन दोनों नामकर्मों के उत्तरोत्तर अनंत भेद हो जाते हैं, तथापि मध्यम मार्ग की विवक्षा से शुभ नामकर्म के ३७ और अशुभ नाम के ३४ उत्तर भेद कथन किये गये हैं। यथा—शुभ नामकर्म के उत्तर भेद—१ मनुष्यगति[1] २ देवगति ३ पञ्चेन्द्रिय-जाति ४ औदारिक ५ वैक्रिय ६ आहारक ७ तैजस ८ कार्मण ९ पंचशरीर-समचतुरस्र-संस्थान १० वज्रऋषभ-नाराच-संहनन ११ औदारिक १२ वैक्रिय १३ आहारक १४ तीनों शरीरों के प्रशस्त अंगोपांग १५ गन्ध १६ रस १७ स्पर्श १८ मनुष्यानुपूर्वी १९ देवानुपूर्वी २० अगुरुलघु २१ पराघात २२ उच्छ्वास २३ आतांप २४ उद्योत २५ प्रशस्त विहायोगति २६ त्रस २७ बादर २८ पर्याप्त २९ प्रत्येक

१ यहाँ पर नाम शब्द सब के साथ जोड़ लेना—जैसे—मनुष्यगति-नाम, इत्यादि।

३० स्थिर ३१ शुभ ३२ सुभग ३३ सुस्वर ३४ आदेय ३५ यशःकीर्ति ३६ निर्माण और ३७ तीर्थंकरनामा, ये ३७ भेद शुभ नामकर्म के हैं। अशुभ नामकर्म के उत्तर भेद—१ नरकगति २ तिर्यंचगति ३ एकेन्द्रियजाति ४ द्वींद्रिय-जाति ५ त्रींद्रियजाति ६ चतुरिंद्रियजाति ७ ऋषभनाराच ८ नाराच ९ अर्द्धनाराच १० कीलिका ११ सेवार्त्त १२ न्यग्रोधमंडल १३ साति १४ वामन १५ कुब्ज १६ हुंड १७ अप्रशस्त वर्ण १८ अप्रशस्त गन्ध १९ अप्रशस्त रस २० अप्रशस्त स्पर्श २१ नरकानुपूर्वी २२ तिर्यगानुपूर्वी २३ उपघात २४ अप्रशस्त विहायोगति २५ स्थावर २६ सूक्ष्म २७ साधारण २८ अपर्याप्त २९ अस्थिर ३० अशुभ ३१ दुर्भग ३२ दुःस्वर ३३ अनादेय और ३४ अयशःकीर्ति, ये ३४ भेद अशुभ नामकर्म के हैं। यह वर्णन मध्यम-विवक्षा को लेकर किया गया है तथा बन्धन और संघातों का शरीर से पृथक् करके और वर्णादि के अवान्तर भेदों का वर्णादि से पृथक् करके उल्लेख इसलिए नहीं किया कि ऐसा करने से उक्त संख्या में न्यूनाधिकता के आ जाने का सम्भव है।

अब गोत्रकर्म के विषय में कहते हैं। यथा—

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं ॥१४॥

गोत्रं कर्म द्विविधम्, उच्चं नीचं चाख्यातम्।
उच्चमष्टविधं भवति, एवं नीचमप्याख्यातम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—**गोयं कम्मं**–गोत्रकर्म **दुविहं**–दो प्रकार का **आहियं**–कहा है **उच्चं**–उच्च गोत्र **च**–और **नीयं**–नीच गोत्र **उच्चं**–उच्च गोत्र **अट्ठविहं**–आठ प्रकार का **होइ**–होता है **एवं**–इसी प्रकार **नीयं पि**–नीच गोत्र भी—आठ प्रकार का **आहियं**–कहा है।

मूलार्थ—उच्च और नीच भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का कहा गया है। उच्च गोत्र के आठ भेद हैं। इसी प्रकार नीच गोत्र भी आठ प्रकार का कहा है।

टीका—गोत्र नाम कुल का है तथा जिस कर्म के प्रभाव से यह जीव उच्च तथा नीच कुल में उत्पन्न होवे उसे गोत्रकर्म कहते हैं[1]। गोत्रकर्म के दो भेद हैं उच्च गोत्र और नीच गोत्र। इन दोनों में भी प्रत्येक के आठ २ भेद माने हैं। यथा—जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप, ये आठ भेद उच्च गोत्र के हैं और ये ही भेद नीच गोत्र के हैं। उनमें भेद सिर्फ उत्तम और अधम का है अर्थात् ये उक्त आठ वस्तुएँ जिस कर्म के द्वारा उत्तम प्राप्त हों उसे उच्च गोत्र कहा है, तथा ये ही आठ वस्तुएँ जिस कर्म के द्वारा अधम (नीच कोटि की) प्राप्त हों उसे नीच गोत्र कहते हैं। दूसरे शब्दों में—जिस कर्म के उदय से इस जीव को उत्तम जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप का लाभ हो वह उच्च गोत्र है और जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म ले अर्थात् उक्त जाति-कुलादि अधम प्राप्त हों उसको नीच गोत्र कहते हैं।

अब अन्तराय-कर्म के विषय में कहते हैं। यथा—

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥१५॥

दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा।
पञ्चविधमन्तरायं, समासेन व्याख्यातम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—**दाणे**—दान में **लाभे**—लाभ में **य**—पुनः **भोगे**—भोग में **य**—तथा **उवभोगे**—उपभोग में **तहा**—तथा **वीरिए**—वीर्य में **पंचविहं**—पाँच प्रकार का **अंतरायं**—अन्तरायकर्म **समासेण**—संक्षेप से **वियाहियं**—कथन किया गया है।

---

(१) गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति प्रज्ञापना-सूत्र में श्री मलयगिरिजी ने इस प्रकार की है—"तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद् गोत्रम्, उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षण पर्यायविशेष । तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं, कार्ये कारणोपचारात्। यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा, गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयात् तद् गोत्रम्" [पद २३ सू० २८८]

—तथा अभयदेवसूरिजी ने स्थानांगसूत्र की वृत्ति में गोत्र शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति की है—"पूज्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपां गां वाचं त्रायत इति गोत्रम्। स्वरूप चास्येदम्—

"जह कुंभारो भंडाइं कुणई पुज्जेयराइं लोयस्स। इय गोयं कुणइ जियं लोए पुज्जेयरावत्थं ॥"

छा०—यथा कुम्भकारो भाण्डानि करोति पूज्येतराणि लोकस्य।
एव गोत्र करोति जीव लोके पूज्येतरावस्थम् ॥

मूलार्थ—अन्तरायकर्म संक्षेप से पाँच प्रकार का कथन किया है। यथा—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

टीका—जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप शक्तियों का घात करने वाला हो उसे अन्तराय कहते हैं। अन्तरायकर्म के पाँच भेद हैं जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है। (१) दानान्तराय—दान की चीजें विद्यमान हों, योग्य पात्र भी उपस्थित हो तथा दान का फल भी ज्ञात हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता उसे दानान्तराय कहते हैं। (२) लाभान्तराय—दाता में उदारता हो, दान की वस्तु भी पास हो, तथा याचना में कुशलता भी हो; फिर भी जिस कर्म के प्रभाव से लाभ न हो वह लाभान्तराय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु का प्राप्त न होना लाभान्तराय-कर्म का फल है। (३) भोगान्तराय—भोग के साधन मौजूद हों, तथा वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के प्रभाव से यह जीव भोग्य पदार्थों को नहीं भोग सकता वह भोगान्तराय-कर्म है। (४) उपभोगान्तराय—उपभोग की सामग्री पास में हो और त्याग से रहित हो; फिर भी जिस कर्म के उदय से उपभोग्य वस्तुओं का उपभोग न कर सके उसको उपभोगान्तराय कहते हैं। जो पदार्थ एक ही वार काम में आ सकें उनको भोग कहते हैं, जैसे कि—फल-पुष्पादि। और जो वार वार भोगे जा सकें उनका नाम उपभोग है, यथा—स्त्री, मकान, वस्त्र और आभूषणादि। (५) वीर्यान्तराय—वीर्य का अर्थ है सामर्थ्य—शक्ति। जिस कर्म के प्रभाव से वलवान्, शक्तिशाली और युवा होता हुआ भी जीव एक साधारण-सा काम भी नहीं कर सकता उसे वीर्यान्तराय कहते हैं। वीर्यान्तराय के अवान्तर भेद तीन हैं, (१) वालवीर्यान्तराय (२) पण्डित-वीर्यान्तराय और (३) वालपण्डित-वीर्यान्राय। इस प्रकार अन्तराय-कर्म का यहाँ पर संक्षेप से वर्णन किया गया है।

अव इस विषय में जानने योग्य अन्य आवश्यक वातों के वर्णन का प्रस्ताव करते हैं। यथा—

एयाओ मूलपयडीओ, उत्तराओ य आहिया ।
पएसग्गं खेत्तकाले य, भावं च उत्तरं सुण ॥१६॥

एता मूलप्रकृतयः, उत्तराश्चाख्याताः ।
प्रदेशाग्रं क्षेत्रकालौ च, भावं चोत्तरं शृणु ॥१६॥

पदार्थान्वयः—एयाओ–ये मूलपयडीओ–मूल प्रकृतियाँ य–और उत्तराओ–उत्तर प्रकृतियाँ आहिया–कही गई हैं पएसग्गं–प्रदेशों का अग्र—प्रमाण खेत्त–क्षेत्र य–और काले–काल च–तथा भावं–भाव उत्तरं–इससे आगे सुण–श्रवण कर।

मूलार्थ—कर्मों की ये पूर्वोक्त मूल प्रकृतियाँ और उत्तर प्रकृतियाँ कही गई हैं। हे शिष्य ! अब तू प्रदेशाग्र, क्षेत्रकाल और भाव से इनके स्वरूप को श्रवण कर।

टीका—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! कर्मों की मूल प्रकृतियाँ—ज्ञानावरणादि—और उत्तर प्रकृतियाँ—श्रुतावरणादि—का मैंने तुम्हारे प्रति संक्षेप से कथन कर दिया है। अब इसके आगे तुम प्रदेशाग्र—परमाणुओं का परिमाण, क्षेत्रकाल और भाव के द्वारा किये जाने वाले निरूपण को सुनो। इसका भावार्थ यह है कि एक समय में कितने कर्माणु एकत्रित किये जाते हैं, तथा वे किन दिशाओं में एकत्रित होते हैं, और उनकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी एवं उनके रस का अनुभव कैसे होता है इत्यादि बातों के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए शिष्य को उनके श्रवण करने के लिए अभिमुख किया गया है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार प्रथम प्रदेशाग्र के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं ।
गंठियसत्ताईयं, अंतो सिद्धाण आहियं ॥१७॥

सर्वेषां चैव कर्मणां, प्रदेशाग्रमनन्तकम् ।
ग्रन्थिकसत्त्वातीतम्, अन्तः सिद्धानामाख्यातम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—सव्वेसिं—सब ही कम्माणं—कर्मों के पएसग्गं—प्रदेशाग्र अणंतगं—अनन्त हैं गंठिय—ग्रन्थिक सत्ताईयं—सत्त्वातीत सिद्धाण—सिद्धों के अंतो—अन्तवर्ति आहियं—कथन किये गये हैं च—पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—सर्व कर्मों के परमाणु ग्रन्थिकसत्त्वातीत—अभव्यात्माओं से अनन्तगुणा अधिक—और सिद्धों के अन्तर्वर्ति कथन किये गये हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में क्रमप्राप्त प्रदेशाग्र का वर्णन किया गया है। यथा—यह जीवात्मा प्रतिसमय, सात व आठ कर्मवर्गणाओं का संचय करती है। सो ये सब कर्मों के परमाणु केवल एक समय मे एकत्र किये हुए ग्रन्थिकसत्त्वातीत—अभव्य जीवों से अनन्तगुणा अधिक—होते हैं, तथा सिद्धों से ये कर्म-परमाणु अनन्तगुणा न्यून होते हैं। तात्पर्य यह है कि एक समय में सब कर्मों के परमाणु अभव्यों से अधिक और सिद्धों से न्यून होते हैं। अपि तु सिद्ध उनसे अनन्तगुणा अधिक हैं। यद्यपि कर्म-परमाणु संख्या में अनन्त हैं तथापि अभव्यों से अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग में वे परमाणु-संख्या में होते हैं। यह सब कथन एक समय की अपेक्षा से किया गया है। सूत्रकर्ता ने अभव्य आत्मा के लिए जो ग्रन्थिक-सत्त्व नाम दिया है उसका कारण यह है कि उन आत्माओं की राग-द्वेष की गाँठ स्वभाव से ही ऐसी कठिन पड़ी हुई होती है कि वे किसी समय मे भी उसका भेदन नहीं कर सकतीं। कारण यह है कि इस गाँठ का बन्ध अनादि-अनन्त होता है तथा भव्य जीवों की जो कर्म-ग्रन्थि है वह अनादि-सान्त मानी गई है। इसी लिए वे मोक्ष के साधनों में प्रवृत्त होते हुए उसकी प्राप्ति के योग्य बनते हैं और ग्रन्थि का भेदन करके कषायों से मुक्त होते हुए अन्त में सर्व कर्मों का विनाश करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। प्रदेशाग्र यह परमाणु-संख्या का ही नामविशेष है।

अब क्षेत्र के विषय में कहते हैं—

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥१८॥

सर्वजीवानां कर्म तु, संग्रहे षड्दिशागतम् ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु, सर्वं सर्वेण बद्धकम् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—सव्व—सब जीवाण—जीवों के कम्मं—कर्माणु संगहे—संग्रहण के योग्य छद्दिसागयं—छहों दिशाओं में स्थित हैं सव्वेसु वि—सभी पएसेसु—प्रदेशों में सव्वं—सब—ज्ञानावरणादि कर्म सव्वेण—सब आत्म-प्रदेशों के द्वारा बद्धगं—बद्ध हैं तु—पादपूर्णार्थ है ।

मूलार्थ—संग्रह करने के योग्य सब जीवों के कर्माणु छहों दिशाओं में स्थित हैं, और सब कर्माणु सब आत्म-प्रदेशों में सब प्रकार से बद्ध हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कर्माणुओं के संग्रह का प्रकार बतलाया गया है । सब जीवों के कर्माणु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर, तथा नीचे-ऊपर सब दिशाओं में व्याप्त हैं । उनका संग्रह भी सभी दिशाओं से किया जा सकता है । वे कर्माणु सब आत्म-प्रदेशों में बद्ध होते हैं अर्थात् उनका आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की तरह सम्बन्ध हो जाता है । उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के द्रव्य-कर्माणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने का कारण राग-द्वेष की परिणति-रूप भाव-कर्म या अध्यवसायविशेष है । उसी के द्वारा जितने आकाश-क्षेत्र पर आत्म-प्रदेश अवगाहित होते हैं, उसी क्षेत्र की अपेक्षा से सब दिशाओं में कर्मवर्ग-णाओं का संचय किया जा सकता है । जिस प्रकार प्रज्वलित हुई अग्नि अपने समीपवर्त्ती पदार्थों को भस्मसात् कर देती है, उसी प्रकार जितने आकाश-क्षेत्र में आत्म-प्रदेशों की अवगाहना होती है अर्थात् जितने आकाश-क्षेत्र में आत्म-प्रदेश फैले हुए होते हैं उतने क्षेत्र पर से कर्माणुओं का संचय किया जा सकता है । तथा सब आत्म-प्रदेशों और सब कर्माणुओं का परस्पर में इस प्रकार का बन्धन हो जाता है जैसे लोहे की साँकल की कड़ियों का, तथा मत्स्य पकड़ने के जाल की ग्रन्थियों का आपस में सम्बन्ध होता है । इस विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि कदाचित् एकेन्द्रिय जीव तो तीन दिशाओं से भी कर्मों का संग्रह कर लेवे, परन्तु द्वीन्द्रियादि जीव तो निश्चय ही छहों दिशाओं में से कर्माणुओं का

संचय करते हैं। और "सव्वेसु वि" यहाँ पर तृतीया के स्थान में सप्तमी का प्रयोग सुप-व्यत्यय को लेकर किया गया है।

अव काल के विपय में कहते हैं। यथा—

उदहीसरिसनामाणं , तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९॥

उदधिसदृङ्नाम्नां , त्रिंशत्कोटिकोटयः ।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥१९॥

पदार्थान्वयः—उदहीसरिस–समुद्र के समान नामाणं–नाम वाले तीसई–तीस कोडिकोडीओ–कोटाकोटि सागरोपम उक्कोसिया–उत्कृष्ट ठिई–स्थिति होइ–होती है जहन्निया–जघन्य—न्यून से न्यून अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त की स्थिति।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीयादि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

टीका—जैसे खाया हुआ ग्रास रस, रुधिर, मांस, मज्जा और अस्थि आदि भाव में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मवर्गणा के परमाणु भी ज्ञानावरणादि के रूप में परिणत हो जाते हैं। जव उनका आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की भाँति सम्वन्ध हो जाता है तव वे खाई हुई औषधि की तरह नियत समय पर अपना फल दिखलाते हैं। उन कर्मों की स्थिति अधिक से अधिक तीस कोटाकोटि सागरोपम की और न्यून से न्यून एक अन्तर्मुहूर्त्त की मानी गई है। तात्पर्य यह है कि वे अधिक से अधिक तीस कोटाकोटि सागरोपम जितने समय तक फल देते हैं और न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्तमात्र में फल देकर पृथक् हो जाते हैं। मध्यस्थिति का कोई नियम नहीं, दो घड़ी में भी फल देवें, और दो वर्ष में भी। सागरोपम का प्रमाण—एक योजन प्रमाण लम्वे चौड़े कूप को वारीक केसों से भरा जावे, अर्थात् एक एक केश के अग्र भाग के असंख्यात सूक्ष्म खंड कल्पना किये जावें; उनसे वह कूप ठोसकर भरा जावे, और सौ सौ वर्ष के वाद उसमें से एक २ खंड निकाला जावे; इस प्रकार जव वह

सारा कूप खाली हो जावे तब एक पल्य होता है, जब ऐसे दश कोटाकोटि पल्य बीत जावें तब उनका एक सागरोपम होता है। इस विषय का अर्थात् सागरोपम विषय का पूर्ण स्वरूप अनुयोग-द्वार से जान लेना चाहिये।

किस २ कर्म की यह उक्त प्रकार की स्थिति है, अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥२०॥
आवरणयोर्द्वयोरपि , वेदनीये तथैव च।
अन्तराये च कर्मणि, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥२०॥

पदार्थान्वयः—आवरणिज्जाण—आवरण करने वाले दुण्हं पि—दोनों ही कर्मों की य—और तहेव—उसी प्रकार वेयणिज्जे—वेदनीय कर्म की य—और अंतराए—अन्तराय कम्मम्मि—कर्म की ऐसा—यह ठिई—स्थिति वियाहिया—वर्णन की गई है।

मूलार्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की स्थिति उक्त प्रकार से वर्णन की गई है।

टीका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की कही है। यद्यपि 'अपरा द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य' [अ. ८ सू. १९] इस तत्त्वार्थसूत्र के विषय में बृहद्वृत्तिकार लिखते हैं कि—'द्वादशमुहूर्त्तमानामेवैतामिच्छन्ति तदभिप्रायं न विद्मः' अर्थात् कोई २ द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण वेदनीय कर्म की स्थिति मानते हैं परन्तु उनके अभिप्राय को हम नहीं समझ सकते। तात्पर्य यह है कि उन्होंने किस आशय से और किस प्रमाण के आधार से ऐसा माना है यह हमारी समझ में नहीं आता। परन्तु हमारे विचार से तो तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का उक्त कथन, सातावेदनीय कर्म को लेकर कहा गया प्रतीत होता है अर्थात् वेदनीय से उनका तात्पर्य सातावेदनीय कर्म से है। कारण यह है कि सातावेदनीय

की, द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण जघन्य स्थिति का उल्लेख प्रज्ञापनासूत्र में मिलता है। यथा—'सातावेदणिज्जस्स······जहन्नेणं बारसमुहुत्ता' [प. २३ उ. २ सू. २९४]

अब मोहनीय कर्म की स्थिति के विषय में कहते हैं—

उदहीसरिसनामाणं , सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२१॥
उदधिसदृङ्नाम्नां , सप्ततिः कोटिकोटयः।
मोहनीयस्योत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥२१॥

पदार्थान्वयः—उदहीसरिस–उदधिसदृश **नामाणं**–नाम वाले **सत्तरिं**–सत्तर **कोडिकोडीयो**–कोटाकोटि सागरोपम **मोहणिज्जस्स**–मोहनीय कर्म की **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति है **जहन्निया**–जघन्य स्थिति **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त की है।

मूलार्थ—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है।

टीका—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का मान सत्तर क्रोटाकोटि सागरोपम का है, अर्थात् अधिक से अधिक वह इतने समय तक अपना फल दे सकता है और न्यून से न्यून उसका फल अन्तर्मुहूर्त्त में हो सकता है।

अब आयुकर्म की स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

तेत्तीससागरोवमा , उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२२॥
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा , उत्कर्षेण व्याख्याता।
स्थितिस्त्वायुःकर्मणः , अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥२२॥

पदार्थान्वयः—**तेत्तीससागरोवमा**–तेंतीससागरोपमप्रमाण **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से **ठिई**–स्थिति **वियाहिया**–कथन की गई है **आउकम्मस्स**–आयुकर्म की **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण **जहन्निया**–जघन्य स्थिति है **तु**–प्राग्वत्।

मूलार्थ—आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण और उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम की वर्णन की गई है।

टीका—आयुकर्म की भवस्थिति होती है कायस्थिति नहीं होती, इसलिये उसकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का सम्बन्ध भव से है काया से नहीं।

अब नाम और गोत्र कर्म की स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

उदहीसरिसनामाणं , वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्तं जहन्निया ॥२३॥

उदधिसदृङ्नाम्नां , विंशतिः कोटिकोटयः ।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा , अष्टमुहूर्ता जघन्यका ॥२३॥

पदार्थान्वयः—**उदही**-समुद्र **सरिस**-सदृश **नामाणं**-नाम वाले **वीसई-कोडिकोडीओ**-वीस कोटाकोटि सागरोपम की **नामगोत्ताणं**-नाम और गोत्र कर्म की **उक्कोसा**-उत्कृष्ट स्थिति है **जहन्निया**-जघन्य स्थिति **अट्ठ मुहुत्तं**-आठ मुहूर्त्त की है।

मूलार्थ—नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की प्रतिपादन की है।

टीका—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है, परन्तु कई एक प्रतियों में 'अट्ठ मुहुत्तं' के स्थान पर 'अन्तमुहुत्तं' लिखा हुआ है जिसका अर्थ है अन्तर्मुहूर्त्त अर्थात् नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है। परन्तु अन्यत्र शुभ नाम और उच्च गोत्र की जघन्य स्थिति का उल्लेख आठ मुहूर्त माना है[1]। इसलिए यहाँ पर भी "अट्ठ मुहुत्तं" पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इतना और स्मरण रहे कि यहाँ पर जो उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन है वह केवल मूल प्रकृतियों का ही समझना, उत्तर प्रकृतियों का नहीं। उत्तर प्रकृतियों के लिए प्रज्ञापनासूत्र के प्रकृतिपद को देख लेना चाहिए।

[1] "नामगोयआणं जहण्णेण अट्ठमुहुत्ता" [भगवती सू. श. ६उ. ३ सू० २३६] "जसोकित्ति नामाएण पुच्छा ? गोयमा जहण्णेणं अट्ठमुहुत्ता । उच्चागोयस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठ-मुहुत्ता" [प्रज्ञापनसू. प. २३ उ. २ सू. २९४]।

अब भाव के विषय में कहते हैं—

सिद्धाणणंतभागो य, अणुभागा हवंति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं, सव्वजीवेसु इच्छियं ॥२४॥

सिद्धानामनन्तभागश्च, अनुभागा भवन्ति तु।
सर्वेष्वपि प्रदेशाग्रं, सर्वजीवेभ्योऽतिक्रान्तम् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—सिद्धाण–सिद्धों के णंतभागो–अनन्तवें भागमात्र अणुभागा–अनुभाग—रसविशेष हवंति–होते हैं सव्वेसु वि–सब अनुभागों में पएसग्गं–प्रदेशों के अग्र—परमाणु का परिमाण सव्वजीवेसु–सब जीवों से इच्छियं–अधिक है तु–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—सिद्धों के अनन्तवें भागमात्र कर्मों का अनुभाग—रस—होता है। फिर सब अनुभाग में कर्म-परमाणु सब जीवों से अधिक हैं।

टीका—पूर्व कहा जा चुका है कि एक समय के कर्माणु अभव्य आत्माओं से अनन्तगुणा अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भागमात्र हैं, अर्थात् सिद्धों से, एक समय के कर्म-परमाणु अनन्तगुणा न्यून हैं। सो प्रस्तुत गाथा में उसी बात को लेकर कहते हैं कि जब एक समय के कर्माणु सिद्धों से अनन्तगुणा न्यून हैं तो उन कर्माणुओं का अनुभाग भी सिद्धों से अनन्तगुणा न्यून है। परन्तु अनुभागविषयक वे कर्माणु अभव्य आत्माओं से अनन्तगुणा अधिक हैं। कारण यह है कि अनन्त आत्माओं के आत्म-प्रदेशों पर अनन्त कर्माणुओं की वर्गणाएँ हैं। जब कि एक के साथ अनन्त कर्म-वर्गणाओं का सम्बन्ध हो रहा है तब अनन्त जीवों से कर्मों के परमाणु आप ही अनन्तगुणा अधिक हो गये। अपि च प्रदेशाग्र परमाणु का ही नाम है, क्योंकि बुद्धि-द्वारा विभाग किये जाने पर जब वह अविभाज्य दशा में आ जावे उसी का नाम प्रदेशाग्र है। सो वह प्रदेशाग्र एक-एक समय में सब जीवों के ग्रहण किये हुए, सब जीवों से अनन्तगुणा अधिक होते हैं।

सो इस प्रकार प्रकृति के दिखलाने पर प्रकृति-बन्ध, प्रदेशाग्र के कहने से प्रदेश-बन्ध, काल के कहने से स्थिति-बन्ध और अनुभाग के वर्णन से

रस-बन्ध; इस तरह प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और रस, इन चारों का ही संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। अब प्रस्तुत अध्ययन का उपदेश के व्याज से उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया ।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥२५॥
त्ति बेमि ।

इति कम्मप्पयडी समत्ता ॥३३॥

तस्मादेतेषां कर्मणाम्, अनुभागान् विज्ञाय ।
एतेषां संवरे चैव, क्षपणे च यतेत बुधः ॥२५॥
इति ब्रवीमि ।

इति कर्मप्रकृतिः समाप्ता ॥३३॥

पदार्थान्वयः—तम्हा–इसलिए एएसिं–इन कम्माणं–कर्मों के अणुभागा–अनुभाग को वियाणिया–जानकर एएसिं–इनके संवरे–सम्वर में—निरोध में च–और खवणे–क्षय करने में बुहो–तत्त्व को जानने वाला जए–यत्न करे च–समुच्चय में है एव–निश्चय में है त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इसलिए इन कर्मों के विपाक को जानकर बुद्धिमान् जीव इनके निरोध और क्षय करने में यत्न करे।

टीका—तत्त्व के जानने वाले विचारशील मुनि को चाहिए कि वह इन कर्मों के अशुभ और कटु परिणाम को जानकर जिन मार्गों के द्वारा ये कर्माणु आ रहे हैं उनका तो निरोध करे, और बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा करने का यत्न करे। इस प्रकार करने से कर्मरहित होकर मोक्ष की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी से उक्त विषय का प्रतिपादन किया है। यह कर्मप्रकृति नाम का तेतीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

त्रयस्त्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त।

अह लेसज्झयणं णाम चोत्तीसइमं अज्झयणं

अथ लेश्याध्ययनं नाम चतुस्त्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्वोक्त कर्मप्रकृतिनामा अध्ययन में कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है, परन्तु कर्मों की स्थिति आदि का विशेष आधार लेश्याओं पर है, इसलिए इस चौतीसवे अध्ययन में लेश्याओं का वर्णन किया जाता है। यथा—

लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुव्विं जहक्कमं।
छण्हं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे ॥१॥

लेश्याध्ययनं प्रवक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।
षण्णामपि कर्मलेश्यानाम्, अनुभावान् शृणुत मम ॥१॥

पदार्थान्वयः—लेसज्झयणं—लेश्या-अध्ययन को पवक्खामि—मैं कहूँगा आणुपुव्विं—आनुपूर्वी और जहक्कमं—यथाक्रम से छण्हं पि—छओं ही कम्मलेसाणं—कर्म-लेश्याओं के अणुभावे—अनुभावों को मे—मुझसे सुणेह—श्रवण करो।

मूलार्थ—मैं आनुपूर्वी और यथाक्रम से लेश्या-अध्ययन को कहूँगा। तुम छओं कर्म-लेश्याओं के अनुभावों—रसों—को मुझसे श्रवण करो।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि तुम मुझसे छः प्रकार की कर्म-लेश्याओं के स्वरूप को सुनो ! मैं अनुक्रम से इस- लेश्या-नामक अध्ययन में उनकी व्याख्या करूँगा । प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय की प्रतिज्ञा और पूर्व विषय के साथ उत्तर विषय का सम्बन्ध बतलाया गया है । अनुभाव का अर्थ यहाँ पर रसविशेष है । तात्पर्य यह है कि कारणवशात् आत्मप्रदेशों के साथ संबद्ध होने वाले कर्म-पुद्गलों के रसविशेष जिसे अनुभाव या अनुभाग कहते हैं, लेश्याओं का कर्मों के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है । कर्मों की स्थिति का कारण लेश्यायें हैं [कर्मस्थितिहेतवो लेश्याः] । जैसे दो पदार्थों को मिलाने में एक तीसरे लेसदार द्रव्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो कर्मों का बन्ध होता है उसमें श्लेषसुरेस की तरह लेश्यायें काम देती हैं । कर्मबन्धन में जो रस है उसका अनुभव भी लेश्याओं के द्वारा ही किया जाता है । योगों के परिणामविशेष को लेश्या कहते हैं [योगपरिणामो लेश्या] । सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थान तक इन लेश्याओं का सद्भाव रहता है, और जिस समय यह आत्मा अयोगी बनती है अर्थात् चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करती है उसी समय वह लेश्याओं से रहित होती है । इसी लिए योगों के परिणामविशेष को लेश्या कहा है ।

पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार अब इस लेश्यानामा अध्ययन में वर्णनीय विषयों के निरूपण की सूचना देते हुए कहते हैं कि—

नामाइं वण्णरसगंध-, फासपरिणामलक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे ॥२॥

नामानि वर्णरसगन्ध-, स्पर्शपरिणामलक्षणानि ।
स्थानं स्थितिं गतिं चायुः, लेश्यानां तु शृणुत मे ॥२॥

पदार्थान्वयः—नामाइं—नाम वण्ण—वर्ण रस—रस गंध—गन्ध फास—स्पर्श परिणाम—परिणाम लक्खणं—लक्षण ठाणं—स्थान ठिइं—स्थिति गइं—गति च—और आउं—आयु लेसाणं—लेश्याओं की मे—मुझसे सुणेह—श्रवण करो तु—पादपूर्ति के लिए है ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! तुम मुझसे लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु के स्वरूप को श्रवण करो ।

टीका—इस गाथा में लेश्याओं के वर्णन-प्रस्ताव में एकादश द्वारों का उल्लेख किया है । इन एकादश द्वारों से लेश्याओं का वर्णन किया जावेगा, यथा—(१) नाम-द्वार (२) वर्ण-द्वार (३) रस-द्वार (४) गन्ध-द्वार (५) स्पर्श-द्वार (६) परिणाम-द्वार (७) लक्षण-द्वार (८) स्थान-द्वार (९) स्थिति-द्वार (१०) गति द्वार (११) आयु-द्वार । द्वार नाम भेद का है । गुरु कहते हैं कि इन ११ द्वारों अर्थात् भेदों से मैं लेश्याओं का वर्णन करूँगा, उसको तुम सावधान होकर श्रवण करो । यदि संक्षेप से कहें तो वर्ण, रस और गन्धादि के द्वारा लेश्याओं के स्वरूप का वर्णन करना इस लेश्यानामक अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है ।

अब उद्देशक्रम के अनुसार प्रथम नाम-द्वार का वर्णन करते हैं, अर्थात् प्रथम लेश्याओं के नाम का निर्देश करते हैं । यथा—

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥३॥

कृष्णा नीला च कपोती च, तेजः पद्मा तथैव च ।
शुक्ललेश्या च षष्ठी च, नामानि तु यथाक्रमम् ॥३॥

पदार्थान्वयः—किण्हा–कृष्णलेश्या य–फिर नीला–नीललेश्या य–तथा काऊ–कापोतलेश्या य–और तेऊ–तेजोलेश्या पम्हा–पद्मलेश्या तहेव–उसी प्रकार छट्ठा–छठी सुक्कलेसा–शुक्ललेश्या, ये जहक्कमं–अनुक्रम से नामाइं–नाम हैं तु–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—छओं लेश्याओं के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या ।

टीका—विषयवर्णन की सुगमता के लिये सूत्रकार ने लेश्याओं के नाम का निर्देश कर दिया है। कारण यह है कि जिस पदार्थ का निरूपण करना हो उस का यदि प्रथम नामनिर्देश किया जावे तो वह सुबोध हो जाता है।

अब वर्ण-द्वार का निरूपण करते हैं। यथा—

जीमूयनिद्धसंकासा , गवलरिट्ठगसंनिभा ।
खंजांजणनयणनिभा , किण्हलेसा उ वण्णओ ॥४॥

स्निग्धजीमूतसंकाशा , गवलारिष्टकसंनिभा ।
खञ्जाञ्जननयननिभा , कृष्णलेश्या तु वर्णतः ॥४॥

पदार्थान्वयः—जीमूय–मेघ निद्ध–स्निग्ध—जलयुक्त के संकासा–समान गवलरिट्ठगसंनिभा–महिषशृंग, रिष्ट, काक वा फलविशेष (अरीठा) के सदृश खंजांजण–शकट के अंजन, वा काजल नयन–नेत्र की कीकी के निभा–समान किण्हलेसा–कृष्णलेश्या उ–निश्चयार्थक है वण्णओ–वर्ण से।

मूलार्थ—जलयुक्त मेघ, महिष का शृंग, काक, अरीठा, शकट की कीट, काजल और नेत्रतारिका, इनके समान वर्ण में कृष्णलेश्या होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कृष्णलेश्या के वर्ण—रूप—का कथन किया गया है। कृष्णलेश्या का रूप कैसा होता है, इसके लिए सूत्रकार ने जलयुक्त मेघ, महिषशृंग, काक वा अरीठा, शकट की कीट अथवा काजल और नेत्र की कीकी का उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जल से भरे हुए मेघ का रंग होता है उसी वर्ण की कृष्णलेश्या होती है। तथा महिष के शृंग के समान, अरिट्ठग—काक—के समान वा अरीठे के समान, अथ च शकट गाड़ी के कीट वा काजल और नेत्र की कीकी के समान कृष्णलेश्या का वर्ण होता है। यहाँ पर गाथा में आये हुए (नयण) शब्द का उपचार से नेत्रगत काले भाग का ग्रहण ही अभिप्रेत है।

अब नीललेश्या के रूप का वर्णन करते हैं। यथा—

नीलासोगसंकासा　, चासपिच्छसमप्पभा　।
वेरुलियनिद्धसंकासा　, नीललेसा उ वण्णओ ॥५॥

नीलाशोकसंकाशा　, चाषपिच्छसमप्रभा　।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशा　, नीललेश्या तु वर्णतः ॥५॥

पदार्थान्वयः—नीलासोग–नीले अशोक-वृक्ष के संकासा–समान चासपिच्छसमप्पभा–चाष पक्षी के परों के समान प्रभा वाली निद्ध–स्निग्ध वेरुलिय–वैदूर्यमणि के संकासा–सदृश वण्णओ–वर्ण से नीललेसा–नीललेश्या उ–जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—नीललेश्या का वर्ण नीले अशोक वृक्ष के समान, चाष पक्षी के परों के सदृश और स्निग्ध वैदूर्यमणि के समान होता है ।

टीका—अशोक के साथ नील विशेषण देने का तात्पर्य रक्त अशोक की निवृत्ति करना है । चाष नाम का कोई पक्षीविशेष है । वैदूर्यमणि को आम भाषा में "नीलम" कहते हैं । स्निग्ध का अर्थ यहाँ पर प्रदीप्त और प्रिय है ।

अब कापोतलेश्या के रूप का वर्णन करते हैं । यथा—

अयसीपुप्फसंकासा , कोइलच्छदसंनिभा　।
पारेवयगीवनिभा　, काऊलेसा उ वण्णओ ॥६॥

अतसीपुष्पसंकाशा　, कोकिलच्छदसंनिभा　।
पारावतग्रीवानिभा　, कापोतलेश्या तु वर्णतः ॥६॥

पदार्थान्वयः—अयसीपुप्फ–अलसी-पुष्प के संकासा–समान कोइलच्छदसंनिभा–कोयल के परों के समान पारेवय–पारावत—कबूतर—की गीव–ग्रीवा के निभा–सदृश वण्णओ–वर्ण से काऊलेसा–कापोतलेश्या उ–होती है ।

मूलार्थ—जिस रंग का अलसी का पुष्प होता है, कोयल के पर होते हैं और कबूतर की ग्रीवा—गर्दन—होती है, उसी प्रकार का कापोतलेश्या का वर्ण—रंग—होता है ।

टीका—यहाँ पर "कोइलच्छद" का अर्थ कोकिला—कोयल—पक्षी का पर यह अर्थ प्रसिद्ध ही है, तथा किंचित् कृष्ण और किंचित् रक्त वर्ण को लिए हुए कापोतलेश्या होती है।

अब तेजोलेश्या के रूप का वर्णन करते हैं। यथा—

हिंगुलधाउसंकासा, तरुणाइच्चसंनिभा।
सुयतुंडपईवनिभा, तेओलेसा उ वण्णओ ॥७॥

हिंगुलधातुसंकाशा, तरुणादित्यसंनिभा।
शुकतुण्डप्रदीपनिभा, तेजोलेश्या तु वर्णतः ॥७॥

पदार्थान्वयः—हिंगुल—हिंगुल—शिंगरफ धाउ—धातु के संकासा—सदृश तरुणाइच्च—तरुण सूर्य के संनिभा—समान सुयतुंड—शुक की नासिका और पईव—प्रदीप-शिखा के निभा—समान तेओलेसा—तेजोलेश्या वण्णओ—वर्ण से उ—जाननी चाहिए।

मूलार्थ—हिंगुल धातु, तरुण सूर्य, शुकनासिका और दीपशिखा के रंग के समान तेजोलेश्या का रंग होता है।

टीका—तेजोलेश्या के वर्ण में दीप्ति और रक्तता का अधिक प्राधान्य होता है। इसी लिए उसके रूप-निर्णय में जितने भी उदाहरण दिये गये हैं वे सब दीप्तिमान् तथा रक्तिमापूर्ण हैं। यथा—हिंगुल धातु—शिंगरफ—में और शुकनासिका में रक्त-वर्ण का प्राधान्य है और उदय होते हुए सूर्य तथा दीपशिखा में दीप्ति की प्रधानता है।

अब पद्मलेश्या के रूप का निरूपण करते हैं। यथा—

हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसमप्पभा।
सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥८॥

हरितालभेदसंकाशा, हरिद्राभेदसमप्रभा।
सणासनकुसुमनिभा, पद्मलेश्या तु वर्णतः ॥८॥

पदार्थान्वयः—हरियालभेय-हरिताल-खंड के सकासा-सदृश हलिद्दाभेय-हरिद्रा-खंड के समप्पभा-समान प्रभा वाली सण-सण के पुष्प और असण-असन-पुष्प निभा-तुल्य पम्हलेसा-पद्मलेश्या वण्णओ-वर्ण में तु-जाननी चाहिए।

मूलार्थ—हरिताल और हलदी के टुकड़े के समान तथा सण और असन के पुष्प के समान पीला पद्मलेश्या का रंग होता है।

टीका—हरिताल और हरिद्रा का पीत वर्ण प्रसिद्ध ही है, तथा सण और असन—[वनस्पति हैं] इसके पुष्प भी पीले रंग के ही होते हैं। इनके वर्ण के समान अर्थात् पीत वर्ण, पद्मलेश्या का होता है।

अब शुक्लेश्या के रूप के विषय में कहते हैं। यथा—

संखंककुंदसंकासा, खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा , सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥९॥

शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा, क्षीरपूरसमप्रभा ।
रजतहारसङ्काशा , शुक्लेश्या तु वर्णतः ॥९॥

पदार्थान्वयः—संख-शंख अंक-मणिविशेष कुंद-कुन्द-पुष्प के संकासा-सदृश खीरपूर-दुग्ध की धारा के समप्पभा-समान प्रभा वाली रययहार-रजत—चाँदी—के हार के संकासा-समान सुक्कलेसा-शुक्लेश्या वण्णओ-वर्ण में तु-जाननी चाहिए।

मूलार्थ—शंख, अंक (मणिविशेष), मुचकुन्द के पुष्प और दुग्ध-धार तथा रजत के हार के समान उज्ज्वल वर्ण—श्वेत रंग—शुक्लेश्या का होता है।

टीका—शुक्लेश्या का वर्ण शंख के समान धवल, अंक रत्न और कुन्द-पुष्प के समान उज्ज्वल, तथा क्षीर-धारा और रजत-हार के समान श्वेत होता है। किसी २ प्रति में 'खीरपूर' के स्थान पर 'खीरधार' का पाठ भी देखने मे आता है। तात्पर्य

---

१ सण—इस नाम की वनस्पति पंजाब में तो प्रसिद्ध ही है परन्तु हिन्दुस्तान के अन्य भागों में भी पंजाब की तरह ही इसकी बड़ी फसल होती है, इसके रस्से बनते हैं, सूतली आदि इसी की तय्यार होती है, इसके पुष्प पीले रंग के होते हैं; देखने में बड़े सुन्दर लगते हैं तथा असन, यह भी पीले फूल की वनस्पति है।

यह है कि शुक्लेश्या के परमाणु अत्यन्त उज्ज्वल और निष्कलंक होते हैं। यहाँ पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि लेश्याओं के रूप-वर्णन में उदाहरणरूप से जो भिन्न २ जाति के अनेक पदार्थों का निर्देश किया है उसका तात्पर्य यह है कि जिज्ञासु को इस विषय का सुखपूर्वक बोध हो जावे इतना ही है, क्योंकि देशभेद से किसी २ वस्तु का बोध नहीं भी होता। एतदर्थ ही दयालु सूत्रकार ने भिन्न २ उदाहरण यहाँ पर दिये हैं।

अब दूसरे रस-द्वार का निरूपण करते हैं—

जह कडुयतुंबगरसो,
निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो य किण्हाए नायव्वो ॥१०॥

यथा कटुकतुम्बकरसः,
निम्बरसः कटुकरोहिणीरसो वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसश्च कृष्णाया ज्ञातव्यः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—जह—यथा कडुय—कटुक तुंबगरसो—तुम्बक का रस निंबरसो—नीम का रस वा—अथवा कडुयरोहिणिरसो—कटुरोहिणी का रस होता है एत्तो वि—इससे भी अणंतगुणो—अनन्तगुणा कटु रसो—रस किण्हाए—कृष्णलेश्या का नायव्वो—जानना चाहिए य—प्राग्वत्।

मूलार्थ—जितना कटु रस कौड़े तूंबे, निम्ब और कटुरोहिणी का होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक कटु रस कृष्णलेश्या का होता है।

टीका—कौड़े तूंबे और नीम की कटुता प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कटुरोहिणी[1] भी अत्यन्त कड़वी होती है, परन्तु कृष्णलेश्या का रस इनसे भी अनन्तगुणा

१ यह ज्वरनाशक औषधिविशेष है।

कड़वा है। रस का अर्थ यहाँ पर 'आस्वाद लेना' है। यथा और कटु इन दोनों शब्दों का प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध करना चाहिए।

अब नीललेश्या के रस का वर्णन करते हैं—

जह तिगडुयस्स य रसो,
तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ नीलाए नायव्वो ॥११॥

यथा त्रिकटुकस्य च रसः,
तीक्ष्णो यथा हस्तिपिप्पल्या वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसस्तु नीलाया ज्ञातव्यः ॥११॥

पदार्थान्वयः—जह—यथा तिगडुयस्स—त्रिकटु का रसो—रस तिक्खो—तीक्ष्ण होता है वा—अथवा जह—यथा हत्थिपिप्पलीए—गजपीपल का रस होता है एत्तो वि—इससे भी अणंतगुणो—अनंतगुणा अधिक तीक्ष्ण रसो—रस नीलाए—नीललेश्या का नायव्वो—जानना चाहिए य-उ—प्राग्वत्।

मूलार्थ—नीललेश्या के रस को मघमिर्च और सोंठ तथा गजपीपल के रस से भी अनन्तगुणा तीक्ष्ण समझना चाहिए।

टीका—हस्तिपीपल—गजपीपल, यह बड़े आकार की मघ ही होती है।

अब कापोतलेश्या के रस का वर्णन करते हैं—

जह तरुणअंबगरसो,
तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ काऊए नायव्वो ॥१२॥

यथा तरुणाम्रकरसः,
तुवरकपित्थस्य वापि यादृशः ।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसस्तु कापोताया ज्ञातव्यः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जह–जैसे तरुणअंबगरसो–तरुण—अपरिपक्व—आम्रफल का रस होता है वा–अथवा तुवरकविट्ठस्स–तुवर और कपित्थ के फल का जारिसओ–जैसा रस होता है एत्तो वि–इससे भी अणंतगुणो–अनन्तगुणा अधिक रसो–रस उ–निश्चयार्थक है काऊए–कापोतलेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए अवि–अपि—पादपूर्ति के लिए है ।

मूलार्थ—कापोतलेश्या के रस को कच्चे आम के रस, और तुवर वा कपित्थफल के रस की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक खट्टा समझना चाहिए ।

टीका–यहाँ पर तरुण शब्द अपरिपक्व अर्थ में ग्रहण किया गया है । तथा च, तरुण आम्रफल का अर्थ हुआ—कच्चा आम्रफल । इसी प्रकार तरुण शब्द का तुवर और कपित्थ के साथ भी सम्बन्ध कर लेना चाहिए ।

अब तेजोलेश्या के रस का निरूपण करते हैं । यथा—

जह परिणयंबगरसो,
पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ तेओए नायव्वो ॥१३॥

यथा परिणताम्रकरसः,
पक्वकपित्थस्य वापि यादृशः ।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसस्तु तेजोलेश्याया ज्ञातव्यः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जह–यथा परिणयंबगरसो–पके हुए आम के फल का रस होता है वा–अथवा अवि–अपि—पादपूर्ति में यारिसओ–जैसा पक्ककविट्ठस्स–पके हुए कपित्थफल का रस होता है एत्तो वि–इससे भी अणंतगुणो–अनन्तगुणा अधिक रसो–रस तेओए–तेजोलेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—पके हुए आम्रफल अथवा पके हुए कपित्थफल का जैसा खट्टामीठा रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक खट्टामीठा रस तेजोलेश्या का समझना चाहिए।

टीका—कच्चे आम्रफल और कपित्थफल की अपेक्षा पके हुए आम्र और कपित्थ के फल में, अर्थात् उनके रस में मधुरता अधिक आ जाती है और खटास का नाममात्र शेष रह जाता है। तात्पर्य यह है कि उनका मधुर रस अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाता है, परन्तु तेजोलेश्या के रस में तो इनसे अनन्तगुण अधिक माधुर्य और स्वादुता आ जाती है।

अब पद्मलेश्या के रस का वर्णन करते हैं। यथा—

वरवारुणीए व रसो,
विविहाण व आसवाण जारिसओ।
महुमेरयस्स व रसो,
एत्तो पम्हाए परएणं ॥१४॥

वरवारुण्या इव रसः,
विविधानामिवासवानां यादृशः।
मधुमैरेयकस्येव रसः,
इतः पद्मायाः परकेण (भवति) ॥१४॥

पदार्थान्वयः—वर–प्रधान वारुणीए–मदिरा का व–जैसा रसो–रस होता है व–अथवा विविहाण–विविध प्रकार के आसवाण–आसवों का जारिसओ–जिस प्रकार का रस होता है व–अथवा महु–मधु और मेरयस्स–मैरेयक का

रसो-रस होता है एत्तो-इससे परएणं-अनन्तगुणा अधिक रस पम्हाए-पद्मलेश्या का होता है ।

मूलार्थ—प्रधान मदिरा, नाना प्रकार के आसव, तथा मधु और मैरेयक नाम की मदिरा का जिस प्रकार का रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक रस पद्मलेश्या का है ।

टीका—आसव, यह मद्य का ही भेद है, तथा मधु और मैरेयक भी एक प्रकार की मदिरा ही होती है और ऊँचे प्रकार की मदिरा को वारुणी कहते हैं । पद्मलेश्या का रस वारुणी, मधु और मैरेयक, इन मद्यों और नाना प्रकार के आसव तथा अरिष्टों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक मधुर और स्वादिष्ट होता है । यहाँ पर रस के विषय में जो उक्त प्रकार के मद्यों और आसवों का उदाहरण दिया गया है वह उनके माधुर्य रस को लेकर दिया गया है न कि उनके उन्मत्त भाव की भी यहाँ पर अपेक्षा की गई है । तथा च किंचित् अम्ल-कषाय और माधुर्य-पूर्ण रस पद्मलेश्या का जानना चाहिए ।

अब शुक्ललेश्या के रस का उल्लेख करते हैं—

खज्जूरमुद्दियरसो,
खीररसो खंडसक्कररसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥१५॥

खर्जूरमृद्वीकारसः,
क्षीररसः खण्डशर्करारसो वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
रसस्तु शुक्ललेश्याया ज्ञातव्यः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—खज्जूर-खजूर—और मुद्दिय-मृद्वीका—दाख—का रसो-रस वा-अथवा खीररसो-क्षीर का रस खंडसकररसो-खाँड और शर्करा का

रस—जैसा होता है एत्तो वि–इससे भी अणंतगुणो–अनन्तगुणा अधिक रसो–रस सुक्काए–शुक्लेश्या का नायव्वो–जानना चाहिए उ–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—जैसा मधुर रस खजूर, दाख, दुग्ध, खांड और शर्करा का होता है, उससे अनन्तगुणा अधिक मधुरतापूर्ण रस शुक्लेश्या का जानना चाहिए।

टीका—इस गाथा में अन्तिम लेश्या—शुक्लेश्या—के रस का वर्णन किया गया है । शुक्लेश्या के रस के लिए जितने भी पदार्थों की उपमा दी गई है वे सब के सब माधुर्य रस से परिपूर्ण हैं, परन्तु शुक्लेश्या का मधुर रस इन खर्जूरादि के रस की अपेक्षा अनन्तगुणा मधुर है । यहाँ पर शर्करा नाम मिश्री का है—[शर्करा काशादिप्रभवा] । इस प्रकार यह छओं लेश्याओं के रसों का वर्णन समास से ही कर दिया गया है ।

अब इस तीसरे गन्ध-द्वार में इन लेश्याओं के गन्ध का वर्णन किया जाता है । यथा—

जह गोमडस्स गंधो,
सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१६॥

यथा गोमृतकस्य गन्धः,
शुनो मृतकस्य वा यथाऽहिमृतकस्य ।
इतोऽप्यनन्तगुणो,
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जह–यथा गोमडस्स–मृतक गौ की गंधो–गन्ध होती है व–अथवा सुणगमडस्स–मृतक श्वान की गंध होती है जहा–जैसे अहिमडस्स–मरे हुए सर्प की गन्ध होती है एत्तो वि–इससे भी अणंतगुणो–अनंतगुण अधिक गंध अप्पसत्थाणं–अप्रशस्त लेसाणं–लेश्याओं की होती है ।

मूलार्थ—जैसी मृतक गौ की, अथवा मरे हुए श्वान—कुत्ते—और मरे हुए सर्प की गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुण अधिक अप्रशस्त लेश्याओं की गंध होती है।

टीका—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्यायें अप्रशस्त—अशुभ—मानी गई हैं। इन तीनों लेश्याओं की गन्ध मरी हुई गौ, मरे हुए कुत्ते और मरे हुए सर्प के गन्ध की अपेक्षा अनंतगुण अधिक अप्रशस्त है। तात्पर्य यह है कि जैसे गौ, श्वान और सर्प के मृतक शरीर में अत्यन्त दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है, उससे भी कहीं अनंतगुण अधिक दुर्गन्ध इन लेश्याओं में है। इसी लिए इनको अप्रशस्त कहा है। कारण यह है कि इन तीनों के परमाणु अत्यन्त दुर्गन्धमय होते हैं। तथा जैसे गौ, श्वान और सर्प, इन तीनों के मृतक कलेवर में उत्पन्न होने वाली दुर्गन्ध में तरतमभाव—न्यूनाधिकता—होती है, उसी प्रकार इन तीनों अप्रशस्त लेश्याओं के दुर्गन्ध में भी न्यूनाधिकता रहती है।

अब आगे की तीन लेश्याओं की गन्ध का वर्णन करते हैं। यथा—

जह सुरहिकुसुमगंधो,
गंधवासाण पिस्समाणाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो,
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१७॥

यथा सुरभिकुसुमगन्धः,
गन्धवासानां पिष्यमाणानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणः,
प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जह—जैसे **सुरहि**—सुगन्धि वाले **कुसुम**—पुष्पों की **गंधो**—गन्ध होती है, तथा **पिस्समाणाणं**—पेठे हुए **गंधवासाण**—सुगन्धयुक्त पदार्थों की जैसी

गन्ध होती है एत्तो वि—उससे भी अणंतगुणो—अनन्तगुण गन्ध तिण्हं पि—तीनों ही पसत्थलेसाण—प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

मूलार्थ—केवड़ा आदि सुगंधित पुष्पों, अथवा सुगंधयुक्त घिसे हुए चन्दनादि पदार्थों की जैसी प्रशस्त गंध होती है, उससे भी अनन्तगुण प्रशस्त गन्ध इन तीनों ही लेश्याओं की होती है।

टीका—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीनों ही प्रशस्त लेश्यायें हैं। तथा केतकी आदि वृक्षों के जितने भी महासुगन्धित पुष्प हैं, और कोष्ठ पुटपाक आदि से अथवा सुगन्धिमय चन्दनादि पदार्थों के घिसने से जैसी भी उत्तम गन्ध निकलती है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुण अधिक सुगंध तेज, पद्म और शुक्ल, इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं की है। तात्पर्य यह है कि इन तीनों लेश्याओं के परमाणु उक्त सुगन्धिमय द्रव्यों की गन्ध से कहीं अनन्तगुण प्रशस्त गन्ध वाले हैं। सुगन्ध के विषय में यहाँ पर भी तरतमभाव की कल्पना कर लेनी चाहिए।

अब स्पर्श-द्वार का वर्णन करते हैं, तथा उसमें भी प्रथम की तीन अप्रशस्त लेश्याओं के स्पर्श का उल्लेख करते हैं। यथा—

जह करगयस्स फासो,
गोजिब्भाए य सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणंतगुणो,
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१८॥

यथा क्रकचस्य स्पर्शः,
गोजिह्वायाश्च शाकपत्राणाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणो,
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जह—जैसे करगयस्स—करपत्र का फासो—स्पर्श वा—अथवा गोजिब्भाए—गोजिह्वा का स्पर्श य—और सागपत्ताणं—शाकपत्रों का स्पर्श होता है

एत्तो वि–इससे भी अणंतगुणो–अनन्तगुणा अधिक स्पर्श अप्पसत्थाणं–अप्रशस्त लेसाणं–लेश्याओं का होता है।

मूलार्थ—जैसा स्पर्श करपत्र, गोजिह्वा और शाकपत्रों का होता है, उससे अनन्तगुणा अधिक स्पर्श अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

टीका—कृष्ण, नील और कापोत, इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श करपत्र (आरा) के स्पर्श, गोजिह्वा के स्पर्श और शाकपत्रों के स्पर्श से अनन्तगुणा अधिक कर्कश होता है। तथाच अप्रशस्त होने के कारण जिस प्रकार इनकी गन्ध अप्रशस्त है, उसी प्रकार इनका स्पर्श भी अत्यन्त अप्रशस्त है, परन्तु स्पर्श में तरतम-भाव अवश्य होता है।

अब फिर इसी विषय में अर्थात् उत्तर की तीनों प्रशस्त लेश्याओं के स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

जह बूरस्स व फासो,
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो,
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१९॥

यथा बूरस्य वा स्पर्शः,
नवनीतस्य वा शिरीषकुसुमानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणः ,
प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि ॥१९॥

पदार्थान्वयः—जह–जैसे बूरस्स–बूर नाम की वनस्पति का फासो–स्पर्श नवणीयस्स–नवनीत का स्पर्श व–अथवा सिरीसकुसुमाणं–सिरस के पुष्पों का स्पर्श होता है एत्तो वि–उससे भी अणंतगुणो–अनन्तगुणा अधिक स्पर्श तिण्हं पि–इन तीनों पसत्थ–प्रशस्त लेसाणं–लेश्याओं का होता है वि–प्राग्वत्।

मूलार्थ—बूर—वनस्पतिविशेष, नवनीत—मक्खन—और सिरस के पुष्पों का जितना कोमल स्पर्श होता है, उससे अनन्तगुणा अधिक कोमल स्पर्श इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं का है।

टीका—तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीनों प्रशस्त लेश्यायें हैं। इनके स्पर्श की कोमलता बूर, नवनीत और सिरस के फूलों की कोमलता की अपेक्षा अनन्त-गुण अधिक है। परन्तु जैसे बूर, नवनीत और सिरस के पुष्पों की कोमलता और मृदुता में कुछ तरतमभाव देखने में आता है, उसी प्रकार तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के स्पर्श की कोमलता और मृदुता में भी कुछ न्यूनाधिकता अवश्य होती है।

अब लेश्याओं के परिणाम-द्वार का वर्णन करते हैं। यथा—

तिविहो व नवविहो वा,
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा,
लेसाणं होइ परिणामो ॥२०॥

त्रिविधो वा नवविधो वा,
सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा।
त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशतविधो वा,
लेश्यानां भवति परिणामः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—तिविहो—त्रिविध व—अथवा नवविहो—नवविध वा—अथवा सत्तावीसइविह—सत्ताईस विध—प्रकार वा—अथवा इक्कसीओ—एकासी प्रकार वा—तथा दुसओ—दो सौ तेयालो—तेतालीस प्रकार का लेसाणं—लेश्याओं का परिणामो—परिणाम होइ—होता है।

मूलार्थ—इन छओं लेश्याओं के अनुक्रम से—तीन, नौ, सत्ताईस, एकासी और दो सौ तेतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में छओं लेश्याओं के परिणामों का वर्णन किया गया है। इन परिणामों की संख्या अनुक्रम से ९, ३, ९, २७, ८१ और २४३ होती है। यथा—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, इस प्रकार ३ परिणाम हुए; इन तीनों के फिर एक एक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करने से ९ हो जाते हैं; फिर इनके जघन्य और उत्कृष्ट भेद करने से २७ हो जाते हैं; इसी प्रकार सत्ताईस को तीनगुणा करने से ८१ और ८१ को तीनगुणा करने से २४३ भेद हो जाते हैं[1]। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक को तीनगुणा करने से इन परिणामभेदों की संख्या २४३ हो जाती है, परन्तु इतना ध्यान रहे कि परिणामों के ये भेद केवल संख्या-गत नियम को लेकर किये गये हैं। परिणामों की अपेक्षा से तो संख्या का नियमन नहीं हो सकता, कारण कि तरतमभाव में संख्या का बोध नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि वहाँ संख्या ही नहीं रहती।

परिणाम-द्वार के अनन्तर अब लक्षण-द्वार का वर्णन करते हैं। यथा—

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ॥२१॥
निद्धंसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥२२॥

पञ्चास्रवप्रवृत्तः, तिसृभिरगुप्तः षट्स्वविरतश्च।
तीव्रारम्भपरिणतः, क्षुद्रः साहसिको नरः ॥२१॥
निर्ध्वंसपरिणामः, नृशंसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, कृष्णलेश्यां तु परिणमेत् ॥२२॥

1 प्रज्ञापनासूत्र में भी लेश्याओं के परिणामों का इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यथा—"कण्हलेसाणं भंते! कतिविहपरिणामं परिणमति? गोयमा! तिविहं वा, नवविहं वा, सत्तावीसइ-विहं वा, एकासीइविहं वावि, तेयालदुसयविहं वा, बहुं वा बहुविहं वा परिणामं, परिणमति, एवं जाव सुक्कलेसा"॥

[पद १७ उद्दे० ४ सू० २२९]

पदार्थान्वयः—**पंचासवप्पवत्तो**-पाँचों आस्रवों में प्रवृत्त—प्रमादयुक्त **तीहिं**-तीनों गुप्तियों से **अगुत्तो**-अगुप्त **य**-और **छसुं**-षट्काय में **अविरओ**-अविरत **तिव्वारंभ**-तीव्र आरम्भ में **परिणओ**-परिणत **खुद्दो**-क्षुद्रबुद्धि **साहसिओ**-साहसी—बिना विचारे काम करने वाला **नरो**-नर—उपलक्षण से स्त्री आदि भी **निद्धंसपरिणामो**-निर्दयता के भावों वाला—निर्दयी **निस्संसो**-नृशंस—हिंसादि कृत्यों में सन्देहरहित **अजिइंदिओ**-अजितेन्द्रिय—इन्द्रियों को न जीतने वाला **एय**-इन **जोगसमाउत्तो**-योगों से युक्त **किण्हलेसं**-कृष्णलेश्या को **परिणमे**-परिणत होता है **तु**-अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—पाँचों आस्रवों में प्रवृत्त, तीनों गुप्तिओं से अगुप्त, पट्काय की हिंसा में आसक्त, उत्कट भावों से हिंसा करने वाला, क्षुद्रबुद्धि, बिना विचारे काम करने वाला, निर्दयी, नृशंस—पाप कृत्यों में शंकारहित, अजितेन्द्रिय—इंद्रियों के वशीभूत और इन उक्त क्रियाओं से युक्त जो पुरुष है वह कृष्णलेश्या के भावों से परिणत होता है अर्थात् वह कृष्णलेश्या वाला होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथाद्वय में कृष्णलेश्या के लक्षणों का वर्णन किया गया है। किस जीव में कौन-सी लेश्या वर्त रही है इस बात के यथार्थ निर्णय के लिए छओं लेश्याओं के लक्षणों को समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। कृष्णलेश्या-युक्त जीव के क्या क्या आचरण होते हैं और कैसे विचार होते हैं इस बात का विचार इस गाथाद्वय में बड़ी स्पष्टता से किया गया है। जैसे कि—जो व्यक्ति पाँचों प्रकार के पापमार्गों—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह में—आसक्त है, मन, वचन और काया को गुप्त—संयम—में नहीं रखता, तथा पृथिवीकाय आदि पट्काय की विराधना करने वाला, और हिंसाजनक तीव्र भावों को अन्तःकरण में रखने वाला, क्षुद्रबुद्धि, क्रूर, अजितेन्द्रिय तथा पारलौकिक भय से शून्य और निरन्तर भोगों में लगा हुआ है वह कृष्णलेश्या का धारण करने वाला होता है।

अब नीललेश्या का लक्षण बतलाते हैं। यथा—

इस्सा अमरिस अतवो, अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य॥२३॥

आरंभाओ अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ॥२४॥

ईर्ष्याऽमर्षातपः, अविद्या मायाऽह्रीकता।
गृद्धिः प्रद्वेषश्च (यस्य) शठः, प्रमत्तो रसलोलुपः सातागवेषकश्च ।२३।
आरम्भादविरतः, क्षुद्रः साहसिको नरः।
एतद्योगसमायुक्तः, नीललेश्यां तु परिणमेत् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—इस्सा–ईर्षायुक्त **अमरिस**–असर्ष—कदाग्रहयुक्त **अतवो**–तपश्चर्या से रहित **अविज्ज**–विद्या से रहित **माया**–छल-कपट करने वाला **अहीरिया**–लज्जा से रहित **गेही**–गृद्धियुक्त—लम्पट **य**–और **पओसे**–प्रद्वेष करने वाला **सढे**–शठ—असत्यभाषी **पमत्त**–प्रमादी **रसलोलुए**–रसों का लोलुपी **य**–और **सायगवेसए**–सुख की गवेषणा करने वाला **आरंभाओ**–आरंभ से **अविरओ**–अनिवृत्त **खुद्दो**–क्षुद्र **साहस्सिओ**–साहसी **नरो**–मनुष्य **एय**–इन **जोग**–योगों से **समाउत्तो**–समायुक्त **नीललेसं**–नीललेश्या के **परिणमे**–परिणाम वाला होता है **तु**–प्राग्वत्।

मूलार्थ—नीललेश्या के परिणाम वाला पुरुष ईर्षालु, कदाग्रही, असहिष्णु, अतपस्वी, अविद्वान्—अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, विषयी—लम्पट, द्वेषी, रसलोलुपी, शठ—धूर्त, प्रमादी, स्वार्थी, आरम्भी, क्षुद्र और साहसी होता है।

टीका—यहाँ पर 'इस्सा अमरिस—ईर्षा और अमर्ष' आदि पदों में मतुप् प्रत्यय का लुक् किया हुआ है, इसलिए ईर्षा का अर्थ ईर्षायुक्त—ईर्षालु, तथा अमर्ष का अर्थ अमर्ष वाला अर्थात् असहिष्णु है। इसी प्रकार माया आदि अन्य शब्दों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। तथा च—जो पुरुष इन उक्त लक्षणों से युक्त है उसमें नीललेश्या की परिणति होती है, अथवा यह कहें कि नीललेश्या वाला पुरुष उक्त लक्षणों से लक्षित होता है अर्थात् उसमें पूर्वोक्त ईर्षा-अमर्षादि दोष विद्यमान होते हैं। इसके अतिरिक्त गाथाद्वय में आये हुए ईर्षादि शब्दों का अर्थ स्फुटप्राय ही है।

अब कापोतलेश्या के लक्षणों का वर्णन करते हैं। यथा—

वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥२५॥
उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी ।
एयजोगसमाउत्तो , काऊलेसं तु परिणमे ॥२६॥

वक्रो वक्रसमाचारः, निष्कृतिमाननृजुकः ।
परिकुञ्चक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ॥२५॥
उत्प्रासकदुष्टवादी च, स्तेनश्चापि च मत्सरी ।
एतद्योगसमायुक्तः , कापोतलेश्यां तु परिणमेत् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—वंके—वचन से वक्र वंकसमायारे—वक्र ही क्रिया करने वाला नियडिल्ले—छल करने वाला अणुज्जुए—सरलता से रहित पलिउंचग—अपने दोषों को ढाँपने वाला ओवहिए—परिग्रही मिच्छदिट्ठी—मिथ्यादृष्टि य—और अणारिए—अनार्य उप्फालग—मर्मभेदक य—और दुट्ठवाई—दुष्ट वचन बोलने वाला तेणे—चोरी करने वाला मच्छरी—मत्सरी—पराई सम्पत्ति को सहन न करने वाला एय—इन जोगसमाउत्तो—योगों से युक्त काऊलेसं—कापोतलेश्या के परिणमे—परिणाम वाला होता है अवि य—अपि च—यह पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—जो पुरुष वक्र बोलता है, वक्र आचरण करता है, छल करने वाला है, निजी दोषों को ढाँपता है, सरलता से रहित है, मिथ्यादृष्टि तथा अनार्य है; इसी प्रकार पर के मर्मों को भेदन करने वाला, दुष्ट बोलने वाला, चोरी और असूया करने वाला है; वह कापोतलेश्या से युक्त होता है ।

टीका—इन दोनों गाथाओं में कापोतलेश्या के लक्षणों का वर्णन किया गया है । जैसे कि—वक्र—टेढ़ा बोलना और वक्र—विपरीत ही आचारण करना, कपट का व्यवहार करना, सरलता से रहित होना, अपने दोषों को छिपाने के लिए अनेक प्रकार के उपायों को सोचना, हर एक प्रवृत्ति में छल का व्यवहार करना [व्याजतः प्रवृत्तेः], विपरीतदृष्टि और अनार्यता के भाव रखना; इसी प्रकार मर्म-

स्पर्शी भाषा का प्रयोग करना अर्थात् ऐसी वाणी बोलना कि जिसके सुनने से दूसरों का हृदय विदीर्ण हो जावे, तथा राग-द्वेष के वर्द्धक वचनों का प्रयोग करना, चोरी करना और मत्सरी होना; ये सब लक्षण कापोतलेश्या के कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति में ये लक्षण विद्यमान हों वहाँ कापोतलेश्या की परिणति होती है। दूसरे की सम्पत्ति को देखकर जलने वाला पुरुष मत्सरी कहलाता है। [परसंपदासहनं वित्तात्यागश्च मत्सरो ज्ञेयः] अर्थात् पराई विभूति को सहन न करना तथा धन का त्याग—दान—न करना मत्सर कहलाता है और मत्सर-युक्त पुरुष को मत्सरी कहते हैं। सारांश यह है कि इन लक्षणों से युक्त पुरुष कापोतलेश्या के परिणामों वाला होता है।

अब तेजोलेश्या के लक्षण का वर्णन करते हैं—

नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥२७॥
पियधम्मे दढधम्मे, ऽवज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो, तेओलेसं तु परिणमे ॥२८॥

नीचैर्वृत्तिरचपलः, अमाय्यकुतूहलः।
विनीतविनयो दान्तः, योगवानुपधानवान् ॥२७॥
प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिकः।
एतद्योगसमायुक्तः, तेजोलेश्यां तु परिणमेत् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—**नीयावित्ती**—नम्रतायुक्त **अचवले**—चपलतारहित **अमाई**—माया से रहित **अकुऊहले**—कुतूहल से रहित **विणीयविणए**—विनययुक्त—विनीत **दंते**—दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला **जोगवं**—स्वाध्यायादि करने वाला **उवहाणवं**—उपधान तप को करने वाला **पियधम्मे**—धर्मप्रेमी **दढधम्मे**—धर्म में दृढ़ रहने वाला **अवज्जभीरू**—पापभीरु—पाप से डरने वाला **हिएसए**—हितैषी—मुक्तिपथ का गवेषक **एय**—इन **जोगसमाउत्तो**—लक्षणों से युक्त को **तेओलेसं**—तेजोलेश्या का **परिणमे**—परिणाम होता है **तु**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—नम्रता का वर्ताव करने वाला, चपलता से रहित, अमायी—माया—छलकपट—से रहित, अकुतूहली—कुतूहल से पृथक् रहने वाला, परम विनयवान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला, स्वाध्याय में रत और उपधान आदि तप को करने वाला, धर्म में प्रेम और दृढ़ता रखने वाला, पापभीरु और सब का हित चाहने वाला पुरुष तेजोलेश्या के परिणामों से युक्त होता है।

टीका—उक्त गाथाद्वय में तेजोलेश्या के लक्षण वर्णन किये गये हैं। जो पुरुष तेजोलेश्या के परिणाम वाला होता है वह मन, वचन और शरीर से सदा नम्रता का वर्ताव करता है अर्थात् किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता, तथा अचपल अर्थात् चंचलता से रहित होता है। छल-कपट का त्यागी तथा कुतूहल से रहित अर्थात् किसी को ठट्ठा-मखौल भी नहीं करता, और विनयादि गुणों से युक्त होता है। तात्पर्य यह है कि वह वृद्धों और गुरुजनों की सेवा में प्रवृत्त रहता है। इन्द्रियों का दमन करने वाला, वाचना-पृच्छना आदि पाँच प्रकार के स्वाध्याय में लगा रहने वाला, और श्रुत की आराधना के लिए योगों का उद्वहन करने वाला, धर्मप्रेमी अर्थात् धर्मानुष्ठान में रुचि रखने वाला, प्रतिज्ञापालक, पापभीरु, और मोक्षमार्ग की गवेषणा करने वाला होता है। कूतूहल शब्द में इन्द्रजाल आदि कौतुकजनक लौकिक विद्याओं का भी समावेश कर लेना चाहिए। तपश्चर्यापूर्वक किया गया श्रुत का अध्ययन सर्व प्रकार की मनःकामना को पूर्ण करने वाला माना गया है। सारांश यह है कि ये उक्त लक्षण तेजोलेश्या के बोधक हैं अर्थात् जिस व्यक्ति में ये उक्त लक्षण पाये जावें वहाँ पर तेजोलेश्या का सहज ही में अनुमान कर लेना चाहिए।

अब पद्मलेश्या के लक्षण कहते हैं। यथा—

पयणुकोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥२९॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥३०॥

प्रतनुक्रोधमानश्च , माया लोभश्च प्रतनुकः ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान् ॥२९॥
तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रियः ।
एतद्योगसमायुक्तः , पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥३०॥

पदार्थान्वयः—पयणु–सूक्ष्म—पतला **कोहमाणे** य–क्रोध और मान हैं जिसके **माया**–माया य–और **लोभे**–लोभ **पयणुए**–अत्यन्त पतले **पसंतचित्ते**–प्रसन्नचित्त **दंतप्पा**–आत्मा को जिसने वश किया है **जोगवं**–योगों वाला **उवहाणवं**–उपधान वाला **तहा**–तथा **पयणुवाई**–अल्प भाषण करने वाला य–और **उवसंते**–उपशान्त तथा **जिइंदिए**–जितेन्द्रिय **एय**–इन **जोगसमाउत्तो**–लक्षणों से युक्त **पम्हलेसं**–पद्मलेश्या को **परिणमे**–परिणत होता है तु–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत अल्प हैं, तथा जो प्रशान्तचित्त और मन का निग्रह करने वाला है, योग और उपधान वाला, अत्यल्पभाषी, उपशान्त और जितेन्द्रिय है; इन लक्षणों से युक्त वह पुरुष पद्मलेश्या वाला होता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा-युग्म में पद्मलेश्या के लक्षणों का उल्लेख किया गया है। जिस आत्मा में पद्मलेश्या की परिणति होने लगती है उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है। कषायरूप अग्नि के शान्त होने से उसका चित्त भी शांति को प्राप्त हो जाता है तथा प्रशान्तचित्त होने से वह आत्मा मन के दमन करने में समर्थ हो जाती है। इसी कारण वह स्वाध्याय और श्रुत की आराधना में प्रवृत्ति करती है। इसके अतिरिक्त वह अत्यल्प भाषण करने वाली, शान्त रस में निमग्न और इन्द्रियों को जीतने वाली होती है।

अब शुक्ललेश्या के लक्षणों का वर्णन करते हैं। यथा—

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि साहए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥३१॥

सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो , सुक्कलेसं तु परिणमे ॥३२॥

आर्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्मशुक्ले साधयेत्।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः ॥३१॥
सरागो वीतरागो वा, उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः , शुक्लेश्यां तु परिणमेत् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—अट्टरुद्दाणि–आर्त और रौद्र को वज्जित्ता–त्यागकर धम्मसुक्काणि–धर्म और शुक्ल ध्यान की साहए–साधना करे पसंतचित्ते–प्रशान्तचित्त दंतप्पा–दान्तात्मा समिए–समितियों से समित गुत्तिसु–गुप्तियों से गुत्ते–गुप्त य–प्राग्वत् सरागे–रागसहित वा–अथवा वीयरागे–वीतराग उवसंते–उपशान्त जिइंदिए–जितेन्द्रिय एय–इन जोगसमाउत्तो–लक्षणों से युक्त सुक्कलेसं–शुक्लेश्या को परिणमे–परिणत होता है तु–अवधारण के अर्थ में है।

मूलार्थ—आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों को त्यागकर जो पुरुष धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों का आसेवन—चिन्तन—करता है तथा प्रशान्तचित्त, दमितेन्द्रिय, पाँच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त है; एवं अल्परागवान् अथवा वीतरागी, उपशमनिमग्न और जितेन्द्रिय है वह शुक्लेश्या से युक्त होता है।

टीका—इस गाथायुग्म में शुक्लेश्या के लक्षणों का दिग्दर्शन कराया गया है। ध्यान के चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें पहले दोनों अप्रशस्त होने से हेय हैं और अन्त के दोनों प्रशस्त होने से मुमुक्षु के लिए उपादेय हैं। तथाच, जो जीव शुक्लेश्यावान् होता है वह प्रथम के दोनों अप्रशस्त ध्यानों को छोड़कर अन्त के धर्म और शुक्ल इन दोनों का निरन्तर अभ्यास के द्वारा सम्पादन करने का प्रयत्न करता है। तथा प्रशान्तचित्त और इन्द्रियों का दमन करने वाला; ईर्या, भाषा आदि समितियों से संयुक्त और तीन प्रकार की गुप्तियों से मन, वचन, और काया के व्यापार का निरोध करने वाला होता है। अपिच, जिस आत्मा में

शुक्लेश्या के परिणाम का सद्भाव होता है वह सरागी—अल्पकषाय वाली अथवा वीतराग—कषायों से सर्वथा रहित—होती है, तथा उपशम-रस में निमग्न और सर्व प्रकार से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाली होती है। किसी २ प्रति में 'साहए-साधयेत्' के स्थान पर 'झायई-ध्यायति' ऐसा पाठान्तर भी देखने में आता है। 'गुत्तिसु' यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग किया हुआ है। इसके अतिरिक्त दूसरी गाथा में 'उपशान्त' के स्थान पर 'शुद्धयोगो वा' ऐसा पाठान्तर भी दृष्टिगोचर होता है। इस पद का अर्थ है 'निर्दोष व्यापर'। इस प्रकार इन छओं लेश्याओं के लक्षणों का निर्वचन किया गया है। इनमें प्रथम की तीन लेश्यायें अप्रशस्त हैं और उत्तर की प्रशस्त कही गई हैं। तथा—कौन जीव किस लेश्या से युक्त है, इस बात का निर्णय करने के लिए ये पूर्वोक्त लक्षण बहुत ही उपयोगी हैं।

अब लेश्याओं के स्थान-द्वार का वर्णन करते हैं—

असंखिज्जाणोसप्पिणीण, उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा, लेसाण हवंति ठाणाइं ॥३३॥

असंख्येयानामवसर्पिणीनाम्, उत्सर्पिणीनां ये समयाः।
सङ्ख्यातीता लोकाः, लेश्यानां भवन्ति स्थानानि ॥३३॥

पदार्थान्वयः—**असंखिज्जाण**—असंख्यात **ओसप्पिणीण**—अवसर्पिणियों के—तथा **उस्सप्पिणीण**—उत्सर्पिणियों के **जे**—जितने भी **समया**—समय हैं तथा **संखाईया**—संख्यातीत **लोगा**—लोक के यावन्मात्र प्रदेश हैं उतने ही **लेसाण**—लेश्याओं के **ठाणाइं**—स्थान **हवंति**—होते हैं।

मूलार्थ—असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणियों के जितने समय हैं तथा संख्यातीत लोक में जितने आकाश-प्रदेश हैं, उतने ही लेश्याओं के (शुभ अशुभ दोनों प्रकार की लेश्याओं के) स्थान होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में काल और क्षेत्र से लेश्याओं के स्थान का वर्णन किया गया है। इस संसार में अनादि काल से दो प्रकार के चक्रों का अनुक्रम से भ्रमण होता रहता है। उनमें एक का नाम अवसर्पिणीकाल है और दूसरे को

उत्सर्पिणीकाल कहते हैं। जिसमें पदार्थों के आयु, मान, स्थिति और आकारादि का क्रमशः ह्रास होता जावे उसको अवसर्पिणीकाल कहते हैं तथा जिसमें पदार्थों की आयु, स्थिति और आकारादि की वृद्धि होती जावे उसका नाम उत्सर्पिणीकाल है। इन दोनों में प्रत्येक के छः छः आरे—विभाग—माने गये हैं। तथा इन दोनों का कालमान एक-जैसा है। तात्पर्य यह है कि दश कोटाकोटी सागरोपम का एक चक्र अर्थात् उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल होता है। इस प्रकार दोनों का कालमान बीस कोटाकोटी सागरोपम का ठहरता है जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। अवसर्पिणीकाल में जीवों के शरीर, आयु, प्रमाण और सुखादि का क्रमशः ह्रास होता चला जाता है, तथा दूसरे उत्सर्पिणीकाल में उनकी क्रम से वृद्धि होती जाती है। अब प्रस्तुत विषय की ओर आने पर तत्त्व यह निकला कि उक्त प्रकार के असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-कालचक्रों के जितने समय हो सकते हैं उतने स्थान लेश्याओं के हैं, यह कालविभाग से लेश्याओं के स्थान का वर्णन हुआ। अब क्षेत्रविभाग से उनके स्थानों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि संख्यातीत लोक—असंख्यात लोक—में जितने भी आकाश-प्रदेश हैं उतने ही स्थान लेश्याओं के हैं। इसमें इतना ध्यान रहे कि स्थानों की यह कल्पना, शुभाशुभ दोनों प्रकार की लेश्याओं के सम्बन्ध को लेकर की गई है। तथाच, स्थानों की यह कल्पना—काल से—असंख्यातकालचक्रों के समयों के तुल्य और क्षेत्र से—असंख्यातलोकाकाश के प्रदेशों के समान है। अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाले शुभ अथच अशुभ अध्यवसायों को स्थान कहते हैं। इनका यथार्थ ज्ञान केवली के सिवाय और किसी को नहीं हो सकता। इन स्थानों के अनुसार ही कर्म-प्रकृतियों का बन्ध अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ द्रव्य-कर्माणुओं का मेल होता है।

अब लेश्याओं की स्थिति के विषय में कहते हैं। यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसा सागरा मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा किण्हलेसाए ॥३४॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या कृष्णलेश्यायाः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—**मुहुत्तद्धं**—अन्तर्मुहूर्त्त **तु**—तो **जहन्ना**—जघन्य और **तेत्तीसा सागरा**—तेंतीस सागरोपम **मुहुत्तहिया**—मुहूर्त्त अधिक **उक्कोसा**—उत्कृष्ट **ठिई**—स्थिति **होइ**—होती है **किण्हलेसाए**—कृष्णलेश्या की **नायव्वा**—जाननी चाहिए।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्तसहित तेंतीस सागरोपमप्रमाण होती है ऐसा जानना चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कृष्णलेश्या की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है। एक भव की अपेक्षा से कृष्णलेश्या की स्थिति का जघन्य और उत्कृष्ट कितना समय है अर्थात् वह कब तक रह सकती है? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण है और उत्कृष्टता से उसका स्थितिमान एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ३३ सागरोपम का है अर्थात् इतने समय तक उसका सद्भाव रह सकता है। अर्द्धमुहूर्त्त और मुहूर्त्त से यहाँ पर अन्तर्मुहूर्त्त का ही ग्रहण अभीष्ट है, इसलिए इन दोनों शब्दों का अर्थ अन्तर्मुहूर्त्त ही समझना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय यह है कि कहीं कहीं पर समुदाय में प्रवृत्त हुआ शब्द उसके एक देश का ग्राहक होता है। जैसे—ग्राम जल गया, वस्त्र जल गया, इत्यादि प्रयोगों में एक देश में ही अर्थ का विश्राम होता है अर्थात् ग्राम का कोई अंश जलने पर जैसे सारे ग्राम का नाम लिया जाता है, इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त के अर्थ में मुहूर्त्त शब्द का प्रयोग किया गया है। तथा 'सागर' शब्द से सागरोपम का ग्रहण भी—'पद के एक देश से सम्पूर्ण पद का ग्रहण कर लिया जाता है जैसे भीम से भीमसेन का ग्रहण होता है' इसी न्याय से यहाँ पर किया गया है। इसके अतिरिक्त ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति में जो एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक रक्खा गया है उसका तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म में जो लेश्या प्राप्त होने वाली होती है वह मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त प्रथम ही आ जाती है। तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म में जिस जीव को कृष्णलेश्या की प्राप्ति का सम्भव होता है उस जीव को मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त प्रथम ही कृष्णलेश्या की प्राप्ति हो जाती है, इसीलिए कृष्णलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति में एक अन्तर्मुहूर्त्त का अधिक समय जोड़ा गया है। इसी प्रकार अन्य लेश्याओं के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

अब नीललेश्या की स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
दसउदहीपलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा नीललेसाए ॥३५॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
दशोदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या नीललेश्यायाः ॥३५॥

पदार्थान्वयः—**मुहुत्तद्धं**—अन्तर्मुहूर्त्त **तु**—तो **जहन्ना**—जघन्य **दसउदही**—दस सागरोपम **पलियं**—पल्योपम का **असंखभागमब्भहिया**—असंख्यातवाँ भाग अधिक **उक्कोसा**—उत्कृष्ट **ठिई**—स्थिति **होइ**—होती है **नीललेसाए**—नीललेश्या की **नायव्वा**—जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—नीललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति, पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दश सागरोपम की जाननी चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नीललेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है । उसकी जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्टस्थिति का कालमान, पल्योपम के असंख्यातवें भाग को साथ लिए हुए दस सागरोपम का है, परन्तु उत्कृष्ट स्थिति का यह कालमान धूम्र-प्रभा के उपरितन प्रस्तर की अपेक्षा से वर्णन किया गया है । शंका—कृष्णलेश्या की तरह यहाँ पर एक मुहूर्त्त की अधिकता का उल्लेख क्यों नहीं किया ? कारण यह है कि आगामी जन्म में नीललेश्या को प्राप्त करने वाले जीव में मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त पहले नीललेश्या का प्राप्त होना अवश्यंभावी है । समाधान—पल्य के असंख्यातवें भाग में ही अन्तर्मुहूर्त्त का समावेश हो जाता है अर्थात् पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अन्त-

मुहूर्त्त के अर्थ में ही पर्यवसित है, क्योंकि असंख्यात के भी असंख्यात भेद हैं और उन्ही में अन्तर्मुहूर्त्त भी गृहीत हो जाता है। सारांश यह है कि यहाँ पर पल्य के असंख्यातवें भाग का तात्पर्यरूप से अन्तर्मुहूर्त्त ही अर्थ है, इसलिए विरोध की यहाँ पर कोई संभावना नहीं है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

अब कापोतलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं। यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
तिण्णुदहीपलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा काउलेसाए ॥३६॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
त्र्युदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या कापोतलेश्यायाः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—**मुहुत्तद्धं**—अन्तर्मुहूर्त **तु**—तो **जहन्ना**—जघन्य स्थिति **उक्कोसा**—उत्कृष्ट **तिण्णुदही**—तीन सागरोपम **पलियं**—पल्योपम का **असंखभागमब्भहिया**—असंख्यातवाँ भाग अधिक **काउलेसाए**—कापोतलेश्या की **ठिई**—स्थिति **होइ**—होती है **नायव्वा**—इस प्रकार जानना चाहिए।

मूलार्थ—कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति तो एक अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की जाननी चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा कापोतलेश्या की स्थिति के वर्णन के लिये प्रयुक्त हुई है। परन्तु कापोतलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति का यह वर्णन द्रव्यकापोतलेश्या का है, तथा वह नरक की अपेक्षा से किया गया है। यहाँ पर भी पल्य के असंख्यातवें भाग का तात्पर्य अन्तर्मुहूर्त से है।

अब तेजोलेश्या की स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
दोण्णुदहीपलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा तेउलेसाए ॥३७॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
द्व्युदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या तेजोलेश्यायाः ॥३७॥

पदार्थान्वयः—मुहुत्तद्धं–अर्द्ध मुहूर्त तु–तो जहन्ना–जघन्य स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट दोण्णुदही–दो सागरोपम पलियमसंखभागमब्भहिया–पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक ठिई–स्थिति होइ–होती है तेउलेसाए–तेजोलेश्या की नायव्वा–जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की जाननी चाहिए ।

टीका—तेजोलेश्या की यह स्थिति ऐशान देवलोक की अपेक्षा से प्रतिपादन की गई है, क्योंकि उक्त देवलोक में केवल तेजोलेश्या ही होती है ।

अब पद्मलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
दस उदही होंति मुहुत्तमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा पम्हलेसाए ॥३८॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
दशोदधयो भवन्ति मुहूर्त्ताधिकाः ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या पद्मलेश्यायाः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—मुहुत्तद्धं—अन्तर्मुहूर्त्त तु—तो जहन्ना—जघन्य दस उदही—दस सागरोपम मुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त अब्भहिया—अधिक उक्कोसा—उत्कृष्ट ठिई—स्थिति होइ—होती है पम्हलेसाए—पद्मलेश्या की नायव्वा—जाननी ।

मूलार्थ—पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की, और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम की जाननी चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पद्मलेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है । उसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दश सागर की कही गई है ।

अब शुक्लेश्या की स्थिति का वर्णन करते हैं । यथा

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥३९॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या,
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः,
ज्ञातव्या शुक्लेश्यायाः ॥३९॥

पदार्थान्वयः—मुहुत्तद्धं—अन्तर्मुहूर्त्त तु—तो जहन्ना—जघन्य उक्कोसा—उत्कृष्ट ठिई—स्थिति होइ—होती है मुहुत्तहिया—अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेत्तीसं—तेंतीस सागरा—सागरोपम की सुक्कलेसाए—शुक्लेश्या की नायव्वा—जाननी ।

मूलार्थ—शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागरोपम की जाननी चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में शुक्ललेश्या की स्थिति का वर्णन है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त सहित तेतीस सागर की कही गयी है। क्योंकि २६ वें देवलोक में शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही प्रतिपादित है और अन्तर्मुहूर्त्त की अधिकता पूर्व जन्म की अपेक्षा से मानी गई है, यह तो ऊपर बतला ही दिया है। तथा मुहूर्त्त से अन्तर्मुहूर्त्त के ग्रहण करने में वृद्धसम्प्रदाय और आगमान्तरों में किया गया अन्तर्मुहूर्त्त शब्द का उल्लेख ही प्रमाण है।

अब प्रकृत विषय का उपसंहार करते हुए उत्तर ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का प्रस्ताव करते हैं। यथा—

एसा खलु लेसाणं,
　ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।
चउसु वि गईसु एत्तो,
　लेसाण ठिइं तु वोच्छामि ॥४०॥

एषा खलु लेश्यानाम्,
　ओघेन स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
चतसृष्वपि गतिष्वितः,
　लेश्यानां स्थितिं तु वक्ष्यामि ॥४०॥

पदार्थान्वयः—एसा—यह खलु—निश्चय में लेसाणं—लेश्याओं की ठिई—स्थिति ओहेण—सामान्यरूप से वण्णिया—वर्णन की गई होइ—है एत्तो—इसके आगे चउसु वि—चारों ही गईसु—गतियों में लेसाण—लेश्याओं की ठिइं—स्थिति को वोच्छामि—कहूँगा उ-तु—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—यह लेश्याओं की स्थिति का सामान्यरूप से वर्णन किया गया है। अब इसके आगे मैं चार गतियों के विषय में लेश्याओं की [जघन्य और उत्कृष्ट] स्थिति का वर्णन करूँगा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादित विषय का उपसंहार और प्रतिपाद्य विषय के उपक्रम का निर्देश किया गया है । आचार्य कहते हैं कि लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का सामान्यरूप से तो वर्णन कर दिया गया है, परन्तु इससे नरकादि चारों गतियों में लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का बोध नहीं हो सकता, इसलिए अब मैं इसके अनन्तर चारों गतियों में लेश्याओं की जो स्थिति है, उसका वर्णन करूँगा । तुम सावधान होकर श्रवण करो इत्यादि ।

अब नरक-गतिविषयक लेश्याओं की स्थिति-वर्णन के प्रस्ताव में प्रथम कापोतलेश्या की स्थिति का उल्लेख करते हैं । यथा—

दसवाससहस्साइं, काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
तिण्णुदहीपलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥४१॥

दशवर्षसहस्राणि, कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति ।
त्र्युदधिपल्योपमा, असङ्ख्येयभागाधिका चोत्कृष्टा ॥४१॥

पदार्थान्वयः—दसवाससहस्साइं—दस वर्ष सहस्र अर्थात् दस हजार वर्ष काऊए—कापोतलेश्या की जहन्निया—जघन्य ठिई—स्थिति होइ—होती है तिण्णुदही—तीन सागरोपम च—और पलिओवम—पल्योपम का असंखभागं—असंख्यातवाँ भाग अधिक उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

मूलार्थ—कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित तीन सागरोपम की है ।

टीका—रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की मानी गई है और उत्कृष्ट स्थिति पल्य के असंख्यातवें भाग-

सहित तीन सागर की है। यह स्थिति, तीसरे 'वालुकाप्रभा' नाम नरकस्थान के उपरितन प्रस्तर की अपेक्षा से कथन की गई है, परन्तु प्रथम नरक के प्रथम प्रस्तर में तो न्यून से न्यून स्थिति दस हजार वर्ष की ही होती है। प्रथम नरक में कापोतलेश्या का ही सद्भाव होता है, अतः जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कापोतलेश्या की ही प्रतिपादन की गई है।

अब नीललेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं—

तिण्णुदहीपलिओवम, असंखभागो जहन्नेण नीलठिई।
दसउदहीपलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥४२॥

त्र्युदधिपल्योपमा, असङ्ख्यभागाधिका जघन्येन नीलास्थितिः।
दशोदधिपल्योपमा, असङ्ख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ॥४२॥

पदार्थान्वयः—**तिण्णुदही**–तीन सागरोपम **पलिओवम**–पल्योपम का **असंखभागो**–असंख्यातवाँ भाग अधिक **जहन्नेण**–जघन्य **नील**–नीललेश्या की **ठिई**–स्थिति होती है **दस**–दश **उदही**–सागरोपम **पलिओवम**–पल्योपम के **असंखभागं**–असंख्यातवे भाग ऊपर **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति होती है।

मूलार्थ—नीललेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग-सहित तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दश सागरोपम की होती है।

टीका—यहाँ पर नीललेश्या की जघन्य स्थिति का जो वर्णन है वह वालुप्रभा नरक की अपेक्षा से है और उत्कृष्ट स्थिति का जो कथन है वह धूम्र-प्रभा नरक के ऊपर के प्रस्तर की अपेक्षा से किया है।

अब कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं—

दसउदहीपलिओवम ,
 असंखभागं जहन्निया होइ ।
तेत्तीससागराइं ,
 उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४३॥

दशोदधिपल्योपमा ,
 असङ्ख्यभागाधिका जघन्यका भवति ।
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा ,
 उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥४३॥

पदार्थान्वयः—दसउदही—दश सागरोपम पलिओवम—पल्योपम के असंख-भागं—असंख्यातवें भाग अधिक जहन्निया—जघन्य स्थिति होइ—होती है किण्हाए—कृष्णलेश्या की उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति तेत्तीससागराइं—तेतीस सागरोपम होइ—होती है ।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम की होती है ।

टीका—कृष्णलेश्या की इस जघन्य स्थिति का वर्णन धूम्रप्रभा के कतिपय नारकियों की अपेक्षा से किया है और उत्कृष्ट स्थिति का उल्लेख सातवें नरक की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की ही मानी है । यह सब कथन द्रव्यलेश्याओं के विषय में जानना चाहिए । भाव से तो नारकी और देवों में छओं लेश्याओं का स्पर्श हो जाता है ।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार और अन्य विषय का उपक्रम करते हुए फिर कहते हैं—

एसा नेरइयाणं,
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि,
तिरियमणुस्साण देवाणं ॥४४॥

एषा नैरयिकाणां,
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
ततः परं वक्ष्यामि,
तिर्यङ्मनुष्याणां देवानाम् ॥४४॥

पदार्थान्वयः—एसा-यह नेरइयाणं-नारकियों की लेसाण ठिई-लेश्याओं की स्थिति वण्णिया-वर्णन की गई होइ-है तेण परं-इसके आगे तिरिय-तिर्यक्—पशु आदि मणुस्साण-मनुष्य और देवाणं-देवों की स्थिति को वोच्छामि-मैं कहूँगा।

मूलार्थ—यह लेश्याओं की स्थिति नरक के जीवों की कही गई है। अब इसके आगे तिर्यंच—पशु, मनुष्य और देवों की लेश्यास्थिति को मैं कहूँगा।

टीका—आचार्य कहते हैं कि यह तो नारकियों की लेश्यास्थिति का वर्णन हुआ। अब इसके अनन्तर मैं पशु, मनुष्य और देवों की लेश्यास्थिति का वर्णन करता हूँ उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।

अब इसी विषय में कहते हैं। यथा—

अंतोमुहुत्तमद्धं,
लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ।
तिरियाण नराणं वा,
वज्जित्ता केवलं लेसं ॥४५॥

अन्तर्मुहूर्त्ताद्धा ,
लेश्यानां स्थितिर्यस्मिन् यस्मिन् या तु ।
तिरश्चां नराणां वा,
वर्जयित्वा केवलां लेश्याम् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त अद्धं–कालप्रमाण लेसाण–लेश्याओं की ठिई–स्थिति जहिं जहिं–जहाँ जहाँ जा–जो [कृष्णादि लेश्यायें हैं] तिरियाण–तिर्यंचों वा–अथवा नराणं–नरों की कही है केवलं–शुद्ध लेसं–लेश्या को वज्जित्ता–वर्जकर उ–पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—तिर्यंच और मनुष्यों में शुक्लेश्या को छोड़कर अवशिष्ट सब लेश्याओं की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में तिर्यंच और मनुष्य-गति में प्राप्त होने वाली लेश्याओं की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है । तथाच, तिर्यंच और मनुष्य-गति में अर्थात्—एकेन्द्रिय [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति], द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच, तथा संमूर्च्छिम और गर्भज मनुष्यों में जितनी लेश्यायें होती हैं, उनमें शुक्लेश्या को छोड़कर शेष लेश्याओं की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्तमात्र होती है । इसके अतिरिक्त इस विषय में शास्त्रानुसार इतना और समझ लेना चाहिए कि पृथिवी, जल और वनस्पति काय के जीवों में प्रथम की चार लेश्यायें होती हैं । नारकी, अग्नि और वायु काय के जीव, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पंचेन्द्रिय, तथा संमूर्छिम मनुष्य; इनमें प्रथम की तीन लेश्याये होती हैं, परन्तु संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच और संज्ञी-पंचेन्द्रिय-मनुष्य इनमें छओं लेश्याओं का सद्भाव है ।

अब शुक्लेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं । यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना,
उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।

नवहि वरिसेहि ऊणा,
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥४६॥

अन्तर्मुहूर्त्तं तु जघन्या,
उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु ।
नवभिर्वर्षैरूना ,
ज्ञातव्या शुक्लेश्यायाः ॥४६॥

पदार्थान्वयः—मुहुत्तद्धं—अन्तर्मुहूर्त्त तु—तो जहन्ना—जघन्य स्थिति उक्कोसा—उत्कृष्ट होइ—होती है पुव्वकोडी—पूर्व कोटी—करोड पूर्व की नवहि—नव वरिसेहि—वर्षों से ऊणा—न्यून सुक्कलेसाए—शुक्लेश्या की स्थिति नायव्वा—जाननी ।

मूलार्थ—शुक्लेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट स्थिति नव वर्ष कम एक करोड़ पूर्व की जाननी चाहिए ।

टीका—केवली भगवान् को सदा शुक्लेश्या का ही सद्भाव होता है । शुक्लेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की कही है और उत्कृष्ट स्थिति का काल-मान नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व का माना है । यहाँ पर नव वर्ष कम कहने का तात्पर्य वृत्तिकार यह बतलाते हैं कि, आठ वर्ष की आयु में यद्यपि व्रत-ग्रहण के परिणाम तो हो सकते हैं परन्तु इतनी स्वल्प वय में एक वर्ष दीक्षा-पर्याय से पहले शुक्लेश्या का सम्भव नहीं हो सकता । इसलिए जिसकी करोड़ पूर्व की आयु है और वह नव वर्ष की आयु में दीक्षित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब उसमें नव वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व तक उत्कृष्ट मान से शुक्लेश्या का सद्भाव हो सकता है । बस इसी अभिप्राय से शुक्लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति में नव वर्षों की न्यूनता की गई है ।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार और अगले सन्दर्भ—प्रतिपाद्य विषय—का उपक्रम करते हैं—

---

१ इह च यद्यपि कश्चित् पूर्वको ह्यायुरष्टवार्षिक एव व्रतपरिणाममवाप्नोति, तथापि नैतावद्वयःस्थस्य वर्षपर्यायादर्वाक् शुक्लेश्यायाः संभवः इति नवभिर्वर्षैरूना पूर्वकोटिरुच्यते ।

एसा तिरियनराणं,
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि,
लेसाण ठिई उ देवाणं ॥४७॥

एषा तिर्यङ्नराणां,
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
ततः परं वक्ष्यामि,
लेश्यानां स्थितिस्तु देवानाम् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—एसा—यह तिरिय—तिर्यंच—और नराणं—मनुष्यों की लेसाण—लेश्याओं की ठिई—स्थिति उ—तो वण्णिया—वर्णन कर दी गई होइ—है तेण परं—इसके अनन्तर अब देवाणं—देवों की लेसाण—लेश्याओं की ठिई—स्थिति को वोच्छामि—कहूँगा उ—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—तिर्यंच और मनुष्यों की जो लेश्याएँ हैं उनकी स्थिति का तो यह वर्णन मैंने कर दिया, अब इसके पश्चात् देवों की लेश्यास्थिति को मैं कहूँगा।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! मनुष्य और तिर्यंच गति में प्राप्त होने वाली लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन तो मैंने कर दिया, अब देवों में—देवगति में—प्राप्त होने वाली लेश्याओं की स्थिति का वर्णन मैं आगे करता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो, यह इस गाथा का भाव है।

अब देवगति में प्राप्त होने वाली कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं। यथा—

दसवाससहस्साइं ,
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ।

पलियमसंखिज्जइमो,
उक्कोसो होइ किण्हाए ॥४८॥
दशवर्षसहस्राणि,
कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
पल्योपमासङ्ख्येयतमभागा,
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥४८॥

पदार्थान्वयः—दसवाससहस्साइं-दश सहस्र वर्ष की जहन्निया-जघन्य ठिई-स्थिति किण्हाए-कृष्णलेश्या की होइ-होती है, पलियम-पल्योपम के असंखिज्जइमो-असंख्येयतम भाग उक्कोसो-उत्कृष्ट स्थिति किण्हाए-कृष्णलेश्या की होइ-होती है।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है।

टीका—भवनपति और व्यन्तर-देवों में कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भागमात्र है। तथा—कृष्णलेश्या का सद्भाव इन्हीं देवों में माना गया है और यह स्थिति भी इनकी (देवों की) मध्यम आयु की अपेक्षा से कही गई है।

अब नीललेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं। यथा—

जा किण्हाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं नीलाए,
पलियमसंखं च उक्कोसा ॥४९॥

या कृष्णायाः स्थितिः खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन नीलायाः,
पल्योपमासङ्ख्येयभागा चोत्कृष्टा ॥४९॥

पदार्थान्वयः—जा–जो किण्हाए–कृष्णलेश्या की ठिई–स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट कही गई है सा उ–वही समय–एक समय अब्भहिया–अधिक जहन्नेणं–जघन्य नीलाए–नीललेश्या की—स्थिति होती है च–फिर उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति पलियं–पल्योपम का असंखं–असंख्यातवाँ भागमात्र होती है खलु–वाक्यालंकार में है ।

मूलार्थ—जितनी उत्कृष्ट स्थिति कृष्णलेश्या की कही गई है वही एक समय अधिक जघन्य स्थिति नीललेश्या की है और नीललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति, पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है ।

टीका—पूर्व में जो पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कथन किया गया है उससे यह भाग बृहत्तर समझना चाहिए, क्योंकि असंख्येय के भी असंख्येय भाग होते हैं ।

अब कापोतलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं—

जा नीलाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं काउए,
पलियमसंखं च उक्कोसा ॥५०॥

या नीलायाः स्थितिः खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन कापोतायाः,
पल्योपमासङ्ख्येयभागा चोत्कृष्टा ॥५०॥

पदार्थान्वयः—जा–जो नीलाए–नीललेश्या की ठिई–स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट—कही गई है सा उ–वही समयं–एक समय अब्भहिया–अधिक जहन्नेणं–जघन्य स्थिति काऊए–कापोतलेश्या की होती है च–और उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति पलियं–पल्योपम के असंखं–असंख्येय-भाग-प्रमाण होती है।

मूलार्थ—यावन्मात्र उत्कृष्ट स्थिति नीललेश्या की होती है, एक समय अधिक वही जघन्य स्थिति कापोतलेश्या की है तथा कापोतलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें-भाग-प्रमाण है।

टीका—यह सब स्थिति भवनपति और व्यन्तरों की अपेक्षा से कही गई है।

अब तेजोलेश्या के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

तेण परं वोच्छामि, तेऊलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइवाणमंतर-, जोइसवेमाणियाणं च ॥५१॥

ततः परं वक्ष्यामि, तेजोलेश्याया यथा सुरगणानाम्।
भवनपतिवाणव्यन्तर-, ज्योतिष्कवैमानिकानां च ॥५१॥

पदार्थान्वयः—तेण परं–इसके अनन्तर जहा–जिस प्रकार की भवणवइ–भवनपति वाणमंतर–वाणव्यन्तर जोइस–ज्योतिषी वेमाणियाणं–वैमानिक सुरगणाणं–देवगणों की तेऊलेसा–तेजोलेश्या है—उसको वोच्छामि–मैं कहूँगा।

मूलार्थ—अब इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों की जिस प्रकार की तेजोलेश्या है उसको मैं कहूँगा।

टीका—प्रथम की तीन लेश्यायें तो भवनपति और वाणव्यन्तर देवों में होती हैं, परन्तु तेजोलेश्या का सद्भाव तो उक्त चारों देव-निकायों में होता है।

अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

पलिओवमं जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुन्नहिया।
पलियमसंखेज्जेणं, होइ भागेण तेऊए ॥५२॥

पल्योपमं जघन्या, उत्कृष्टा सागरोपमे तु द्व्यधिके ।
पल्योपमासङ्ख्येयेन, भवति भागेन तैजस्याः ॥५२॥

पदार्थान्वयः—पलिओवमं–पल्योपम-प्रमाण जहन्ना–जघन्य स्थिति उक्कोसा–उत्कृष्ट दुन्न–दो सागरा–सागरोपम पलियं–पल्योपम के असंखेज्जेणं–असंख्यातवें भागेण–भाग से अहिया–अधिक तेऊए–तेजोलेश्या की स्थिति होइ–होती है ।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की होती है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की होती है ।

टीका—तेजोलेश्या की यह स्थिति सामान्यतया वैमानिक देवों की अपेक्षा से कही गई है । कारण यह है कि यह लेश्या दूसरे देवलोक-पर्यन्त ही होती है, सो प्रथम और दूसरे देवलोक में एतावन्मात्र ही आयु का सद्भाव है । उपलक्षण से भवनपति और व्यन्तरदेवों में तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की है, तथा भवनपतियों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की और व्यन्तरों की एक पल्योपम की होती है । परन्तु ज्योतिषीदेवों की तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति, पल्योपम के आठवें भाग जितनी और उत्कृष्ट स्थिति लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है । इस प्रकार उपलक्षण से तेजोलश्या की स्थिति जान लेनी चाहिए ।

अब फिर कहते हैं—

दसवाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।
दुन्नुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥५३॥

दशवर्षसहस्राणि, तेजोलेश्यायाः स्थितिर्जघन्यका भवति ।
द्व्युदधिपल्योपमा, असङ्ख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ॥५३॥

पदार्थान्वयः—दसवाससहस्साइं–दश हजार वर्ष तेऊए–तेजोलेश्या की जहन्निया–जघन्य ठिई–स्थिति होइ–होती है दुन्नुदही–दो सागर पलिओवम–पल्योपम के असंखभागं–असंख्यातवाँ भाग अधिक उक्कोसा–उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति, एक पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की होती है।

टीका—भवनपति और व्यन्तर-देवों की अपेक्षा से तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की प्रतिपादन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति, ईशान-देवलोक की अपेक्षा से पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागर की कही गई है। कारण यह है कि इस लेश्या का सद्भाव ईशान-देवलोक-पर्यन्त ही बतलाया गया है।

अब पद्मलेश्या के विषय में कहते हैं। यथा—

जा तेऊए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं पम्हाए,
दस उ मुहुत्ताहियाइ उक्कोसा ॥५४॥

या तेजोलेश्यायाः स्थितिः खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन पद्मायाः,
दशसागरोपमा तु मुहूर्त्ताधिकोत्कृष्टा ॥५४॥

पदार्थान्वयः—जा—जो तेऊए—तेजोलेश्या की ठिई—स्थिति उक्कोसा—उत्कृष्ट कही गई है सा उ—वही समयं—एक समय अब्भहिया—अधिक जहन्नेण—जघन्य-रूप से पम्हाए—पद्मलेश्या की स्थिति होती है उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति मुहुत्ताहियाइ—अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस—दश सागरोपम की होती है खलु—वाक्यालंकार में व-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—यावन्मात्र उत्कृष्ट स्थिति तेजोलेश्या की है, वही एक समय अधिक पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति है, तथा उसकी—पद्मलेश्या की—उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दश सागरोपम की होती है।

टीका—पद्मलेश्या की यह जघन्य स्थिति सनत्कुमार-देवलोक की अपेक्षा से वर्णन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति, ब्रह्मदेवलोक की अपेक्षा से प्रतिपादन की गई है ।

अब शुक्ललेश्या के विषय में कहते हैं । यथा—

जा पम्हाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं सुक्काए,
तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया ॥५५॥

या पद्मायाः स्थितिः खलु,
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन शुक्लायाः,
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्ताभ्यधिका ॥५५॥

पदार्थान्वयः—जा—जो पम्हाए—पद्मलेश्या की ठिई—स्थिति खलु—वाक्यालंकार में उक्कोसा—उत्कृष्ट कही है सा उ—वही समयं—एक समय अब्भहिया—अधिक जहन्नेणं—जघन्यरूप से सुक्काए—शुक्ललेश्या की स्थिति होती है और तेत्तीस—तेंतीस सागरोपम से मुहुत्तमब्भहिया—एक मुहूर्त्त अधिक—उत्कृष्ट स्थिति है ।

मूलार्थ—यावन्मात्र पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है उससे एक समय अधिक प्रमाण शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति होती है; तथा शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागरोपम की होती है ।

टीका—शुक्ललेश्या की यह जघन्य स्थिति लान्तक-देवलोक की अपेक्षा से कही है, और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन सर्वार्थसिद्ध-विमान की अपेक्षा से किया गया समझना चाहिए ।

इस प्रकार स्थिति-द्वार का वर्णन करने के अनन्तर अब गति-द्वार का निरूपण करते हैं । यथा—

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥५६॥

कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते ॥५६॥

पदार्थान्वयः—किण्हा-कृष्णलेश्या नीला-नीललेश्या काऊ-कापोतलेश्या एयाओ-ये तिन्नि वि-तीनों ही लेश्याएँ अहम्मलेसाओ-अधर्म-लेश्या हैं एयाहि-इन तिहि वि-तीनों लेश्याओं से जीवो-जीव दुग्गइं-दुर्गति को उववज्जई-प्राप्त होता है—दुर्गति में उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीनों अधर्मलेश्या हैं। इन लेश्याओं से यह जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

टीका—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या, ये तीनों ही अधर्म-लेश्या के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इन्हें अप्रशस्त लेश्या भी कहते हैं। तथाच, इन लेश्याओं में परिणत हुआ प्राणी यदि काल करता है तो वह दुर्गति में—नरक-तिर्यंचादि-गति में—उत्पन्न होता है। अधर्म का फल दुर्गति है, अतएव इन अधर्म-लेश्याओं के प्रभाव से यह जीव अशुभ गति का ही बन्ध करता है। 'दुग्गइं' यहाँ पर सुप् का व्यत्यय है।

अब दूसरी तीन लेश्याओं के विषय में कहते हैं। यथा—

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥५७॥

तैजसी पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते ॥५७॥

पदार्थान्वयः—तेऊ-तेजोलेश्या पम्हा-पद्मलेश्या सुक्का-शुक्लेश्या एयाओ-ये तिन्नि वि-तीनों ही धम्मलेसाओ-धर्मलेश्या हैं एयाहि तिहि वि-इन तीनों से ही जीवो-जीव सुग्गइं-सुगति में उववज्जई-उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीनों लेश्यायें धर्मलेश्या कही जाती हैं। इन तीनों के द्वारा यह जीव सुगति में उत्पन्न होता है।

टीका—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीनों ही सुगति के जनक होने से धर्मलेश्या कही जाती हैं, अर्थात् जो जीव इन प्रशस्त लेश्याओं में परिणत होकर परलोक की यात्रा करता है वह सुगति—देवमनुष्यादि-गति—में उत्पन्न होता है। कारण यह है कि जिस लेश्या में परिणत होकर जीव काल करता है, उसी लेश्या में वह परलोक में जाकर उत्पन्न होता है। अतः इन तीनों धर्मलेश्याओं के द्वारा जीवात्मा को देव, मनुष्य आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है तथा इनमें जो शुक्ललेश्या है वह तो कैवल्योत्पत्ति में भी निमित्त मानी जाती है।

क्या प्रथम समय में वा चरम समय में भावी लेश्या का उदय होने से परभव की आयु का उदय होता है ? अथवा अन्य प्रकार से होता है ? अब सूत्रकार इसी शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि—

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५८॥

लेश्याभिः सर्वाभिः, प्रथमे समये परिणताभिस्तु।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥५८॥

पदार्थान्वयः—लेसाहिं—लेश्यायें सव्वाहिं—सर्व पढमे—प्रथम समयम्मि—समय में परिणयाहिं—परिणत होने से न हु—नहीं कस्सइ—किसी भी जीवस्स—जीव की उववत्ति—उत्पत्ति परे भवे—परभव में अत्थि—होती तु—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की प्रथम समय में परिणति होने से किसी भी जीव की परलोक में उत्पत्ति नहीं होती; अर्थात् यदि लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय जीव परलोक की यात्रा नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस विषय का वर्णन किया है कि—यह जीव जिस लेश्या में कालवश होता है, भवान्तर में उसी लेश्या में जाकर उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि 'जिस लेश्या को साथ लेकर यह जीव परलोक को गमन

करता है उस लेश्या को आये हुए कितना समय होना चाहिए ?' इस बात का समाधान प्रस्तुत गाथा में किया गया है। यथा—छओं लेश्याओं में से किसी भी लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय अर्थात् लेश्या की परिणति के समय में यह जीव काल नहीं करता—परलोक गमन नहीं करता। प्रथम समय से तात्कालिक समय का ग्रहण है, इसी लिये तृतीया का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि लेश्या की प्रथम समय की परिणति में कोई भी जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

अब चरम समय के विषय में कहते हैं—

लेसाहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५९॥

लेश्याभिः सर्वाभिः, चरमे समये परिणताभिस्तु।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥५९॥

पदार्थान्वयः—लेसाहिं—लेश्या सव्वाहिं—सर्व चरिमे—अन्त समयम्मि—समय में परिणयाहिं—परिणत होने से न हु—नहीं कस्सइ—किसी भी जीवस्स—जीव की उववत्ति—उत्पत्ति अत्थि—होती परे भवे—परभव में।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की परिणति में अन्तिम समय पर किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

टीका—छओं लेश्याओं में से किसी भी लेश्या का यदि चरम—अन्तिम—समय परिणत होने का उदय हो रहा है और अन्य लेश्या के परिणत होने का समय निकट आ रहा है, तो उस चरम समय की किसी भी लेश्या की परिणति में किसी भी जीव की परभव—परलोक—में उत्पत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि लेश्या के परिवर्तन में यदि एक समय शेष रह गया हो तो उस समय में भी जीव का परलोकगमन नहीं होता इत्यादि। दोनों (५८—५९) गाथाओं का संक्षेप भावार्थ यह है कि—मृत्यु के समय पर आगामी जन्म के लिए जब इस जीवात्मा का लेश्याओं में परिवर्तन होता है, उस समय प्रथम और अन्तिम समय में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

तो फिर, किस समय पर इसकी उत्पत्ति अर्थात् इसका परलोक में गमन होता है ? अब इस प्रश्न के समाधान में निम्नलिखित गाथा का उल्लेख करते हैं। यथा—

अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥६०॥

अन्तर्मुहूर्त्ते गते, अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे चैव।
लेश्याभिः परिणताभिः, जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥६०॥

पदार्थान्वयः—**अंतमुहुत्तम्मि**–अन्तर्मुहूर्त्त के **गए**–जाने पर **च**–और **अंतमुहुत्तम्मि**–अन्तर्मुहूर्त्त के **सेसए**–शेष रहने पर **लेसाहिं**–लेश्याओं के **परिणयाहिं**–परिणत होने से **जीवा**–जीव **परलोयं**–परलोक में **गच्छंति**–जाते हैं **एव**–निश्चयार्थक है।

मूलार्थ—अन्तर्मुहूर्त्त के बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त के शेष रहने पर लेश्याओं के परिणत होने से, जीव परलोक में गमन करते हैं।

टीका—जब लेश्या से परिणत हुए जीव को अन्तर्मुहूर्त्त हो गया हो और अन्तर्मुहूर्त्त उस लेश्या के जाने में रह गया हो; तात्पर्य यह है कि लेश्या को आये हुए एक अन्तर्मुहूर्त्त हो गया हो और एक अन्तर्मुहूर्त्त उसके जाने में शेष रह गया हो, उस समय जीव परलोक में जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब परलोकगमन में—(मृत्यु होने में) अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण आयु शेष रह जाती है, तब आगामी जन्म में प्राप्त होने वाली लेश्या का परिणाम उस जीव मे अवश्य हो जाता है। फिर उसी लेश्या के साथ यह जीव परभव में जाता है। यदि ऐसा न माना जावे तो उत्तरभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त, तथा च्यवमान होने पर प्राग्भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त, यह दोनों ही बातें सम्भव नहीं हो सकतीं। इसलिए शास्त्र में कहा है कि जिस लेश्या के द्रव्य को लेकर जीव काल करता है, उसी लेश्या में उत्पन्न हो जाता है। सारांश यह है कि इस जीव को जिस जन्म में जाना हो, अन्तर्मुहूर्त्त की आयु के शेष रह जाने पर उस जन्म की लेश्या की परिणति

उसमें अवश्यमेव हो जाती है। फिर उस लेश्या के प्रथम समय में वा चरम समय में कोई भी जीव काल नहीं करता, किन्तु उस परभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत होने और अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर ही यह जीव परलोक को गमन करता है, तथा प्राग्भव-अन्तर्मुहूर्त्त और उत्तरभव-अन्तर्मुहूर्त्त, इन दो अन्तर्मुहूर्त्तों के साथ जीव का आयुकाल अवस्थित रहता है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए उपादेय के विषय में कहते हैं कि—

तम्हा एयासिं लेसाणं, आणुभावे वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥६१॥

त्ति बेमि।

इति लेसज्झयणं समत्तं ॥३४॥

तस्मादेतासां लेश्यानाम्, अनुभावान्विज्ञाय।
अप्रशस्ता वर्जयित्वा, प्रशस्ता अधितिष्ठेत् मुनिः ॥६१॥

इति ब्रवीमि।

इति लेश्याध्ययनं समाप्तम् ॥३४॥

पदार्थान्वयः—तम्हा–इसलिए एयासि–इन लेसाणं–लेश्याओं के आणुभावे–अनुभाव को वियाणिया–विशेषरूप से जानकर अप्पसत्थाओ–अप्रशस्त लेश्याओं को वज्जित्ता–त्यागकर पसत्थाओ–प्रशस्त लेश्याओं को मुणी–साधु अहिट्ठिए–अंगीकार करे त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ इति लेसज्झयणं समत्तं–यह लेश्याध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इसलिए इन लेश्याओं के अनुभाव—रसविशेष—को जानकर साधु अप्रशस्त लेश्याओं को वर्जकर प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे।

टीका—ऊपर बतलाया जा चुका है कि इन छओं लेश्याओं में से प्रथम की तीन अप्रशस्त और उत्तर की तीन प्रशस्त लेश्यायें हैं। प्रशस्त लेश्यायें सुगति को देने वाली हैं और अप्रशस्त दुर्गति में ले जाने वाली हैं। इसलिए विचारशील मुनि इन लेश्याओं के अनुभाव—परिणाम—फलविशेष पर विचार करता हुआ, अप्रशस्त लेश्याओं का त्याग करके प्रशस्त लेश्याओं को धारण करने का यत्न करे। यहाँ पर 'अहिट्ठिए—अधितिष्ठेत्' इस क्रियापद के देने का अभिप्राय जीवात्मा की स्वतंत्रता को ध्वनित करना है, अर्थात् यह आत्मा सदैव लेश्याओं के वशीभूत रहने वाली नहीं किन्तु स्ववीर्य से इसका उन पर अधिकार हो सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि वह चाहे तो अप्रशस्त लेश्याओं का परित्याग करके प्रशस्त लेश्याओं को बलात् स्वीकार कर सकती है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का वही भावार्थ है जिसका उल्लेख प्रथम कई वार किया जा चुका है। यह लेश्या नामक अध्ययन समाप्त हुआ।

चतुस्त्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त।

नोट—इस विषय का—लेश्याओं का—सविस्तृत वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के १७वें पद में किया गया है, इसलिए अधिक देखने की जिज्ञासा रखने वाले वहाँ पर देखें।

अह अणगारज्झयणं णाम पंचतीसइमं अज्झयणं

अथ अनगाराध्ययनं नाम पञ्चत्रिंशत्तममध्ययनम्

गत चौतीसवें अध्ययन में अप्रशस्त लेश्याओं के त्याग और प्रशस्त लेश्याओं में अनुराग करने का उपदेश दिया गया है, परन्तु इसके लिए यथोचित भिक्षुगुणों के धारण करने की आवश्यकता है, अतः इस आगामी पैंतीसवें अध्ययन में भिक्षु के गुणों का निरूपण किया जाता है जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

सुणेह मे एगग्गमणा, मग्गं बुद्धेहिं देसियं ।
जमायरंतो भिक्खू, दुक्खाणंतकरे भवे ॥१॥

शृणुत मे एकाग्रमनसः, मार्गं बुद्धैर्देशितम् ।
यमाचरन्भिक्षुः, दुःखानामन्तकरो भवेत् ॥१॥

पदार्थान्वयः—सुणेह–सुनो एगग्गमणा–एकाग्रमन होकर मग्गं–मार्ग को मे–मुझसे—जो मार्ग बुद्धेहि–बुद्धों ने देसियं–उपदेशित किया है जं–जिस मार्ग का आयरंतो–आचरण करता हुआ भिक्खू–भिक्षु दुक्खाण–दुःखों का अंतकरे–अन्त करने वाला भवे–होता है ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! बुद्धों (सर्वज्ञों) के द्वारा उपदेश किये गये उस मार्ग को तुम मुझसे सुनो, जिस मार्ग का अनुसरण करने वाला भिक्षु सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि जो मार्ग केवली, श्रुतकेवली अथवा गणधर आदि के द्वारा उपदिष्ट है, तथा जिस मार्ग का अनुसरण करके साधु सर्व प्रकार के दुःखों का नाश कर देता है, उस मार्ग को तुम मेरेसे एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो। प्रस्तुत गाथा मे वर्णनीय विषय को सर्वज्ञभाषित और दुःखविनाशक बतलाने से उसकी प्रामाणिकता और सप्रयोजनता व्यक्त की गयी है। 'बुद्ध शब्द' का अर्थ यहाँ पर सर्व वस्तुओं के स्वरूप को यथावत् जानने वाली—सर्वज्ञ आत्मा है। किसी किसी प्रति में 'सव्वन्नुदेसियं' पाठ भी है तथा 'एगग्गमणा' के स्थान पर 'एगमणा' भी देखने में आता है।

अब मार्ग का निरूपण करते हैं। यथा—

गिहवासं परिच्चज्जा, पव्वज्जामस्सिए मुणी।
इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥२॥

गृहवासं परित्यज्य, प्रव्रज्यामाश्रितो मुनिः।
इमान् संगान् विजानीयात्, यैः सज्यन्ते मानवाः ॥२॥

पदार्थान्वयः—गिहवासं–गृहवास को परिच्चज्जा–छोड़कर पव्वज्जं–दीक्षा का अस्सिए–आश्रयण करने वाला मुणी–मुनि इमे–इन संगे–संगों को वियाणिज्जा–जाने जेहिं–जिनमें माणवा–मनुष्य सज्जंति–खचित हो जाते हैं।

मूलार्थ—गृहवास को छोड़कर प्रव्रज्या के आश्रित हुआ मुनि इन संगों को भलीभाँति जानने का यत्न करे, जिनमें ज्ञानावरणीयादि कर्मों के द्वारा फँसे हुए मनुष्य बन्धन को प्राप्त होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गृहवास को त्यागकर प्रव्रजित होने वाले जीव के कर्तव्य का निर्देश किया गया है। जैसे कि—जिस साधु ने गृहवास—गृहस्थाश्रम—को छोड़कर प्रव्रज्या को अंगीकार कर लिया है अर्थात् भिक्षु होकर विचरने लग गया है, उस साधु को उन संगों—पुत्र, मित्र और कलत्रादि में होने वाली मोहमूलक आसक्तियों—के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेना चाहिये, जिनमें कि सामान्य पुरुष अच्छी तरह से बँधे हुए हैं। तात्पर्य यह है कि गृहस्थाश्रम का

परित्याग करने के अनन्तर संयमवृत्ति को धारण करने वाले पुरुष को पुत्र, मित्र और कलत्रादि में उत्पन्न होने वाले मोह को सर्वथा त्याग देना चाहिए, क्योंकि मोह से इनमें आसक्ति पैदा होती है और वह आसक्ति कर्मवन्ध का कारण बनती है तथा कर्मवन्ध से जन्म-मरणपरम्परा की वृद्धि होती है, एवं यही वृद्धि दुःखरूप व्याधि का मूल कारण है। इसलिए इन वक्ष्यमाण संगों का विचार करके इनमें किसी प्रकार की आसक्ति न रखना ही मुमुक्षु पुरुष का सब से पहला कर्तव्य है। 'जेहिं' में सुप् का व्यत्यय है अर्थात् सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग किया है।

अब, गृहवास को छोड़कर संयम ग्रहण करने वाले मुनि के लिए विशेष-रूप से कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए सब से प्रथम आस्रवों के त्याग के विषय में कहते हैं। यथा—

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अब्बंभसेवणं ।
इच्छाकामं च लोहं च, संजओ परिवज्जए ॥३॥

तथैव हिंसामलीकं, चौर्यमब्रह्मसेवनम् ।
इच्छाकामञ्च लोभञ्च, संयतः परिवर्जयेत् ॥३॥

पदार्थान्वयः—हिंसं-हिंसा अलियं-असत्य—झूठ चोज्जं-चौर्य कर्म—चोरी अब्बंभसेवणं-मैथुन-क्रीड़ा च-और इच्छाकामं-अप्राप्त वस्तु की इच्छा च-तथा लोहं-लोभ को संजओ-संयत परिवज्जए-सर्व प्रकार से त्याग देवे तहा-तथा—समुच्चय मे है एव-पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—संयत—संयमशील—पुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन-क्रीड़ा, अप्राप्त वस्तु की इच्छा और लोभ, इन सब का परित्याग कर देवे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयमशील के लिए त्याग करने योग्य पाप के मार्गों का दिग्दर्शन कराया गया है। हिंसा करना, असत्य बोलना, चोरी में प्रवृत्त होना और मैथुन-क्रीड़ा का सेवन करना, अप्राप्त वस्तु की इच्छा और प्राप्त वस्तु मे ममत्व, ये पाँचों ही कर्मास्रव हैं अर्थात् इनके द्वारा जीव पाप-कर्मों का संचय

करता है, अतएव संयमी को इनके त्याग करने का उपदेश किया गया है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि अप्राप्त वस्तु की इच्छा और लोभ—प्राप्त वस्तु में ममत्व—इन दोनों का परिग्रह में समावेश है, इसलिए (१) हिंसा (२) असत्य (३) स्तेय (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह, ये पाँच पापास्रव कहे जाते हैं। जब तक इनका त्याग न होगा, इनको सब प्रकार से रोका न जावेगा, तब तक कर्म-बन्धन से छूटकर मोक्ष-सुख की प्राप्ति का होना दुर्घट ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतः मोक्ष के सम्पादक अहिंसादि मूल गुणों की रक्षा के लिए संयमी पुरुष को इन उक्त पाप-स्थानों का अवश्य परित्याग कर देना चाहिए।

अब साधु के निवास-स्थान—उपाश्रय—आदि के विषय में कहते हैं—

मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसावि न पत्थए ॥४॥

मनोहरं चित्रगृहं, माल्यधूपेन वासितम्।
सकपाटं पाण्डुरोल्लोचं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—मणोहरं–मन को हरने वाला चित्तघरं–चित्रगृह मल्ल–पुष्पमालाओं से धूवेण–सुगन्धित पदार्थों से वासियं–सुवासित सकवाडं–कपाटसहित पंडुरुल्लोयं–श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित—गृह की मणसावि–मन से भी न पत्थए–प्रार्थना न करे।

मूलार्थ—जो स्थान मन को लोभायमान करने वाला, चित्रों से सुशोभित, पुष्पमालाओं और अगर-चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित, तथा सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित और सुन्दर किवाड़ों से युक्त हो; ऐसे स्थान की साधु मन से भी इच्छा न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु के लिये निषिद्ध स्थान—निवास करने के अयोग्य स्थान—का उल्लेख किया गया है। तथाच, साधु किस प्रकार के स्थान में न रहे, इस विषय का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो स्थान—उपाश्रय—आदि चित्ताकर्षक है, नाना प्रकार के चित्रों से अलंकृत है, तथा नानाविध पुष्पों

और अगर-चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित हो रहा है, एवं विविध प्रकार के चन्दोवा आदि वस्त्रों से सुसज्जित और सुन्दर किवाड़ों से युक्त है; ऐसे स्थान में शरीर से तो क्या, मन से भी रहने की साधु इच्छा न करे। कारण यह है कि कभी २ इस प्रकार का वाह्य सौन्दर्य भी आत्मा में बीजरूप से रहे हुए काम-रागादि को उत्तेजित करने में निमित्तरूप हो जाता है। तथा 'पाण्डुरोल्लोचं' शब्द से चन्दोवा आदि विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों का ग्रहण समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के उपाश्रय मे संयमशील साधु कभी ठहरने का विचार न करे।

इस प्रकार के स्थान मे ठहरने से जिस दोष की उत्पत्ति होती है, अब उसके विषय में कहते हैं। यथा—

इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ॥५॥

इन्द्रियाणि तु भिक्षोः, तादृशे उपाश्रये।
दुष्कराणि निवारयितुं, कामरागविवर्द्धने ॥५॥

पदार्थान्वयः—**इंदियाणि**—इन्द्रिय **उ**—जिससे **भिक्खुस्स**—भिक्षु को **तारिसम्मि**—इस प्रकार के **उवस्सए**—उपाश्रय में **दुक्कराइं**—दुष्कर हैं **निवारेउं**—निवारण करना **कामराग**—कामराग के **विवड्ढणे**—वढ़ाने वाले।

मूलार्थ—इस प्रकार के कामरागविवर्द्धक उपाश्रय में भिक्षु के लिए इन्द्रियों का संयम रखना दुष्कर है।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार का उपाश्रय—निवासस्थान—कामराग का विवर्द्धक होता है, अर्थात् उसमें निवास करने से आत्मा में सूक्ष्मरूप से रहे हुए कामरागादि के उत्तेजित हो उठने की हर समय संभावना रहती है तथा इन्द्रियों का विपयों की ओर प्रवृत्त हो जाना भी कोई आश्चर्य की वात नहीं, अतः सचमुच ही भिक्षु को ऐसे स्थान में अपना आत्म-संयम रखना कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे कामवर्द्धक स्थान मे रहने से भिक्षु को हानि के सिवाय लाभ कुछ नहीं होता। किसी २ प्रति मे 'निवारेउं' के स्थान पर

'धारेउं—धारयितुं' ऐसा पाठ भी देखने में आता है। तथाच—कुमार्ग में जाती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग में धारण करना दुष्कर है, यह इसका अर्थ होता है।

तो फिर, किस प्रकार के स्थान में साधु को निवास करना चाहिए ? अब इस विषय में अर्थात् साधु के निवासयोग्य स्थान के विषय में कहते हैं—

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥६॥

श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वैककः।
प्रतिरिक्ते परकृते वा, वासं तत्राभिरोचयेत् ॥६॥

पदार्थान्वयः—सुसाणे—श्मशान में वा—अथवा सुन्नगारे—शून्यागार में—शून्य गृह मे व—अथवा इक्कओ—एकाकी तथा राग-द्वेष से रहित होकर रुक्खमूले—वृक्ष के मूल में पइरिक्के—एकान्त स्थान में वा—अथवा परकडे—परकृत स्थान में तत्थ—इन श्मशानादि स्थानों में वासं—निवास करने की अभिरोयए—अभिरुचि करे।

मूलार्थ—अतः श्मशान में, शून्य गृह में, किसी वृक्ष के नीचे अथवा परकृत एकान्त स्थान में ही एकाकी तथा राग-द्वेष से रहित होकर, साधु निवास करने की इच्छा करे।

टीका—जब कि उक्त प्रकार के स्थान में निवास करने का निषेध है तो फिर साधु किस प्रकार के स्थान में निवास करे ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि साधु श्मशान-भूमि में रहे, अथवा शून्य गृह में, वा किसी वृक्ष के समीप, या किसी दूसरे के अपने लिए बनाए हुए एकान्त स्थान में ठहरे। 'पइरिक्के' यह एकान्त अर्थ का वाचक देशी प्राकृत का शब्द है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥७॥

प्रासुके अनाबाधे, स्त्रीभिरनभिद्रुते ।
तत्र सङ्कल्पयेद्वासं, भिक्षुः परमसंयतः ॥७॥

पदार्थान्वयः—फासुयम्मि-प्रासुक स्थान में अणाबाहे-बाधारहित स्थान में इत्थीहिं-स्त्रियों से अणभिदुए-अनाकीर्ण अर्थात् स्त्रियों के उपद्रवों से रहित तत्थ-वहाँ भिक्खू-भिक्षु परमसंजए-परम संयमी वासं-निवास का संकप्पए-संकल्प करे।

मूलार्थ—प्रासुक—शुद्ध—जीवादि की उत्पत्ति से रहित, अनाबाध—जीवादि की विराधना वा स्वपर-पीड़ा से रहित—और स्त्रियों की संकीर्णता से रहित जो स्थान है, वहाँ पर संयमशील भिक्षु निवास करने का संकल्प करे।

टीका—जिस स्थान में जीवों की उत्पत्ति न होती हो, तथा जो स्थान स्वपर के लिए बाधाकारक न हो, एवं जिस स्थान में स्त्रियों का आवागमन न हो, ऐसे निर्दोष स्थान में संयमशील भिक्षु को निवास करना योग्य है, यह इस गाथा का भावार्थ है। यद्यपि भिक्षु और संयत ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, तथापि भिक्षु के साथ जो संयत विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य शाक्यादि-भिक्षुसमुदाय की निवृत्ति से है अर्थात् भिक्षु शब्द से यहाँ पर जैन भिक्षु का ही ग्रहण अभीष्ट है। तथा यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि पूर्व गाथा में भिक्षु के निवासयोग्य जो श्मशानादि स्थान लिखे हैं उन्हीं के विषय में यह परिमार्जना है, अर्थात् वे श्मशानादि स्थान ही निर्दोष, बाधा और स्त्री आदि के उपद्रवों से रहित होने चाहिएँ।

अब परकृत एकान्त स्थान में ठहरने का हेतु बतलाते हुए फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, णेव अन्नेहि कारए।
गिहकम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥८॥

न स्वयं गृहाणि कुर्यात्, नैवान्यैः कारयेत्।
गृहकर्मसमारम्भे, भूतानां दृश्यते वधः ॥८॥

पदार्थान्वयः—सयं-स्वयमेव गिहाइं-गृह न कुव्विज्जा-न बनावे णेव-नाहीं अन्नेहि-दूसरों से कारए-बनवावे गिहकम्म-गृहकर्म के समारंभे-समारम्भ में भूयाणं-भूतों—जीवों—का वहो-वध दिस्सए-देखा जाता है ।

मूलार्थ—(भिक्षु) स्वयं घर न बनावे, और नाहीं दूसरों से बनवावे [उपलक्षण से अनुमोदना भी न करे], क्योंकि गृहकार्य के समारम्भ में अनेक जीवों की हिंसा होती देखी जाती है ।

टीका—शास्त्रकारों ने संयमशील साधु के लिए हर प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का निषेध किया है । इतना ही नहीं, किन्तु सावद्य कर्म के लिए प्रेरणा और अनुमोदना करने का भी उसे अधिकार नहीं । अतः संयमशील भिक्षु उपाश्रय आदि—निवास-गृहों—का न तो स्वयं निर्माण करे और न अन्य गृहस्थों के द्वारा निर्माण करावे तथा इस विषय का अनुमोदन भी न करे, क्योंकि इस प्रकार के समारम्भ-कर्म में अनेक जीवों का वध होता है । तात्पर्य यह है कि गृह-कर्म समारम्भ का मूल है और उस समारम्भ में अनेकानेक जीवों का वध होना भी अनिवार्य है, इस लिये त्यागशील साधु इस प्रकार के कार्य को न तो स्वयं करे और न दूसरों से करावे तथा इसकी अनुमोदना भी न करे । इसी आशय से संयमशील साधु को परकृत एकान्त स्थानों में रहने का आदेश दिया गया है ।

गृहनिर्माण में जिन २ जीवों की हिंसा होती है उनका उल्लेख करते हुए गृहारम्भ के परित्याग का फिर उपदेश करते हैं । यथा—

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बादराण य ।
तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥९॥

त्रसानां स्थावराणां च, सूक्ष्माणां बादराणां च ।
तस्माद् गृहसमारम्भं, संयतः परिवर्जयेत् ॥९॥

पदार्थान्वयः—तसाणं-त्रस जीवों का थावराणं-स्थावर जीवों का च और सुहुमाणं-सूक्ष्म जीवों का य-और बादराण-बादर—स्थूल—जीवों का

वध होता है तम्हा—इसलिये गिहसमारंभं—गृह के समारंभ को संजओ—संयमी पुरुष परिवज्जए—त्याग देवे ।

मूलार्थ—गृह के समारम्भ में त्रस, स्थावर, सूक्ष्म तथा बादर जीवों की हिंसा होती है, इसलिए संयमशील साधु गृह के समारम्भ को सर्व प्रकार से त्याग देवे ।

टीका—दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय वाले जीव त्रस कहलाते हैं, तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के जीवों की स्थावर संज्ञा है । एवं सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर को धारण करने वाले जीव, और बादर नाम-कर्म के उदय से स्थूल शरीर को धारण करने वाले जीव, इन सब प्रकार के जीवों की हिंसा गृहकर्म के समारम्भ में दृष्टिगोचर होती है, इसलिए संयमशील यति को अपने अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये इस प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का सर्व प्रकार से परित्याग कर देना चाहिए ।

अब आहारविषयक सावद्य प्रवृत्ति के त्याग का उपदेश देते हुए फिर कहते हैं—

तहेव भत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य ।
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥१०॥
तथैव भक्तपानेषु, पचने पाचनेषु च ।
प्राणभूतदयार्थं, न पचेन्न पाचयेत् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—तहेव—उसी प्रकार भत्तपाणेसु—भक्तपान के विषय मे जानना पयणे—पचन में—पकाने में य—और पयावणेसु—पाचन में—पकवाने में पाणभूय—प्राणियों की दयट्ठाए—दया के वास्ते न पए—न पकावे, और न—नाहीं पयावए—दूसरों से पकवावे ।

मूलार्थ—उसी प्रकार अन्न-पानी बनाने—राँधने, और बनवाने—रँधवाने में भी—[त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है], अतः प्राणियों पर दया करने के लिए संयमशील साधु न तो स्वयं अन्न को पकावे और नाहीं दूसरों से पकवावे ।

टीका—गृहनिर्माण की भाँति संयमी साधु के लिए स्वयं आहार-पानी के तैयार करने का भी निषेध किया गया है, क्योंकि अन्नादि के तैयार करने—राँधने और रँधवाने—में भी जीवों की हिंसा अवश्यंभावी है, अतः विचारशील यति पाकादि की क्रिया से भी पृथक रहे।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

जलधन्ननिस्सिया जीवा, पुढवीकट्ठनिस्सिया ।
हम्मंति भत्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥११॥

जलधान्यनिश्रिता जीवाः, पृथिवीकाष्ठनिश्रिताः ।
हन्यन्ते भक्तपानेषु, तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत् ॥११॥

पदार्थान्वयः—जलधन्न–जल और धान्य के **निस्सिया**–आश्रित **जीवा**–अनेक जीव, तथा **पुढवीकट्ठ**–पृथिवी और काष्ठ के **निस्सिया**–आश्रित अनेक जीव **हम्मंति**–हने जाते हैं **तम्हा**–इसलिए **भिक्खू**–भिक्षु **न पयावए**–न पकवावे।

मूलार्थ—अन्न के पकाने और पकवाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथिवी और काष्ठ के आश्रित अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसलिए भिक्षु अन्नादि को न पकावे और न पकवावे।

टीका—जिस प्रकार उपाश्रय आदि के निर्माण में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है और इसी कारण से भिक्षु उससे अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार अन्नादि के निर्माण करने या कराने में भी जल, धान्य, पृथिवी और काष्ठ के आश्रय में रहने वाले अनेकविध जीवों का व्याघात होता है, इसलिए भिक्षु को रसोई आदि के बनाने या दूसरों से बनवाने का भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। तथा यहाँ पर जो जल, धान्य, पृथिवी और काष्ठ आदि के आश्रित जीवों का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि कितने एक जीव तो अन्य स्थानों में उत्पन्न होकर जलादि का आश्रय लेते हैं और कई एक उनमें—[जल और पृथिवी आदि में] उत्पन्न होकर उनका स्वरूपभूत होकर रहते हैं। सो इन दोनों प्रकार के ही जीवों का पाकादि-क्रिया के सम्पादन में विनाश होता दिखाई देता है,

एतदर्थ ही भिक्षु के वास्ते पाकादि-क्रिया का निषेध किया गया है । एवं उपलक्षण से अनुमति देने का भी निषेध समझ लेना चाहिए ।

अब अग्नि के जलाने का निषेध करते हैं । यथा—

विसप्पे सव्वओधारे, बहुपाणिविणासणे ।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए ॥१२॥

विसर्पत् सर्वतोधारं, बहुप्राणिविनाशनम् ।
नास्ति ज्योतिःसमं शस्त्रं, तस्माज्ज्योतिर्न दीपयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—विसप्पे-फैलती हुई सव्वओ-सर्व प्रकार से—सर्व दिशाओं में धारे-शस्त्रधारायें बहुपाणिविणासणे-अनेकानेक प्राणियों का विनाशक नत्थि-नहीं है जोइसमे-ज्योति—अग्नि के समान सत्थे-शस्त्र तम्हा-इसलिए जोइं-अग्नि को न दीवए-प्रज्वलित न करे ।

मूलार्थ—सर्व प्रकार से अथवा सर्व दिशाओं में जिसकी धारायें फैली हुई हैं, और अनेकानेक प्राणियों का विघात करने वाला है ऐसा अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं है, इसलिए साधु अग्नि को कभी प्रज्वलित न करे ।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं, क्योंकि यह थोड़े मे ही अधिक विस्तार को प्राप्त कर जाती है; इसकी धारायें—ज्वालायें—सर्व दिशाओं में फैलकर असंख्य प्राणियों का विनाश कर डालती हैं, अतः विचारशील साधु कभी अग्नि को प्रदीप्त न करे । प्रस्तुत गाथा में साधु को अग्नि जलाने का निषेध किया गया है जो कि उसके संयम की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है ।

निष्कर्ष—व्यवहार—मे उपयोगरूप से अग्नि के दो कार्य प्रायः देखे जाते हैं १—अन्नादि का पकाना और २—शीत आदि की निवृत्ति । परन्तु इन दोनों ही कार्यों के लिए प्रज्वलित की गई अग्नि आस-पास के असंख्य क्षुद्र प्राणियों को भस्म-सात् कर देती है; इस प्रकार अग्नि को जलाने वाला अनेक क्षुद्र जीवों की हिंसा मे कारण बनता है । इस आशय को लेकर ही अहिंसावृत्ति-प्रधान

साधु के लिए शास्त्रकारों ने अग्नि जलाने का निषेध किया है। यदि कोई यह कहे कि क्रय-विक्रय आदि के करने में तो किसी भी जीव का वध नहीं होता, फिर यदि क्रय-विक्रय आदि के द्वारा साधु अपना निर्वाह कर लेवे तो इस में क्या आपत्ति है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार अब क्रय-विक्रय आदि के निषेध में कहते हैं। यथा—

हिरण्णं जायरूवं च, मणसावि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए ॥१३॥

हिरण्यं जातरूपं च, मनसाऽपि न प्रार्थयेत्।
समलोष्टकाञ्चनो भिक्षुः, विरतः क्रयविक्रयात् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—**हिरण्णं**—सुवर्ण **च**—और **जायरूवं**—चाँदी **च**—अन्य पदार्थों के समुच्चय में है **मणसावि**—मन से भी **न पत्थए**—प्रार्थना न करे **समलेट्ठुकंचणे**—समान है पाषाण और कांचन जिसको ऐसा **भिक्खू**—भिक्षु **विरए**—निवृत्त हुआ **कयविक्कए**—क्रय—खरीदने, विक्रय—वेचने से।

मूलार्थ—**क्रय-विक्रय [वस्तुओं के खरीदने और वेचने] से विरक्त और पाषाण तथा सुवर्ण को समान समझने वाला भिक्षु, सोने-चाँदी आदि वस्तुओं के क्रय-विक्रय की मन से भी इच्छा न करे।**

टीका—जैसे, पत्थर के टुकड़े या मिट्टी के ढेले को तुच्छ समझकर कोई उसको नहीं उठाता, उसी प्रकार सुवर्णादि को देखते हुए भी साधु उसका स्पर्श न करे। कारण यह है कि त्याग कर देने के बाद उसके लिए मिट्टी और सुवर्ण दोनों ही समान हैं, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि साधु सोने-चाँदी आदि को ग्रहण करने की शरीर से तो क्या, मन से भी इच्छा न करे। तथा वस्तुओं के क्रय-विक्रय आदि से भी संयमशील साधु को सदा पृथक् ही रहना चाहिए। वास्तव में तो मिट्टी तथा सुवर्ण को हेयरूप में तुल्य समझने वाले साधु को क्रय-विक्रय आदि में प्रवृत्त होने की कभी इच्छा होती हो, ऐसी तो कल्पना भी नहीं हो सकती। 'कयविक्कए' यहाँ पर पंचमी के अर्थ में सप्तमी है।

अब क्रय-विक्रय में दोष बतलाते हुए फिर कहते हैं कि—

किणंतो कइओ होइ, विक्किणंतो य वाणिओ।
कयविक्कयम्मि वट्टंतो, भिक्खू न भवइ तारिसो ॥१४॥

क्रीणन् क्रायको भवति, विक्रीणानश्च वणिक्।
क्रयविक्रये वर्तमानः, भिक्षुर्न भवति तादृशः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—**किणंतो**—पर वस्तु को खरीदने वाला **कइओ**—क्रायक **होइ**—होता है **य**—और **विकिणंतो**—अपनी वस्तु को वेचने वाला **वाणिओ**—वणिक् होता है **कयविक्कयम्मि**—क्रय-विक्रय में **वट्टंतो**—वर्तता हुआ **तारिसो**—वैसा—जैसे कि भिक्षु के लक्षण वर्णन किये गये हैं **भिक्खू**—भिक्षु **न भवइ**—नहीं होता।

मूलार्थ—पर वस्तु को खरीदने वाला क्रायक—ग्राहक—होता है और अपनी वस्तु को जो वेचने वाला है उसे वनिया—व्यापारी—कहते हैं, अतः क्रय-विक्रय में पड़ने वाला—भाग लेने वाला—साधु साधु नहीं कहला सकता।

टीका—साधु के लिए क्रय-विक्रय का निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि क्रय-विक्रय में प्रवृत्त होने वाला साधु साधु नहीं रह सकता, वह तो वनिया या व्यापारी वन जाता है। तात्पर्य यह है कि साधु यदि वस्तुओं के खरीदने और वेचने में लग जावे तब तो वह साधु-धर्म से च्युत होकर एक प्रकार का व्यापारी—वनिया—हो जावेगा, तथा जिस प्रकार अन्य व्यापारी लोग और सब वातों को छोड़कर रात-दिन वेचने और खरीदने के काम में ही निमग्न रहते हैं, उसी प्रकार व्यापार में प्रवृत्त होने वाले साधु को भी अपने साधु-धर्मोचित गुणों को तिलांजलि देनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में वह साधु रह सकता है कि नहीं इस वात का निर्णय सहज ही में किया जा सकता है। इसलिए विचारशील साधु को अपने संयम की रक्षा के लिए क्रय-विक्रय आदि गृहस्थोचित कार्यों में कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

इसलिए अब साधु-धर्मोचित निर्दोष भिक्षावृत्ति के आचरण के विषय में कहते हैं। यथा—

भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो, भिक्खवत्ती सुहावहा ॥१५॥

भिक्षितव्यं न क्रेतव्यं, भिक्षुणा भैक्ष्यवृत्तिना।
क्रयविक्रययोर्महान् दोषः, भिक्षावृत्तिः सुखावहा ॥१५॥

पदार्थान्वयः—भिक्खियव्वं–भिक्षा करनी चाहिए न केयव्वं–मूल्य देकर कोई वस्तु न लेनी चाहिए भिक्खुणा–भिक्षु को भिक्खवत्तिणा–भिक्षावृत्ति वाले को कयविक्कओ–क्रय-विक्रय में महा–महान् दोसो–दोष है भिक्खवत्ती–भिक्षावृत्ति सुहावहा–सुख के देने वाली है।

मूलार्थ—भिक्षु को भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करना चाहिए, परन्तु मूल्य देकर कोई वस्तु न लेनी चाहिए। कारण कि क्रय-विक्रय में महान् दोष है और भिक्षावृत्ति सुख के देने वाली है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भिक्षु के लिए एकमात्र निर्दोष भिक्षावृत्ति के द्वारा ही संयम-यात्रा के निर्वाह करने का आदेश किया गया है। भिक्षावृत्ति की श्रेष्ठता को बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—विचारशील साधु अपनी निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करे, न कि क्रय-विक्रय के द्वारा अपनी आत्मा को संक्लेशित करता हुआ उदरपूर्ति का जघन्य प्रयास करे, क्योंकि साधुवृत्ति में क्रय-विक्रय का आचरण महान् दोष का उत्पादक है और विपरीत इसके भिक्षावृत्ति, इस लोक तथा परलोक दोनों में ही कल्याण के देने वाली है। इसलिए त्यागशील भिक्षु को निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए।

अब भिक्षावृत्ति का प्रकार बतलाते हैं। यथा—

समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥१६॥

समुदानमुञ्छमेषयेत्, यथासूत्रमनिन्दितम्।
लाभालाभयोः सन्तुष्टः, पिण्डपातं चरेन् मुनिः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—समुयाणं—सामुदानिक भिक्षा करता हुआ उंछं—स्तोकमात्र की एसिज्जा—गवेषणा करे जहासुत्तं—सूत्रानुसार अणिंदियं—निन्दनीय जाति की भिक्षा न हो लाभालाभम्मि—लाभ तथा अलाभ में संतुट्ठे—सन्तुष्ट पिंडवायं—पिंडपात को चरे—आसेवन करे मुणी—भिक्षु ।

मूलार्थ—सूत्रविधि के अनुसार अनिन्दित अनेक कुलों से थोड़े २ आहार की गवेषणा करे तथा लाभालाभ में सन्तुष्ट रहे, इस प्रकार मुनि भिक्षावृत्ति का आचरण करे ।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भिक्षावृत्ति के प्रकार का वर्णन किया गया है। संयमशील मुनि सूत्रनिर्दिष्ट मर्यादा के अनुसार सामुदानिक गोचरी करे अर्थात् अनेक घरों से थोड़ा २ आहार लेवे । उस पर भी यदि कहीं से भिक्षा की प्राप्ति हो अथवा न हो, तो भी मुनि को सन्तुष्ट ही रहना चाहिए । एवं जो कोई कुल दुर्गुणों के कारण निन्दित हो अथवा अभक्ष्य-भक्षण करने वाला हो उसको छोड़कर ही भिक्षाग्रहण करे अर्थात् निर्दोष उत्तम कुल से शास्त्रविधि के अनुसार भिक्षा लेवे । अनेक कुलों या घरों से लाई हुई गोचरी को समुदान कहते हैं तथा भिक्षा के लिए भ्रमण करना 'पिंडवाय—पिंडपात' कहलाता है ।

अब लाए हुए आहार की भक्षणविधि के विषय में कहते हैं । यथा—

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए ।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥१७॥

अलोलो न रसे गृद्धः, दान्तजिह्वोऽमूर्च्छितः ।
न रसार्थं भुञ्जीत, यापनार्थं महामुनिः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—अलोले—अलोलुपी रसे—रसविषयक न—नहीं गिद्धे—आसक्त जिब्भादंते—जिह्वा का दमन करने वाला अमुच्छिए—आहारविषयक मूर्च्छा से रहित रसट्ठाए—रस के लिए—आस्वाद के लिए न भुंजिज्जा—भोजन न करे, अपितु जवणट्ठाए—संयमयात्रा के निर्वाहार्थ आहार करे महामुणी—महामुनि—महान् आत्मा ।

मूलार्थ—जिह्वा-इन्द्रिय पर काबू रखने वाला मननशील साधु रस का लोलुप न बने, अधिक स्वादु भोजन में मूर्च्छित न होवे, तथा रस के लिए—स्वादेन्द्रिय की प्रसन्नता के लिए—भोजन न करे किन्तु संयम-निर्वाह के उद्देश्य से ही भोजन करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए भोजनविषयिणी आसक्ति के त्याग का उपदेश किया गया है। यथा—कहीं से सरस भोजन मिलने पर प्रसन्न न होवे और नीरस की प्राप्ति में खिन्न न होवे, एवं सरस आहार की आकांक्षा भी न करे, किन्तु जिह्वा को वश में रखे। अतएव जो भी आहार मिले उसको शरीर-यात्रा के निर्वाहार्थ ही स्वीकार करे किन्तु स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिए आहार का ग्रहण न करे। तात्पर्य यह है कि संयम की भलीभाँति रक्षा हो सके एतदर्थ ही साधु को भोजन का ग्रहण करना चाहिए न कि शरीर को पुष्ट करने के लिए। तथा 'जिब्भादंते' इसमें प्राकृत के कारण ही 'दंत—दान्त' शब्द का परनिपात हुआ है, इसी लिए इसकी संस्कृत छाया 'दान्तजिह्वः' की गई है।

अब अर्चना आदि के विषय में कहते हैं। यथा—

अच्चणं रयणं चेव, वंदणं पूयणं तहा।
इड्डीसक्कारसम्माणं, मणसावि न पत्थए ॥१८॥

अर्चनं रचनं चैव, वन्दनं पूजनं तथा।
ऋद्धिसत्कारसन्मानं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—अच्चणं—अर्चना रयणं—स्वस्तिकादि की रचना वंदणं—वन्दना तहा—तथा पूयणं—पूजन इड्डी—ऋद्धि सक्कार—सत्कार और सम्माणं—सन्मान—इन बातों की मणसावि—मन से भी न पत्थए—प्रार्थना न करे च—समुच्चय में है।

मूलार्थ—अर्चना, रचना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सन्मान, इन बातों की मुनि मन से भी इच्छा न करे।

टीका—साधुवृत्ति का अनुसरण करने वाला मुनि निम्नलिखित बातों की मन से भी इच्छा न करे अर्थात् ये बातें मुझे किसी न किसी प्रकार से प्राप्त हो

जावें ऐसा कभी संकल्प भी न करे। जैसे कि—लोग मेरा चन्दन और पुष्पादि से अर्चन करें, मेरे सन्मुख मोतियों के स्वस्तिकादि की रचना करें, विधिपूर्वक वन्दना करें, और विशिष्ट सामग्री के द्वारा मेरी पूजा करें; वस्त्रादि से सत्कार और अभ्युत्थानादि से सन्मान, एवं श्रावक की उपकरणरूप सम्पत् तथा आमर्षौषधि आदि ऋद्धि की मुझे प्राप्ति हो इत्यादि। सारांश यह है कि साधु अपनी पूजा-सत्कार और मान-बड़ाई की कभी भी इच्छा न करे।

तो फिर उसे क्या करना चाहिए ? अब इस विषय में कहते हैं—

सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥१९॥

शुक्लध्यानं ध्यायेत्, अनिदानोऽकिञ्चनः ।
व्युत्सृष्टकायो विहरेत्, यावत्कालस्य पर्यायः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—सुक्कज्झाणं—शुक्लध्यान को झियाएज्जा—ध्यावे अणियाणे—निदानरहित अकिंचणे—अकिंचनतापूर्वक वोसट्ठकाए—व्युत्सृष्टकाय होकर विहरेज्जा—विचरे जाव—जब तक कालस्स—काल का पज्जओ—पर्याय है—अर्थात् मृत्यु-समयपर्यन्त।

मूलार्थ—साधु मृत्युसमयपर्यन्त अकिंचन—अपरिग्रही—रहकर तथा काया का व्युत्सर्जन करके निदानरहित हो, शुक्लध्यान को ध्यावे और अप्रतिबद्ध होकर विचरे।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि विचारशील साधु को आयुपर्यन्त—मरणसमय तक—शुक्लध्यान के आश्रित होना चाहिये, तथा परलोक में जाकर देवादि बनने आदि निदान-कर्म को न बाँधना चाहिए, और द्रव्यादि परिग्रह को छोड़कर सदा अकिंचन-वृत्ति में—अपरिग्रही होकर—रहना चाहिए, एवं काया के ममत्व का भी परित्याग करके अप्रतिबद्ध होकर विचरना चाहिए। तथाच, इन पूर्वोक्त नियमों का पालन करने से साधु के चारित्र में कितनी निर्मलता आ सकती है, तथा उसके इस आदर्शभूत जीवन से संसारवर्ती अनेक भव्य जीवों को कितना

लाभ पहुँच सकता है, और उसके निजी आत्म-गुणों में कितना विकास हो सकता है इत्यादि बातों की सहज ही में कल्पना की जा सकती है । शुक्लध्यान मोक्ष का अति समीपवर्ती साधन है, इसलिए अन्य धर्मादि ध्यानों को छोड़कर इसका ही उल्लेख किया है ।

इस प्रकार आयुपर्यन्त विचरते हुए जब मृत्यु का समय समीप आ जावे, उस समय साधु को क्या करना चाहिए, अब इस विषय का फलश्रुतिसहित निरूपण करते हैं। यथा—

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए ।
चइऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चई ॥२०॥

निर्हाय (परित्यज्य) आहारं, कालधर्मे उपस्थिते ।
त्यक्त्वा मानुषीं तनुं, प्रभुः दुःखाद् विमुच्यते ॥२०॥

पदार्थान्वयः—**निज्जूहिऊण**–छोड़कर **आहारं**–आहार को **कालधम्मे**–कालधर्म्म के **उवट्ठिए**–उपस्थित होने पर **चइऊण**–छोड़कर **माणुसं**–मनुष्यसम्बन्धी **बोंदिं**–शरीर को **पहू**–प्रभु—सामर्थ्यवान् **दुक्खा**–दुःखों से **विमुच्चई**–छूट जाता है ।

मूलार्थ—प्रभु—समर्थ—मुनि कालधर्म के—मृत्यु के—उपस्थित होने पर चतुर्विध आहार का परित्याग करके मनुष्यसम्बन्धी शरीर को छोड़कर सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संलेखना का प्रकार बतलाया गया है । वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से विशिष्ट सामर्थ्य को प्राप्त करने वाला साधु, मृत्यु-समय के निकट आ जाने पर सूत्रोक्त विधि के अनुसार संलेखना—अनशन के द्वारा चतुर्विध आहार का परित्याग—करके समाधि में लीन हो जावे । इस प्रकार के अनुष्ठान से वह इस औदारिक शरीर को छोड़ता हुआ सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों से छूट जाता है । इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से इस आत्मा में रही हुई अनन्त शक्तियों का अविर्भाव हो जाता है । उससे यह जीव अवशिष्ट कर्म-बन्धनों को तोड़कर सर्व प्रकार के दुःखों

का अन्त कर देता है तथा अन्तिम समय में संलेखना-विधि के द्वारा सर्व प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हुआ इस औदारिक शरीर के साथ ही कार्मण शरीर का भी अन्त कर देता है और इस आवागमन के चक्र से छूटकर परमानन्द-स्वरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। संलेखना-विधि का वर्णन इस सूत्र के ३६वें अध्ययन में किया गया है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु-आत्मा को चाहिए कि वह इस प्रकार के पंडित-मरण की प्राप्ति के लिए अपने जीवन में भरसक प्रयत्न करे।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए पूर्वोक्त मुनिकर्त्तव्य का फल-वर्णन करते हैं। यथा—

निम्ममे निरहंकारे, वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥२१॥

त्ति बेमि।

इति अणगारज्झयणं समत्तं ॥३५॥

निर्ममो निरहङ्कारः, वीतरागोऽनास्रवः ।
सम्प्राप्तः केवलं ज्ञानं, शाश्वतं परिनिर्वृतः ॥२१॥

इति ब्रवीमि।

इत्यनगाराध्ययनं समाप्तम् ॥३५॥

पदार्थान्वयः—निम्ममे—ममत्व से रहित निरहंकारे—अहंकार से रहित वीयरागो—राग-द्वेष से रहित अणासवो—आस्रवों से रहित केवलं नाणं—केवल ज्ञान को संपत्तो—प्राप्त हुआ सासयं—शाश्वत—सदा के वास्ते परिणिव्वुए—सुखी हो जाता है।

मूलार्थ—ममत्व और अहंकार से रहित, वीतराग, तथा आस्रवों से रहित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी हो जाता है।

टीका—अनगार-वृत्ति के यथावत् पालन करने का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो मुनि ममत्व और अहंकार से रहित तथा आस्रवों से

मुक्त और वीतराग—राग-द्वेष से रहित—हो गया है वह केवल ज्ञान को प्राप्त करके शाश्वत सुख—मोक्ष के सुख—को प्राप्त हो जाता है। प्रस्तुत गाथा में मोक्ष के अन्तरंग साधन और उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। मुमुक्षु जीव को सब से प्रथम ममत्व और अहंकार का त्याग करना पड़ता है, उससे यह जीव अनास्रवी हो जाता है अर्थात् पुण्य-पापरूप कर्मास्रवों को रोक देता है। उसका फल वीतरागता की प्राप्ति है और वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित को फिर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, तथा केवल ज्ञान को प्राप्त करने वाली आत्मा सर्व प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर शाश्वत-निर्वृत्ति को—अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त कर लेती है। मुक्ति को शाश्वत और सुखरूप वतलाने से उसकी नित्यता और परमानन्दस्वरूपता का वोध कराया गया है। इसलिए जो लोग मोक्ष-सुख को सावधिक—अवधि वाला, अथच दुःखाभावरूप मानते हैं, उनका विचार शास्त्र-सम्मत और युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। त्ति वेमि का अर्थ पहले की तरह ही समझ लेना। इस प्रकार यह अनगार नाम के अध्ययन का पर्यवसान हुआ।

पञ्चत्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त।

अह जीवाजीवविभत्ती णाम छत्तीसइमं अज्झयणं

अथ जीवाजीवविभक्तिनामषट्त्रिंशत्तममध्ययनम्

गत पैंतीसवें अध्ययन में साधु के गुणों का कथन किया गया है, परन्तु उनके पालनार्थ जीव और अजीव पदार्थ का भलीभाँति ज्ञान होना परम आवश्यक है, अतः इस वक्ष्यमाण छत्तीसवें अध्ययन में जीव और अजीव के स्वरूप का वर्णन किया जाता है, और इसी लिए यह अध्ययन भी 'जीवाजीव-विभक्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत अध्ययन की आरम्भिक गाथा इस प्रकार है—

जीवाजीवविभत्तिं मे, सुणेह एगमणा इओ।
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥१॥

जीवाजीवविभक्तिं मे, शृणुत एकमनसः इतः।
यां ज्ञात्वा भिक्षुः, सम्यग् यतते संयमे ॥१॥

पदार्थान्वयः—जीवाजीवविभत्तिं—जीव और अजीव की विभक्ति मे—मुझसे एगमणा—एकमन होकर सुणेह—श्रवण करो इओ—इससे जं—जिसको जाणिऊण—जानकर भिक्खू—भिक्षु सम्मं—भली-प्रकार से संजमे—संयम मे जयइ—यत्नवान् होता है।

मूलार्थ—(हे शिष्यो !) तुम मुझसे एकाग्रमन होकर जीवाजीव की विभक्ति—विभाग—को श्रवण करो, जिसको जानकर भिक्षु संयम में यत्न करता है।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्यो ! तुम अब जीव और अजीव के भेदों को मुझसे सुनो, क्योंकि संयम की आराधना के लिए इनके स्वरूप और भेदों का जानना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय का निर्देश और उसके फल का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया गया है।

अब उद्देशक्रमानुसार प्रतिज्ञात विषय का उपक्रम करते हैं। यथा—

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे , अलोए से वियाहिए ॥२॥
जीवाश्चैवाजीवाश्च , एष लोको व्याख्यातः।
अजीवदेश आकाशः, अलोकः स व्याख्यातः ॥२॥

पदार्थान्वयः—जीवा–जीव च–और अजीवा–अजीव—रूप एस–यह लोए–लोक वियाहिए–कहा गया है अजीवदेसं–अजीव का देश आगासे–केवल आकाशरूप से–वह अलोए–अलोक वियाहिए–प्रतिपादन किया गया है य–पुनः अर्थ में एव–अवधारण में है।

मूलार्थ—जीव और अजीव रूप से लोक दो प्रकार का है, और केवल अजीव का देशमात्र जो आकाश है [जहाँ पर आकाश-द्रव्य के अतिरिक्त और कोई द्रव्य न हो] उसको तीर्थंकरों ने अलोक कहा है।

टीका—इस गाथा में जीव और अजीव के लक्षण वर्णन किये गये हैं। चेतन को जीव और अचेतन को अजीव कहते हैं; अर्थात् जिसमें चैतन्य लक्षण हो वह जीव, और चेतना से रहित अजीव, ये दोनों तत्त्व निवास कर रहे हैं उसे तीर्थंकरों ने लोक कहा है। अजीव के एकदेश को—जहाँ आकाशमात्र ही विद्यमान है अर्थात् आकाश के सिवाय अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं, उसे अलोक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक में तो जीव और धर्माधर्मादि

सभी अजीव-द्रव्यों का अस्तित्व रहता है और अलोक में केवल आकाशमात्र का ही अस्तित्व है। अजीव-द्रव्य का एकदेश आकाश है। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पाँच भेद अजीव-द्रव्य के हैं। इनमें से केवल आकाश ही जहाँ पर विद्यमान हो वह अलोक है। इस प्रकार यह लोकालोक के विभाग का वर्णन तीर्थंकरों के द्वारा किया गया है।

अब जीव और अजीव पदार्थ के विभाग के विषय में कहते हैं। यथा—

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
परूवणा तेसिं भवे, जीवाणमजीवाण य ॥३॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव, कालतो भावतस्तथा।
प्ररूपणा तेषां भवेत्, जीवानामजीवानां च ॥३॥

पदार्थान्वयः—दव्वओ—द्रव्य से खेत्तओ—क्षेत्र से च—और कालओ—काल से तहा—तथा भावओ—भाव से परूवणा—प्ररूपणा तेसि—उन जीवाणं—जीवों की य—और अजीवाण—अजीवों की भवे—होती है।

मूलार्थ—जीव और अजीव द्रव्य की प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार प्रकारों से होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे जीव और अजीव द्रव्य के निरूपण के चार प्रकार बतलाये गये हैं। वे चारों द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के नाम से विख्यात हैं। द्रव्य से—एतावन्मात्र जीव और अजीव द्रव्य है, क्षेत्र से—जीव-द्रव्य एतावन्मात्र क्षेत्र में स्थित है, काल से—जीव-द्रव्य की एतावन्मात्र काल-स्थिति है; और भाव से—जीव-द्रव्य में एतावन्मात्र पर्याय परिवर्तित होते हैं। इसी प्रकार से अजीव-द्रव्य के विषय मे समझ लेना चाहिए। सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्य का इन चार प्रकारों से विभाग किया जाता है।

अजीव-द्रव्य का निरूपण—

विषय-निरूपण की स्वल्पता को देखते हुए प्रथम अजीव-द्रव्य के विषय में कहते हैं। यथा—

रूविणो चेवरूवी य, अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो य चउव्विहा ॥४॥

रूपिणश्चैवारूपिणश्च , अजीवा द्विविधा भवेयुः।
अरूपिणो दशधोक्ताः, रूपिणश्च चतुर्विधाः ॥४॥

पदार्थान्वयः—अजीवा—अजीव-द्रव्य दुविहा—दो प्रकार का भवे—होता है रूविणो—रूपी च—और अरूवी—अरूपी अरूवी—अरूपी द्रव्य दसहा—दश प्रकार से वुत्ता—कहा गया है य—तथा रूविणो—रूपी द्रव्य चउव्विहा—चार प्रकार का है च—समुच्चय में और एव—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—अजीव-द्रव्य के दो भेद कहे हैं १—रूपी और २—अरूपी। उनमें भी अरूपी के दस और रूपी के चार भेद प्रतिपादन किये हैं।

टीका—रूपी और अरूपी भेद से अजीव-द्रव्य दो प्रकार का है। उनमें भी रूपी के चार और अरूपी के दस भेद हैं। जिसमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श हो वह रूपी कहलाता है, तथा इन गुणों का जिसमें अभाव हो उसे अरूपी कहते हैं। इसके अतिरिक्त रूपी को मूर्तिक और अरूपी को अमूर्तिक भी कहते हैं। सारांश यह है कि अजीव-तत्त्व के मुख्य भेद तो दो हैं—रूपी और अरूपी; उनमें से अरूपी के दस और रूपी के चार भेद हैं।

अब अरूपी के दश भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥५॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥६॥

धर्मास्तिकायस्तद्देशः , तत्प्रदेशश्चाख्यातः।
अधर्मस्तस्य देशश्च, तत्प्रदेशश्चाख्यातः ॥५॥

आकाशस्तस्य देशश्च, तत्प्रदेशश्चाख्यातः ।
अद्धासमयश्चैव , अरूपिणो दशधा भवेयुः ॥६॥

पदार्थान्वयः—धम्मत्थिकाए-धर्मास्तिकाय तद्देसे-धर्मास्तिकाय का देश तप्पएसे-धर्मास्तिकाय का प्रदेश आहिए-कहा गया है अहम्मे-अधर्मास्तिकाय तस्स-उसका देसे-देश य-और तप्पएसे-उसका प्रदेश य-पुनः आहिए-कहा गया है आगासे-आकाशास्तिकाय य-और तस्स-उसका देसे-देश य-तथा तप्पएसे-उसका प्रदेश आहिए-कहा है अद्धासमए-अद्धासमय—काल का समय अरूवी-अरूपी द्रव्य दसहा-दश प्रकार का भवे-होता है ।

मूलार्थ—धर्मास्तिकाय के—(१) स्कन्ध (२) देश और (३) प्रदेश, तथा अधर्मास्तिकाय के—(४) स्कन्ध (५) देश और (६) प्रदेश, एवं आकाशास्तिकाय के—(७) स्कन्ध (८) देश और (९) प्रदेश तथा (१०) अद्धासमय—काल-पदार्थ; इस तरह अरूपी द्रव्य के दश भेद होते हैं ।

टीका—इस गाथा में अरूपी द्रव्य के दस भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है । अजीव-तत्त्व में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल, ये चार अरूपी द्रव्य हैं । इनमें से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनों में प्रत्येक के स्कन्ध, देश और प्रदेश, ऐसे तीन २ भेद होने से नौ और दसवाँ काल, इस प्रकार कुल दस भेद होते हैं । निर्विभाग होने से काल के स्कन्ध, देश और प्रदेश नहीं माने जाते । यद्यपि वर्तनालक्षण काल के भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान, ऐसे तीन भेद माने गये हैं, तथापि धर्माधर्मादि की भाँति उन समयों का एकीभाव नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ पर काल में प्रदेश-प्रचय-रूपता नहीं है, इसलिए काल-तत्त्व एक ही है । तब कालत्व के मिलाने से कुल दस ही भेद अरूपी द्रव्य के माने गये हैं । तथा इनके गति-स्थिति आदि लक्षणों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र के २८वें अध्ययन में आ चुका है । (१) स्कन्ध—किसी भी सम्पूर्ण द्रव्य के पूर्ण विभाग का नाम स्कन्ध है । (२) देश—स्कन्ध के अमुक कल्पित विभाग को देश कहते हैं । (३) प्रदेश—स्कन्ध का एक अत्यन्त सूक्ष्म अविभाज्यांश [जिस का और कोई विभाग न हो सके] प्रदेश या

परमाणु कहलाता है। तात्पर्य यह है कि वह अविभाज्य अंश अपने स्कन्ध के साथ मिला हुआ तो प्रदेश कहलाता है और स्कन्ध से पृथक् होने पर उसकी परमाणु संज्ञा होती है।

अब उक्त द्रव्यों के विभाग का क्षेत्र से निरूपण करते हैं। तथा—

धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥७॥

धर्माऽधर्मौ च द्वौ चैव, लोकमात्रौ व्याख्यातौ।
लोकेऽलोके चाकाशः, समयः समयक्षेत्रिकः ॥७॥

पदार्थान्वयः—**धम्माधम्मे य**—धर्म और अधर्म **दो चेव**—दोनों ही **लोगमित्ता**—लोकमात्र-प्रमाण **वियाहिया**—कथन किये गये हैं **लोगालोगे य**—लोक और अलोक प्रमाण **आगासे**—आकाश है—परन्तु **समए**—समय **समयखेत्तिए**—समयक्षेत्रिक है।

मूलार्थ—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इन दोनों को लोकप्रमाण कहा है, तथा आकाश लोक और अलोक उभय-प्रमाण है, परन्तु समय—काल समयक्षेत्रिक अर्थात् अढ़ाई-द्वीप-प्रमाण है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में क्षेत्र की दृष्टि से अजीव-तत्त्व के अरूपी द्रव्यों का निरूपण किया गया है। यथा—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का क्षेत्र लोक-प्रमाण है, आकाशास्तिकाय का—सम्पूर्ण लोक और अलोक दोनों हैं, तथा काल का क्षेत्र अढ़ाई-द्वीप-प्रमाण है। शास्त्रकारों ने मनुष्य-क्षेत्र को अढ़ाई द्वीप में परिगणित किया है। इसी क्षेत्र में सूर्य और चन्द्रमा आदि के भ्रमण से, समय से लेकर पल्योपम का सागरोपम आदि के प्रमाण का निश्चय किया जाता है। अतएव समयविभाग को समयक्षेत्रिक माना गया है। और जो अढ़ाई द्वीप से बाह्य क्षेत्र हैं उनमें भी समय का निर्णय समयक्षेत्र से ही किया जाता है, क्योंकि द्रव्य-काल समय-विभागादि से ही उत्पन्न होता है। सारांश यह है कि काल-द्रव्य का क्षेत्र अढ़ाई-द्वीपपर्यन्त ही स्वीकार किया गया है। काल की सर्व गणना समयक्षेत्र (मनुष्यक्षेत्र) से ही की जाती है।

अब काल से अजीव-द्रव्य के अरूपी विभाग के विषय में कहते हैं—

धम्माधम्मागासा , तिन्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥८॥

धर्मोऽधर्मोऽऽकाशानि , त्रीण्यप्येतान्यनादीनि ।
अपर्यवसितानि चैव, सर्वाद्धं तु व्याख्यातानि ॥८॥

पदार्थान्वयः—धम्माधम्मागासा-धर्म, अधर्म और आकाश एए-ये तिन्नि वि-तीनों ही अणाइया-अनादि अपज्जवसिया-अपर्यवसित हैं सव्वद्धं-सर्व काल में वियाहिया-ऐसे तीर्थंकरों ने कहा है ।

मूलार्थ—तीथकरों ने धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों ही द्रव्य सर्व काल में अनादि और अपर्यवसित—अपने स्वभाव को न छोड़ने वाले—माने हैं ।

टीका—धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों ही अरूपी द्रव्य अनादि और अनन्त हैं, तात्पर्य यह है कि न तो इनकी कोई आदि है और नाहीं अन्त । परन्तु यह कथन काल की अपेक्षा से है, पर्याय की वा क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं । इस गाथा में सर्वत्र लिंग का व्यत्यय किया हुआ है ।

अब काल के विषय में कहते हैं—

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए ।
आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिए वि य ॥९॥

समयोऽपि संततिं प्राप्य, एवमेव व्याख्यातः ।
आदेशं प्राप्य सादिकः, सपर्यवसितोऽपि च ॥९॥

पदार्थान्वयः—समए वि-समय भी संतइं-सन्तति की पप्प-अपेक्षा से एवमेव-उसी प्रकार—अनादि अपर्यवसित वियाहिए-कथन किया है और—आएसं पप्प-आदेश की अपेक्षा से साईए-सादि सपज्जवसिए-सपर्यवसित है च-पुनरर्थक है और अवि-समुच्चय में है ।

मूलार्थ—समय, सन्तति की अपेक्षा से तो अनादि-अपर्यवसित—अनादि-अनंत—है और आदेश की अपेक्षा से सपर्यवसित अर्थात् सादि-सान्त कहा गया है।

टीका—समय, सन्तति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। क्योंकि समय की उत्पत्ति नहीं है और उत्पत्ति से रहित होने पर वह अनादि—आदिशून्य, अनन्त—अन्तशून्य, स्वतः सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब हम प्रवाह को देखते हुए समय आदि की खोज करते हैं तब उसकी आदि उपलब्ध नहीं होती, तथा इसी प्रकार उसका पर्यवसान भी देखने में नहीं आता, इसलिये प्रवाह की अपेक्षा से समय को अनादि-अनन्त माना है, परन्तु किसी अमुक कार्य की अपेक्षा से वह सादि-सान्त अर्थात् आदि और अन्त वाला है। जैसे कि—किसी कुलाल ने अमुक समय में घटनिर्माणरूप कार्य का आरम्भ किया, तो उस आरम्भ की अपेक्षा से वह सादि—आदिसहित—ठहरता है और घटनिर्माण की समाप्ति पर उसका अन्त हो जाता है, इसलिए आदेश—कार्य—की दृष्टि से समय को सादि-सान्त स्वीकार किया है। समय की सादि-सान्तता का लोक में भी निरन्तर व्यवहार होता रहता है। यथा—किसी शिक्षक ने अपने विद्यार्थी को पढ़ने का समय दस बजे का दिया है और वह विद्यार्थी ग्यारह बजे पहुँचता है, तब उसको शिक्षक उत्तर देता है कि वत्स! तुम्हारा समय तो हो चुका, अब तो दूसरों का समय आरम्भ होता है, इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से समय की सादि-सान्तता भी मानी गई है। सारांश यह है कि प्रवाह की ओर दृष्टि डालें तब तो समय के आदि और अन्त दोनों का ही कुछ पता नहीं लगता, परन्तु नानाविध कार्यों के आरम्भ और पर्यवसान—समाप्ति—को देखते हुए समय की उत्पत्ति और विनाश दोनों ही दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिए उसको सादि-सान्त कहा है। इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र और काल से अरूपी द्रव्य का निरूपण किया गया है, परन्तु भाव से सभी द्रव्य वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित हैं, इसलिए अरूपी—अमूर्त—हैं। तथा भाव से इनका निरूपण करने पर भी इनके पर्यायों के प्रत्यक्ष न होने से उनका अनुभव होना अतीव कठिन है, इसलिए भावसम्बन्धी निरूपण को केवल अनुमानगोचर होने से छोड़ दिया गया है।

रूपी द्रव्य का निरूपण—

अब क्रमप्राप्त रूपी अजीव-द्रव्य का निरूपण करते हैं। यथा—

खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा, रूविणो य चउव्विहा ॥१०॥

स्कन्धाश्च स्कन्धदेशाश्च, तत्प्रदेशास्तथैव च।
परमाणवश्च बोद्धव्याः, रूपिणश्च चतुर्विधाः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—खंधा–स्कन्ध य–और खंधदेसा–स्कन्ध का देश य–तथा तहेव–उसी प्रकार तप्पएसा–स्कन्ध के प्रदेश य–और परमाणुणो–परमाणु—पुद्गल य–पुनः इस प्रकार रूविणो–रूपी द्रव्य के चउव्विहा–चार प्रकार—चार भेद बोद्धव्वा–जानने चाहिएँ।

मूलार्थ—रूपी द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु, ये चार भेद हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे रूपी द्रव्य के भेदों का निरूपण किया गया है। जिसमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शादि की उपलब्धि होती हो वह रूपी द्रव्य है। पुद्गल रूपी—मूर्त—द्रव्य है, क्योंकि उसमें उक्त वर्ण-रसादि गुणों की उपलब्धि होती है। उसके—रूपी द्रव्य के—चार भेद हैं—(१) स्कन्ध (२) स्कन्ध का देश (३) स्कन्ध का प्रदेश और (४) परमाणु। इस प्रकार से पुद्गल-द्रव्य चार भागों मे विभक्त किया गया है। (१) स्कन्धः—परमाणु-प्रचय—परमाणुओं के समूह—को स्कन्ध कहते हैं। (२) देशः—स्कन्ध के किसी अमुक कल्पित विभाग का नाम देश है। (३) प्रदेशः—स्कन्ध के निरंश अंश—अविभाज्य अंग को, जो कि अपने स्कन्ध से पृथक् न हुआ हो—प्रदेश कहते हैं। (४) परमाणुः—स्कन्ध से पृथक् हुए निरंश भाग की परमाणु संज्ञा है और संक्षेप से तो रूपी द्रव्य के (पुद्गल के) स्कन्ध और परमाणु ये दो ही भेद हैं, क्योंकि देश और प्रदेश इन दोनों का स्कन्ध मे ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अब स्कन्ध और परमाणु का लक्षण-वर्णन करते हैं। यथा—

एगत्तेण पुहुत्तेण, खंधा य परमाणु य।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥११॥

एकत्वेन पृथक्त्वेन, स्कन्धाश्च परमाणवश्च।
लोकैकदेशे लोके च, भजनीयास्ते तु क्षेत्रतः।
इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—एगत्तेण—परमाणुओं के एकत्व से—मिलने से खंधा—स्कन्ध होता है य—और पुहुत्तेण—पृथक् २ होने से उनकी परमाणु—परमाणु संज्ञा हो जाती है लोएगदेसे—लोक के एकदेश में य—तथा लोए—लोक में ते—वे स्कन्ध और परमाणु उ—वितर्क अर्थ में है खेत्तओ—क्षेत्र से भइयव्वा—भजनापूर्वक रहते हैं एत्तो—इसके अनन्तर कालविभागं—काल-विभाग के विषय में तेसिं—उन स्कन्ध और परमाणुओं का चउव्विहं—चार प्रकार से वुच्छं—निरूपण करूँगा।

मूलार्थ—द्रव्य की अपेक्षा से परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कन्ध होता है तथा भिन्न २ होने से उनको परमाणु कहते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु, लोक के एकदेश में और सम्पूर्ण लोक में भजना से रहते हैं। इसके अनन्तर अब काल की अपेक्षा से इनके—स्कन्ध और परमाणु के—चार भेद बतलाते हैं।

टीका—इस सार्द्ध गाथा में स्कन्ध और परमाणु का द्रव्य से स्वरूप अर्थात् लक्षण वर्णन करने के साथ २ उनकी क्षेत्रस्थिति का भी वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त इनकी कालस्थिति के वर्णन की प्रतिज्ञा भी की गई है। जब अनेक पुद्गल—परमाणु—एकत्रित होकर आपस में विशिष्ट प्रकार से मिल जाते हैं तब उनकी स्कन्ध संज्ञा होती है, और जब वे एक दूसरे से पृथक् होते हैं तब उनको परमाणु कहते हैं; जैसे बहुत से पत्रों के विशिष्ट संचय को पुस्तक का नाम दिया जाता है और अलग २ रहने से उनकी पत्र संज्ञा होती है। तात्पर्य यह है कि पत्रों के संचय से पुस्तक और पृथक् २ होने से पत्र, ये दो संज्ञाएँ जैसे बन जाती

हैं। इसी प्रकार स्कन्ध और परमाणु के विषय में समझ लेना चाहिए। क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु की स्थिति का विचार करें तो लोक के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों पर्यन्त स्कन्ध और परमाणु के विषय में भजना है, अर्थात् लोक के एक आकाश-प्रदेश पर एक परमाणु तो रहता ही है परन्तु स्कन्ध के लिए कोई नियम नहीं, वह स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश पर रहे भी और न भी रहे। कारण यह है कि स्कन्ध एक प्रदेश पर भी रहता है और दो पर भी रह सकता है, तथा संख्यात और असंख्यात प्रदेशों पर भी उसकी स्थिति हो सकती है अथवा सर्व लोक में भी वह स्थिति कर सकता है। इस प्रकार स्कन्ध और परमाणु का द्रव्य से लक्षण और क्षेत्र से स्थिति का वर्णन करने के अनन्तर अब उनके काल की अपेक्षा से चार भेद वर्णन करने की शास्त्रकार प्रतिज्ञा करते हैं, जैसा कि ऊपर गाथा के अर्द्धांश मे बतलाया गया है। यह गाथा षट्पाद गाथा के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् इसके छः पाद हैं। गाथा का लक्षण बतलाते हुए अन्यत्र लिखा है कि—"विषमाक्षरपादं वा पादैरसमं दशधर्मवत्। तंत्रेऽस्मिन् पदसिद्धं गाथेति तत्पण्डितैर्ज्ञेयम्॥" इसका अर्थ सुगम है। तथा दश प्रकार के जीव धर्म का आराधन नहीं कर सकते। यथा—"मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः। त्वरमाणश्च भीरुश्च, लुब्धः कामी च ते दश॥" अर्थ स्पष्ट है।

अब प्रतिज्ञात विषय, अर्थात् काल की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु के चार भेदों का निरूपण करते हैं। यथा—

संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य॥१२॥

सन्ततिं प्राप्य तेऽनादयः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च॥१२॥

पदार्थान्वयः—संतइं-संतति की पप्प-अपेक्षा से ते-वे—स्कन्धादि अणाई-अनादि हैं य-और अपज्जवसिया-अपर्यवसित हैं, किन्तु ठिइं-स्थिति की पडुच्च-अपेक्षा से साईया-सादि और सपज्जवसिया-सपर्यवसित—पर्यवसान वाले हैं।

मूलार्थ—स्कन्ध और परमाणु सन्तति—परम्परा—की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित—अनन्त—हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से वे सादि और सपर्यवसान—अन्त वाले—हैं।

टीका—स्कन्ध और परमाणुओं की सन्तति अनादिकाल से चली आती है, इसी प्रकार चली जावेगी; इसलिए प्रवाह की अपेक्षा से ये अनादि और अनन्त कहे जाते हैं अर्थात् न तो इनकी आदि है और न अन्त ही। तथा स्थिति और रूपान्तर होने की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं, अर्थात् इनका आरम्भ भी है और समाप्ति भी। जैसे कि किसी समय पर परमाणुओं के संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति हुई और उसके बाद उसकी स्थिति पर विचार किया गया, तब इस अपेक्षा से वह सादि और सान्त प्रतीत होता है। यदि दूसरे सरल शब्दों में कहें तो ये स्कन्धादि अमुक दृष्टि से तो अनादि-अनन्त हैं और अमुक अपेक्षा से सादि-सान्त कहे जाते हैं।

अब इनकी स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसं , इक्कं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥१३॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , एकं समयं जघन्यका।
अजीवानाञ्च रूपिणां, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥१३॥

पदार्थान्वयः—**असंखकालं**—असंख्यातकाल की **उक्कोसं**—उत्कृष्ट और **जहन्नयं**—जघन्य **इक्कं समयं**—एक-समय-प्रमाण **एसा**—यह **ठिई**—स्थिति **रूवीणं**—रूपी **अजीवाण**—अजीव-द्रव्यों की **वियाहिया**—प्रतिपादन की गई है **य**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—रूपी अजीव-द्रव्य की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की और जघन्य एक समय की कही गई है।

टीका—स्कन्ध और परमाणु को कालसापेक्ष्य स्थिति से सादि-सान्त माना गया है, इसलिए प्रस्तुत गाथा में उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। सो परमाणु और स्कन्ध की जघन्य स्थिति तो एक समय की है और

उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की प्रतिपादन की गई है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि यदि परमाणु वा स्कन्ध किसी एक विवक्षित स्थान पर स्थिति करे तो उनका वह स्थितिकाल न्यून से न्यून एक समय का और अधिक से अधिक असंख्यात काल का होता है। इसके अनन्तर उनको किसी न किसी निमित्त को पाकर वहाँ से अवश्य अलग होना पड़ेगा, फिर उनकी दूसरी स्थिति चाहे उसी क्षेत्र में हो अथवा किसी क्षेत्रान्तर में हो।

इस प्रकार स्कन्ध और परमाणु की कालसापेक्ष्य स्थिति का वर्णन किया गया, अब इसी के अन्तर्गत अन्तर-द्वार अर्थात् पुद्गल के अन्तर-स्थितिद्वार का वर्णन करते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, अंतरेयं वियाहियं ॥१४॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, एकं समयं जघन्यकम्।
अजीवानाञ्च रूपिणाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—उक्कोसं—उत्कृष्ट अणंतकालं—अनन्तकाल जहन्नयं—जघन्य इक्कं—एक समयं—समय रूवीणं—रूपी—मूर्त अजीवाण—अजीव-द्रव्य का अंतरेयं—यह अन्तर वियाहियं—तीर्थंकरों ने कहा है।

मूलार्थ—रूपी अजीव-द्रव्य का जघन्य अन्तर एक समय का और उत्कृष्ट, अनन्त काल का तीर्थंकरों ने कथन किया है।

टीका—इस गाथा मे परमाणु आदि के विषय में काल-कृत् अन्तर का वर्णन किया गया है। शिष्य ने पूछा कि परमाणु अथवा स्कन्ध किसी विवक्षित आकाश-प्रदेश में स्थित हुए किसी निमित्तवशात् वहाँ से चल पड़े, उसके बाद वह परमाणु या स्कन्ध फिर उस आकाश प्रदेश में कब तक वापस आ सकता है? इस पर गुरु कहते हैं कि न्यून से न्यून तो एक समय के पश्चात् और अधिक से अधिक अनन्तकाल के पश्चात् वे उस आकाश-प्रदेश पर वापस आ जाते हैं। यह अन्तर-कालमान जघन्य और उत्कृष्ट है, मध्यम अन्तर-काल तो आवलिका से लेकर संख्यात और असंख्यात-काल-पर्यन्त माना गया है।

अब भाव से इनका निरूपण करते हैं। यथा—

वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥१५॥

वर्णतो गन्धतश्चैव, रसतः स्पर्शतस्तथा।
संस्थानतश्च विज्ञेयः, परिणामस्तेषां पञ्चधा ॥१५॥

पदार्थान्वयः—वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और एव-निश्चय मे रसओ-रस से तहा-तथा फासओ-स्पर्श से य-और संठाणओ-संस्थान से तेसि-उनका पंचहा-पाँच प्रकार का परिणामो-परिणाम—स्वभाव विन्नेओ-जानना।

मूलार्थ—स्कन्ध और परमाणु का—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (आकृति) से पाँच प्रकार का स्वरूप अथवा स्वभाव जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके पाँच भेद हैं।

टीका—रूपी अजीव-द्रव्यों की अनुभूति वर्ण, रस, गन्धादि के द्वारा होती है। ये रूपी द्रव्य के असाधारण धर्म हैं और इन्हीं से वह अपने स्वरूप में स्थित और निज स्वभाव से परिणत हो रहा है। ये गुण इसमें सदैव विद्यमान रहते हैं, तथा वह—रूपी द्रव्य—भी कभी इनसे पृथक् नहीं हो सकता। कारण यह है कि पदार्थ अपने स्वाभाविक गुण का कभी परित्याग नहीं करता। यदि कर दे तो उसका पदार्थत्व ही नष्ट हो जावे। जैसे कि सुवर्ण का स्वाभाविक गुण पीतता है; यदि उसका यह गुण नष्ट हो जावे, अथवा स्वर्ण अपने पीत गुण का परित्याग कर देवे तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इसलिए ये वर्ण-रस-गन्धादि पुद्गल के सदैव साथ में रहने वाले गुण हैं और इन्हीं के द्वारा पुद्गल-द्रव्य की स्वभाव-परिणति की उपलब्धि होती है।

अब उक्त वर्णादि गुणों मे से प्रत्येक गुण के अवान्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

वण्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
किण्हा नीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा ॥१६॥

वर्णतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
कृष्णा नीलाश्च लोहिताः, हारिद्राः शुक्लास्तथा ॥१६॥

पदार्थान्वयः—वण्णओ-वर्ण से परिणया-परिणत जे-जो—पुद्गल हैं ते-वे पंचहा-पाँच प्रकार के पकित्तिया-कहे गये हैं, यथा—किण्हा-कृष्ण नीला-नील य-और लोहिया-लोहित—लाल हालिद्दा-हारिद्र—पीला तहा-तथा सुक्किला-शुक्ल—सफेद उ-पादपूर्ति में हैं ।

मूलार्थ—पुद्गलों की वर्ण से जो परिणति होती है उसके पाँच भेद कहे हैं, यथा—काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत ।

टीका—इस गाथा में वर्ण—रंग—के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है । वर्ण के पाँच भेद कथन किये हैं—(१) कृष्ण—काला—कज्जल के समान, (२) नीला—नील के सदृश, (३) लोहित—लाल—हिंगुल के तुल्य, (४) हारिद्र—पीला—हलदी के समान और (५) शुक्ल—श्वेत—शंख के सदृश । तात्पर्य यह है कि इन पाँचों वर्णों से पुद्गल-द्रव्य परिणत हो रहा है ।

अब गन्ध के विषय में कहते हैं—

गंधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया ।
सुब्भिगंधपरिणामा, दुब्भिगंधा तहेव य ॥१७॥

गन्धतः परिणता ये तु, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
सुरभिगन्धपरिणामाः, दुर्गन्धास्तथैव च ॥१७॥

पदार्थान्वयः—गंधओ-गन्ध से परिणया-परिणत जे-जो पुद्गल हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-कथन किये हैं सुब्भिगंध-सुगन्धि में परिणामा-परिणत हुए य-फिर तहेव-उसी प्रकार दुब्भिगंधा-दुर्गन्ध में परिणत हुए ।

मूलार्थ—गन्ध से परिणत होने वाले पुद्गलों की दो प्रकार से परिणति होती है, सुगन्धरूप में और दुर्गन्धरूप में ।

टीका—गन्धरूप से परिणत होने वाले पुद्गलों के दो भेद प्रतिपादन किये गये हैं—सुरभिगन्ध—सुन्दर गन्ध—श्रीखण्डचन्दनादि जैसा; दुर्गन्ध—लशुन आदि के समान गन्ध वाला । तात्पर्य यह है कि गन्ध के सुगन्ध और दुर्गन्ध, इस प्रकार दो भेद हैं । तथाच, जैसे पुद्गल में पाँच वर्ण रहते हैं, उसी प्रकार दो गन्ध रहते हैं ।

अब रस के विषय में कहते हैं—

रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
तित्तकडुयकसाया , अंबिला महुरा तहा ॥१८॥

रसतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
तिक्तकटुककषायाः , अम्ला मधुरास्तथा ॥१८॥

पदार्थान्वयः—**रसओ**-रस से **जे**-जो पुद्गल **परिणया**-परिणत होते हैं **ते**-वे **पंचहा**-पाँच प्रकार के **पकित्तिया**-प्रतिपादन किये गये हैं **तित्त**-तीखा **कडुय**-कटुक **कसाया**-कसैला **अंबिला**-खट्टा **तहा**-तथा **महुरा**-मधुर **उ**-पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—रसरूप में परिणत होने वाले पुद्गल-द्रव्य के पाँच भेद कहे हैं; यथा—तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा और मीठा ।

टीका—रस-परिणति में पुद्गल-द्रव्य पाँच प्रकार से परिणत होता है । यदि सरल शब्दों में कहें तो पुद्गल में जो रस विद्यमान है उसके तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर, इस प्रकार पाँच भेद हैं । (१) मिर्च के समान तीक्ष्ण, (२) नीम के तुल्य कड़वा, (३) हरीतकी आदि के सदृश कसैला, (४) निम्बू आदि के समान खट्टा, और (५) मिश्री आदि के तुल्य मीठा, ये पाँच भेद रस के हैं, अर्थात् पुद्गलों में ये पाँच रस होते हैं ।

अब स्पर्शविषयक वर्णन करते हैं । यथा—

फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया ।
कक्खडा मउआ चेव, गरुआ लहुआ तहा ॥१९॥
सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया ।
इय फासपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया ॥२०॥

स्पर्शतः परिणता ये तु, अष्टधा ते प्रकीर्तिताः ।
कर्कशा मृदुकाश्चैव, गुरुका लघुकास्तथा ॥१९॥
शीता उष्णाश्च स्निग्धाश्च, तथा रूक्षाश्चाख्याताः ।
इति स्पर्शपरिणता एते, पुद्गलाः समुदाहृताः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—फासओ–स्पर्श से जे–जो पुद्गल उ–पादपूर्ति में है परिणया–परिणत होते हैं ते–वे अट्ठहा–आठ प्रकार के पकित्तिया–कथन किये गये हैं, यथा—कक्खडा–कर्कश—कठोर मउआ–मृदु—कोमल गरुआ–गुरु च–और लहुआ–लघु एव–निश्चय में सीया–शीतल उण्हा–उष्ण य–और निद्धा–स्निग्ध तहा–तथा लुक्खा–रूक्ष आहिया–कहा है इय–इस प्रकार फासपरिणया–स्पर्शरूप से परिणत हुए एए–ये पुग्गला–पुद्गल—स्कन्ध और परमाणु रूप समुदाहिया–सम्यक् प्रकार से कहे गये हैं ।

मूलार्थ—स्पर्शरूप से परिणत हुए पुद्गलों के आठ भेद कहे हैं; यथा—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष । इस प्रकार पुद्गलों की स्पर्श-परिणति में आठ प्रकार के स्पर्श कहे गये हैं ।

टीका—इस गाथायुग्म में पुद्गलों—परमाणुओं—में रहने वाले स्पर्श के आठ भेदों का उल्लेख किया गया है । तात्पर्य यह है कि वर्ण, गन्ध और रस की भाँति पुद्गल-द्रव्य में जो स्पर्श गुण विद्यमान है वह आठ प्रकार का माना है, यथा—(१) कर्कश स्पर्श—पाषाण आदि के स्पर्श की तरह कठोर, (२) मृदु स्पर्श—नवनीत आदि की तरह अत्यन्त कोमल, (३) गुरु—स्वर्णादि की भाँति गुरुतायुक्त—भारी स्पर्श, (४) लघु स्पर्श—अर्क-तूलादि की तरह अत्यन्त हलका, (५) शीत स्पर्श—हिम आदि के तुल्य अत्यन्त शीतल, (६) उष्ण स्पर्श—अग्नि के सदृश अत्यन्त गर्म,

(७) स्निग्ध स्पर्श—घृत तैल आदि की भाँति अत्यन्त चिकना, और (८) रूक्ष स्पर्श—भस्मादि के समान अत्यन्त रूखा। इस प्रकार स्पर्श गुण वाले पुद्गल में ये आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं। तथा पुद्गल का लक्षण है पूर्ण और गलन होना; अर्थात् जिसमें पूर्णता और गलनता ये दोनों धर्म विद्यमान हों उसको पुद्गल कहते हैं।

अब संस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।
परिमंडला य वट्टा य, तंसा चउरंससमायया॥२१॥

संस्थानतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
परिमण्डलाश्च वृत्ताश्च, त्र्यस्राश्चतुरस्रा आयताः॥२१॥

पदार्थान्वयः—संठाणओ परिणया-संस्थान से परिणत जे-जो पुद्गल हैं ते-वे पंचहा-पाँच प्रकार के पकित्तिया-कहे गये हैं परिमंडला-परिमंडलाकार य-और वट्टा-वृत्ताकार तंसा-त्रिकोणाकार चउरंसं-चतुष्कोण य-और आयया-दीर्घ तु-प्राग्वत्।

मूलार्थ—संस्थान से परिणत होने वाले पुद्गलों के पाँच भेद कथन किये गये हैं; यथा—परिमंडल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और दीर्घ।

टीका—संस्थान नाम आकृति या आकारविशेष का है। तात्पर्य यह है कि जिस आकार में स्कन्ध और परमाणु रहते हैं उस आकारविशेष को संस्थान कहते हैं। उस संस्थान या आकृतिविशेष के निम्नलिखित पाँच भेद कथन किये गये हैं—(१) परिमंडल—चूड़ी के समान गोल आकार को परिमंडल कहते हैं, (२) वृत्त—गेन्द की तरह वर्तुलाकार गोल आकृति को वृत्त कहते हैं, (३) त्र्यस्र—त्रिकोण का नाम है, (४) चतुरस्र—चार कोनों वाला अर्थात् चौकी के समान आकृतिवाला, (५) आयत—लम्बा, रज्जू के सदृश आकार वाला। इस प्रकार संस्थान की अपेक्षा से पुद्गल-द्रव्य के पाँच भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्हीं संस्थानों पर पुद्गल-द्रव्य का अवस्थान है।

अब इन पूर्वोक्त गुणों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कहते हैं—

वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२२॥

वर्णतो यो भवेत्कृष्णः, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२२॥

पदार्थान्वयः—वरणओ-वर्ण से जे-जो किरहे-कृष्ण भवे-होवे से-वह उ-फिर गंधओ-गन्ध से भइए-भाज्य है रसओ-रस से च-और फासओ-स्पर्श से च-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-निश्चयार्थक है।

मूलार्थ—जो पुद्गल कृष्ण वर्ण वाला है वह फिर गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भी भजनीय है; अर्थात् गन्धादि से भी युक्त है।

टीका—कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल में—२ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, इस प्रकार वीस गुणों की भजना है। तात्पर्य यह है कि कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल-पदार्थ में दो प्रकार के गन्ध में से कोई एक गन्ध अवश्य रहती है, तथा पाँच रसों में से कोई एक रस भी विद्यमान होगा, एवं आठ प्रकार के स्पर्श में कोई दो स्पर्श भी मौजूद होंगे और उसका पाँच प्रकार के संस्थानों में से कोई संस्थान भी अवश्य है। इस रीति से कृष्ण वर्ण से युक्त अनन्त-प्रदेशी पुद्गलस्कन्ध में गन्धादि २० गुणों की भजना समझ लेनी चाहिए, अर्थात् उक्त गन्धादि वीस गुणों में से कोई एक या दो गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान तो अवश्य होंगे। तथा इतना ध्यान रहे कि एक ही पुद्गल में सभी वर्ण, सभी गन्ध, सभी रस और सभी स्पर्श, तथा सभी संस्थान एक ही समय में नहीं होते; क्योंकि परस्पर विरोधी गुणों की एक ही समय में एक अधिकरण में निरपेक्ष स्थिति नहीं हो सकती। यथा एक ही कृष्ण वर्ण के पुद्गल-द्रव्य में अच्छी और बुरी दोनों ही गन्ध हो सकती हैं; अर्थात् काले रंग का पुद्गल-द्रव्य सुगन्धमय भी हो सकता और दुर्गन्धमय भी, परन्तु एक ही समय मे एक ही रूप से वह सुगन्धमय भी हो तथा दुर्गन्ध वाला भी हो ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार रस, स्पर्श और संस्थानादि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। तब इस सारे कथन का अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ पर वर्ण है वहाँ पर

गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि की भी भजना है; अर्थात् समुच्चयरूप से कृष्ण वर्ण के पुद्गल-स्कन्ध में—२ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ऐसे २० गुणों या बोलों की भजना—अपेक्षित स्थिति—समझनी चाहिए।

अब नीलवर्ण पुद्गल के विषय में कहते हैं। यथा—

वण्णओ जे भवे नीले, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२३॥

वर्णतो यो भवेन्नीलः, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२३॥

पदार्थान्वयः—वण्णओ-वर्ण से जे-जो नीले-नीला भवे-होवे से-वह उ-फिर भइए-भाज्य है गंधओ-गन्ध से रसओ-रस से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल वर्ण से नीला है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भी युक्त है; अर्थात् नील वर्ण वाले पुद्गल में भी—२ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थानों की भजना है।

टीका—यहाँ पर भी कृष्ण वर्ण की भाँति ही सारी व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

अब रक्तवर्ण पुद्गल के विषय में कहते हैं। यथा—

वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२४॥

वर्णतो लोहितो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२४॥

पदार्थान्वयः—वण्णओ-वर्ण से लोहिए-रक्तवर्ण जे-जो पुद्गल है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर गंधओ-गंध से रसओ-रस से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल वर्ण में लाल रंग वाला है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भी युक्त है। तात्पर्य यह है कि लाल वर्ण के पुद्गल में गन्ध रस, स्पर्श और संस्थान की भजना है अर्थात् ये गुण भी उसमें विद्यमान हैं।

अब पीतवर्ण के विषय मे कहते हैं। यथा—

वण्णओ पीयए जे उ, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२५॥

वर्णतः पीतो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२५॥

पदार्थान्वयः—वण्णओ–वर्ण से जे–जो पीयए–पीतवर्ण है से–वह उ–फिर भइए–भाज्य है गंधओ–गन्ध से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है।

मूलार्थ—पीत वर्ण के पुद्गल में भी—दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श और पाँच संस्थान होते हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर भी कृष्ण और नील वर्ण की तरह २० बोल अथवा गुणों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

अब शुक्लवर्ण के विषय मे कहते हैं—

वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२६॥

वर्णतः शुक्लो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२६॥

पदार्थान्वयः—वण्णओ–वर्ण से सुक्किले–शुक्लवर्ण जे–जो पुद्गल-द्रव्य है से–वह उ–फिर गंधओ–गंध से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध वर्ण से श्वेत वर्ण वाला है उसमें गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (आकृतिविशेष) की भजना है; अर्थात् श्वेत रंग के पुद्गल में भी गन्धादि २० प्रकार के गुण रहते हैं। सो इस प्रकार पाँचों वर्णों के कुल मिलाकर १०० बोल हो जाते हैं।

अब द्वितीय गुण (गन्ध) के विषय में कहते हैं—

गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२७॥

गन्धतो यो भवेत् सुरभिः, भाज्यः स तु वर्णतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२७॥

पदार्थान्वयः—गंधओ–गन्ध से जे–जो सुब्भी–सुगन्धि वाला भवे–है से–वह भइए–भाज्य है वण्णओ–वर्ण से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल सुगन्ध वाला है वह वर्ण से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भी भाज्य होता है; अर्थात् वर्णादि से भी युक्त होता है।

टीका—सुगन्धयुक्त पुद्गल-स्कन्ध में—पाँच वर्ण, आठ स्पर्श, पाँच रस और पाँच संस्थान, इस प्रकार २३ बोलों की भजना है; अर्थात् गन्धयुक्त पुद्गल-स्कन्ध मे इन उक्त २३ गुणों की यथासम्भव स्थिति होती है।

अब दुर्गन्ध के विषय में कहते हैं। यथा—

गंधओ जे भवे दुब्भी, भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२८॥

गन्धतो यो भवेद्दुर्गन्धः, भाज्यः स तु वर्णतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२८॥

पदार्थान्वयः—गंधओ–गन्ध से जे–जो पुद्गल दुब्भी–दुर्गन्ध वाला भवे–है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से रसओ–रस से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है एव–अवधारणार्थक है उ–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—गंध से जो पुद्गल-स्कन्ध दुर्गन्धमय है वह वर्ण से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भी भाज्य होता है; अर्थात् उसमें उक्त वर्णादि की भी स्थिति होती है।

टीका—सुगन्ध की तरह दुर्गन्धमय पुद्गल में भी वर्णादि २३ गुणों की यथासंभव स्थिति है। इस प्रकार सुगन्ध और दुर्गन्ध के कुल ४६ भेद होते हैं; अर्थात् २३ गुण सुगन्ध के और २३ दुर्गन्ध के।

अव रस के विषय में कहते हैं। यथा—

रसओ तित्तए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥२९॥

रसतस्तिक्तो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥२९॥

पदार्थान्वयः—रसओ–रस से जे–जो तित्तए–तिक्त है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और फासओ–स्पर्श से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है एव-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—रस से जो पुद्गल-स्कन्ध तिक्त है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—तिक्त रस वाले पुद्गल-स्कन्ध में—५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, इस प्रकार वीस वोलों की भजना है।

अव कटुक रस के विषय में कहते हैं। यथा—

रसओ कडुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३०॥

रसतः कटुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३०॥

पदार्थान्वयः—रसओ-रस से जे-जो कडुए-कटु है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गंध से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध रस से कटु है वह फिर वर्ण से, गन्ध से, स्पर्श से और संस्थान से भी भजनायुक्त है; अर्थात् उसमें उक्त वर्णादि बीस गुण भी यथासंभव स्थित हैं।

अब कषाय रस के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

रसओ कसाए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३१॥

रसतः कषायो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३१॥

पदार्थान्वयः—रसओ-रस से जे-जो कसाए-कषाय है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध रस से कषाय-रस-युक्त है उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भी यथासंभव स्थिति होती है।

टीका—तात्पर्य यह है कि कषाय रस वाले पुद्गल-द्रव्य में भी वर्णादि २० बोलों की भजना है।

अब आम्ल रस के विषय में कहते हैं—

रसओ अंबिले जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३२॥

रसत आम्लो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३२॥

पदार्थान्वयः—रसओ-रस से जे-जो अंबिले-आम्ल—खट्टा है से-वह उ-फिर भइए-भाज्य है वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-उ-प्राग्वत् ।

मूलार्थ—रस से जो पुद्गल-स्कन्ध आम्ल रस वाला है वह फिर वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भी भजनायुक्त है ।

टीका—आम्ल-रस-युक्त पुद्गल-स्कन्ध में भी—५ वर्ण, २ गंध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ऐसे वीस वोलों की भजना समझ लेनी चाहिए ।

अब मधुर रस के विषय में कहते हैं—

रसओ महुरए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३३॥

रसतो मधुरो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३३॥

पदार्थान्वयः—रसओ-रस से जे-जो महुरए-मधुर है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और फासओ-स्पर्श से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है उ-एव-पूर्व की भाँति ।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध रस से मधुर है वह फिर वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भी भाज्य—भजनायुक्त—है ।

टीका—मधुर-रस-युक्त पुद्गल-स्कन्ध में उक्त वर्णादि २० गुणों का भी यथासम्भव स्थान है; अर्थात् वे भी उसमें रहते हैं । इस प्रकार उक्त पाँचों रसों के भी १०० वोल होते हैं ।

अब आठ स्पर्शों के विषय में वर्णन का उपक्रम करते हुए प्रथम कर्कश स्पर्श के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३४॥

स्पर्शतः कर्कशो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३४॥

पदार्थान्वयः—फासओ–स्पर्श से जे–जो पुद्गल कक्खडे–कर्कश है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है एव-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—स्पर्श से जो पुद्गल-स्कन्ध कर्कश—कठोर—स्पर्श वाला है उसमें वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान की भी भजना होती है।

टीका—कर्कश स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध में भी वर्णादि की भाँति—५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ५ संस्थान, इस प्रकार १७ बोलों की भजना समझ लेनी चाहिए।

अब मृदु स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३५॥

स्पर्शतो मृदुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३५॥

पदार्थान्वयः—फासओ–स्पर्श से जे–जो मउए–मृदु है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गंध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य है एव-उ–इनका अर्थ पहले की तरह ही जानना।

मूलार्थ—स्पर्श से जो पुद्गल-स्कन्ध मृदु अर्थात् कोमल स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—मृदु स्पर्श वाले पुद्गल में भी वर्णादि १७ गुणों की भजना समझ लेनी चाहिए, अर्थात् मृदु स्पर्श की भाँति इन गुणों की भी यथासंभव स्थिति होती है।

अब गुरु स्पर्श के विषय में कहते हैं—

फासओ गुरुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३६॥

स्पर्शतो गुरुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३६॥

पदार्थान्वयः—फासओ–स्पर्श से जे–जो पुद्गल गुरुए–गुरु है भइए–भाज्य है से–वह उ–फिर वरणओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य होता है उ-एव–प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल गुरु स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त है; अर्थात् उसमें वर्णादि १७ गुणों की भी यथा-संभव स्थिति है।

अब लघु स्पर्श के सम्बन्ध मे कहते हैं—

फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३७॥

स्पर्शतो लघुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३७॥

पदार्थान्वयः—फासओ–स्पर्श से जे–जो लहुए–लघु है से–वह उ–फिर भइए–भाज्य है वरणओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा संठाणओवि–संस्थान से भी भइए–भाज्य होता है एव-उ–पूर्ववत्।

मूलार्थ—स्पर्श से जो पुद्गल लघु है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से, और संस्थान से भी भजना वाला है; अर्थात् वर्णादि १७ बोलों की उसमें भी भजना है।

अब शीत स्पर्श के विषय में कहते हैं—

फासओ सीयए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३८॥

स्पर्शतः शीतो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३८॥

पदार्थान्वयः—फासओ-स्पर्श से जे-जो पुद्गल सीयए-शीत स्पर्श वाला है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है उ-एव-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध स्पर्श में शीतल है वह फिर वर्ण, गन्ध, और रस तथा संस्थान से भी भजनायुक्त है।

अब उष्ण स्पर्श के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३९॥

स्पर्शत उष्णो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥३९॥

पदार्थान्वयः—फासओ-स्पर्श से जे-जो उण्हए-उष्ण है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य है एव-उ-पूर्ववत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध स्पर्श से उष्ण है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त होता है। और सब कुछ पूर्ववत् ही है।

अब स्निग्ध स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

फासओ निद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥४०॥

स्पर्शतः स्निग्धो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥४०॥

पदार्थान्वयः—फासओ-स्पर्श से जे-जो निद्धए-स्निग्ध है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य होता है एव-उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध स्निग्ध स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त है; अर्थात् उसमें वर्णादि १७ बोलों की भजना होती है।

अब रूक्ष स्पर्श के विषय में कहते हैं। यथा—

फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥४१॥

स्पर्शतो रूक्षो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥४१॥

पदार्थान्वयः—फासओ-स्पर्श से जे-जो लुक्खए-रूक्ष है भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा संठाणओवि-संस्थान से भी भइए-भाज्य होता है उ-एव-पादपूर्ति के लिये हैं।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध रूक्ष स्पर्श वाला है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा संस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध में वर्णादि १७ गुणों की भी यथा-संभव स्थिति होती है। इस प्रकार स्पर्श के कुल १३६ भेद होते हैं।

अब संस्थान के विषय में कहते हैं । यथा—

परिमंडलसंठाणे , भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४२॥

परिमण्डलसंस्थानः , भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४२॥

पदार्थान्वयः—**परिमंडलसंठाणे**—परिमंडल-संस्थान वाला जो पुद्गल-स्कन्ध है **से**—वह **भइए**—भाज्य है **उ**—फिर **वण्णओ**—वर्ण से **गंधओ**—गन्ध से **च**—और **रसओ**—रस से **य**—तथा **फासओवि**—स्पर्श से भी **भइए**—भाज्य है **एव-उ**—पादपूर्ति के लिये हैं ।

मूलार्थ—परिमंडल-संस्थान वाले पुद्गल-स्कन्ध में—पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श, इस प्रकार बीस गुणों की भजना होती है । इसकी व्याख्या भी पूर्ववत् ही जान लेनी चाहिए ।

अब वृत्त-संस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४३॥

संस्थानतो भवेद् वृत्तः, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४३॥

पदार्थान्वयः—**संठाणओ**—संस्थान से जो **वट्टे**—वृत्ताकार **भवे**—होवे **भइए**—भाज्य है **से**—वह **उ**—फिर **वण्णओ**—वर्ण से **गंधओ**—गन्ध से **च**—और **रसओ**—रस से **य**—तथा **फासओवि**—स्पर्श से भी **भइए**—भाज्य है **एव-उ**—पादपूर्त्यर्थक हैं ।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से वृत्ताकार—गोलाकार—है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा स्पर्श से भी भजनायुक्त है; अर्थात् वृत्त-संस्थान वाले पुद्गल में यथासंभव उक्त गुण भी रहते हैं । और व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

अव त्रिकोणसंस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४४॥

संस्थानतो भवेत् त्र्यस्रः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४४॥

पदार्थान्वयः—संठाणओ-संस्थान से जो तंसे-त्रिकोण भवे-होवे भइए-भाज्य है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा फासओवि-स्पर्श से भी भइए-भाज्य है एव-उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से त्रिकोण है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा स्पर्श से भी भजनायुक्त है; अर्थात् उसमें वर्ण, रस, गन्धादि भी यथासंभव रहते हैं।

अव चतुष्कोण-संस्थान के विषय में कहते हैं। यथा—

संठाणओ जे चउरंसे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४५॥

संस्थानतो यश्चतुरस्रः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४५॥

पदार्थान्वयः—संठाणओ-संस्थान से जे-जो चउरंसे-चतुष्कोण है से-वह उ-फिर वण्णओ-वर्ण से गंधओ-गन्ध से च-और रसओ-रस से य-तथा फासओवि-स्पर्श से भी भइए-भाज्य है एव-उ-प्राग्वत्।

मूलार्थ—और जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से चतुष्कोण होता है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भी भजनायुक्त है; अर्थात् उसमें वर्णादि उक्त बीस गुण भी यथासंभव रहते हैं।

अब आयत-संस्थान के सम्बन्ध में कहते हैं—

जे आययसंठाणे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥४६॥

य आयतसंस्थानः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥४६॥

पदार्थान्वयः—जे–जो आययसंठाणे–आयत-संस्थान वाला है भइए–भाज्य है से–वह उ–पुनः वण्णओ–वर्ण से गंधओ–गन्ध से च–और रसओ–रस से य–तथा फासओवि–स्पर्श से भी भइए–भाज्य है एव-उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से आयत—दीर्घ—है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भी भजनायुक्त है।

टीका—दीर्घाकार में परिणत होने वाले पुद्गल-स्कन्ध में—५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श भी यथासंभव विद्यमान होते हैं। जैसे कि कोई दीर्घाकार पुद्गल लाल वर्ण का और कोई काले वर्ण का, तथा किसी मे तिक्त रस और किसी में कषाय रस होता है। इसी प्रकार गन्ध और स्पर्शादि के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। इस रीति से संस्थान के १०० भेद होते हैं। इस प्रकार वर्ण से लेकर संस्थान-पर्यन्त उक्त क्रम के अनुसार सब के ४८२ भेद होते हैं, यथा—वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १००, स्पर्श के १३६ और संस्थान के १००, कुल मिलाकर ४८२ भंग बन जाते हैं। परन्तु प्रज्ञापनासूत्र के वृत्तिकार का स्पर्श के विषय में कुछ मतभेद है। वे आठ स्पर्शो के १८४ भेद मानते हैं। उनके मत में प्रत्येक स्पर्श के २३ भेद हैं। इस प्रकार २३×८=१८४ भेद हुए। उनका कथन है कि जो पुद्गल कर्कश स्पर्श वाला है उसमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ५ संस्थान और ६ स्पर्श रहते हैं, इस प्रकार कर्कश-स्पर्श के कुल २३ भेद हुए, कारण कि कर्कश-स्पर्श का प्रतिपक्षी जो मृदु-स्पर्श है उसको छोड़कर अविशिष्ट ६ स्पर्शों के लिए वहाँ पर कोई प्रतिबन्धक नहीं है, अर्थात् अवशिष्ट छओं स्पर्श भी वहाँ पर रहते हैं। इसी भाँति शीत-स्पर्श में उसके विरोधी उष्ण-स्पर्श को छोड़कर अवशिष्ट ६

स्पर्श रहेंगे। अतः वृत्तिकार के कथनानुसार कुल भेद ५३० होते हैं। परन्तु यहाँ पर इतना ध्यान अवश्य रहे कि वीतराग का कथन तो सदैव सत्य और मान्य है, किन्तु जिस नय के आश्रित होकर जिस आचार्य ने जिस तत्त्व का वर्णन किया है वह उस नय की अपेक्षा से उसी प्रकार मानना चाहिए। गीतार्थ को उसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं होता। इसलिए स्थूल-रूप से यहाँ पर उक्त भंगों का दिग्दर्शन कराया गया है और सूक्ष्म विचार से तो तरतम-भाव को लेकर इनके अनन्त भेद हो सकते हैं; कारण कि पुद्गल-द्रव्य की परिणति बहुत विचित्र है, अतः आगम के अनुसार जो कथन हो वह सब से अधिक श्रद्धेय होता है।

इस प्रकार रूपी अजीव-द्रव्य का संक्षेप से वर्णन करके, अब उसका उपसंहार तथा उत्तर विषय का उपक्रम करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एसा अजीवविभत्ती, समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥४७॥

एषाऽजीवविभक्तिः, समासेन व्याख्याता।
इतो जीवविभक्तिं, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥४७॥

पदार्थान्वयः—एसा–यह अजीवविभत्ती–अजीव-विभक्ति—अजीव-द्रव्य का विभाग समासेण–संक्षेप से वियाहिया–कही गई है इत्तो–इससे आगे जीवविभत्तिं–जीव-विभक्ति को अणुपुव्वसो–अनुक्रम से वुच्छामि–कहूँगा—अथवा कहता हूँ।

मूलार्थ—यह अजीव-द्रव्य का विभाग मैंने संक्षेप से कह दिया। अब इसके अनन्तर मैं क्रमपूर्वक जीव-द्रव्य के विभाग को कहूँगा, या कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में अजीव-द्रव्य के वर्णन का उपसंहार और जीव-द्रव्य के वर्णन का उपक्रम करने की प्रतिज्ञा करते हुए सूत्रकार ने प्रतिपाद्य विषय के पौर्वापर्य का दिग्दर्शन करा दिया है। आचार्य कहते हैं कि अजीव-द्रव्य और उसके भेदों का तो मैंने संक्षेप से वर्णन कर दिया, अब इसके अनन्तर मैं जीव-द्रव्य के अवान्तर भेदों का वर्णन करता हूँ। यह प्रतिपाद्य-विषयसम्बन्धी प्रतिज्ञा है।

सारांश यह है कि संक्षेप से जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व हैं और सब कुछ इन्हीं दोनों का विस्तारमात्र है। सो अजीवत्व का वर्णन तो हो चुका, अब जीवत्व का वर्णन किया जाता है इत्यादि।

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार अब जीव-तत्त्व के विभाग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥४८॥
संसारस्थाश्च सिद्धाश्च, द्विविधा जीवा व्याख्याताः।
सिद्धा अनेकविधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः शृणु ॥४८॥

पदार्थान्वयः—संसारत्था–संसार में रहने वाले य–और सिद्धा–सिद्धगति को प्राप्त हुए दुविहा–दो प्रकार के जीवा–जीव वियाहिया–कथन किये गये हैं सिद्धा–सिद्ध अणेगविहा–अनेक प्रकार के वुत्ता–कहे गये हैं तं–उनको कित्तयओ–कीर्तन करते हुए मे–मुझसे सुण–श्रवण करो।

मूलार्थ—संसार में रहने वाले और सिद्धगति को प्राप्त हुए, इस प्रकार जीवों के दो भेद हैं; उनमें (उपाधिभेद से) सिद्धों के अनेक भेद कहे हैं, उन सब को तुम मुझसे सुनो।

टीका—चैतन्य—उपयोग, यह जीव का लक्षण पीछे बतलाया जा चुका है। जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और सिद्ध। संसारचक्र में भ्रमण करने वाले जीव संसारी कहलाते हैं और जो जीव सिद्धगति—मोक्षगति—को प्राप्त हो चुके हैं उनको सिद्ध कहते हैं। उपाधिभेद से सिद्धों के भी अनेक भेद हैं, सो शास्त्रकार प्रथम इन्ही के भेदों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं। यद्यपि उल्लिखित क्रम के अनुसार प्रथम संसारी जीवों का वर्णन प्राप्त होता है, तथापि संसारी जीवों की अपेक्षा सिद्धों का विषय स्वल्प होने से सूचीकटाह-न्याय के अनुसार प्रथम सिद्धों के भेदों का ही उपक्रम किया गया है। तथा सूत्र में 'तं' तान् के स्थान में, और 'सुण' शृणुत के स्थान पर आर्ष प्रयोग किया है।

अब उपाधिभेद से सिद्धों में होने वाले भेदों का वर्णन करते हैं—

इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥४९॥

स्त्री पुरुषसिद्धाश्च, तथैव च नपुंसकाः।
स्वलिङ्गा अन्यलिङ्गाश्च, गृहिलिङ्गास्तथैव च ॥४९॥

पदार्थान्वयः—इत्थी—स्त्रीलिंग-सिद्ध य—और पुरिससिद्धा—पुरुषलिंग-सिद्ध तहेव—उसी प्रकार य—फिर नपुंसगा—नपुंसकलिंग-सिद्ध सलिंगे—स्वलिंग में सिद्ध य—और अन्नलिंगे—अन्यलिंग में सिद्ध तहेव—उसी प्रकार गिहिलिंगे—गृहस्थलिंग मे सिद्ध होता है य—च शब्द से अन्य तीर्थ-सिद्धादि का ग्रहण कर लेना चाहिए।

मूलार्थ—स्त्रीलिंग-सिद्ध, पुरुषलिंग-सिद्ध, नपुंसकलिंग-सिद्ध, स्वलिंग-सिद्ध, अन्यलिंग-सिद्ध और गृहस्थलिंग-सिद्ध, तथा चकार से तीर्थादि-सिद्ध, ये सिद्धों के भेद हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सिद्धों के उपाधिकृत भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस जीवात्मा के ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्म क्षय हो गये हों, तथा केवल-ज्ञान को प्राप्त करके वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त बल-वीर्य का धारक हो गई हो वही सिद्ध-पद को प्राप्त होती है। सो इस प्रकार की आत्मा चाहे स्त्रीलिंग में या पुरुषलिंग में अथवा नपुंसकलिंग मे हो, तथा रजोहरण और मुखवस्त्रिका आदि स्वलिंग मे हो, अथवा अन्य शाक्यादि के लिंग मे हो और चाहे गृहस्थ के लिंग मे हो; तात्पर्य कि जिस आत्मा ने कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लिया है वह वीतराग आत्मा चाहे किसी भी वेष मे क्यों न हो उसका सिद्धपद—मोक्षपद—को प्राप्त होना निःसन्देह है। क्योंकि बाह्य लिंग—वेष—मोक्ष का प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु मोक्ष का प्रतिबन्धक अन्दर का राग और द्वेष ही है, इसलिए जो आत्मा राग और द्वेष से रहित समभाव-भावित हो गया है उसकी सिद्धगति में अणुमात्र भी सन्देह नहीं। तथा विपरीत इसके जिस आत्मा मे राग और द्वेष विद्यमान है उसका बाह्य वेष कितना

ही उज्ज्वल क्यों न हो, मोक्ष का दरवाजा तो उसके लिए बन्द ही है। इसलिए किसी बाह्य-लिंगविशेष का मोक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। प्रस्तुत गाथा से शास्त्रकारों की निष्पक्षता का भी खूब परिचय मिलता है; कारण कि उन्होंने किसी भी वेष वाले को मोक्ष का अनधिकारी नहीं बतलाया किन्तु वीतरागता को ही मोक्ष का सर्वोपरि साधन कथन किया है, सो वीतरागता का सम्बन्ध केवल आत्मा से है और आत्मा सब की समान है, अतः मोक्षाभिलाषी आत्मा को सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से विभूषित होते हुए वीतरागता का सम्पादन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा एक अमूर्त पदार्थ है, अतः उसका लिंगभेद नहीं होता। लिंगभेद तो केवल उपाधिजन्य है। तथा इस गाथा के द्वारा विना किसी रोक-टोक के मनुष्यमात्र को मोक्ष के अधिकार की सूचना दी गई है जोकि समुचित ही है। इसके अतिरिक्त दीपिका-वृत्ति-कार का कथन है कि कृत-नपुंसक ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, जन्म-सिद्ध नपुंसक नहीं। कारण यह है कि उसकी कामोपशांति नहीं हो सकती और विना कामोपशांति के मोक्ष प्राप्त नहीं होता, इसलिए 'नपुंसक' शब्द का अर्थ यहाँ पर 'कृत-नपुंसक' ही करना चाहिए। यथार्थ तत्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए इस पर अधिक ऊहापोह करना अनावश्यक है। तथा अन्य सूत्रों में जो सिद्धों के १५ भेद माने हैं उन सब का इन्हीं ६ भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः विरोध की संभावना अकिंचित्कर है, और संक्षेप तथा विस्तार की दृष्टि से भी भिन्न २ लेखों का समन्वय सुकर है। गाथा में आये हुए च शब्द से भी यावन्मात्र तीर्थादि उपाधियाँ हैं उन सब का ग्रहण कर लेने से विरोध की कोई संभावना नहीं रहती।

अब क्षेत्रसिद्धों की अवगाहना का वर्णन करते हैं। यथा—

उक्कोसोगाहणाए य, जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य ॥५०॥

उत्कृष्टावगाहनायाश्च, जघन्यमध्यमयोश्च ।
ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च, समुद्रे जले च ॥५०॥

पदार्थान्वयः—उक्कोसोगाहणाए-उत्कृष्ट अवगाहना मे सिद्ध हुए य-और जहन्न-जघन्य अवगाहना में सिद्ध हुए य-तथा मज्झिमाइ-मध्यम अवगाहना में सिद्ध हुए उड्ढं-ऊर्ध्वलोक में य-और अहे-अधोलोक में च-तथा तिरियं-तिर्यक्—तिरछे—लोक में समुद्दम्मि-समुद्र मे य-और जलम्मि-जल मे—नदी आदि जलाशयों में य-अन्य पर्वतादि मे सिद्ध हुए ।

मूलार्थ—उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम, सब प्रकार की अवगाहना में सिद्ध हो सकते हैं; तथा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में भी सिद्ध हो सकते हैं; एवं समुद्र, नदी, जलाशय और पर्वतादि पर भी सिद्ध हो सकते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सिद्धगति को प्राप्त होने वाले जीवात्माओं की अवगाहना, तथा जिस २ क्षेत्र—स्थान—से वे सिद्धगति को जाते हैं उन २ स्थानों का दिग्दर्शन कराया गया है । अंतिम शरीर वाले जीव, शरीर त्याग के समय जिस अवगाहना में हों उसी मे वे मोक्षगति को प्राप्त करते हैं । तात्पर्य यह है कि अन्तिम शरीर-त्याग के समय उनके शरीर की जो अवस्था हो, उसी रूप में उनके आत्मप्रदेश शरीर में से निकलकर ऊपर सिद्धगति को प्राप्त हो जाते हैं, उस समय उनके शरीर की अवगाहना चाहे उत्कष्ट हो, चाहे जघन्य अथवा मध्यम । यदि जघन्य होगी तो आत्मप्रदेश भी जघन्य अवगाहना में होंगे और उत्कृष्ट होगी तो उत्कृष्ट अवगाहना मे रहेंगे, एवं मध्यम मे मध्यम अवगाहना होगी । जघन्य अवगाहना दो हाथ की होती है और उत्कृष्ट ५०० धनुप की कही है, तथा उत्कृष्ट से न्यून और जघन्य से अधिक मध्यम अवगाहना है । जिन आत्माओं के ज्ञानावरणादि कर्म सर्वथा क्षय हो चुके हैं वे ऊर्ध्वलोक—मेरुचूलिका आदि से भी मोक्ष को जा सकती हैं। अधोलोक—मनुष्यलोक और तिर्यक्लोक—अर्द्ध तृतीय द्वीप समुद्रा से भी मोक्ष को जाती हैं; एवं समुद्र, नदी, जलाशय और पर्वत आदि पर से भी मुक्त होती हैं । तात्पर्य यह है कि अढाई द्वीप में किसी स्थान पर से भी मोक्षगमन में निषेध नहीं, किन्तु राग-द्वेष का आत्यन्तिक क्षय करने वाला जीव जहाँ कहीं भी हो वहाँ से ही मोक्ष मे गमन कर सकता है, अतः वीतराग आत्मा के सिद्धगति को प्राप्त करने में कोई भी क्षेत्र प्रतिबन्धक नहीं है ।

अब स्त्री, पुरुष और नपुंसक मे से, एक समय में होने वाले सिद्धों की संख्या का वर्णन करते हैं। यथा—

दस य नपुंसएसुं, वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥५१॥

दश च नपुंसकेषु, विंशतिः स्त्रीषु च।
पुरुषेषु चाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति ॥५१॥

पदार्थान्वयः—दस-दस नपुंसएसुं-नपुंसकों मे य-और वीसं-बीस इत्थियासु-स्त्रियों में य-तथा अट्ठसयं-एक सौ आठ पुरिसेसु-पुरुषों में समएणेगेण-एक समय में सिज्झई-सिद्ध होते हैं य-उत्तर के समुच्चय में।

मूलार्थ—एक समय में दस नपुंसक-लिंगी, बीस स्त्री-लिंगी और एक सौ आठ पुरुष-लिंगी जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—स्त्री, पुरुष और नपुंसक, इनमें से एक समय में कितनी २ संख्या में जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि नपुंसक १०, स्त्री २० और पुरुष १०८ की संख्या में सिद्धपद को प्राप्त करते हैं। यहाँ पर पुरुष की अधिक संख्या उसकी विशिष्टता से है, अर्थात् पुरुष में इनकी अपेक्षा अधिक योग्यता है अतः वे अधिक संख्या में मुक्त होते हैं।

पुनः इसी विषय मे कहते हैं—

चत्तारि य गिहलिंगे, अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥५२॥

चत्वारश्च गृहलिङ्गे, अन्यलिङ्गे दशैव च।
स्वलिङ्गेनाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति ॥५२॥

पदार्थान्वयः—चत्तारि-चार गिहलिंगे-गृहस्थलिंग में य-और अन्नलिंगे-अन्यलिंग मे दसेव-दश ही य-तथा सलिंगेण-स्वलिंग में अट्ठसयं-एक सौ आठ समएणेगेण-एक समय मे सिज्झई-सिद्ध होते हैं।

मूलार्थ—तथा गृहस्थलिंग में चार, अन्य लिंग में दश और स्वलिंग में एक सौ आठ, एक समय में सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—एक समय में गृहस्थलिंग से ४, अन्यलिंग से १० और स्वलिंग से १०८ सिद्ध होते हैं। इस कथन से स्वलिंग की विशेषता सूचित होती है जो कि उसके अनुरूप ही है। कारण यह है कि स्वलिंग तो प्रायः होता ही मोक्ष के लिए है, अतएव उस लिंग मे विशेष सिद्ध हों यह स्वाभाविक ही है।

अब अवगाहना की अपेक्षा से सिद्धगति को प्राप्त होने वाले जीवों की संख्या का उल्लेख करते हैं। यथा—

उक्कोसोगाहणाए य, सिज्झंते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए, जवमज्झट्ठुत्तरं सयं ॥५३॥

उत्कृष्टावगाहनायाञ्च , सिध्यतो युगपद् द्वौ।
चत्वारो जघन्यायाम्, मध्यायामष्टोत्तरं शतम् ॥५३॥

पदार्थान्वयः—उक्कोसोगाहणाए-उत्कृष्ट अवगाहना मे जुगवं-युगपत्—एक समय मे दुवे-दो जीव सिज्झंते-सिद्धगति को प्राप्त होते हैं जहन्नाए-जघन्य अवगाहना मे चत्तारि-चार सिद्ध होते हैं जवमज्झे-मध्यम अवगाहना मे अट्ठुत्तरं-सयं-एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।

मूलार्थ—एक समय में जघन्य अवगाहना से चार, उत्कृष्ट अवगाहना से दो और मध्यम अवगाहना से एक सौ आठ जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव एक समय मे दो सिद्ध होते हैं, तथा जघन्य अवगाहना वाले जीव एक समय में चार सिद्ध होते हैं और मध्यम अवगाहना वाले जीवों की संख्या एक सौ आठ होती है। उक्त गाथा के चतुर्थ चरण का अर्थ इस प्रकार है—"जवमज्झट्ठुत्तरं सयं—यवमध्याष्टोत्तरं शतम्" अर्थात् जिस प्रकार यव का मध्य भाग होता है तद्वत् मध्यम अवगाहना होती है।

१ जवमज्झत्ति—यवमध्यमिव यवमध्यं मध्यमावगाहना तस्याम् अष्टोत्तरं शतम्।

अब क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्धों की संख्या का प्रतिपादन करते हैं—

चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे,
तओ जले वीसमहे तहेव य ।
सयं च अट्ठुत्तरं तिरियलोए,
समएणेगेण सिज्झई धुवं ॥५४॥

चत्वार ऊर्ध्वलोके च द्वौ समुद्रे,
त्रयो जले विंशतिरधस्तथैव च ।
शतञ्चाष्टोत्तरं तिर्यग्लोके,
समयेनैकेन सिध्यन्ति ध्रुवम् ॥५४॥

पदार्थान्वयः—चउरुड्ढलोए—ऊर्ध्व-लोक से चार य—और दुवे—दो समुद्दे—समुद्र से तओ—तीन जले—शेष जलों में तहेव—उसी प्रकार वीसं—बीस अहे—अधोलोक में च—तथा अट्ठुत्तरं सयं—अष्टोत्तर शत—१०८ तिरियलोए—तिर्यक्-लोक में धुवं—निश्चय ही समएणेगेण—एक समय में सिज्झई—सिद्धगति को प्राप्त होते हैं उ—प्रागवत् ।

मूलार्थ—एक समय में—ऊर्ध्वलोक में से ४, समुद्र में से २, नदी तथा अन्य जलाशयों में से ३, अधोलोक में से २० और तिर्यक्-लोक में से १०८ जीव सिद्ध होते हैं ।

टीका—मेरु पर्वत की चूलिकादि ऊँचे लोक से एक समय में ४ जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं; एवं लवणोदधि तथा कालोदधि में से २, नदी आदि अन्य जलाशयों में से ३, नीचे के लोक में से २० और मध्यलोक से १०८ जीव एक समय मे सिद्धगति को प्राप्त करते हैं ।

नोट—किसी २ प्रति में इस ५४ वीं गाथा के स्थान में निम्नलिखित पाठ की दो गाथा देखने में आती हैं । यथा—

चउरो उड्ढलोगम्मि, वीसं पुहुत्त अहे भवे । सयं अट्ठोत्तरं तिरिए, एगसमएण सिज्झई ॥१॥
[illegible]

(सिद्धों के विषय में कुछ जानने योग्य प्रश्न और उनके उत्तर)

शिष्य पूछता है कि हे भगवन्—

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झई ॥५५॥

क्व प्रतिहताः सिद्धाः, क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ।
क्व शरीरं त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥५५॥

पदार्थान्वयः—कहिं—कहाँ पर सिद्धा—सिद्ध पडिहया—रुकते हैं कहिं—कहाँ पर सिद्धा—सिद्ध पइट्ठिया—प्रतिष्ठित—ठहरे हुए हैं कहिं—कहाँ पर बोंदिं—शरीर को चइत्ताणं—छोड़कर कत्थ—कहाँ पर गंतूण—जाकर सिज्झई—सिद्ध होते हैं ।

मूलार्थ—सिद्ध किस स्थान पर जाकर रुकते हैं ? किस स्थान पर प्रतिष्ठित हैं ? तथा कहाँ पर शरीर छोड़कर कहाँ सिद्ध होते हैं ?

टीका—प्रस्तुत गाथा में चार प्रश्नों का वर्णन किया गया है, यथा—(१) सिद्ध जीव कहाँ पर जाकर रुकते हैं ? (२) कहाँ जाकर ठहरते हैं ? (३) कहाँ पर अन्तिम शरीर को छोडकर, (४) कहाँ जाकर सिद्धगति को प्राप्त करते हैं ? इन प्रश्नों का तात्पर्य यह है कि कर्म-मल से सर्वथा पृथक् हुए जीव को ऊर्ध्वगति अवश्य करनी पड़ती है, क्योंकि वह स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करने वाला है, अतः जब वह कर्म-मल से रहित होकर ऊपर को गमन करेगा तो उसकी गति का निरोध कहाँ पर होगा, अर्थात् उसकी गति कहाँ जाकर रुकेगी ? यह पहला प्रश्न है । दूसरा प्रश्न उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे है, अर्थात् वह कहाँ पर ठहरेगा ? और तीसरे प्रश्न मे उसकी शरीर-त्याग-सम्बन्धी व्यवस्था पूछी गई है, तथा चौथे मे सिद्धि-स्थान के बारे में पूछा गया है इत्यादि ।

अब शास्त्रकार इन पूर्वोक्त प्रश्नों का क्रमपूर्वक उत्तर देते हैं । यथा—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥५६॥

अलोके प्रतिहताः सिद्धाः, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः ।
इह शरीरं त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥५६॥

पदार्थान्वयः—अलोए-अलोक में सिद्धा-सिद्ध पडिहया-प्रतिहत होते हैं—रुकते हैं य-और लोयग्गे-लोक के अग्रभाग में पइट्ठिया-प्रतिष्ठित हैं इहं-यहाँ बोंदिं-शरीर को चइत्ताणं-त्यागकर तत्थ-लोक के अग्र भाग में गंतूण-जाकर सिज्झई-सिद्ध होते हैं ।

मूलार्थ—अलोक में जाकर सिद्ध रुकते हैं, लोक के अग्र भाग में ठहरते हैं और इस मनुष्यलोक में शरीर को छोड़कर, लोक के अग्र भाग में सिद्धगति को प्राप्त होते हैं ।

टीका—इस गाथा के द्वारा पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर दिया गया है । कर्म-निर्मुक्त जीव, ऊर्ध्वगमन करता हुआ लोक के अन्त तक पहुँचकर रुक जाता है; कारण यह है कि उसकी गति धर्मास्तिकाय के आश्रित है और धर्मास्तिकाय की सत्ता लोक से आगे नहीं, इसलिए मुक्त जीव के गमन का लोक के अन्त में जाकर निरोध हो जाता है । तात्पर्य यह है कि मुक्त जीवात्मा की ऊर्ध्वगति अलोक में प्रतिहत हो जाती है—रुक जाती है, यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है । इस प्रकार धर्मास्तिकाय के द्वारा ऊर्ध्वगति में प्रवृत्त हुई मुक्त आत्मा लोक के अग्र भाग में जाकर प्रतिष्ठित हो जाती है—ठहर जाती है, यह दूसरे प्रश्न का उत्तर है । तथा मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी जीव कर्म-बन्धन को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता; अर्थात् सिद्धगति की प्राप्ति का अधिकार एकमात्र मानवभव में आये हुए जीवात्मा को ही है अन्य योनि के जीव को नहीं, इसलिए सिद्धगति को प्राप्त करने वाली जीवात्मा इस शरीर का परित्याग करके मनुष्य-लोक से ऊर्ध्वगमन करती हुई लोक के अग्र भाग में सिद्धगति को प्राप्त हो जाती है, यह तीसरे और चौथे प्रश्न का समाधान है । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि कर्म-निर्मुक्त जीवात्मा की ऊर्ध्वगति के बिना अन्य तिर्यक् आदि कोई गति नहीं होती, अतः ऊर्ध्वगति करती हुई वह लोक के अन्त भाग में जाकर प्रतिष्ठित हो जाती है ।

लोकाग्र ईषत्प्राग्भारा पृथिवी के ऊपर है, सो शास्त्रकार अब प्राग्भारा पृथिवी के संस्थान और वर्णादि के विषय में कहते हैं—

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसिपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥५७॥

द्वादशभिर्योजनैः, सर्वार्थस्योपरि भवेत्।
ईषत्प्राग्भारनाम्नी तु, पृथिवी छत्रसंस्थिता ॥५७॥

पदार्थान्वयः—बारसहिं—द्वादश जोयणेहिं—योजन-प्रमाण सव्वट्ठस्सुवरिं—सर्वार्थसिद्धि विमान के ऊपर भवे—है ईसिपब्भारनामा—ईषत्-प्राग्भार-नामा पुढवी—पृथिवी छत्त- छत्र के आकार मे संठिया—अवस्थित है उ—प्राग्वत्।

मूलार्थ—सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भार नाम की पृथिवी छत्र के आकार में अवस्थित है।

टीका—यद्यपि यह पृथिवी सिद्ध-शिला के नाम से ही प्रसिद्ध है, तथापि इसका ईषत्-प्राग्भारा भी शास्त्रविहित नाम है। तथा छत्र के आकार मे अवस्थित कहने का अभिप्राय उत्तान किये हुए छत्र से है; अर्थात् ऊपर को उलटे ताने हुए छत्र का जैसा आकार होता है उसके समान आकार वाली वह पृथिवी है। सारांश यह है कि—इस लोक में सारी आठ पृथिवियाँ हैं जिनमे सात तो अधोलोक में हैं और आठवीं पृथिवी ऊर्ध्वलोक में है जो कि ईषत्-प्राग्भारा या सिद्धशिला के नाम से शास्त्रों मे विख्यात है।

अब फिर प्रस्तुत विषय में ही कहते हैं। यथा—

पणयालसयसहस्सा, जोयणाणं तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिण्णा, तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥५८॥

पञ्चचत्वारिंशत्शतसहस्राणि, योजनानां त्वायता।
तावती चैव विस्तीर्णा, त्रिगुणस्तस्या एव परिरयः ॥५८॥

पदार्थान्वयः—पणयाल—पैंतालीस सयसहस्सा—लाख जोयणाणं—योजन की तु—तो आयया—लम्बी च—और तावइयं—उतनी ही वित्थिण्णा—विस्तीर्ण—चौड़ी—

फिर तिगुणो–तीन गुणा अधिक तस्सेव–उसी की परिरश्रो–परिधि है एव–निश्चय में है।

मूलार्थ—वह ईषत्-प्राग्भारा पृथिवी (सिद्धशिला) पैंतालीस लाख योजन की तो लम्बी और उतनी ही चौड़ी है, तथा उसकी परिधि कुछ अधिक तीन गुणी है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उस स्थान की लम्बाई, चौड़ाई और परिधि का उल्लेख किया गया है। उसकी लम्बाई पैंतालीस लाख योजन की और उतनी ही चौडाई है—तथा उसकी परिधि (घिराव) कुछ अधिक तिगुनी, अर्थात् एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ ऊनचास योजन से कुछ अधिक कथन की गई है।

अब फिर इसी के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

अट्ठजोयणबाहुल्ला , सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायंती चरिमंते, मच्छिपत्ताउ तणुयरी ॥५९॥

अष्टयोजनबाहुल्या , सा मध्ये व्याख्याता।
परिहीयमाणा चरमान्ते, मक्षिकापत्रात्तु तनुतरा ॥५९॥

पदार्थान्वयः—सा–वह पृथिवी अट्ठजोयण–आठ योजन प्रमाण बाहुल्ला–स्थूलता वाली मज्झम्मि–मध्य भाग में वियाहिया–कही गई है, फिर वह परिहायंती–सर्व प्रकार से हीन होती होती चरिमंते–अन्त में मच्छिपत्ताउ–मक्षिका-पत्र से भी तणुयरी–अधिक पतली है।

मूलार्थ—वह पृथिवी (सिद्धशिला) मध्य में आठ योजन प्रमाण स्थूल—मोटी है। तथा फिर वह सर्व प्रकार से हीन होती होती मक्षिकापत्र—मक्खी के पर—से भी अधिक पतली हो गई है।

टीका—इस गाथा मे उक्त स्थान की स्थूलता और सूक्ष्मता का वर्णन किया गया है। वह पृथिवी मध्य में आठ योजन प्रमाण मोटी है, और चारों ओर से हीन होती २ चरमान्त में वह मक्खी के परों से भी पतली रह गई है। यहाँ

पर इतना ध्यान रहे कि—आठ योजन प्रमाण में, अवचूरीकार ने तो उत्सेधांगुल से प्रमाण की कल्पना की है, परन्तु अनुयोगद्वार में शाश्वत वस्तु के लिए प्रमाणांगुल का प्रमाण स्वीकार किया है।

अब पुनः इसी विषय में कहते हैं—

अज्जुणसुवण्णगमई ,
सा पुढवी निम्मला सहावेणं ।
उत्ताणगच्छत्तगसंठिया य,
भणिया जिणवरेहिं ॥६०॥

अर्जुनसुवर्णकमयी ,
सा पृथिवी निर्मला स्वभावेन ।
उत्तानकच्छत्रकसंस्थिता च,
भणिता जिनवरैः ॥६०॥

पदार्थान्वयः—अज्जुण–श्वेत सुवण्णगमई–सुवर्णमयी सा–वह पुढवी–पृथिवी निम्मला–निर्मल है सहावेणं–स्वभाव से उत्ताणग–उत्तानक छत्तग–छत्रक के संठिआ–संस्थान—आकार—पर है जिणवरेहिं–जिनेन्द्रों ने भणिया–कहा है।

मूलार्थ—वह पृथिवी स्वभाव से निर्मल, श्वेत, सुवर्णमयी और उत्तान छत्र के समान आकार वाली जिनेन्द्र देवों ने कही है।

टीका—वह ईषत्-प्राग्भार नाम की पृथिवी स्वभाव से ही श्वेत सुवर्ण के सदृश और अत्यन्त निर्मल तथा उत्तान छत्र के आकार-जैसी है। इस कथन से उसकी कृत्रिमता का निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि वह पृथिवी अनादि काल से ही उत्तान छत्र के आकार में अवस्थित है, तथा श्वेत सुवर्णमयी कहने से सुवर्ण की भी अनेक जातियाँ सूचित होती हैं और जिनेन्द्र-कथित होने से इसकी प्रामाणिकता ध्वनित की है[1]।

१—बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को मूल में ग्रहण नहीं किया, परन्तु अन्य सब मूल प्रतियों में इसका उल्लेख देखने में आता है।

अब फिर कहते हैं कि—

संखंककुंदसंकासा , पंडुरा निम्मला सुहा ।
सीयाए जोयणे तत्तो, लोयंतो उ वियाहिओ ॥६१॥

शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा , पाण्डुरा निर्मला शुभा ।
सीताया योजने ततः, लोकान्तस्तु व्याख्यातः ॥६१॥

पदार्थान्वयः—संख-शंख अंक-अंक—रत्नविशेष कुंद-कुन्दपुष्प, इनके संकासा-समान पंडुरा-श्वेत निम्मला-निर्मल सुहा-शुभ सीयाए-सीता नाम की पृथिवी के ऊपर जोयणे-योजन के अन्तर में तत्तो-उस पृथिवी से लोयंतो-लोकान्त भाग वियाहिओ-कथन किया है ।

मूलार्थ—वह पृथिवी शंख, अंक और कुन्दपुष्प के समान अत्यन्त श्वेत, निर्मल और कल्याण को देने वाली है, तथा सीता नाम की उस पृथिवी के ऊपर एक योजन के अन्तर में लोकान्त भाग है, ऐसा तीर्थंकर देवों ने प्रतिपादन किया है ।

टीका—जैसे शंख श्वेत होता है, तथा जैसे अंक-रत्न श्वेत और कांतिमय होता है, अथवा जिस प्रकार का सुन्दर श्वेत वर्ण वाला मुचकुन्द का पुष्प होता है, ठीक उसी प्रकार की अत्यन्त निर्मल और श्वेत-वर्ण-युक्त तथा कल्याण वा सुखकारक वह पृथिवी है । उसके ऊपर एक योजन के अन्तर में लोकान्त है; अर्थात् उस पृथिवी से लोकान्त एक योजन के अन्तर में है । तथा अन्य नामों की भाँति उस पृथिवी का 'सीता' यह नाम भी है ।

अब लोकान्त में सिद्ध जीवों की स्थिति के विषय में कहते हैं—

जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे ।
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६२॥

योजनस्य तु यस्तत्र, क्रोश उपरिवर्त्ती भवेत् ।
तस्य क्रोशस्य षड्भागे, सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥६२॥

पदार्थान्वयः—जोयणस्स-योजन के जो-जो तत्थ-ईषत्-प्राग्भार के उवरिमो-ऊपर का कोसो-कोस भवे-है तस्स-उस कोसस्स-कोस के छब्भाए-छठे भाग में सिद्धाण-सिद्धों की ओगाहणा-अवगाहना भवे-होती है।

मूलार्थ—ईषत्-प्राग्भार-प्रमा के, योजन के ऊपर के, कोस के छठे भाग के प्रमाण में, सिद्धों की अवगाहना प्रतिपादन की गई है।

टीका—ईषत्-प्राग्भारा पृथिवी के ऊपर जिस एक योजन के अन्तर में लोकान्त का प्रतिपादन किया है, उस योजन का जो ऊपर का कोस है उस कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना स्वीकार की है। इसका स्फुट भावार्थ यह है कि, २००० धनुष का एक कोस होता है, तथा ३३३ धनुष और ३२ अंगुल-प्रमाण क्षेत्र में सिद्धों की अवगाहना कथन की गई है; अर्थात् उत्कृष्टरूप से इतने आकाश-प्रदेश में सिद्धों की स्थिति कही गई है। और 'तत्थ-तत्र' यहाँ पर तस्य के स्थान में सुप् का व्यत्यय किया गया है।

अब फिर इसी सम्बन्ध में अर्थात् सिद्धों के विषय में कहते हैं—

तत्थ सिद्धा महाभागा, लोगग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंचउम्मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥६३॥

तत्र सिद्धा महाभागाः, लोकाग्रे प्रतिष्ठिताः।
भवप्रपञ्चोन्मुक्ताः, सिद्धिं वरगतिं गताः ॥६३॥

पदार्थान्वयः—तत्थ-उस स्थान पर सिद्धा-सिद्ध महाभागा-महान् भाग्य वाले लोगग्गम्मि-लोक के अग्र भाग पर पइट्ठिया-प्रतिष्ठित हुए भवप्पवंच-जन्मादि के प्रपंच से उम्मुक्का-उन्मुक्त हुए सिद्धिं-सिद्धिरूप वरगइं-परम श्रेष्ठ गति को गया-प्राप्त हुए।

मूलार्थ—सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त होने वाले महाभाग्यशाली सिद्ध जीव संसारचक्र के प्रपंच से उन्मुक्त होकर वहाँ लोक के अग्र भाग में प्रतिष्ठित हैं।

टीका—मोक्षगति के अतिरिक्त अन्य जितनी भी गतियाँ हैं वे सब सावधिक अथच विनाशशील हैं, परन्तु मोक्षगति की न तो कोई अवधि है और न ही उसका विनाश है, अतः वह शाश्वत है। और इसी कारण से मोक्षगति के सिवाय अन्य गति को प्राप्त होने वाले जीव चलस्वभावी कहे गये हैं और मुक्ति के जीव अचलस्वभावी हैं। इसके अतिरिक्त उनके स्वरूप और स्वभाव के अनुरूप ही उनको—अचल, अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।

अब सिद्धगति को प्राप्त हुए जीवों की अवगाहना के विषय में कहते हैं—

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणो तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६४॥

उत्सेधो यस्य यो भवति, भवे चरमे तु।
तृतीयभागहीना ततश्च, सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥६४॥

पदार्थान्वयः—**उस्सेहो**—ऊँचाई **जस्स**—जिस जीव का **जो**—जो **होइ**—होता है **चरमम्मि**—चरम **भवम्मि**—भव में **य**—फिर **तत्तो**—उससे **तिभागहीणो**—तीसरा भाग न्यून **सिद्धाण**—सिद्धों की **ओगाहणा**—अवगाहना **भवे**—होती है।

मूलार्थ—यावन्मात्र अन्तिम शरीर में अवगाहना होती है उससे तृतीय भाग न्यून सिद्धों की अवगाहना कही गई है।

टीका—यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि सिद्धों की यह अवगाहना, आकाश में ठहरे हुए आत्मा के जो असंख्यात प्रदेश हैं उनकी अपेक्षा से कथन की गई है। यों तो सिद्ध अमूर्त हैं; वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप आदि से रहित हैं। तथा अवगाहना में जो चरम शरीर का तृतीय भाग न्यून किया गया है उसका कारण यह है कि शरीर के जो विवर—छिद्र—हैं वे घनरूप हो जाते हैं। इसलिए तृतीय भाग न्यून अवगाहना मानी है।

अब काल की अपेक्षा से सिद्धों का वर्णन किया जाता है। यथा—

एगत्तेण साइया, अपज्जवसियावि य ।
पुहुत्तेण अणाइया, अपज्जवसियावि य ॥६५॥

एकत्वेन सादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
पृथक्त्वेनानादिकाः , अपर्यवसिता अपि च ॥६५॥

पदार्थान्वयः—एगत्तेण-एक सिद्ध की अपेक्षा से साइया-सादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित हैं पुहुत्तेण-वहुतों की अपेक्षा से अणाइया-अनादि अपज्जवसिया-अपर्यवसित हैं अवि य-अपिच—समुच्चयार्थक है ।

मूलार्थ—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध, सादि-अपर्यवसित हैं और वहुतों की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित हैं ।

टीका—इस गाथा मे सिद्धों का काल-सापेक्ष वर्णन किया गया है । तथाहि—जिन आत्माओं ने जिस समय कर्म-निर्मुक्त होकर सिद्धभाव को प्राप्त किया, उस समय की अपेक्षा से तो सिद्ध की आदि तो सिद्ध हो गई, परन्तु फिर उसका पर्यवसान—अन्त—न होने से वह अपर्यवसित—अनन्त—पद वाला है । तात्पर्य यह है कि इस दृष्टि से सिद्धपद सादि-अनन्त है और वहुत से सिद्धों की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त पद वाला है, अर्थात् जिस प्रकार यह संसार प्रवाह से अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार प्रवाहरूप से सिद्धपद भी अनादि-अनन्त है । तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई समय नहीं जव कि सिद्ध नहीं थे और ऐसा भी कोई समय नहीं जव कि सिद्ध नहीं होंगे, अतः शाश्वतरूप होने से सिद्धपद को अनादि और अनन्त कहा है । इसी दृष्टि से जैनधर्म मे ईश्वरपद को अनादि-अनन्त माना है, अतः उसमे ईश्वर और परमात्मा आदि सिद्धों के ही अपर नाम स्वीकार किये गये हैं ।

अव सिद्धों का स्वरूप-वर्णन करते हैं । यथा—

अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया ।
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥६६॥

अरूपिणो जीवघनाः, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः ।
अतुलं सुखं सम्प्राप्ताः, उपमा यस्य नास्ति तु ॥६६॥

पदार्थान्वयः—**अरूविणो**–अरूपी **जीवघणा**–घनरूप जीव **नाण**–ज्ञान **दंसण**–दर्शन **सन्निया**–संज्ञा वाले—ज्ञान दर्शन के उपयोगसहित **अउलं**–अतुल **सुहं**–सुख को **संपत्ता**–सम्यक् प्राप्त हुए **जस्स**–जिस सुख की **उवमा**–उपमा **नत्थि**–नहीं है **उ**–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—वे सिद्ध जीव रूप से रहित, घनरूप और ज्ञान-दर्शन के उपयोग वाले उस अतुल सुख को प्राप्त होते हैं जिसकी कोई उपमा नहीं है ।

टीका—सिद्धात्मा रूपादि से रहित होते हैं, तथा शरीरसम्बन्धी विवरों—छिद्रों—के दूर हो जाने से वे परम पवित्रात्मा, प्रदेशों के घनरूप हो जाने से जीवघन कहे जाते हैं और ज्ञान-दर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं । इसके अतिरिक्त उनका जो आत्मसुख है वह अक्षय और तुलना से रहित है, अर्थात् सिद्धों के सुख की संसार के किसी भी सुख से तुलना नहीं की जा सकती । कारण यह है कि वेदनीय-कर्मजन्य जो सुख है वह नाशवान् और तरतमभाव से युक्त होता है अतः उसका विपाक भी शुभ नहीं होता, परन्तु जो आत्मिक सुख है वह अजन्य होने से अविनाशी और सदा एकरस रहने वाला है, इसी लिए उसकी संसार में कोई उपमा उपलब्ध नहीं होती । जैसे सूर्य के प्रकाश के समक्ष जुगनू का प्रकाश अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक होता है, सूर्य के समक्ष उसकी कोई भी गणना नहीं होती, इसी तरह आत्मिक सुख की अपेक्षा वेदनीय-कर्मजन्य सुख अत्यन्त क्षुद्र और नहीं के बराबर है । तथा सिद्धों में जो ज्ञान और दर्शन का उपयोग बतलाया गया है उससे जो वादी मोक्ष में ज्ञान का अभाव मानते हैं उनके मत का निराकरण करना अभिमत है । और जीवघन से अभावरूप मोक्ष का खंडन किया गया है, एवं सुख का निर्वचन करने से केवल दुःखध्वंसरूप मोक्ष का निषेध किया है । सारांश यह है कि जो सुख—आनन्द—ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी की उपासना से प्राप्त होने वाली आत्मोपलब्धि में है वह आनन्द तो क्या, उसका शतांश या सहस्रांश भी संसार के रम्य से भी रम्य पदार्थों

के सेवन से प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे कि एक विद्यार्थी को परीक्षा में उत्तीर्ण होने से जिस आनन्द का अनुभव होता है वैसा आनन्द परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए विद्यार्थी को सुन्दर पदार्थों के भक्षण से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः आध्यात्मिक सुख के समक्ष वैषयिक सुख की कोई भी गणना नहीं है।

इस प्रकार भाव से सिद्धों के स्वरूप का वर्णन करने के अन्तर अब उनके क्षेत्र-सापेक्ष्य-स्वरूप का वर्णन करते हुए शास्त्रकार फिर कहते हैं कि—

लोगेगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसंनिया ।
संसारपारनित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया ॥६७॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः ।
संसारपारनिस्तीर्णाः, सिद्धिं वरगतिं गताः ॥६७॥

पदार्थान्वयः—**लोगेगदेसे**—लोक के एक देश में **ते**—वे **सव्वे**—सर्व सिद्ध हुए आत्मा ठहरते हैं **नाणदंसणसंनिया**—ज्ञान और दर्शन संज्ञा वाले **संसारपारनित्थिण्णा**—संसार से पार निस्तीर्ण होकर **सिद्धिं वरगइं**—सर्वप्रधान सिद्धपद को **गया**—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—वे सब सिद्धात्मा लोक के एकदेश—अग्रभाग—में स्थित हैं; ज्ञान-दर्शन से युक्त हुए संसार से पार होते हुए सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त हो गये हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सिद्धात्माओं का लोक के एक देश में ठहरने का जो उल्लेख किया है उससे जो लोग मुक्तात्माओं का आकाश में भ्रमण मानते हैं उनके मत का निषेध किया गया है, क्योंकि वे अचल हैं। तथा ज्ञान और दर्शन इन दोनों का उल्लेख इसलिए किया है कि बहुत से वादी एक ही उपयोग मानते हैं, या दोनों को एक ही समय में स्वीकार करते हैं, अथवा मोक्ष में किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं मानते, उनका मत असंगत है। इसी प्रकार 'संसार से निस्तीर्ण हो गये' यह कथन उन लोगों की मान्यता का निषेध करता है जो यह कहते हैं कि दुष्टों के विनाश और श्रेष्ठों की रक्षा के लिए मोक्ष को गयी हुई आत्मा फिर जन्म धारण

करती है। कारण कि मुक्तात्मा के पुनरागमन का कोई भी कारण उपलब्ध नहीं होता। और दुष्ट-संहार आदि कार्य तो उनकी सर्वशक्तिमत्ता से विना ही जन्म लिए सम्पादन हो सकता है, तथा जन्म देने वाले कर्म-बीज के दग्ध होने से फिर जन्म की कल्पना तो सर्वथा युक्तिशून्य और असम्बद्ध-प्रलाप-सा है। गति के कथन से आत्मा को सक्रिय वतलाया गया है इत्यादि।

इस प्रकार जीव के दो भेदों में से प्रथम भेद का तो संक्षेप से निरूपण कर दिया गया, अब उसके दूसरे भेद का निरूपण करते हैं। यथा—

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥६८॥

संसारस्थास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
त्रसाश्च स्थावराश्चैव, स्थावरास्त्रिविधास्तत्र ॥६८॥

पदार्थान्वयः—**संसारत्था**–संसार में रहने वाले **उ**–पादपूर्ति में है **जे**–जो **जीवा**–जीव हैं **ते**–वे **दुविहा**–दो प्रकार के **वियाहिया**–कथन किये गये हैं **तसा**–त्रस **य**–और **थावरा**–स्थावर **च**–पुनः **थावरा**–स्थावर **तहिं**–वहाँ—उन दो भेदों में **तिविहा**–तीन प्रकार के हैं।

मूलार्थ—संसारी जीव त्रस और स्थावर भेद से दो प्रकार के हैं और उनमें त्रस जीव के तीन भेद कहे गये हैं।

टीका—इस गाथा में जीव के दूसरे भेद का वर्णन करते हुए उसके दो भेद वतलाये हैं। यथा—त्रस और स्थावर ये दो भेद संसारी जीव के हैं; इनमें स्थावर जीव तीन प्रकार के हैं, जो जीव दुःखादि के उत्पन्न होने पर प्रत्यक्षरूप में त्रास पाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें त्रस कहा जाता है तथा जो कष्टादि के उपस्थित होने पर अपने नियत स्थान को छोड़कर अन्यत्र न जा सकें वे स्थावर माने गये हैं। यहाँ पर यद्यपि क्रमप्राप्त प्रथम त्रस जीव का ही वर्णन करना चाहिए था, किन्तु अल्पवक्तव्य होने से त्रस को छोड़कर प्रथम स्थावर के वर्णन का उपक्रम किया गया है।

अब उक्त कथन के अनुसार स्थावर के भेदों का वर्णन करते हैं—

पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥६९॥

पृथिव्यब्जीवाश्च , तथैव च वनस्पतिः ।
इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् शृणुत मे ॥६९॥

पदार्थान्वयः—पुढवी–पृथिवीरूप य–और आउजीवा–जलरूप जीव तहेव–उसी प्रकार वणस्सई–वनस्पतिरूप जीव इच्चेए–इस प्रकार से ये तिविहा–तीन प्रकार के थावरा–स्थावर हैं तेसिं–इनके भेए–भेदों को मे–मुझसे सुणेह–तुम सुनो ।

मूलार्थ—पृथिवीरूप जीव, जलरूप जीव और वनस्पतिरूप जीव, इस प्रकार ये तीन भेद स्थावर के वर्णन किये गये हैं, सो अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि स्थावर के तीन भेद कहे गये हैं—पृथिवी, जल और वनस्पति, अर्थात् पृथिवीरूप जीव, जलरूप जीव और वनस्पतिरूप जीव । ये तीनों एक-इन्द्रिय-रूप जीव हैं, एवं जीव और शरीर के परस्पर अनुगत होने तथा विभाग के न होने से इस प्रकार कहा गया है । तात्पर्य यह है कि उक्त तीनों में पिंडों के समूह का ही नाम जीव है न कि उन पृथिवी आदि के काठिन्यादि को जीव कहते हैं । कारण यह है कि जीव का उपयोग लक्षण है, सो वहाँ वे आत्माएँ भी सूक्ष्म उपयोग से युक्त हैं, तथा स्थितिप्रधान होने से इनको स्थावर कहते हैं ।

अब पृथिवीरूप स्थावर जीव के भेदों का वर्णन करते हैं । यथा—

दुविहा पुढवीजीवा य, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥७०॥

द्विविधाः पृथिवीजीवाश्च, सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ता, एवमेव द्विधा पुनः ॥७०॥

पदार्थान्वयः—दुविहा—दो प्रकार के पुढवीजीवा—पृथ्वीकाय के जीव हैं सुहुमा—सूक्ष्म तहा—तथा बायरा—बादर य—पुनः पज्जत्तं—पर्याप्त—और अपज्जत्ता—अपर्याप्त एवमेव—इसी प्रकार पुणो—फिर दुहा—दो प्रकार के हैं।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर इसी प्रकार इन दो में से प्रत्येक के—पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद जानने चाहिएँ।

टीका—पृथिवीकाय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर, अर्थात् सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से सूक्ष्म पृथिवीकाय और बादर नाम-कर्म के उदय से बादर पृथिवीकाय ये दो भेद हैं। फिर सूक्ष्म और बादर के भी दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। पर्याप्ति वालों को पर्याप्त कहते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, मन और वचन, ये छः पर्याप्ति कहे जाते हैं, तथा जिन्होंने पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लिये हों वे पर्याप्त, और बिना पर्याप्ति के जो हैं उनको अपर्याप्त कहा जाता है। सो पृथिवी, जल और वनस्पति काय में चार पर्याप्तियाँ हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति। तथा इसी प्रकार ये चारों अपर्याप्त हैं; अर्थात् सूक्ष्म और बादर पृथिवीकाय में ये चारों अपर्याप्त भी होते हैं। इनमें सूक्ष्म तो केवलि-प्रत्यक्ष है और बादर का प्रत्यक्ष भान होता ही है।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हुए फिर कहते हैं कि—

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥७१॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
श्लक्ष्णाः खराश्च बोद्धव्याः, श्लक्ष्णाः सप्तविधास्तत्र ॥७१॥

पदार्थान्वयः—बायरा—बादर-पृथिवीकाय के जे—जो पज्जत्ता—पर्याप्त जीव हैं ते—वे दुविहा—दो प्रकार के वियाहिया—कथन किये गये हैं सण्हा—श्लक्ष्ण—सुकोमल

य-और खरा-कठिन बोधव्वा-जानने तहिं-उन दो भेदों में सण्हा-श्लक्ष्ण सत्तविहा-सात प्रकार के हैं।

मूलार्थ—जो पर्याप्त-बादर-पृथिवीकाय के जीव हैं वे भी दो प्रकार के वर्णन किये गये हैं—एक मृदु दूसरा खर। इन दो में भी मृदु के सात भेद हैं।

टीका—पर्याप्त बादर-पृथिवीकाय के दो भेद हैं—एक श्लक्ष्ण—मृदु—सुकोमल और दूसरा खर—कठिन। ये दोनों ही मृदु और कठिन पृथिवीकाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। तथा इनमें जो श्लक्ष्ण पृथिवी है वह सात प्रकार की कही गयी है।

अब उक्त सात भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा।
पंडुपणगमट्टिया , खरा छत्तीसईविहा ॥७२॥

कृष्णा नीलाश्च रुधिराश्च, हारिद्राः शुक्लास्तथा।
पाण्डुपनकमृत्तिका , खराः षट्त्रिंशद्विधाः ॥७२॥

पदार्थान्वयः—किण्हा-काली मिट्टी य-पुनः नीला-नीली मिट्टी य-और रुहिरा-लाल मृत्तिका हालिद्दा-पीत मृत्तिका तहा-तथा सुकिला-शुक्ल मृत्तिका पंडु-पांडु मृत्तिका—वा पणगमट्टिया-पनक—अत्यन्त सूक्ष्म—मृत्तिका, तथा खरा-कठिन पृथिवी छत्तीसई-छत्तीस विहा-प्रकार की है।

मूलार्थ—श्लक्ष्ण पृथिवीकाय के सात भेद हैं—काली, नीली, लाल, पीली, श्वेत एवं पांडु तथा पनकमृत्तिका। तथा खर पृथिवीकाय के छत्तीस भेद हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में श्लक्ष्णा पृथिवी के सातों भेदों का वर्णन किया गया है। पांडु उसका नाम है जिसमें स्तोकमात्र तो श्वेतता है और शेष अन्य वर्ण हों। और आकाश में फैलने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रज को पनकमृत्तिका कहते हैं, तथा मरुस्थल में जो पर्पटिकारूप होती है और चरण के अभिघात से जो शीघ्र ही आकाश में चढ़ जाती है उसे भी पनकमृत्तिका कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म रज का नाम है।

अब ऊपर बतलाये गये खरमृत्तिका के ३६ भेदों का वर्णन करते हैं—

पुढवी य सक्करा वालुया य,
उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तंब-तउय-सीसग-,
रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥७३॥
हरियाले हिंगुलुए,
मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भपडलब्भवालुय,
बायरकाए मणिविहाणा ॥७४॥
गोमेज्जए य रुयगे,
अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले,
भुयमोयग-इंदनीले य ॥७५॥
चंदण-गेरुय-हंसगब्भे,
पुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
चंदप्पहवेरुलिए,
जलकंते सूरकंते य ॥७६॥

पृथिवी च शर्करा वालुका च,
उपलः शिला च लवणोषौ ।
अयस्ताम्रत्रपुकसीसक-,
रूप्यसुवर्णवज्राणि च ॥७३॥

हरितालो हिङ्गुलकः,
मनःशिला सासकाऽञ्जनप्रवालानि ।
अभ्रपटलमभ्रवालुका ,
बादरकाये मणिविधानानि ॥७४॥
गोमेदकश्च रुचकः,
अङ्कः स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च ।
मरकतमसारगल्लः ,
भुजमोचक इन्द्रनीलश्च ॥७५॥
चन्दनगैरिकहंसगर्भः ,
पुलकः सौगन्धिकश्च बोद्धव्यः ।
चन्द्रप्रभो वैडूर्यः,
जलकान्तः सूर्यकान्तश्च ॥७६॥

पदार्थान्वयः—पुढवी-शुद्ध पृथिवी सक्करा-कंकड़रूप पृथिवी य-और वालुया-वालुकारूप पृथिवी उवले-पाषाणरूप य-और सिला-शिलारूप लोणु-लवणरूप पृथिवी ऊसे-खारी मृत्तिका अय-लोहरूप मिट्टी तउय-तरूआरूप पृथिवी तंब-ताम्ररूप सीसग-सीसा रुप्प-चाँदी य-और सुवण्णे-सुवर्णरूप य-तथा वइरे-वज्ररूप हरियाले-हरिताल हिंगुलुए-हिंगुल मणोसिला-मनसिल सासग-नामक अंजण-अंजन पवाले-प्रवाल अब्भपडल-अभ्रपटल—अभ्रक अब्भ-वालुय-अभ्रवालुका बायरकाए-बादर-पृथ्वीकाय में ही मणिविहाणा-मणियों के भेद जानने गोमेज्जए-गोमेदक रत्न य-और रुयगे-रुचक रत्न अंके-अंक रत्न य-तथा फलिहे-स्फटिक रत्न य-और लोहियक्खे-लोहिताक्ष रत्न मरगय-मरकत मणि मसारगल्ले-मसारगल्ल रत्न भुयमोयग-भुजमोचक रत्न य-और इंदनीले-इंद्रनील रत्न चंदण-चन्दन गेरुय-गेरुक हंसगब्भे-हंस-गर्भ पुलए-पुलक य-और सोगंधिए-सौगन्धिक बोधव्वे-जानना चाहिए चंदप्पह-चन्द्रप्रभ वेरुलिए-वैडूर्य जलकंते-जलकान्त य-और सूरकंते-सूर्यकान्त मणि ।

मूलार्थ—खर पृथिवी के—(१) शुद्ध पृथिवी, (२) शर्करा, (३) वालुका, (४) उपल, (५) शिला, (६) लवण, (७) खारी मिट्टी, (८) लोहा, (९) तरुआ, (१०) ताम्बा, (११) सीसा, (१२) रूपा—चाँदी, (१३) सुवर्ण, (१४) वज्र, (१५) हरिताल, (१६) हिंगुलु, (१७) मनसिल, (१८) सासक, (१९) अंजन, (२०) प्रवाल, (२१) अभ्रपटल—अभ्रक, (२२) अभ्रवालुक, तथा मणियों के भेद पृथिवीकाय के ही अन्तर्गत हैं; यथा—(२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अंक रत्न, (२६) स्फटिक और लोहिताक्ष रत्न, (२७) मरकत और मसारगल्ल, (२८) भुजमोचक, (२९) इन्द्रनील, तथा (३०) चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, (३१) पुलक, (३२) सौगंधिक, (३३) चंद्रप्रभ, (३४) वैडूर्य, (३५) जलकान्त और (३६) सूर्यकान्तमणि—इस प्रकार ये ३६ भेद हैं।

टीका—इन चार गाथाओं में खर पृथिवी के उत्तर-भेदों का वर्णन किया गया है। ये कुल भेद सामान्यरूप से ३६ हैं जिनका ऊपर निर्देश किया गया है। पृथिवी से यहाँ पर समुच्चयरूप शुद्ध पृथिवी का ग्रहण समझना चाहिए। वालु—रेत को कहते हैं। लवण से, प्रायः समुद्रलवणादि सभी प्रकार के लवणों का ग्रहण है। क्षारमृत्तिका—कल्लर आदि। तथा लोहा, ताम्बा, सीसा, चाँदी और सुवर्णादि सब पृथिवीकाय के ही भेद हैं। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि मल के दूर हो जाने से ये अपने शुद्धरूप मे प्रकट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र धातुएँ उपलब्ध होती हैं या होंगी वे सब पृथिवीकाय में ही समाविष्ट हैं। इसी प्रकार वज्र-हीरकादि नानाविध रत्नों को भी पृथिवीकाय के ही अन्तर्भूत समझना। हरिताल, पीली और श्वेत दो प्रकार की होती है। इनमें पहली वर्कीया, तबकिया और दूसरी गोदन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। हिंगुल—शिंगरफ का नाम है। मनःशिला—मनसिल प्रसिद्ध ही है। प्रवाल का दूसरा नाम विद्रुम है जिसे आम लोग मूंगा कहते हैं। सासक—कोई धातुविशेष है। अंजन—सुरमे का नाम है। यह भी श्वेत और काला दो प्रकार का होता है। अभ्रपटल—अभ्रक को कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी समझ लेना चाहिए। तथा, जैसे कि ऊपर कहा गया है कि सब प्रकार के रत्नों का भी पृथिवीकाय में ही समावेश है, इसी सिद्धान्त से यहाँ पर गोमेदादि रत्नों का भी उल्लेख किया गया है। सारांश यह है कि जो पदार्थ

किसी आकर—खान—से उत्पन्न होने वाला है वह पृथिवी का ही भेद है। इस प्रकार प्रथम गाथा में कहे गये पृथिवी आदि १४, दूसरी में वर्णन किये गये हरिताल आदि ८, तीसरी और चौथी में उल्लेख किये गये गोमेद आदि १४, इस भाँति कुल ३६ भेद खर पृथिवी के हैं।

इस प्रकार वादर पृथिवीकाय और उसके उत्तर भेदों का निरूपण करने के अनन्तर अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए सूक्ष्म पृथिवीकाय का वर्णन करते हैं—

एए　खरपुढवीए, भेया　छत्तीसमाहिया।
एगविहमनाणत्ता　, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥७७॥

एते　खरपृथिव्याः, भेदाः षट्त्रिंशदाख्याताः।
एकविधा अनानात्वाः　, सूक्ष्मास्तत्र　व्याख्याताः ॥७७॥

पदार्थान्वयः—एए-ये सब खरपुढवीए-कठिन पृथिवीरूप जीवों के भेया-भेद छत्तीसं-छत्तीस आहिया-कथन किये गये हैं, और एगविहं-एक ही प्रकार अनाणत्ता-नाना प्रकार से रहित तत्थ-उन सूक्ष्म वादर में सुहुमा-सूक्ष्म भेद वियाहिया-कथन किया गया है।

मूलार्थ—उक्त छत्तीस भेद खर पृथिवीकाय के वर्णन किये गये हैं, परन्तु उक्त दोनों भेदो में सूक्ष्मकाय का केवल एक ही भेद कथन किया है।

टीका—वादर पृथिवीकाय के ३६ भेदों का वर्णन कर दिया गया, परन्तु सूक्ष्म और इन दोनों मे सूक्ष्म पृथिवीकाय के उत्तर भेद नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म पृथिवीकाय को भेदरहित माना गया है। तथा 'अनाणत्ता' की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—'यतोऽविद्यमानं नानात्वं नानाभावो भेदो येषां तेऽमी अनानात्वाः सूक्ष्माः'—अर्थात् जोनानात्व—नानाभाव—अनेक प्रकार के भेदों से रहित हो उसको अनानात्व कहते हैं। वही सूक्ष्म पृथिवीकाय है।

अब सूक्ष्म और वादर पृथिवीकाय का क्षेत्रसापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु, वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥७८॥

सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ।
इतः कालविभागं तु, वक्ष्ये तेषां चतुर्विधम् ॥७८॥

पदार्थान्वयः—सुहुमा–सूक्ष्म सव्व–सर्व लोगम्मि–लोक में व्याप्त हैं य–और लोगदेसे–लोक के देशमात्र में बायरा–बादर स्थित हैं इत्तो–इसके अनन्तर तेसिं–उनके कालविभागं–कालविभाग को तु–फिर चउव्विहं–चार प्रकार से वुच्छं–कहूँगा या कहता हूँ ।

मूलार्थ—सूक्ष्म पृथिवीकाय के जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर-लोक के एक देश में (रत्नप्रभा आदि पृथिवी में) स्थित हैं । इसके अनन्तर मैं इनके कालविभाग को चार प्रकार से कहूँगा या कहता हूँ; अर्थात् अब इनका काल की अपेक्षा से वर्णन किया जावेगा ।

टीका—इस गाथा में सूक्ष्म और बादर पृथिवीकाय की क्षेत्रस्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है, तथा इनकी कालस्थिति-वर्णन की प्रतिज्ञा की गई है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म पृथिवी के जीव तो सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर पृथिवी के जीव रत्नप्रभा आदि पृथिवी मे स्थित हैं, यह तो इनका क्षेत्रविभाग है और कालविभाग से इनका वर्णन आगे किया जावेगा, यह इस गाथा का भावार्थ है ।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार ही वर्णन करते हैं । यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥७९॥

संततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥७९॥

पदार्थान्वयः—संतइं-प्रवाह की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसिया-अपर्यवसित है अवि-अपितु ठिइं-स्थिति की पडुच्च-अपेक्षा साईया-सादि सपज्जवसिया-सपर्यवसित है अवि य-अपिच—प्राग्वत्।

मूलार्थ—पृथिवीकाय सन्तति की अपेक्षा से, अनादि-अपर्यवसित है और स्थिति की अपेक्षा से, सादि-सपर्यवसित है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व में आयी हुई बारहवीं गाथा के समान ही समझ लेनी चाहिए, अर्थात् पृथिवीकाय को यदि प्रवाह की अपेक्षा से प्रवाहरूप से देखा जाय तो वह अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से वह सादि-सान्त माना गया है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई भी समय प्रतीत नहीं होता जब कि पृथिवीकाय का अभाव हो, इसलिए वह अनादि-अनन्त है, और जब पृथिवीकाय के जीवों की स्थिति का विचार करते हैं तब उसका आदि और अन्त दोनों ही प्रतीत होते हैं, इसलिए उसको सादि-सान्त भी कहा है।

अब इनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन करते हैं—

बावीससहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥८०॥
द्वाविंशतिसहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुःस्थितिः पृथिवीनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥८०॥

पदार्थान्वयः—बावीससहस्साइं-बाईस सहस्र वासाण-वर्षों की उक्कोसिया-उत्कृष्ट आउठिई-आयु की स्थिति भवे-होती है पुढवीणं-पृथिवीकाय के जीवों की अंतोमुहुत्तं-अन्तर्मुहूर्त्त की जहन्निया-जघन्य स्थिति होती है।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पृथिवीकाय के जीवों की आयुस्थिति का वर्णन किया गया है। उनकी जघन्य आयु तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की मानी गयी है। यह स्थितिकाल सापेक्ष है, और पृथिवीकाय

को सादि-सान्त मानकर उसका वर्णन किया गया है। तथा अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर बाईस हजार वर्ष से जो न्यून हो वह आयुस्थिति मध्यम कही जाती है और इसी को भवस्थिति भी कहते हैं।

अब कायस्थिति के विषय में कहते हैं—

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८१॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिः पृथिवीनां, तं कायं त्वमुञ्चताम् ॥८१॥

पदार्थान्वयः—**असंखकालं**—असंख्यातकाल **उक्कोसा**—उत्कृष्ट **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त **जहन्निया**—जघन्य **कायठिई**—कायस्थिति **पुढवीणं**—पृथिवीकाय के जीवों की **तं**—उस **कायं**—काया को **अमुंचओ**—न छोडते हुओं की **तु**—अवधारण अर्थ मे है।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है, और उत्कृष्ट असंख्यातकाल की कथन की गई है, परन्तु यदि उस काया का वे परित्याग न करें।

टीका—यदि पृथिवीकाय का जीव मरकर पृथिवीकाय मे ही उत्पन्न होता रहे तब उसका नाम कायस्थिति है। सो यह स्थिति जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की मानी है; अर्थात् जघन्य स्थिति में वह जीव अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही पृथिवीकाय से च्यवकर अन्य काया में उत्पन्न हो जाता है। और उत्कृष्टता से यदि उसी काय मे जन्म-मरण करता रहे तो असंख्यातकाल-पर्यन्त उसी काया में रह सकता है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में कहा है कि उस काया को न छोड़ता हुआ असंख्य कालपर्यन्त उसी मे जन्म-मरण करता रहता है। सो यह पृथिवीकाय के जीव की सादिसान्तता का निरूपण भवस्थिति और कायस्थिति की अपेक्षा से किया गया है।

अब अन्तर बतलाते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं　, अंतोमुहुत्तं　जहन्नयं ।
विजढंमि　सए काए, पुढवीजीवाण　अंतरं ॥८२॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्　, अन्तर्मुहूर्त्तं　जघन्यकम् ।
वित्यक्ते　स्वके काये, पृथिवीजीवानामन्तरम्　॥८२॥

पदार्थान्वयः—अणंतकालं-अनन्त काल उक्कोसं-उत्कृष्ट जहन्नयं-जघन्य अंतोमुहुत्तं-अन्तर्मुहूर्त्त विजढंमि-छोड़ने पर सए-स्व काए-काय में पुढवीजीवाण-पृथिवीकाय के जीवों का अंतरं-अन्तर होता है ।

मूलार्थ—स्वकाय की अपेक्षा से पृथिवीकाय के जीवों का जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त्त का है, और उत्कृष्ट अनन्त काल का माना गया है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पृथिवीकाय के जीवों के अन्तर का कथन किया गया है । पृथिवीकाय का जीव मरकर किसी अन्य काय में चला जावे और वहाँ से च्यवकर वह फिर उसी काय में आवे तो उसके लिए न्यून से न्यून तथा अधिक से अधिक कितना समय लगता है ? अर्थात् पृथिवीकाय का जीव फिर कितने समय में वापिस उसी काय में आ सकता है ? इसी को स्वकाय अन्तर कहते हैं । सो इसका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल, अन्तर्मुहूर्त्त तथा अनन्तकाल बतलाया गया है । तात्पर्य यह है कि अपनी पूर्व की त्यागी हुई काया में फिर से आने के लिए कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त का समय लगता है; अर्थात इतने समय के पश्चात् ही वह जीव पृथिवीकाय मे वापिस आ सकता है, और यदि उसको आने मे चिरकाल लगे तो अधिक से अधिक अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है, अर्थात् इतने समय के बाद वह पृथिवीकाय मे वापिस आता है यह पृथिवीकाय के जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर-मान है । कारण कि, वनस्पतिकाय मे यह जीव अनन्तकाल तक कायस्थिति करता है, सो उसी की अपेक्षा से पृथिवीकाय का अन्तरकाल, उत्कृष्टता से अनन्तकाल का माना गया है और मध्यम काल की कल्पना अपनी बुद्धि के द्वारा कर लेनी चाहिए । परन्तु इतना ध्यान रहे कि भव-स्थिति, काय-स्थिति अन्तर-मान इत्यादि सब कुछ स्थिति की अपेक्षा से प्रतिपादन

किया गया है और सन्तति की—प्रवाह की—अपेक्षा से तो पृथिवीकाय अनादि-अनन्त ही है। किसी काल में इसका सद्भाव न हो, ऐसा नहीं है।

अब इनका भावसापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥८३॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥८३॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन पृथिवी के जीवों के **वण्णओ**—वर्ण से च—पुनः एव—अवधारण में **गंधओ**—गन्ध से **रसफासओ**—रस और स्पर्श से वा—अथवा **संठाणादेसओ**—संस्थान के आदेश से अवि—अपि—समुच्चय में **सहस्ससो**—सहस्रों **विहाणाइं**—विधान होते हैं।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों के—वर्ण से, गन्ध से, रस और स्पर्श से, तथा संस्थान के आदेश से सहस्रों भेद होते हैं।

टीका—पूर्वोक्त पृथिवीकाय के जीवों के—वर्ण की अपेक्षा, गन्ध की अपेक्षा, रस की अपेक्षा, स्पर्श की अपेक्षा और संस्थान की अपेक्षा से तरतमभाव को लेकर सहस्रों भेद हो जाते हैं; अर्थात् वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान की न्यूनाधिकता से इनके असंख्यात भेद हो जाते हैं, परन्तु उनमें जो मुख्य हैं उनका निरूपण ऊपर कर दिया गया है।

अब सूत्रकार अप्काय का निरूपण करते हैं। यथा—

दुविहा आउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥८४॥

द्विविधा अब्जीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेव द्विधा पुनः ॥८४॥

पदार्थान्वयः—आउजीवा–अप्काय के जीव उ–पुनः दुविहा–दो प्रकार के हैं सुहुमा–सूक्ष्म तहा–तथा बायरा–बादर पज्जत्त–पर्याप्त, और अपज्जत्ता–अपर्याप्त एवमेव–इसी प्रकार पुणो–फिर, उनके दुहा–दो भेद जानने चाहिएँ।

मूलार्थ—अप्काय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद जानने चाहिएँ।

टीका—जिस प्रकार पृथिवीकाय के भेद वर्णन किये हैं उसी प्रकार जल-काय के जीवों के भी मुख्य चार ही भेद हैं, यथा—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त। (१) सूक्ष्म-पर्याप्त, (२) सूक्ष्म-अपर्याप्त, (३) बादर-पर्याप्त, (४) बादर-अपर्याप्त।

अब बादरकाय के विषय में कहते हैं। यथा—

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥८५॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
शुद्धोदकञ्चावश्यायः , हरतनुर्महिकाहिमम् ॥८५॥

पदार्थान्वयः—जे–जो उ–फिर बायरा–बादर पज्जत्ता–पर्याप्त हैं ते–वे पंचहा–पाँच प्रकार के पकित्तिया–कथन किये गये हैं सुद्धोदए–शुद्धोदक—मेघ का जल य–और उस्से–अवश्याय—ओस हरतणू–प्रातःकाल में तृणादि पर दिखाई देने वाला जल-बिन्दु महिया–धूप हिमे–बर्फ।

मूलार्थ—जो बादर-पर्याप्त हैं वे पाँच प्रकार के कहे गये हैं; यथा—(१) मेघ का जल, (२) ओस, (३) हरतनु, (४) धूयर—धुंध और (५) बर्फ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पर्याप्त-बादर के पाँच भेदों का उल्लेख किया गया है, यथा—(१) मेघ का पानी तथा समुद्रादि का जल, (२) अवश्याय—ओस का पानी—जो शरद्-ऋतु में प्रातःकाल में सूक्ष्म-सी वर्षा हुआ करती है, (३) हरतनु—प्रातःकाल स्नेहयुक्त पृथिवी से निकलकर तृण के अग्रभाग में मुक्ता के

१ हरतनु—प्रात सस्नेहपृथिव्युद्भवस्तृणाग्रजलविन्दुः इति बृहद्वृत्तिकारः।

समान दिखाई देने वाली जलबिन्दु, (४) महिका—गर्भ के मासों में जो सूक्ष्म वर्षा होती है उसे महिका कहते हैं; लोक में उसे धूमर या धुंध के नाम से पुकारते हैं, (५) बर्फ, तो प्रसिद्ध ही है ।

अब सूक्ष्म अप्काय के विषय में कहते हैं । यथा—

एगविहमनाणत्ता , सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥८६॥

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥८६॥

पदार्थान्वयः—एगविहं-एक प्रकार अनाणत्ता-नाना भेदों से रहित सुहुमा-सूक्ष्म तत्थ-उक्त दोनों भेदों में वियाहिया-कहे गये हैं सुहुमा-सूक्ष्म सव्वलोगम्मि-सर्व लोक में हैं य-और बायरा-बादर लोगदेसे-लोक के एक देश में हैं ।

मूलार्थ—नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के सूक्ष्म अप्काय के जीव हैं; तथा सूक्ष्म अप्काय के जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर अप्काय के जीव, लोक के एक देश में स्थित हैं ।

टीका—जिस प्रकार बादर अप्काय के पाँच भेद ऊपर वर्णन किये गये हैं, उस प्रकार से सूक्ष्म अप्काय का कोई अवान्तर भेद नहीं है, अर्थात् वह सर्व प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही है । तथा सूक्ष्म अप्काय सर्व-लोक-व्यापी है और बादर अप्काय की स्थिति लोक के एक देश में है ।

अब इसके अनादित्व और सादित्व के विषय में कहते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥८७॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥८७॥

पदार्थान्वयः—संतइं–सन्तति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसिया–अपर्यवसित है अवि–तथा ठिइं–स्थिति की पडुच्च–अपेक्षा से साईया–सादि सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—अप्काय, सन्तान की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में अप्काय का कालसापेक्ष वर्णन किया गया है। अप्काय, प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि-अनन्त और अमुक स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त है; तात्पर्य कि भवस्थिति और कायस्थिति को लेकर वह सादि-सान्त है।

अब इसकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥८८॥
सप्तैव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुःस्थितिरपाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥८८॥

पदार्थान्वयः—आऊणं—अप्काय के जीवों की उक्कोसिया–उत्कृष्ट आउठिई–आयु-स्थिति सत्तेव सहस्साइं–सात सहस्र वासाण–वर्षों की भवे–होती है, और जहन्निया–जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

मूलार्थ—अप्काय के जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति सात हजार वर्ष की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

टीका—जलकाय के जीवों का उत्कृष्ट—अधिक से अधिक—आयुमान सात हजार वर्ष का है और न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है।

अब कायस्थिति के विषय में कहते हैं—

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८९॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिरपाम् , तं कायं त्वमुञ्चताम् ॥८९॥

पदार्थान्वयः—आऊणं–अप्काय के जीवों की कायठिई–कायस्थिति तं–उस कायं–काया को अमुंचओ–न छोड़ते हुओं की जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त की उक्कोसं–उत्कृष्ट असंखकालं–असंख्य काल की है तु–अवधारण में है।

मूलार्थ—अपनी उस कायस्थिति को न छोड़ते हुए अप्काय के जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट असंख्यात काल की होती है।

टीका—यदि यह आत्मा अप्काय में ही जन्मती और मरती रहे तो इसकी न्यून से न्यून कायस्थिति अर्थात् अप्काय को छोड़कर दूसरी काय मे जाने तक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है, तथा उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक असंख्यात काल-पर्यन्त है। इसके वाद तो उसको अप्काय का परित्याग करके अन्यत्र जाना ही पड़ेगा। परन्तु मध्यम स्थिति की कोई मर्यादा नहीं है; अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त के वाद और असंख्यात के भीतर किसी भी समय में वह स्थिति पूरी हो सकती है।

अव इसके अन्तर-मान का वर्णन करते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥९०॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, अब्जीवानामन्तरम् ॥९०॥

पदार्थान्वयः—सएकाए–स्वकाय के विजढम्मि–छोड़ने पर जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोसं–उत्कृष्ट अणंतकालं–अनन्तकाल आउजीवाण–अप्काय के जीवों का अंतरं–अन्तरकाल कथन किया गया है।

मूलार्थ—स्वकाय के छोड़ने पर [फिर वहाँ आने तक] जघन्य, अन्तर्मुहूर्त्त तथा उत्कृष्ट, अनन्तकाल-पर्यन्त अप्काय के जीवों का अन्तरकाल कथन किया गया है।

टीका—यदि अप्काय का जीव, अप्काय को छोड़कर किसी अन्य काय में चला जावे, और वहाँ से च्यवकर यदि फिर वह अप्काय में ही लौटकर आवे तो उसको कम से कम और अधिक से अधिक कितना समय लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि उसके लिए न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय अपेक्षित है। सारांश कि अप्काय को छोड़कर फिर वही जीव यदि अप्काय में ही आवे तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त में और अधिक से अधिक अनन्तकाल मे वापिस आ सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल की मानी गई है, इसलिए अप्काय को छोड़कर वनस्पतिकाय मे गया हुआ जीव अनन्त काल के पश्चात् ही अप्काय में वापिस आ सकता है, अतः इसका उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का प्रतिपादन किया है। अप्काय की यह काल-सापेक्ष्य सादि-सान्तता प्रतिपादन की गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ पृथिवीकाय की भाँति ही जान लेना।

अब इनका भाव-सापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥९१॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥९१॥

पदार्थान्वयः—एएसिं-इन अप्काय के जीवों के वण्णओ-वर्ण से च-पुनः गंधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-अथवा संठाणादेसओ-संस्थान के आदेश से सहस्ससो-हजारों विहाणाइं-भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—अप्काय के जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के आदेश से तरतमभाव को लेकर—हजारों भेद हो जाते हैं।

टीका—अप्काय के जीवों की व्याख्या वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से असंख्य प्रकार से की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि वर्ण, गन्ध, रसादि के तरतम-भाव को लेकर इनके असंख्य और अनन्त भेद किये

जा सकते हैं, परन्तु यहाँ पर तो इनके स्थूल भेदों का प्रदर्शन करना ही अभिप्रेत है।

अब क्रमप्राप्त वनस्पतिकाय का निरूपण करते हैं—

दुविहा वणस्सईजीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥९२॥

द्विविधा वनस्पतिजीवाः, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥९२॥

पदार्थान्वयः—वणस्सईजीवा–वनस्पतिकाय के जीव दुविहा–दो प्रकार के हैं सुहुमा–सूक्ष्म तहा–तथा बायरा–बादर एवमेव–इसी प्रकार पुणो–फिर पज्जत्तं–पर्याप्त और अपज्जत्ता–अपर्याप्त, ये दुहा–दो भेद प्रत्येक के जानने।

मूलार्थ—वनस्पतिरूप जीव भी सूक्ष्म और बादर भेद से दो प्रकार के हैं, तथा उनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद हैं।

टीका—वनस्पतिकाय के भी—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये चार भेद हैं। यथा (१) सूक्ष्म वनस्पतिकाय और (२) बादर वनस्पतिकाय इस प्रकार दो भेद हुए। फिर इनके (१) सूक्ष्म-पर्याप्त-वनस्पतिकाय और (२) सूक्ष्म-अपर्याप्त-वनस्पतिकाय, तथा (३) बादर-पर्याप्त-वनस्पतिकाय और (४) बादर-अपर्याप्त-वनस्पतिकाय। इस प्रकार से चार भेद वनस्पतिकाय के हो जाते हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥९३॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
साधारणशरीराश्च , प्रत्येकाश्च तथैव च ॥९३॥

पदार्थान्वयः—जे–जो बायरा–बादर पज्जत्ता–पर्याप्त हैं ते–वे दुविहा–दो प्रकार के वियाहिया–कथन किये गये हैं साहारणसरीरा–साधारण शरीर तहेव–उसी प्रकार पत्तेगा–प्रत्येक शरीर य-य–ये दोनों पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त हैं।

मूलार्थ—जो जीव पर्याप्त-बादर हैं वे दो प्रकार के कथन किये गये हैं; यथा—साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर ।

टीका—बादर-पर्याप्त-वनस्पतिकाय के साधारण और प्रत्येक ऐसे दो भेद कथन किये गये हैं; अर्थात् एक साधारण शरीर वाली वनस्पति और दूसरी प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति होती है । (१) साधारण—जिस एक शरीर में अनन्त जीवों का निवास हो उसे साधारण-वनस्पति कहते हैं, तथा (२) प्रत्येक—जिसके प्रत्येक शरीर में प्रत्येक जीव निवास करे वह प्रत्येक-वनस्पति कहलाती है ।

अब प्रथम प्रत्येक-नामा वनस्पति का वर्णन करते हैं—

पत्तेगसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥९४॥

प्रत्येकशरीरास्तु, अनेकधा ते प्रकीर्तिताः ।
वृक्षा गुच्छाश्च गुल्माश्च, लता वल्ली तृणानि तथा ॥९४॥

पदार्थान्वयः—पत्तेगसरीरा-प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति उ-फिर णेगहा-अनेक प्रकार की ते-वह पकित्तिया-कही गई है, यथा— रुक्खा- वृक्ष य-और गुच्छा-गुच्छे य-तथा गुम्मा-गुल्म लया-लता वल्ली-वल्ली तहा-तथा तणा-तृण ।

मूलार्थ—प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति अनेक प्रकार की कही गई है; यथा—वृक्ष, गुच्छे, गुल्म, लता, वल्ली और तृण आदि ।

टीका—प्रत्येक-शरीर उस वनस्पति को कहते हैं कि जिसके शरीर में एक २ जीव हो, अर्थात्—जैसे गुड़ आदि के द्वारा गृहीत हुए तिलों का समुदाय होता है, तद्वत् अनेक शरीरों का समूहरूप जो पिंड उसे प्रत्येक-शरीरी-वनस्पति कहते हैं; जैसे गधक या तिल-पर्पटी आदि । यह प्रत्येक-वनस्पति अनेक प्रकार की होती है, परन्तु संक्षेप से इसके १२ भेद कहे हैं । जिनमें ६ तो इस गाथा में कहे गये हैं और ६ अगली गाथा में बतलाये गये हैं । (१) वृक्ष—आम्रादि, (२) गुच्छ—वृन्ताकी आदि गुच्छे, (३) गुल्म—नवमल्लिका आदि, (४) लता—चम्पक आदि लताएँ, (५) वल्ली—करेला ककड़ी आदि की वेलें, (६) तृण—

दूर्वा आदि घास। इन वृक्षादि प्रत्येक-शरीर में प्रत्येक—एक २ जीव रहता है। यथा तिलों के बने हुए मोदक में भिन्न २ तिल रहते हैं और प्रत्येक तिल में जीव है, परन्तु है वह तिलों का समूहरूप; इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

अब शेष भेदों का वर्णन करते हैं—

वलया पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसहीतिणा।
हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया ॥९५॥

वलयाः पर्वजाः कुहणाः, जलरुहा औषधितृणानि।
हरितकायास्तु बोद्धव्याः, प्रत्येका इति व्याख्याताः ॥९५॥

पदार्थान्वयः—वलया–नारिकेलादि **पव्वगा**–पर्व से उत्पन्न होने वाले ईख आदि कुहणा–भूमि-स्फोटक—भूमि में से निकलने वाले खुंब आदि **जलरुहा**–कमल आदि **ओसहीतिणा**–औषधितृण—शालि आदि धान्य **हरियकाया**–हरितकाय आदि और भी **बोधव्वा**–जान लेनी **पत्तेगा**–प्रत्येक-शरीरी वनस्पति इ–इस प्रकार से **वियाहिया**–कही गयी है।

मूलार्थ—वलय, पर्वज, कुहण, जलरुह, औषधितृण और हरितकाय इत्यादि भेद प्रत्येक वनस्पति के जानने, जो कि वर्णन किये गये हैं।

टीका—पूर्व गाथा में प्रत्येक-वनस्पति के ६ भेदों का वर्णन किया जा चुका है। अब शेष ६ भेद इस गाथा में बतलाये गये हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। (७) वलय—नारिकेल—नारियल और कदली आदि को वलय कहते हैं। कारण यह है कि इनमें शाखान्तर नहीं होता किन्तु त्वचा का वलयाकार होने से ये वलय कहलाते हैं। (८) पर्वज—संधिओं से उत्पन्न होने वाले ईख और बाँस आदि को पर्वज कहते हैं। (९) कुहण—कु नाम पृथिवी का है, उसको हण अर्थात् भेदन करके उत्पन्न होने वाले छत्राकार जैसे (खुंब आदि) कुहण कहलाते हैं। (१०) जलरुह—जल से उत्पन्न होने वाले कमल आदि। (११) औषधि-तृण—पके हुए शाल्यादि धान्य। (१२) हरितकाय—चुलाई आदि शाक का

हरितकाय में समावेश है। इत्यादि अनेक भेद प्रत्येक-वनस्पति के कथन किये गये हैं जिसके मुख्य भेद ऊपर बतला दिये गये हैं।

अब साधारण वनस्पतिकाय का वर्णन करते हैं। यथा—

साहारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।
आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ॥९६॥

साधारणशरीरास्तु, अनेकधा ते प्रकीर्तिताः।
आलुको मूलकश्चैव, शृङ्गबेरं तथैव च ॥९६॥

पदार्थान्वयः—साहारणसरीरा—साधारण शरीर उ—भी णेगहा—अनेक प्रकार से ते—वे पकित्तिया—कथन किये गये हैं आलुए—आलू च—और मूलए—मूलक तहेव—उसी प्रकार सिंगबेरे—आर्द्रक—अदरक एव-च—पादपूर्ति में।

मूलार्थ—साधारण शरीर का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है; यथा—आलुक—आलू, मूलक—मूली और शृंगबेर—अदरक आदि।

टीका—जहाँ पर एक शरीर मे अनन्त जीव निवास करते हों उसे साधारण शरीर कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि उन जीवों का श्वासोच्छ्वास और आहार आदि सर्वसाधारण होता है। साधारण वनस्पति के भी अनेक भेद हैं। इनमें आलू, मूली और अदरक आदि कन्द-मूल तो प्रायः प्रसिद्ध ही हैं, तथा अन्य कन्द-मूलादि के नाम भी देशभेद से तत्तद् देश-भाषा से अवगत कर लेने चाहिएँ। सारांश यह है कि जितने भी कन्द-मूल हैं वे सब के सब साधारण वनस्पति के अन्तर्गत आ जाते हैं।

अब कतिपय कन्द-मूल के नामों का निर्देश करते हैं। यथा—

हरिली सिरिली सिस्सिरिली, जावईके य कंदली।
पलंडुलसणकंदे य, कंदली य कुहुव्वए ॥९७॥
लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य।
कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तहा ॥९८॥

अस्सकण्णी य बोधव्वा, सीहकण्णी तहेव य।
मुसुंढी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ॥९९॥

हरिली सिरिली सिस्सिरिली, यावतिकश्च कन्दली।
पलाण्डुलशुनकन्दश्च , कन्दली च कुहुव्रतः ॥९७॥
लोहिनी हुताक्षी हुतकन्दः, कुहकश्च तथैव च।
कृष्णश्च वज्रकन्दश्च, कन्दः सूरणकस्तथा ॥९८॥
अश्वकर्णी च बोद्धव्या, सिंहकर्णी तथैव च।
मुसण्ढी च हरिद्रा च, अनेकधा एवमादिकाः ॥९९॥

पदार्थान्वयः—हरिली–हरिलीकन्द सिरिली–सिरिलीकन्द सिस्सिरिली–सिस्सिरीलीकन्द जावईके–यावतिककन्द कंदली–कन्दलीकन्द पलंडु–पलांडुकन्द—प्याज लसणकंदे–लशुनकन्द (थोम—लसण) कन्दली य कुहुव्वए–कुहुव्रत-कंदलीकन्द लोहिणी–लोहिनीकन्द हूयथी–हुताक्षीकन्द हूय–हूतकन्द य–तथा तहेव–उसी प्रकार कुहणा–कुहककन्द य–और कण्हे–कृष्णकन्द य–तथा वज्जकंदे–वज्रकन्द तहा–तथा सूरणए–सूरणकन्द—जिमींकन्द अस्सकण्णी–अश्वकर्णीकन्द बोधव्वा–जानना य–और तहेव–उसी प्रकार सीहकण्णी–सिंहकर्णीकन्द य–तथा मुसुंढी–मुसुंढीकन्द य–और हलिद्दा–हरिद्राकन्द एवमायओ–इत्यादि णेगहा–अनेक प्रकार की साधारण वनस्पति है।

मूलार्थ—हरिली, सिरिली, सिस्सिरीली, यावतिक, कन्दली, पलांडु, लशुन, कुहुव्रत, लोहिनी, हुताक्षी, हूत, कुहक, कृष्ण, वज्र और सूरणकन्द तथा अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्राकन्द इत्यादि अनेक प्रकार की साधारण वनस्पति कही गई है।

टीका—इन तीनों गाथाओं में साधारण वनस्पति में आने वाले अनेक प्रकार के कन्दों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमे कितने एक तो प्रसिद्ध और कई एक अप्रसिद्ध हैं। जितने भी नाम ऊपर आ चुके हैं उन सब का विवरणपूर्वक ज्ञान, वैद्यक-निघंटु से तथा असुक २ देश की भाषाविशेष से ही हो सकता

है। ये सब प्रकार के कन्द और मूल अनन्तकाय कहलाते हैं। जो तोड़ने पर चक्राकार में टूटे उसे अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकाय का अन्यत्र यह भी लक्षण किया है कि—'समभागं भज्यमानस्य, ग्रन्थिश्चूर्णघनो भवेत्। पृथ्वीसदृशेन भेदेन, अनन्तकायं विजानीहि ॥१॥ गूढ़शिराकं पत्रं, सक्षीरं यच्च भवति निःक्षीरम्। यदपि प्रणष्टसन्धिम्, अनन्तजीवं विजानीहि ॥२॥' इसका अर्थ सुगम है। पनक—उल्ली—के जीव भी सामान्यरूप से वनस्पतिकाय में ही परिगणित किये गये हैं।

अब सूक्ष्म वनस्पति को भेदशून्य बतलाते हुए साथ में वनस्पतिकाय का क्षेत्रमापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥१००॥

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥१००॥

पदार्थान्वयः—सुहुमा-सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव अनाणत्ता-नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एगविहं-एक ही प्रकार के वियाहिया-कथन किये गये हैं, और तत्थ-इन दोनों में सुहुमा-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव सव्वलोगम्मि-सर्व लोक मे व्याप्त हैं य-और बायरा-बादर-वनस्पति के जीव लोगदेसे-लोक के एक देश मे हैं।

मूलार्थ—सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के हैं, तथा सूक्ष्म जीव तो सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर—स्थूल—जीव लोक के अमुक भाग में ही स्थित हैं।

टीका—सूक्ष्म वनस्पतिकाय का अवान्तर भेद कोई नहीं है। वह केवल एक ही प्रकार का माना गया है। तथा उसकी व्याप्ति सारे लोक में है और स्थूल वनस्पति की स्थिति लोक के एक देश में है।

अब काल की अपेक्षा से वनस्पतिकाय का वर्णन करते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१०१॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१०१॥

पदार्थान्वयः—संतइं–संतति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसिया–अपर्यवसित अवि–भी है ठिइं–स्थिति की पडुच्च–अपेक्षा से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—संतति—प्रवाह—की अपेक्षा से वनस्पतिकाय, अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त माना गया है।

टीका—यदि प्रवाह की ओर दृष्टि डाले तब तो वनस्पतिकाय, आदि और अन्त दोनों से रहित है; अर्थात् न तो इसकी आदि उपलब्ध होती है न अन्त ही दृष्टिगोचर होता है, परन्तु जब इसकी स्थिति की ओर ध्यान करें तब इसकी आदि और अन्त दोनों ही मानने पड़ते हैं, इसलिए दृष्टिभेद से वनस्पतिकाय में अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता दोनों ही स्वीकार किये गये हैं।

अब इसकी स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

दस चेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
वणस्सईणं आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥१०२॥

दश चैव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
वनस्पतीनामायुस्तु, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥१०२॥

पदार्थान्वयः—दस–दस सहस्साइं–हजार वासाण–वर्षों की उक्कोसिया–उत्कृष्ट आउं–आयु वणस्सईणं–वनस्पति के जीवों की भवे–होती है तु–फिर जहन्नयं–जघन्य आयु अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है च-एव–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की होती है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की स्वीकार की गई है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का मान बतलाया गया है। परन्तु यह आयुमान प्रत्येक वनस्पति का है; अर्थात् प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों की ही उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, परन्तु जो साधारण वनस्पति है उसकी तो उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार की आयु, केवल अन्तर्मुहूर्त्त की ही मानी गई है। इस प्रकार आयुस्थिति की अपेक्षा से वनस्पतिकाय की यह सादि-सान्तता प्रमाणित की गई है।

अब कायस्थिति का वर्णन करते हैं—

अणंतकालमुक्कोसा , अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥१०३॥

अनन्तकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिः पनकानां, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१०३॥

पदार्थान्वयः—अणंतकालं–अनंतकाल उक्कोसा–उत्कृष्ट अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त जहन्निया–जघन्य कायठिई–कायस्थिति पणगाणं–वनस्पतिकाय के जीवों की है तं कायं–उस काया को तु–फिर अमुंचओ–न छोड़ते हुओं की।

मूलार्थ—उस काया को न छोड़ते हुए वनस्पति के जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट अनन्तकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

टीका—यदि वनस्पतिकाय का जीव, वनस्पतिकाय में ही जन्मता और मरता रहे तो वह न्यून से न्यून और अधिक से अधिक कितने समय तक वहां जन्म-मरण करता रहेगा; अर्थात् अपनी काया को छोड़कर अन्य काया में प्रविष्ट होने के लिए उसको न्यून से न्यून और अधिक से अधिक कितना समय अपेक्षित है? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं कि वनस्पतिकाय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट अनन्तकाल की है, अर्थात् न्यून से न्यून तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् और अधिक से अधिक अनन्तकाल के बाद वह स्वकाय को छोडकर अन्यकाय में जाता है। परन्तु यह कायस्थिति सामान्य प्रकार से पनक-जीवों की कही गई है जो कि निगोद के जीवों की अपेक्षा से सिद्ध होती है। तथा यदि विशेषता से

देखा जावे तो प्रत्येक वनस्पति और वादर तथा सूक्ष्म निगोद, इन सब की कायस्थिति असंख्यातकाल की होती है। यथा—वादर-प्रत्येक-वनस्पतिकाय के जीवों की कायस्थिति जघन्यरूप से अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट ७० कोटा-कोटी सागरोपम की है, तथा निगोद के जीवों की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट असंख्यातकाल की है। और वादर निगोद की कायस्थिति, जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र की ही है किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उसकी भी ७० कोटाकोटी सागरोपम की ही मानी गयी है, परन्तु सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यातकाल की है। तात्पर्य यह है कि जघन्य स्थिति तो इन सब की समान ही है परन्तु उत्कृष्ट स्थिति में ऊपर लिखा अन्तर है, इसलिए सूत्रकार ने जो अनन्तकाल की उत्कृष्ट स्थिति कही है वह सामान्यतया पनक-जीवों की है।

इस प्रकार सामान्यरूप से वनस्पतिकाय के जीवों की कायस्थिति का वर्णन करने के अनन्तर अब उसका अन्तर बतलाते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, पणगजीवाण अंतरं ॥१०४॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, पनकजीवानामन्तरम् ॥१०४॥

पदार्थान्वयः—पणगजीवाण—पनक-जीवों के सए काए—स्वकाय के विजढम्मि—छोड़ने पर जहन्नयं—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त, और उक्कोसं—उत्कृष्ट असंखकालं—असंख्यातकाल का अंतरं—अन्तर होता है।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों का स्वकाय के छोड़ने पर जघन्य अन्तर, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक का है।

टीका—वनस्पतिकाय का जीव, वनस्पतिकाय को छोड़कर अन्यत्र गया हुआ पुनः वनस्पतिकाय में कितने समय के बाद आ सकता है? इसके समाधान में यह कहा गया है कि उत्कृष्ट असंख्यकाल और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त के बाद वह वापिस आ सकता है। तात्पर्य यह है कि पृथिवीकाय आदि की उत्कृष्ट काय-

स्थिति असंख्यात काल की कही गई है, तदनुसार वनस्पतिकाय से निकलकर जीव यदि अन्यकाय में रहे तो उसकी उत्कृष्ट स्थिति भी असंख्यात काल की ही है, अर्थात् वह अधिक से अधिक असंख्यात काल तक वहाँ रह सकता है। इसके पश्चात् वह वनस्पतिकाय में वापिस आ सकता है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१०५॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१०५॥

पदार्थान्वयः—एएसिं—इन जीवों के वण्णओ—वर्ण से गंधओ—गन्ध से च—और रसफासओ—रस और स्पर्श से वा—तथा संठाणादेसओ—संस्थान के आदेश से अवि—समुच्चयार्थक है सहस्ससो—हजारों विहाणाइं—विधान—भेद—होते हैं।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, तथा संस्थान के आदेश से हजारों अवान्तर भेद होते हैं।

टीका—वनस्पतिकाय के पूर्वोक्त जितने अवान्तर भेद बतलाये हैं उनका यदि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि के तरतमभाव से विचार करें तो उनके हजारों भेद हो जाते हैं, परन्तु यहाँ पर तो उनका सामान्यरूप से निर्देशमात्र ही किया गया है।

त्रसकाय-निरूपण—

इस प्रकार स्थावर जीवों का निरूपण करके अब त्रसों का वर्णन करते हैं—

इच्चेए थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया।
इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥१०६॥

इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, समासेन व्याख्याताः।
इतस्तु त्रसान् त्रिविधान्, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥१०६॥

पदार्थान्वयः—इच्चेए–इस प्रकार यह तिविहा–तीन प्रकार के थावरा–स्थावर समासेण–संक्षेप से वियाहिया–वर्णन किये गये हैं इत्तो–इससे आगे उ–पुनः तिविहे–तीन प्रकार के तसे–त्रसों के भेदों को अणुपुव्वसो–अनुक्रम से वुच्छामि–कहूँगा।

मूलार्थ—हे शिष्य! इस प्रकार से यह तीनों स्थावरों का संक्षेप से वर्णन किया गया है, अब इसके आगे में तीन प्रकार के त्रसों को अनुक्रम से कहूँगा।

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! पृथिवी, जल और वनस्पति रूप तीनों स्थावरों का तो यह संक्षेप से स्वरूप वर्णन कर दिया गया है, अब इसके अनन्तर तीन प्रकार के त्रसों का स्वरूप मैं वर्णन करता हूँ, तुम सावधान होकर श्रवण करो! यह इस गाथा का भाव है।

अब त्रसों के विषय में ही कहते हैं। यथा—

तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१०७॥

तेजांसि वायवश्च बोद्धव्याः, उदाराश्च त्रसास्तथा।
इत्येते त्रसास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् शृणुत मे ॥१०७॥

पदार्थान्वयः—तेऊ–तेजस्काय वाऊ–वायुकाय य–और उराला–प्रधान तहा–तथा तसा–त्रसकाय इच्चेए–इस प्रकार यह तिविहा–तीन प्रकार के तसा–त्रस हैं तेसिं–उनके भेए–भेदों को मे–मुझसे सुणेह–श्रवण करो।

मूलार्थ—हे शिष्यो! अग्निकाय, वायुकाय और प्रधान त्रस, ये तीन प्रकार के त्रस जीव हैं। अब तुम इनके उत्तर भेदों को मुझसे श्रवण करो!

टीका—आचार्य कहते हैं कि त्रसों के भी तीन भेद हैं—अग्निकाय, वायुकाय और प्रधान त्रस अर्थात् एकेन्द्रिय की अपेक्षा से प्रधान उत्कृष्ट, जो कि त्रस-नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि, ये तीनों त्रस कहे वा माने जाते हैं। तथा श्रवण करने

का जो आदेश है उसका तात्पर्य एकाग्रचित्त से विषय के अवधारण में है; अर्थात् इस विषय को एकाग्रचित्त से श्रवण करना चाहिए । यद्यपि तेज—अग्नि—और वायु ये दोनों भी स्थावर-नाम-कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण स्थावरों की ही गणना में आते हैं, तथापि गति करने वाले अर्थात् देश से देशान्तर जाने वाले को त्रस कहते हैं । 'त्रसन्ति—देशाद्देशान्तरं संक्रामन्ति—इति त्रसाः' इस मान्यता के अनुसार अग्नि और वायु को स्थावर न मानकर त्रस माना गया है । आगम में दो प्रकार के त्रस माने गये हैं; एक गतित्रस, दूसरा लब्धित्रस । सो लब्धित्रस तो द्वींद्रियादि जीव हैं और गतित्रस अग्नि एवं वायु को माना है । क्योंकि इनकी गति प्रत्यक्षसिद्ध है; अर्थात् अग्निज्वाला का ऊर्ध्वगमन और वायु का तिर्यग्गमन, चक्षु और स्पर्श इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ही है । शंका—जल में भी तो गति है, अर्थात् वह भी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता हुआ देखा जाता है ? समाधान—जल की गति में स्वतंत्रता नहीं है, वह तो केवल निम्न स्थान को गमन करता है और उसको यदि किसी घटादि-यंत्र में रख दिया जावे तो वहाँ उसकी गति विरुद्ध हो जाती है, परन्तु अग्नि और वायु में ऐसा नहीं है । अग्नि अथवा वायु किसी स्थान पर भी क्यों न हों उनमे गति बराबर होती रहती है, अर्थात् अग्नि-शिखा की ऊर्ध्व और वायु की तिर्यग्गति में कोई प्रतिबन्धक या प्रेरक नहीं हो सकता, इसलिए इनको गतित्रस के भेद में परिगणित किया गया है ।

अब तेजस्काय के सम्बन्ध में कहते हैं—

दुविहा तेऊजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥१०८॥

द्विविधास्तेजोजीवास्तु , सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥१०८॥

पदार्थान्वयः—दुविहा–दो प्रकार के तेऊ–तेजस्काय के जीवा–जीव हैं उ–फिर सुहुमा–सूक्ष्म तहा–तथा बायरा–बादर एवमेव–उसी प्रकार पुणो–फिर दुहा–दो प्रकार के हैं पज्जत्तमपज्जत्ता–पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से ।

मूलार्थ—तेजस्काय के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद हैं, तथा ये दोनों भी पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो दो प्रकार के कथन किये गये हैं।

टीका—तेजस्काय के भी कुल चार भेद हैं—सूक्ष्म बादर पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म-पर्याप्त, सूक्ष्म-अपर्याप्त, बादर-पर्याप्त और बादर-अपर्याप्त, इस प्रकार से चार भेद तेजस्काय के हो जाते हैं।

अब बादर के उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे अगणी, अच्चिजाला तहेव य ॥१०९॥
उक्का विज्जू य बोधव्वा, णेगहा एवमायओ।

बादरा ये तु पर्याप्ताः, अनेकधा ते व्याख्याताः।
अङ्गारो मुर्मुरोऽग्निः, अर्चिर्ज्वाला तथैव च ॥१०९॥
उल्का विद्युच्च बोद्धव्याः, अनेकधा एवमादिकाः।

पदार्थान्वयः—जे-जो उ-फिर बायरा-बादर पज्जत्ता-पर्याप्त-अग्निकाय के जीव हैं ते-वे णेगहा-अनेक प्रकार से वियाहिया-वर्णन किये गये हैं इंगाले-अंगार—निर्धूम अग्निखंड मुम्मुरे-भस्ममिश्रित अग्निकण अगणी-सामान्य अग्नि अच्चि-मूलसहित अग्निशिखा जाला-ज्वाला—मूलरहित अग्निशिखा य-और तहेव-उसी प्रकार उक्का-उल्का य-और विज्जू-विद्युत् एवमायओ-इत्यादि णेगहा-अनेक प्रकार की बोधव्वा-जाननी।

मूलार्थ—बादर-पर्याप्त अग्नि अनेक प्रकार से वर्णन की गई है। यथा—अंगार, मुर्मुर—चिनगारियाँ, अग्नि, दीपशिखा, मूलप्रतिबद्धशिखा और छिन्न-मूलशिखा, उल्का और विद्युत् इत्यादि अनेक प्रकार के अग्निकाय के भेद कहे गये हैं।

टीका—प्रस्तुत सार्द्ध गाथा में अग्निकाय के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। अंगारक—धूमरहित अग्निखंड (कोयला) को अंगारक या अंगार कहते

हैं। मुर्मुर—भस्मयुक्त अग्नि-कणों का नाम है। अग्नि—प्रसिद्ध ही है। ज्वाला—अग्निशिखा—दीपशिखा। अर्चि—विच्छिन्नमूल अथवा मूलबद्धअग्निशिखा। उल्का—तारों की तरह पतित होने वाली आकाशाग्नि। विद्युत्—विजली, इत्यादि अनेक भेद अग्निकाय के कहे गये हैं।

अब सूक्ष्म अग्निकाय के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

एगविहमनाणत्ता , सुहुमा ते वियाहिया ॥११०॥
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः ॥११०॥
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः।

पदार्थान्वयः—एगविहं—एक प्रकार का अनाणत्ता—नाना प्रकार के भेदों से रहित सुहुमा—सूक्ष्म अग्निकाय के जीव ते—वे वियाहिया—वर्णन किये गये हैं। सुहुमा—सूक्ष्म सव्वलोगम्मि—सर्व लोक में व्याप्त हैं य—और लोगदेसे—लोक के एक देश में बायरा—वादर स्थित हैं।

मूलार्थ—सूक्ष्म अग्निकाय के जीव नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के होते हैं, तथा वे सूक्ष्म जीव तो सर्व लोक में व्याप्त हैं और वादर—स्थूल—जीव लोक के एक देश अर्थात् किसी अमुक भाग में स्थित हैं।

टीका—सूक्ष्म अग्निकाय का कोई विशेष भेद नहीं है, किन्तु वह एक ही प्रकार का माना गया है।

अब इनके काल-विभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं। यथा—

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१११॥

इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१११॥

पदार्थान्वयः—इत्तो—इससे आगे तु—फिर तेसिं—उनके कालविभागं—कालविभाग को चउव्विहं—चार प्रकार से वुच्छं—कहूँगा।

मूलार्थ—अब इससे आगे उन जीवों के चार प्रकार के काल-विभाग को मैं कहूँगा।

टीका—प्रस्तुत अर्द्ध गाथा में अग्निकाय के जीवों के कालसम्बन्धी चतुर्विध विभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है।

अब शास्त्रकार उसी चतुर्विध विभाग का वर्णन करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य॥११२॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च॥११२॥

पदार्थान्वयः—संतइं–सन्तति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं, परन्तु ठिइं–स्थिति की पडुच्च–प्रतीति से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—सन्तान की दृष्टि से अग्निकाय के जीव अनादि और अनन्त हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से वे सादि और सान्त भी कहे गये हैं।

टीका—प्रवाह की दृष्टि से अग्निकाय के जीव अनादि-अनन्त और स्थिति की प्रतीति से वे सादि-सान्त माने गये हैं।

अब इनकी स्थिति का निरूपण करते हैं—

तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई तेऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया॥११३॥

त्रीण्येवाहोरात्राणि, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुःस्थितिस्तेजसाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका॥११३॥

पदार्थान्वयः—तिण्णेव–तीन ही अहोरत्ता–अहोरात्र की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से तेऊणं–तेजस्काय के जीवों की आउठिई–आयुस्थिति वियाहिया–वर्णन की गई है जहन्निया–जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त की बतलाई गई है।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन अहोरात्र की बतलाई है।

टीका—इस गाथा में अग्निकाय के जीवों की आयुस्थिति का वर्णन किया है। अग्निकाय के जीव की उत्कृष्ट आयु, तीन अहोरात्र की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। तात्पर्य यह है कि अग्निकाय का जीव, अधिक से अधिक तीन दिन और तीन रात्रि तक भवस्थिति कर सकता है तथा जघन्य, अन्तर्मुहूर्त्तमात्र।

अब इनकी कायस्थिति बतलाते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥११४॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिस्तेजसाम्, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥११४॥

पदार्थान्वयः—तं कायं—उस काय को तु—फिर अमुंचओ—न छोड़ते हुए तेऊणं—तेजस्काय के जीवों की कायठिई—कायस्थिति उक्कोसा—उत्कृष्ट असंखकालं—असंख्यातकाल की—और जहन्निया—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त की है।

मूलार्थ—अपनी काय को न छोड़ते हुए अग्निकाय के जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है; अर्थात् इतना समय वह जीव उसी काय में जन्मता और मरता रहता है।

टीका—अग्निकाय का जीव यदि अग्निकाय में ही जन्म-मरण करता रहे तो उसकी यह अवस्था न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक असंख्य-काल-पर्यन्त है। इसके बाद वह दूसरी काया में चला जाता है, इसी का नाम कायस्थिति है। यह स्थिति की अपेक्षा से अग्निकाय की सादि-सान्तता कथन की गई है।

अब अन्तर के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, तेऊजीवाण अंतरं ॥११५॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, तेजोजीवानामन्तरम् ॥११५॥

पदार्थान्वयः—तेऊजीवाण–तेजस्काय के जीवों के सए काए–स्वकाय को विजढम्मि–छोड़ने पर जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त और उक्कोसं–उत्कृष्ट अणंतकालं–अनन्तकाल का अंतरं–अन्तर हो जाता है।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीवों का स्वकाय के छोड़ने से लेकर पुनः स्वकाय में आने तक, जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्तमात्र का और उत्कृष्ट अनन्त-काल का अपेक्षित है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में अग्निकाय के जीव को अपनी त्यागी हुई काया में फिर से आने के लिए न्यून से न्यून और अधिक से अधिक जितना समय लगता है उस समय का निर्देश किया गया है। तथाच, वह (समय) जघन्य, अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्त काल का है। यह इसका अन्तर-काल है। नव समय से अधिक और दो घड़ी से न्यून समय को अन्तर्मुहूर्त्त कहते हैं।

अव प्रकारान्तर से इसके अवान्तर भेदों का निरूपण करते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥११६॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः ॥११६॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन अग्निकाय के जीवों के वण्णओ—वर्ण से च–और गंधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओ–संस्थान के आदेश से सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद होते हैं एव-अवि–समुच्चय मे हैं।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीव के—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान के आदेश से तरतमभाव को लेते हुए हजारों नाना प्रकार के अवान्तर भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतमभाव से अग्निकाय के जीवों के हज़ारों उपभेद बन जाते हैं।

इस प्रकार अग्निकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब वायुकाय के विषय में कहते हैं। यथा—

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेव दुहा पुणो ॥११७॥

द्विविधा वायुजीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥११७॥

पदार्थान्वयः—दुविहा-दो प्रकार के वाउजीवा-वायुकाय के जीव हैं सुहुमा-सूक्ष्म तहा-तथा बायरा—बादर उ-पुनः पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त एवमेव-इसी प्रकार से पुणो-फिर दुहा-दो प्रकार के हैं।

मूलार्थ—वायुकाय के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर इनमें भी प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद हैं।

टीका—वायुकाय के चार भेद हैं—सूक्ष्मपर्याप्त, सूक्ष्मअपर्याप्त, बादरपर्याप्त और बादरअपर्याप्त।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं—

बायरा जे उ पज्जत्ता,
पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मंडलिया,
घणगुंजा सुद्धवाया य ॥११८॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः,
पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।

उत्कलिका मण्डलिका,
घनगुञ्जाः शुद्धवाताश्च ॥११८॥

पदार्थान्वयः—वायरा–वादर जे–जो पज्जत्ता–पर्याप्त हैं उ–फिर ते–वे पंचहा–पाँच प्रकार के पकित्तिया–कथन किये गये हैं उक्कलिया–उत्कालिक—ठहर २ कर चलने वाली वायु मंडलिया–मांडलिक—वातोलीरूप वायु घण–घनवायु—रत्नप्रभा आदि के नीचे की गुंजा–गुंजावायु—गुंजार शब्द करने वाली य–और सुद्धवाया–शुद्ध वायु ।

मूलार्थ—वादर-पर्याप्त वायु पाँच प्रकार की कही गई है—उत्कलिका वायु, मंडलिका वायु, घन वायु, गुंजा वायु और शुद्ध वायु । तथा इसके और भेद भी उपलक्षण से जान लेने चाहिएँ ।

टीका—वादर-पर्याप्त वायु के पाँच भेद हैं। यथा—(१) उत्कलिका वायु—जो ठहर २ कर चले, (२) मंडलिका वायु—जो चक्र खाती हुई चले, (३) घन वायु—रत्नप्रभा आदि पृथिवी के नीचे अथवा विमानों के नीचे की घनरूप वायु, (४) गुंजा वायु—जो चलती हुई गुंजार शब्द करे, और (५) शुद्ध वायु—जो कि उक्त गुणों से रहित और मंद २ चलने वाली होती है उसे शुद्ध वायु कहते हैं । इसके अतिरिक्त तरतमभाव को लेकर वायु के और भी वहुत से उपभेद हो सकते हैं, परन्तु संक्षेप से मुख्य भेद तो उक्त पाँच ही हैं ।

अव फिर कहते हैं—

संवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ ।
एगविहमनाणत्ता , सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥११९॥

संवर्तकवायवश्च , अनेकधा एवमादयः ।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ॥११९॥

पदार्थान्वयः—संवट्टग–संवर्त वायु—जो वाहर के क्षेत्र से तृणादि को लाकर विवक्षित क्षेत्र में फेंकती है एवमायओ–इत्यादि णेगहा–अनेक भेद वायु के

हैं अनाणत्ता—नाना प्रकार के भेदों से रहित एगविहं—केवल एक ही प्रकार से तत्थ—सूक्ष्म और बादर वायु में सुहुमा—सूक्ष्म वायु वियाहिया—कथन की गई है।

मूलार्थ—तथा संवर्तक वायु इत्यादि अनेक भेद वायु के कहे गये हैं। सूक्ष्म वायु नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार की कही गई है।

टीका—प्रस्तुत गाथा के अर्द्ध भाग में तो वायुकाय के संवर्तनामक अन्य भेद का उल्लेख किया है, और शेष अर्द्ध भाग में सूक्ष्म वायुकाय को अवान्तर भेदरहित बतलाया है। जो वायु बाहर में पड़े हुए तृण आदि को उड़ाकर विवक्षित क्षेत्र में लाकर फेंक देती है उसे संवर्तक वायु कहते हैं। इस प्रकार से वायुकाय के अनेक उत्तर भेद हैं। अब सूक्ष्म वायुकाय के विषय मे कहते हैं। सूक्ष्म वायु का कोई उत्तर भेद नहीं, किंतु वह एक ही प्रकार की है।

अब सूक्ष्म और बादर वायु का क्षेत्रविभाग बतलाते हैं—

सुहुमा सव्वलोगम्मि, एगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१२०॥

सूक्ष्माः सर्वलोके, एकदेशे च बादराः।
इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१२०॥

पदार्थान्वयः—सुहुमा—सूक्ष्म सव्वलोगम्मि—सर्व लोक में व्याप्त हैं य—और बायरा—बादर एगदेसे—लोक के एक देश में स्थित हैं इत्तो—इसके आगे तु—फिर तेसिं—इनके चउव्विहं—चार प्रकार के कालविभागं—कालविभाग को वुच्छं—कहूँगा।

मूलार्थ—इनमें सूक्ष्म वायु सर्व लोक में व्याप्त है और बादर, लोक के एक देश में रहता है। अब इसके पश्चात् मैं इनके चतुर्विध कालविभाग का वर्णन करूँगा।

टीका—सूक्ष्म वायुकाय सर्व-लोक-व्यापी और बादर वायुकाय एक-देश-व्यापी है, यह गाथा के प्रथम अर्धभाग का तात्पर्य है। और अवशिष्ट गाथार्द्ध में वायुकाय के चतुर्विध कालविभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा की गई है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार कालविभाग का वर्णन करते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१२१॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१२१॥

पदार्थान्वयः—संतइं–प्रवाह की पप्प–अपेक्षा से, वायुकाय अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी है ठिइं–स्थिति की पडुच्च–प्रतीति से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—सन्तान—प्रवाह—की अपेक्षा से वायुकाय, अनादि-अनन्त है और स्थिति की प्रतीति से वह सादि-सान्त भी है।

टीका—यदि वायुकाय के प्रवाह पर विचार करें, तो उसके आदि और अन्त का अभाव है, अर्थात् वह अनादि-अनन्त है, परन्तु यदि उसकी आयुस्थिति और कायस्थिति का विचार करें, तब तो उसकी आदि और अन्त दोनों ही उपलब्ध होते हैं।

अब स्थिति अर्थात् आयु-स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

तिण्णेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई वाऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१२२॥

त्रीण्येव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुःस्थितिर्वायूनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१२२॥

पदार्थान्वयः—वाऊणं–वायुकाय के जीवों की जहन्निया–जघन्य आउठिई–आयुस्थिति अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त की भवे–होती है, और उक्कोसिया–उत्कृष्ट आयुस्थिति तिण्णेव–तीन सहस्साइं–हजार वासाण–वर्षों की होती है।

मूलार्थ—वायुकाय के जीवों की आयुस्थिति, जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट आयुमान तीन हजार वर्षों का माना गया है।

टीका—इस गाथा में वायुकाय के जीवों की आयुस्थिति का वर्णन किया गया है। इनकी उत्कृष्ट आयुस्थिति तो तीन हज़ार वर्ष की, और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

असंखकालमुक्कोसा , अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई वाऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥१२३॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिर्वायूनाम् , तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१२३॥

पदार्थान्वयः—तं कायं—उस काया को तु—पुनः अमुंचओ—न छोड़ते हुए वाऊणं—वायुकाय के जीवों की जहन्निया—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोसा—उत्कृष्ट असंखकालं—असंख्यकाल की कायठिई—कायस्थिति होती है।

मूलार्थ—यदि वायुकाय के जीव, स्वभाव में ही जन्म-मरण करते रहें तो उनकी इस कायस्थिति का उत्कृष्ट समय तो असंख्यकाल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है।

टीका—वायुकाय के जीवों की कायस्थिति, न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त की और अधिक से अधिक असंख्यातकाल की मानी गई है। तात्पर्य यह है कि इसके पश्चात् वे अपनी काया को त्यागकर दूसरी काया में चले जाते हैं।

अब वायुकाय के अन्तर का उल्लेख करते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, वाऊजीवाण अंतरं ॥१२४॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, वायुजीवानामन्तरम् ॥१२४॥

पदार्थान्वयः—वाऊजीवाण–वायुकाय के जीवों का अंतरं–अन्तरकाल सए काए–स्वकाय के विजढम्मि–छोड़ने पर उक्कोसं–उत्कृष्ट अणंतकालं–अनन्तकाल और जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त का है।

मूलार्थ—वायुकाय के जीवों को स्वकाय के छोड़ने में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर पड़ जाता है।

टीका—स्वशरीर को छोड़कर अन्यत्र गया हुआ वायुकाय का जीव, वहाँ से चलकर यदि फिर अपनी उसी काया में वापिस आवे तो उसको वापिस आने में न्यून से न्यून तो अन्तर्मुहूर्त्त का समय लगता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाता है। इसी का नाम अन्तरकाल है। इस प्रकार वायुकाय की सादि-सान्तता प्रमाणित की गई है, अर्थात् आयुस्थिति, कायस्थिति और अन्तरकाल की अपेक्षा से वायुकाय को सादि और सान्त सिद्ध किया गया है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए वायुकाय के उत्तर भेदों के विषय में फिर प्रतिपादन करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१२५॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः ॥१२५॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन वायुकाय के जीवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गंधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–अथवा संठाणादेसओ–संस्थान के आदेश से अवि–भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद होते हैं।

मूलार्थ—इन वायुकाय के जीवों के तरतमभाव को लेकर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादेश से हजारों अवान्तर भेद होते हैं।

टीका—पूर्वोक्त वायुकाय के जीवों के यदि वर्ण, गन्ध, रस आदि के तरतम-भाव को लेकर भेद करें तो वे हजारों की संख्या में हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि

तरतमभाव से इनके असंख्य भेद किये जा सकते हैं। यहाँ पर 'सहस्ससो—सहस्रशः' शब्द असंख्य अथवा अनन्त अर्थ का बोधक माना गया है।

इस प्रकार अग्नि और वायु रूप त्रसकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब उदार त्रसों का वर्णन करते हैं। यथा—

उराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।
बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥१२६॥

उदाराः त्रसा ये तु, चतुर्धा ते प्रकीर्तिताः।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चैव ॥१२६॥

पदार्थान्वयः—जे-जो उ-पुनः उराला-उदार तसा-त्रस हैं ते-वे चउहा-चार प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं बेइंदिया-दो इन्द्रिय वाले तेइंदिया-तीन इन्द्रिय वाले चउरो-चार इन्द्रिय वाले च-और पंचिंदिया-पाँच इन्द्रिय वाले एव-निश्चय में है।

मूलार्थ—उदार त्रस के चार भेद कहे गये हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

टीका—इस गाथा में उदार त्रसों का वर्णन किया गया है। उदार त्रस—दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों का नाम है। यद्यपि त्रसकाय में अग्नि और वायु का भी ग्रहण किया है, तथापि वे अप्रधान त्रस हैं, अतः उनका प्रधान त्रसों में समावेश नहीं हो सकता। अग्नि और वायु के जीव एकेन्द्रियजीव होने से अप्रधान कहे जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि द्रव्य और भाव से इन्द्रिय दो प्रकार की हैं; अर्थात् द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय। यद्यपि कर्म-सत्ता की अपेक्षा से एकेन्द्रिय जीव में भी भावेन्द्रियपञ्चक की सत्ता विद्यमान है, तथापि एक से अधिक निर्वृत्त्युपकरणरूप द्रव्य-इन्द्रिय के अभाव से एकेन्द्रिय जीवों में द्वीन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा अप्रधानता है। इसलिए पुण्य कर्म की न्यूनाधिकता से जिन आत्माओं की जितनी द्रव्येन्द्रियें प्रकट हैं, उतनी इन्द्रियों की अपेक्षा से ही उनकी संज्ञा का निर्माण हुआ है। यथा—जिनके स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियें

हैं उनको द्वीन्द्रिय कहते हैं; तथा जिनके स्पर्श, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियें हैं उनको त्रीन्द्रिय; एवं स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु, इन चार इन्द्रिय वालों की चतुरिन्द्रिय संज्ञा है; तथा स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रिये जिनमे विद्यमान हों उनको पंचेन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार ये चार भेद प्रधान त्रसों के माने गये हैं।

अब द्वीन्द्रिय जीवों के अवान्तर भेदों का उल्लेख करते हैं। यथा—

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता , तेसिं भेए सुणेह मे ॥१२७॥

द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥१२७॥

पदार्थान्वयः—जे-जो बेइंदिया-दो इन्द्रिय वाले जीवा-जीव हैं उ-पुनः ते-वे दुविहा-दो प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त तेसिं-उनके भेए-भेदों को मे-मुझसे सुणेह-तुम श्रवण करो।

मूलार्थ—हे शिष्य! द्वीन्द्रियजीव पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के हैं, सो उनके उत्तर भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो!

टीका—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं कि दो इन्द्रिय वाले जो जीव हैं उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद माने गये हैं; अर्थात् एक पर्याप्त-द्वीन्द्रिय और दूसरे अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय। यद्यपि दो इन्द्रिय वाले जीव सूक्ष्म भी होते है, अतः अग्नि और वायु की तरह इनके सूक्ष्म और बादर ये अन्य दो भेद भी होने चाहिएँ, तथापि सूक्ष्म शब्द से यहाँ पर उसी शरीर का ग्रहण अभिमत है जो कि सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ हो। परन्तु द्वीन्द्रिय जीवों में वह नहीं होता, इसलिए यहाँ पर इनके सूक्ष्म और बादर ये दो भेद नहीं किये गये किन्तु इनके पर्याप्त और अपर्याप्त यही दो भेद मानने योग्य शास्त्र और युक्ति संगत हैं।

अब द्वीन्द्रिय जीवों का निर्देश करते हैं। यथा—

किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया ।
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥१२८॥
पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा ।
जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥१२९॥
इइ बेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१३०॥

कृमयः सुमङ्गलाश्चैव, अलसा मातृवाहकाः ।
वासीमुखाश्च शुक्तयः, शङ्खाः शङ्खनकास्तथा ॥१२८॥
पल्लका अनुपल्लकाश्चैव, तथैव च वराटकाः ।
जलौका जालकाश्चैव, चन्दनाश्च तथैव च ॥१२९॥
इति द्वीन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः ।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ॥१३०॥

पदार्थान्वयः—किमिणो—कृमी च—और सोमंगला—सुमंगल अलसा—अलसिया माइवाहया—मातृवाहक—घुण य—और वासीमुहा—वासीमुख सिप्पीया—सीप—शुक्ति संखा—शंख तहा—तथा संखणगा—छोटे शंख—घोंघे आदि एव—पादपूर्ति में है पल्लोयाणुल्लया—पल्लक और अनुपल्लक य—फिर तहेव—उसी प्रकार वराडगा—वराटक—कौडियाँ जलूगा—जोंक च—और जालगा—जालक—जीवविशेष तहेव—उसी प्रकार चंदणा—चंदनिया एव च—पूर्ववत् इइ—इस प्रकार एए—ये बेइंदिया—द्वीन्द्रिय जीव णेगहा—अनेक प्रकार के एवमायओ—इत्यादि ते—वे सव्वे—सब लोगेगदेसे—लोक के एक भाग में वियाहिया—प्रतिपादन किये गये हैं न सव्वत्थ—सर्वत्र नहीं ।

मूलार्थ—कृमी, सुमंगल, अलसिया, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख और लघुशंख—घोंघे आदि, तथा पल्लक, अनुपल्लक, कपर्दिका, जोंक,

जालक और चंदनिया इत्यादि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव कथन किये गये हैं। ये सब लोक के एकदेश में—अमुक भाग में—रहते हैं, सर्वत्र नहीं।

टीका—इस गाथात्रय में द्वीन्द्रिय जीवों के नामों का निर्देश और उनकी एकदेशता का वर्णन किया गया है। ये द्वीन्द्रिय जीव, सूक्ष्म वायुकाय आदि की भाँति सर्व-लोक-व्यापी नहीं किन्तु लोक के एक देश मे रहते हैं। कृमि—विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों में उत्पन्न होने वाले जीव, सोमंगल—यह कोई द्वीन्द्रिय जाति का जीवविशेष है; अलस—यह वर्षाकाल में पृथिवी में उत्पन्न होने वाला जीव है, इसको अलसिया और पंजाबी में 'गंडोआ' कहते हैं, मातृवाहक—काष्ठ को भक्षण करने वाला जीव—घुण; वासीमुख—कोई द्वीन्द्रिय जाति का जीवविशेष है, शुक्ति—सीप, शंख और लघुशंख, घोंघे आदि सब प्रसिद्ध ही हैं, पल्लक, अनुपल्लक—ये दोनों अप्रसिद्ध-से हैं तथा वराटक (कौडी) और जोंक आदि प्रसिद्ध हैं; इसी प्रकार जालक और चन्दन ये भी द्वीन्द्रिय जीवों में से हैं परन्तु अप्रसिद्ध हैं। इस प्रकार द्वीन्द्रिय जीवों के अनेक भेद हैं जिनका कि यहाँ पर संकेतमात्र बतला दिया गया है। सारांश यह है कि जिन जीवों के स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियें होती हैं वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं।

अब इनके असादित्व और सादित्व का उल्लेख करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१३१॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१३१॥

पदार्थान्वयः—संतइं–सन्तान की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं ठिइं–स्थिति की पडुच्च–प्रतीति से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीव, प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि और अनन्त किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

टीका—सन्तान की ओर दृष्टि डालने से तो दो इन्द्रिय वाले जीवों का कभी भी असद्भाव नहीं होता, अर्थात् न इनकी आदि उपलब्ध होती है और न अन्त ही दृष्टिगोचर होता है, इसलिए ये अनादि और अनन्त माने गये हैं, परन्तु इनकी आयुसम्बन्धी स्थिति की ओर दृष्टि देने से ये आदि और अन्त दोनों से युक्त प्रतीत होते हैं। अतः अपेक्षाभेद से ये अनादि-अनन्त और सादि-सान्त उभयरूप हैं।

अब इनकी सादि-सान्तता को सिद्ध करने वाली भवस्थिति के विषय में कहते हैं। यथा—

वासाइं बारसा चेव, उक्कोसेण वियाहिया।
बेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१३२॥

वर्षाणि द्वादश चैव, उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वीन्द्रियायुःस्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१३२॥

पदार्थान्वयः—बेइंदियआउठिई—द्वीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति उक्कोसेण—उत्कृष्टता से बारसा—द्वादश वासाइं—वर्षों की है, और जहन्निया—जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त की वियाहिया—कथन की है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति द्वादश वर्ष की प्रतिपादन की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की मानी है।

टीका—इस गाथा में द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि दो इन्द्रिय वाले जीवों की आयु, कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त की और अधिक से अधिक १२ वर्ष की होती है। इसी का दूसरा नाम भवस्थिति है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
बेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥१३३॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
द्वीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१३३॥

पदार्थान्वयः—बेइंदियकायठिई–दो इन्द्रिय वाले जीवों की कायस्थिति तं कायं–उस काय को अमुंचओ–न छोड़ते हुए जहन्निया–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त की उक्कोसा–उत्कृष्ट संखिज्जकालं–संख्यातकाल की है ।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीव, यदि द्वीन्द्रिय जाति में ही जन्म-मरण करते रहें तो उनकी इस कायस्थिति का जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है और उत्कृष्ट संख्यातकाल है ।

टीका—उसी काया में जन्म-मरण करते रहना कायस्थिति है । सो द्वीन्द्रिय जीवों की—अपनी काया का परित्याग करके अन्यत्र न जावें तब तक की—कायस्थिति न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक संख्यातकाल तक की मानी जाती है । इससे द्वीन्द्रिय जीवों की सादि-सान्तता भी भली प्रकार से प्रमाणित हो जाती है ।

अब इन जीवों के अन्तरकाल के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
बेइंदियजीवाणं, अंतरं च वियाहियं ॥१३४॥
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
द्वीन्द्रियजीवानाम्, अन्तरञ्च व्याख्यातम् ॥१३४॥

पदार्थान्वयः—बेइंदियजीवाणं–द्वीन्द्रिय जीवों का जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त, और उक्कोसं–उत्कृष्ट अणंतकालं–अनन्तकाल का अंतरं–अन्तरकाल वियाहियं–कथन किया है च–पादपूर्त्ति के लिए है ।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों का जघन्य अन्तर, अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट, अनन्तकाल तक का है ।

टीका—अपनी प्रथम काया को छोड़कर कायान्तर में गया हुआ द्वीन्द्रिय शरीर को धारण करे इसके लिए जघन्य अन्तरकाल तो अन्तर्मुहूर्त्त का माना

है, और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का स्वीकार किया है; अर्थात् उस जीव को फिर से द्वीन्द्रिय शरीर में आने के लिए कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त जितना समय लगता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल जितना समय अपेक्षित है।

अब इनके विशेष भेदों के सम्बन्ध में कहते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१३५॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१३५॥

पदार्थान्वयः—एएसिं-इन द्वीन्द्रिय जीवों के वण्णओ-वर्ण से च-और गंधओ-गन्ध से रसफासओ-रस और स्पर्श से वा-तथा संठाणादेसओवि-संस्थान के आदेश से भी सहस्ससो-अनेकानेक विहाणाइं-भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन द्वीन्द्रिय जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से तरतमभाव को लेकर अनेकानेक भेद हो जाते हैं।

टीका—द्वीन्द्रिय जीव के—वर्ण, रस और गन्धादि के तरतमभाव से हज़ारों भेद हो जाते हैं।

अब तीन इन्द्रिय वाले जीवों का वर्णन करते हैं। यथा—

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१३६॥

त्रीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥१३६॥

पदार्थान्वयः—उ-पुनः तेइंदिया-तीन इन्द्रिय वाले जे जीवा-जो जीव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के पकित्तिया-कथन किये गये हैं पज्जत्तमपज्जत्ता-पर्याप्त और अपर्याप्त तेसिं-उनके भेए-भेदों को मे-मुझसे सुणेह-श्रवण करो।

मूलार्थ—तीन इन्द्रिय वाले जो जीव हैं वे भी दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अब मुझसे इनके उपभेदों को सुनो!

टीका—आचार्य कहते हैं कि पर्याप्त और अपर्याप्त, इस तरह त्रीन्द्रिय जीव भी दो प्रकार के हैं। और अब तुम मुझसे इनके भेदों का श्रवण करो, अर्थात् त्रीन्द्रिय जीवों के जितने उपभेद हैं अब उनका निरूपण करता हूँ, तुम एकाग्र मन से सुनो!

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार त्रीन्द्रिय जीवों के भेद बतलाते हैं। यथा—

कुंथुपिवीलिउड्डुंसा, उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारा कट्ठहारा य, मालुगा पत्तहारगा ॥१३७॥
कप्पासट्ठिम्मिजाया, तिंदुगा तउसमिंजगा।
सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया ॥१३८॥
इंदगोवगमाईया, णेगविहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१३९॥

कुन्थुपिपील्युद्दंशाः, उत्कलिकोपदेहिकास्तथा।
तृणहाराः काष्ठहाराश्च, मालूकाः पत्रहारकाः ॥१३७॥
कर्पासास्थिजाताः, तिन्दुकाः त्रपुषमिञ्जकाः।
शतावरी च गुल्मी च, बोद्धव्या इन्द्रकायिकाः ॥१३८॥
इन्द्रगोपकादिकाः, अनेकविधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ॥१३९॥

पदार्थान्वयः—कुंथु–कुंथुआ पिवीलि–पिपीलिका—कीड़ी उड्डुंसा–उद्दंश उक्कलुदेहिया–उपदेहिक तहा–तथा तणहारा–तृणहारक य–और कट्ठहारा–काष्ठहारक मालूगा–मालुगा और पत्तहारगा–पत्राहारक कप्पासट्ठिम्मिजाया–कपास और अस्थि में उत्पन्न होने वाले जीव तिंदुगा–तिंदुक तउस–त्रपुष मिंजगा–मिंजग

य–तथा सदावरी–शतावरी य–और गुम्मी–गुल्मी—जूका—जूँ आदि इंदगाइया–षट्पदी वा इन्द्रकायिक बोधव्वा–जानने इंदगोवगमाईया–इंद्रगोप आदि एवमायओ–इत्यादि अणेगविहा–अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव वियाहिया–कहे गये हैं ते सव्वे–वे सब लोगेगदेसे–लोक के एक देश में रहते हैं न सव्वत्थ–सर्वत्र नहीं ।

मूलार्थ—कुन्थु, पिपीलिका, उद्दंसा, उपदेहिका, तृणहारक, काष्ठहारक, मालुका और पत्राहारक, तथा कार्पासिक, अस्थिजात, तिन्दुक, त्रपुष, मिंगज, शतावरी, गुल्मी और इंद्रकायिक, तथा इन्द्रगोपक आदि अनेक प्रकार के तीन इन्द्रिय वाले जीव प्रतिपादन किये गये हैं । वे जीवलोक के एक देश में ही रहते हैं सर्वत्र नहीं ।

टीका—इस गाथात्रय में तीन इन्द्रिय वाले जीवों के भेद और उनकी एकदेशता का वर्णन किया गया है, जो कि द्वीन्द्रिय जीवों की तरह ही समझ लेना चाहिए । कुंथु—यह एक अत्यन्त सूक्ष्म जीव होता है, जोकि चलता-फिरता ही दृष्टिगोचर हो सकता है । पिपीलिका—कीड़ी—चींटी आदि । इनमें कितने एक नाम तो प्रसिद्ध हैं और कई एक अप्रसिद्ध हैं, इसलिए जिन जीवों के स्पर्श, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रिय विद्यमान हों उनको त्रीन्द्रिय जीव समझ लेना । ये सब त्रीन्द्रिय जाति के जीव लोक के एक देश में ही स्थित हैं, किन्तु सूक्ष्म वायुकाय की तरह इनकी सर्व लोक में स्थिति नहीं है ।

अब इनकी अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता का वर्णन करते हैं । यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१४०॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१४०॥

पदार्थान्वयः—संतइं–सन्तान की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं ठिइं पडुच्च–स्थिति की अपेक्षा से साईया–सादि य–तथा सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—ये सब त्रीन्द्रिय जीव, प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि और अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से आदि और अन्त वाले हैं।

टीका—अन्य सब पूर्ववत्।

अब इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं—

एगूणपण्णहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।
तेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१४१॥

एकोनपञ्चाशदहोरात्राणाम्, उत्कर्षेण व्याख्याता।
त्रीन्द्रियायुःस्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१४१॥

पदार्थान्वयः—**तेइंदियआउठिई**—त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति **जहन्निया**—जघन्य **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की, और **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से **एगूणपण्णहोरत्ता**—४९ अहोरात्र की **वियाहिया**—कथन की गई है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति, जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है। तात्पर्य यह है कि तीन इन्द्रिय वाले जीवों की अधिक से अधिक ४९ दिन की आयु होती है। इसी को भवस्थिति कहते हैं।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं—

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥१४२॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
त्रीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१४२॥

पदार्थान्वयः—**तु**—फिर **तं कायं अमुंचओ**—उस काया को न छोड़ते हुए **तेइंदिय**—त्रीन्द्रिय जीवों की **कायठिई**—कायस्थिति **जहन्निया**—जघन्य **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की, और **उक्कोसा**—उत्कृष्ट **संखिज्जकालं**—संख्येयकाल तक होती है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय—तीन इन्द्रिय वाले जीवों की—अपनी उसी काया को न छोड़ें तब तक की—जघन्य कायस्थिति, कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट, अधिक से अधिक संख्यातकाल जितनी होती है।

टीका—इसकी अन्य सब व्याख्या पूर्व की भाँति जान लेनी।

अब इनका अन्तरकाल बतलाते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइंदियजीवाणं, अंतरं तु वियाहियं ॥१४३॥
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
त्रीन्द्रियजीवानाम्, अन्तरं तु व्याख्यातम् ॥१४३॥

पदार्थान्वयः—तेइंदियजीवाणं–तीन इन्द्रिय वाले जीवों का अंतरं–अन्तराल जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त का, और उक्कोसं–उत्कृष्ट अणंतकालं–अनन्तकाल तक का वियाहियं–कथन किया है।

मूलार्थ—त्रीन्द्रिय जीव अपने प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर को छोड़कर फिर उसी जाति के शरीर को धारण करे तो उसके बीच के अन्तरकाल का प्रमाण कम से कम एक मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का वर्णन किया है।

टीका—इसकी व्याख्या पूर्व की तरह ही जान लेनी।

अब प्रकृत विषय का उपसंहार करते हुए फिर इनके भेदों के विषय में कहते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१४४॥
एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१४४॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन त्रीन्द्रिय जीवों के **वण्णओ**—वर्ण से **च**—और **गंधओ**—गन्ध से **रसफासओ**—रस और स्पर्श से **वा**—तथा **संठाणादेसओवि**—संस्थान के आदेश से भी **सहस्ससो**—हज़ारों **विहाणाइं**—भेद होते हैं।

मूलार्थ—तीन इन्द्रिय वाले जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से सहस्रों—अनेकानेक—उपभेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि वर्ण, रस, गन्धादि के तरतमभाव से इनके असंख्य उपभेद बन जाते हैं।

टीका—अन्य व्याख्या प्राग्वत्।

अब चतुरिन्द्रिय जीवों का वर्णन करते हैं। यथा—

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता , तेसिं भेए सुणेह मे ॥१४५॥

चतुरिन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥१४५॥

पदार्थान्वयः—**चउरिंदिया**—चार इंद्रिय वाले **उ**—पुनः **जे**—जो **जीवा**—जीव हैं **ते**—वे **दुविहा**—दो प्रकार के **पकित्तिया**—कथन किये गये हैं **पज्जत्तमपज्जत्ता**—पर्याप्त और अपर्याप्त **तेसिं**—उनके **भेए**—भेदों को **मे**—मुझसे **सुणेह**—श्रवण करो।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! चार इन्द्रिय वाले जीव, पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से दो प्रकार के कथन किये गये हैं, अब तुम इनके भेदों को मुझसे सुनो !

टीका—आचार्य कहते हैं कि चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अब मैं इनके भेदों को तुमसे कहता हूँ, तुम उन्हें सावधान होकर श्रवण करो ! तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान से इनके स्वरूप का निश्चय भली प्रकार से हो सकेगा।

अब भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कीडपयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥१४६॥

कुक्कुडे सिंगरीडी य, नंदावत्ते य विच्छिए।
डोले भिंगिरीडी य, विरली अच्छिवेहए ॥१४७॥
अच्छिले माहए अच्छि-, (रोडए) विचित्ते चित्तपत्तए।
उहिंजलिया जलकारी य, नीयया तंबगाइया ॥१४८॥
इय चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिआ ॥१४९॥

अन्धिकाः पौत्तिकाश्चैव, मक्षिका मशकास्तथा।
भ्रमराः कीटपतङ्गाश्च, ढिङ्कुणाः कुङ्कणास्तथा ॥१४६॥
कुक्कुटः शृङ्गरीटी च, नन्दावर्त्ताश्च वृश्चिकाः।
डोला भृङ्गरीटकाश्च, विरल्योऽक्षिवेधकाः ॥१४७॥
अक्षिला मागधा अक्षि-, (रोडका) विचित्राश्चित्रपत्रकाः।
उपधिजलका जलकार्यश्च, नीचकास्ताम्रकादिकाः ॥१४८॥
इति चतुरिन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः।
लोकस्यैकदेशे , ते सर्वे परिकीर्तिताः ॥१४९॥

पदार्थान्वयः—अंधिया–अन्धिक पोत्तिया–पोतिक च–और मच्छिया–मक्षिका तहा–तथा मसगा–मशक भमरे–भ्रमर य–और कीडपयंगे–कीट और पतंग ढिंकुणे–ढिकण कुंकणे–कुंकण कुक्कुडे–कुर्कुट य–और सिंगरीडी–शृंगरीटी नंदावत्ते–नन्द्यावर्त य–और विच्छिए–विच्छू डोले–डोल भिंगिरीडी–भृंगरीटी विरली–विरिली अच्छिवेहए–अक्षिवेधक अच्छिले–अक्षिल माहए–मागध अच्छि-रोडए–अक्षिरोड़क विचित्ते–विचित्र चित्तपत्तए–चित्तपत्रक उहिंजलिया–उपधि-जलक य–और जलकारी–जलकारी नीयया–नीचका तंबगाइया–ताम्रकादि इय–इस प्रकार एए–ये सब चउरिंदिया–चतुरिन्द्रिय जीव एवमायओ–इत्यादि णेगहा–

अनेक प्रकार के परिकित्तिया—कथन किये गये हैं ते सव्वे—वे सब लोगस्स—लोक के एगदेसम्मि—एकदेश में स्थित हैं।

मूलार्थ—अन्धक, पौत्तिक, मक्षिका, मशक, भ्रमर, कीट, पतंग, ढिंकण, कुंकण, कुर्कुट, सिंगरीटी, नन्द्यावर्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक और अक्षिवेधक, तथा अक्षिल, मागध, अक्षिरोड़क, विचित्र, चित्रपत्रक, उपधिजलका, जलकारी, नीचक और ताम्रक आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव कहे गये हैं। और ये सब लोक के एकदेश में रहते हैं।

टीका—जिन जीवों के स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियें हों उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं। इनमें मक्खी, भ्रमर, मशक और बिच्छू आदि कई एक नाम तो प्रसिद्ध हैं और शेष जो नाम हैं वे हमारे लिए अप्रसिद्ध हैं। कारण यह है कि हर एक वस्तु का देशभेद से भिन्न २ नाम सुनने में आता है। एक ही वस्तु का अमुक देश में कुछ नाम है और अमुक देश में वह किसी दूसरे ही नाम से प्रसिद्ध है। अतः ऊपर चतुरिन्द्रिय जीवों के जो नाम दिये गये हैं उनमें कतिपय नामों का तो ज्ञान होता है और कतिपय का नहीं होता। तथा शास्त्रकारों ने तो अपने विशिष्ट ज्ञान से उनका उल्लेख कर दिया है, परन्तु हम लोगों को उनके समझने के लिए गीतार्थ गुरुओं की उपासना करनी चाहिए। जैसे शास्त्रों में लिखे रहने पर भी वनौषधियों का विना किसी अनुभवी वैद्य की सहायता से ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ पर भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चतुरिन्द्रिय जीवों के अनेक भेद हैं, उनमें कतिपय नाम ऊपर बतला दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और सब कुछ पूर्व की भाँति ही समझ लेना चाहिए।

अब इनका कालसापेक्ष्य वर्णन करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१५०॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१५०॥

पदार्थान्वयः—संतइं-प्रवाह की पप्प-अपेक्षा से अणाईया-अनादि य-और अपज्जवसियावि-अपर्यवसित भी हैं ठिइं-स्थिति की पडुच्च-प्रतीति से साईया-सादि य-और सपज्जवसियावि-सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—चतुरिंद्रिय जीव, सन्तान की अपेक्षा से तो अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

टीका—प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी जीव अनादि—आदि से रहित—और अनन्त—अन्त से शून्य—हैं, परन्तु स्थिति अर्थात् आयुस्थिति और कायस्थिति आदि की अपेक्षा से ये उत्पत्ति और विनाश दोनों से युक्त हैं।

अब इसी बात को प्रमाणित करने के लिए इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

छच्चेव य मासाऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१५१॥

षट् चैव च मासायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
चतुरिन्द्रियायुःस्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१५१॥

पदार्थान्वयः—चउरिंदिय-चार इन्द्रिय वाले जीवों की आउठिई-आयु की स्थिति जहन्निया-जघन्य अंतोमुहुत्तं-अन्तर्मुहूर्त्त य-और उक्कोसेण-उत्कृष्टता से छच्चेव-षट्—छः—ही मासाऊ-मास की आयु वियाहिया-प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य आयुस्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट, षण्मास—छः मास—की वर्णन की है।

टीका—चार इन्द्रिय वाले जीवों का आयुमान कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त का, और अधिक से अधिक छः महीनों का प्रतिपादन किया है; अर्थात् चतुरिंद्रिय जीव अधिक से अधिक छः मास तक जी सकता है।

अब इनकी कायस्थिति के विषय में कहते हैं—

संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
चउरिंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥१५२॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
चतुरिन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥१५२॥

पदार्थान्वयः—चउरिंदिय–चार इंद्रिय वाले जीवों की कायठिई–काय-स्थिति तं कायं–उस काया को तु–फिर अमुंचओ–न छोड़ते हुओं की जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोसं–उत्कृष्ट संखिज्जकालं–संख्येयकाल की कथन की है ।

मूलार्थ—चतुरिंद्रिय जीवों की—उस काया को न छोड़ें तब तक की—जघन्य कायस्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट संख्यातकाल की होती है ।

टीका—अपनी काया को छोड़कर अन्यत्र न जाना अर्थात् उसी में जन्म-मरण करते रहना कायस्थिति है । सो चतुरिन्द्रिय जीव कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त-मात्र और अधिक से अधिक संख्येयकाल तक अपनी काया में जन्मता-मरता रहता है अर्थात् अधिक से अधिक इतने काल के अनन्तर वह अन्यत्र अवश्य चला जाता है ।

अब इनका अन्तरकाल बतलाते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, अंतरं च वियाहियं ॥१५३॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, अन्तरञ्च व्याख्यातम् ॥१५३॥

पदार्थान्वयः—सए–स्व काए–काय के विजढम्मि–छोड़ने पर जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोसं–उत्कृष्ट अणंतकालं–अनन्तकाल का अंतरं–अन्तरकाल—अन्तराल वियाहियं–कहा है ।

मूलार्थ—छोड़ी हुई स्वकाया को फिर से प्राप्त करने में चतुरिन्द्रिय जीव का जघन्य अन्तराल, अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट, अनन्तकाल तक का प्रतिपादन किया है ।

टीका—अपने पूर्व शरीर को छोड़कर अन्यत्र गया हुआ चतुरिन्द्रिय जीव, कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय के बाद फिर उस चतुरिंद्रिय

शरीर में वापिस आता है ? इस प्रश्न का प्रस्तुत गाथा में उत्तर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि कम से कम तो वह अन्तर्मुहूर्त्त के ही अनन्तर वापिस लौट आता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय लग जाता है।

अब प्रकारान्तर से इनके असंख्य भेदों का निरूपण करते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१५४॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१५४॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन जीवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गंधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओ–संस्थानादेश से अवि–भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद होते हैं।

मूलार्थ—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से इन चतुरिंद्रिय जीवों के हजारों भेद हैं।

टीका—वर्णादि के तरतमभाव से चतुरिन्द्रिय जीवों के असंख्य भेद हो जाते हैं। और व्याख्यान पूर्ववत् जानना।

इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों का स्वरूप और उनके अनेक प्रकार के भेद-उपभेदों का वर्णन करने के अनन्तर अब पञ्चेन्द्रिय जीवों के विषय मे कहते हैं। यथा—

पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥१५५॥

पञ्चेन्द्रियास्तु ये जीवाः, चतुर्विधास्ते व्याख्याताः।
नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च, मनुजा देवाश्चाख्याताः ॥१५५॥

पदार्थान्वयः—पंचिंदिया–पञ्चेन्द्रिय जे–जो जीवा–जीव हैं ते–वे चउव्विहा–चार प्रकार के वियाहिया–कथन किये गये हैं नेरइया–नैरयिक—नारकी

य–और तिरिक्खा–तिर्यंच मणुया–मनुष्य य–और देवा–देवता आहिया–कथन किये हैं—तीर्थंकरों ने उ–पादपूर्ति में।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय जीव चार प्रकार के कहे गये हैं—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवता।

टीका—पञ्चेन्द्रिय जीव के तीर्थंकर भगवान् ने चार भेद बतलाये हैं, जैसे कि ऊपर दर्शाये गये हैं। इन भेदों के कारण जीवात्मा के उच्चावच कर्म हैं। इन्हीं के प्रभाव से वह ऊँची-नीची योनियों को प्राप्त होता है।

अब शास्त्रकार क्रमप्राप्त प्रथम नारकी जीवों का वर्णन करते हैं। यथा—

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसू सत्तसू भवे।[1]
रयणाभसक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥१५६॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥१५७॥

नैरयिकाः सप्तविधाः, पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः।
रत्नाभा शर्कराभा, वालुकाभा चाख्याताः ॥१५६॥
पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्तिताः ॥१५७॥

पदार्थान्वयः—नेरइया–नैरयिक—नारकी जीव सत्तविहा–सात प्रकार के सत्तसू–सात पुढवीसू–पृथिवियों में भवे–होते हैं, यथा रयणाभा–रत्नाभा सक्कराभा–शर्कराभा य–और वालुयाभा–वालुकाभा आहिया–कथन की गई हैं, तथा पंकाभा–पंकाभा धूमाभा–धूमाभा तमा–तमा—अंधकारमयी तहा–तथा तमतमा–तमस्तमः—अत्यन्त अन्धकारमयी इइ–इस प्रकार एए–ये नेरइया–नारकी जीव सत्तहा–सात प्रकार से परिकित्तिया–कथन किये गये हैं।

---

१ दीपिकावृत्तिकार ने इस गाथा के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार अधिक पाठ दिया है—'पज्जत्त-मपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे'।

मूलार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा और महातमप्रभा, ये सात नरक-पृथिवी कही जाती हैं। इन सात पृथिवियों में रहने वाले नारकी जीव सात प्रकार के हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नारकी जीवों के स्थान और भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। अधोलोक में सात नरकभूमियाँ हैं, जो कि सात नरकों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें नारकी जीव निवास करते हैं, अर्थात् जिन जीवों ने अपने अध्यवसाय के अनुसार नरकगति की आयु का बन्ध किया है उनको वहाँ रहना पड़ता है। वे भूमियाँ एक दूसरी के नीचे, ऐसे सात हैं, जिनका कि ऊपर निर्देश किया गया है। (१) रत्नप्रभा—रत्नों के प्रकाश की भाँति जिसका प्रकाश हो अथवा भवनपति देवों के विमानों की जिसमें प्रभा विद्यमान हो उसे रत्नप्रभा कहते हैं। (२) शर्कराप्रभा—जिसमें श्लक्ष्ण पाषाणों की प्रभा देखी जाती है वह शर्कराप्रभा कहलाती है। (३) वालुप्रभा—बालू के समान कान्ति वाली। (४) पंकप्रभा—पंक के समान प्रभा—कान्ति—वाली। (५) धूमप्रभा—धूम के समान कान्ति वाली। यद्यपि नरक में धूम का सद्भाव नहीं माना है, तथापि वहाँ पर तदाकार धूमाकार में पुद्गलों का परिणमन होने से धूमप्रभा नाम है। (६) तमःप्रभा—अन्धकारमयी छठी नरकभूमि। (७) महातमःप्रभा—अत्यन्त अन्धकारमयी महाभयानक स्वरूप वाली सातवीं नरकभूमि। इन सात नरकभूमियों में सात ही प्रकार के नारकी जीव निवास करते हैं। तथा सात पर्याप्त और सात अपर्याप्त इस प्रकार नारकी जीवों के १४ भेद हैं।*

अब इनका क्षेत्रविभाग कहते हैं। यथा—

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१५८॥

---

* दीपिकावृत्तिकार ने इस विषय में निम्नलिखित अन्य दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। यथा—

"धम्मा वंसगासेला, तहा अंजणरिट्ठगा।
मघा माघवई चेव, नारइयाय पुणो भवे ॥
रयणाइ गुत्तउ चेव, तहा वम्माइणायओ।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥"

इन दोनों गाथाओं में नरकों के नामों का उल्लेख किया गया है। इनका अर्थ सुगम है।

लोकस्यैकदेशे , ते सर्वे तु व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१५८॥

पदार्थान्वयः—**लोगस्स**–लोक के **एगदेसम्मि**–एकदेश में ते **सव्वे**–वे सब नारकी **वियाहिया**–कथन किये गये हैं उ–पुनः **इत्तो**–इसके अनंतर **तेसिं**–उन नारकियों के **चउव्विहं**–चतुर्विध **कालविभागं**–कालविभाग को **वोच्छं**–कहूँगा तु–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—वे सब नारकी जीव, लोक के एकदेश में रहते हैं । अब मैं इनके चतुर्विध कालविभाग को कहता हूँ ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नारकी जीवों की क्षेत्रस्थिति का वर्णन करने के बाद उनके चतुर्विध कालविभाग के वर्णन करने की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है । नारकी जीव, लोक के अमुक एकदेश में रहते हैं । कालविभाग से उनकी सादि-सान्तता और अनादि-अनन्तता का वर्णन करना अभिप्रेत है ।

तथाहि—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१५९॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१५९॥

पदार्थान्वयः—**संतइं**–सन्तान की **पप्प**–अपेक्षा से **अणाईया**–अनादि य–और **अपज्जवसियावि**–अपर्यवसित भी हैं **ठिइं**–स्थिति की **पडुच्च**–अपेक्षा से **साईया**–सादि य–और **सपज्जवसियावि**–सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—नारकी जीव, सन्तान—प्रवाह—की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि तथा सपर्यवसित अर्थात् आदि और अन्त वाले हैं ।

टीका—ऐसा कोई समय नहीं जब कि नारकी जीवों का सद्भाव न हो, तथा ऐसा समय भी उपलब्ध नहीं होता जब कि उनका सर्वथा अन्त हो जावे, किन्तु इनका अनादिकाल से प्रवाह चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला

जावेगा, इसलिये अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से ये अनादि-अनन्त कहे जाते हैं। परन्तु इनकी आयुस्थिति और कायस्थिति आदि की ओर ध्यान देने से ये सादि-सान्त सिद्ध होते हैं; अर्थात् इनकी आदि और अन्त दोनों ही हैं।

अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं—

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया।
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥१६०॥

सागरोपममेकन्तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
प्रथमायां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका ॥१६०॥

पदार्थान्वयः—पढमाए—प्रथम पृथिवी में जहन्नेणं—जघन्यता से दसवाससहस्सिया—दस हज़ार वर्षों की तु—पुनः उक्कोसेण—उत्कृष्टता से एगं—एक सागरोवमं—सागरोपम की वियाहिया—वर्णन की है।

मूलार्थ—पहली नरक-भूमि में जघन्य स्थिति दश हज़ार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की कही गई है।

टीका—रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में वर्तमान जीवों की जघन्य आयु दश हज़ार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की कही गई है। सागरोपम—एक योजन प्रमाण लम्बा और चौड़ा कूप यदि अत्यन्त सूक्ष्म केशों से भरा जावे; फिर उसमें से सौ २ वर्ष के अनन्तर एक २ खंड निकाला जावे और जब वह सारा कूप खाली हो जावे तो एक पल्योपम होता है, ऐसे दस कोटाकोटी पल्योपमों का एक सागरोपम होता है। यह उत्कृष्ट स्थिति पहले नरक की है।

अब द्वितीय नरक की स्थिति का वर्णन करते हैं—

तिण्णेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
दोच्चाए जहन्नेणं, एगं तु सागरोवमं ॥१६१॥

त्रीण्येव सागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वितीयायां जघन्येन, एकन्तु सागरोपमम् ॥१६१॥

पदार्थान्वयः—दोच्चाए–दूसरी नरकभूमि में जहन्नेणं–जघन्यता से एगं–एक सागरोवमं–सागरोपम की आऊ–आयु तु–और उक्कोसेण–उत्कृष्टता से तिण्णेव–तीन सागरा–सागरोपम की वियाहिया–कथन की है।

मूलार्थ—दूसरे नरक में जघन्य आयुस्थिति एक सागरोपम की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम की है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्वितीय नरक में विद्यमान जीवों के आयुमान का उल्लेख किया गया है, जो कि कम से कम एक सागर और अधिक से अधिक तीन सागर प्रमाण है।

अब तीसरे नरक के विषय में कहते हैं। यथा—

सत्तेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
तइयाए जहन्नेणं, तिण्णेव सागरोवमा ॥१६२॥

सप्तैव सागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
तृतीयायां जघन्येन, त्रीण्येव सागरोपमाणि ॥१६२॥

पदार्थान्वयः—तइयाए–तीसरी नरक-भूमि में जहन्नेणं–जघन्यता से तिण्णेव–तीन ही सागरोवमा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से सत्तेव सागरा–सात ही सागरोपम की आऊ–आयु वियाहिया—प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—तीसरे नरक में जीवों की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट सप्त सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—तीसरे नरक में जघन्य आयु तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट सात सागरोपम की मानी गई है।

अब चतुर्थ नरक के विषय में कहते हैं—

दससागरोवमाऊ , उक्कोसेण वियाहिया।
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्तेव सागरोवमा ॥१६३॥

दशसागरोपमाण्यायुः , उत्कर्षेण व्याख्याता ।
चतुर्थ्यां जघन्येन, सप्तैव सागरोपमाणि ॥१६३॥

पदार्थान्वयः—चउत्थीए–चतुर्थ पृथिवी में जहन्नेणं–जघन्यरूप से आऊ–आयु सत्तेव–सात ही सागरोवमा–सागरोपम की है उक्कोसेण–उत्कृष्टता से दससागरोवमा–दश सागरोपम की वियाहिया–कथन की है ।

मूलार्थ—चतुर्थ नरक में जघन्य आयु सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दश सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—चतुर्थ नरक में रहने वाले जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति दस सागर की और जघन्य सात सागर-प्रमाण कही है ।

अब पॉचवें नरक के सम्बन्ध में कहते हैं—

सत्तरससागराऊ , उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव सागरोवमा ॥१६४॥

सप्तदशसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पञ्चमायां जघन्येन, दश चैव सागरोपमाणि ॥१६४॥

पदार्थान्वयः—पंचमाए–पाँचवीं नरक-भूमि में जहन्नेणं–जघन्यरूप से दस–दश सागरोवमा–सागरोपम की च–और उक्कोसेण–उत्कृष्टता से सत्तरससागरा–सप्तदश सागरोपम की आऊ–आयु वियाहिया–कथन की है एव–अवधारण में है ।

मूलार्थ—पाँचवीं नरक-भूमि के जीवों की जघन्य आयु दस सागरोपम की और उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम की कही गई है ।

टीका—पॉचवीं नरक-भूमि मे रहने वाले जीवों की आयुस्थिति कम से कम दश सागर की और अधिक से अधिक सत्तरह सागर की है ।

अब छठे नरक के सम्बन्ध मे कहते हैं । यथा—

बावीससागराऊ , उक्कोसेण वियाहिया।
छट्ठीए जहन्नेणं, सत्तरससागरोवमा ॥१६५॥

द्वाविंशतिसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
षष्ठ्यां जघन्येन, सप्तदशसागरोपमाणि ॥१६५॥

पदार्थान्वयः—छट्ठीए–छठी नरक-पृथिवी में जहन्नेणं–जघन्यरूप से सत्तरस–सप्तदश सगरोवमा–सागरोपम आऊ–आयु है, और उक्कोसेण–उत्कष्टता से बावीससागरा–बाईस सागर की वियाहिया–कथन की है।

मूलार्थ—छठे नरक में वर्तमान जीवों की जघन्य आयु १७ सागरोपम की और उत्कृष्ट २२ सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—छठे नरक-स्थान की आयु का प्रमाण कम से कम १७ सागर और अधिक से अधिक २२ सागरोपम माना है।

अब सातवीं नरक-भूमि के विषय में कहते हैं। यथा—

तेत्तीससागराऊ , उक्कोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥१६६॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः , उत्कर्षेण व्याख्याता।
सप्तम्यां जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥१६६॥

पदार्थान्वयः—सत्तमाए–सातवीं नरक-भूमि में जीवों की जहन्नेणं–जघन्यरूप से आऊ–आयु की स्थिति बावीसं सागरोवमा–२२ सागरोपम की है उक्कोसेण–उत्कृष्टता से तेत्तीससागरा–३३ सागरोपम की वियाहिया–कथन की है।

मूलार्थ—सातवें नरक में रहने वाले जीवों की जघन्य आयु २२ सागरोपम की और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की कही गई है।

टीका—सप्तम नरकवर्ती जीवों की आयु का मान न्यून से न्यून २२ सागरोपम और अधिक से अधिक ३३ सागरोपम का कहा गया है।

अब नारकी जीवों की कायस्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं—

जा चेव उ आउठिई, नेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥१६७॥

या चैव तु आयुःस्थितिः, नैरयिकाणां व्याख्याता ।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्यकोत्कृष्टा भवेत् ॥१६७॥

पदार्थान्वयः—जा–जो आउठिई–आयुस्थिति नेरइयाणं–नारकी जीवों की वियाहिया–कथन की है उ–पुनः सा–वही तेसिं–उनकी कायठिई–कायस्थिति जहन्नुक्कोसिया–जघन्योत्कृष्ट भवे–होती है एव–भिन्न क्रम में च–वक्तव्य के उपन्यास में आया हुआ है ।

मूलार्थ—नारकी जीवों की जितनी आयुस्थिति है उतनी ही उनकी कायस्थिति भी कही गई है ।

टीका—नारकी जीवों की कायस्थिति भवस्थिति के समान ही जघन्य अथवा उत्कृष्ट रूप से वर्णन की गई है । कारण यह है कि नारकी जीव मरकर फिर नरक में ही उत्पन्न नहीं होता, अपितु नरक से निकलकर गर्भज-पर्याप्त मनुष्य और तिर्यग् योनि मे ही संख्येय वर्षो तक निवास करता है, अतः नारकी जीवों की भवस्थिति और कायस्थिति दोनों एक ही हैं ।

अब इनके अन्तरकाल के सम्बन्ध में कहते हैं । यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, नेरइयाणं तु अंतरं ॥१६८॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, नैरयिकाणान्तु अन्तरम् ॥१६८॥

पदार्थान्वयः—नेरइयाणं–नारकी जीवों का सए काए–स्वकाया को विजढम्मि–छोड़ने पर उक्कोसं–उत्कृष्ट अंतरं–अन्तर अणंतकालं–अनन्तकाल का, और जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त का माना है ।

मूलार्थ—नारकी जीवों का स्वकाय को छोड़कर फिर उसमें वापिस आने तक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है।

टीका—नारकी जीव, नरक को त्यागकर गर्भज-पर्याप्त में जाने के बाद यदि फिर नरक में आवे तो उसको कम से कम और अधिक से अधिक कितना समय अपेक्षित है? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त के बाद और अधिक से अधिक अनन्तकाल के पश्चात् वह फिर अपनी योनि में उत्पन्न हो सकता है।

अब फिर कहते हैं कि—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१६९॥
एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१६९॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन नारकी जीवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गंधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओवि–संस्थानादेश से भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन नारकी जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से अनेकानेक भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतमभाव से नारकी जीवों के असंख्य भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार नारकी जीवों के अनन्तर अब तिर्यंचों का वर्णन करते हैं—

पंचिंदियतिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ, गब्भवक्कंतिया तहा ॥१७०॥
पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
सम्मूर्च्छिमतिर्यञ्चः, गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा ॥१७०॥

पदार्थान्वयः—ते–वे पंचिंदियतिरिक्खाओ–पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च दुविहा–दो प्रकार के वियाहिया–कहे गये हैं समुच्छिमतिरिक्खाओ–संमूर्च्छिम-तिर्यञ्च तहा–तथा गब्भवक्कंतिया–गर्भव्युत्क्रान्त—गर्भ से उत्पन्न होने वाले।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच दो प्रकार के कथन किये गये हैं—संमूर्छिम तिर्यञ्च और गर्भज-तिर्यञ्च।

टीका—नारकी जीवों के अनन्तर प्रस्तुत गाथा में तिर्यंचों के वर्णन का उपक्रम किया है। तिर्यंच जीव, संमूर्च्छिम और गर्भज भेद से दो प्रकार के हैं। संमूर्छिम—किसी अमुक स्थान में पुद्गलों के एकत्रित हो जाने से उत्पन्न होने वाले अर्थात् माता-पिता के संयोग के बिना ही जिनकी उत्पत्ति हो जाती है, तथा मनःपर्याप्ति के अभाव से जो सदा मूर्छित की तरह ही अत्यन्त मूढ़ अवस्था में रहते हैं उनको संमूर्छिम कहा है। गर्भज—गर्भ से उत्पन्न होने वाले। इस प्रकार पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों के दो भेद शास्त्र में वर्णन किये हैं।

अब इनके अवान्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

दुविहा ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा।
नहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१७१॥

द्विविधास्ते भवेयुस्त्रिविधाः, जलचराः स्थलचरास्तथा।
नभश्चराश्च बोद्धव्याः, तेषां भेदान् शृणुत मे ॥१७१॥

पदार्थान्वयः—दुविहा–दो प्रकार के ते–वे तिर्यंच तिविहा–तीन प्रकार के भवे–होते हैं जलयरा–जलचर तहा–तथा थलयरा–स्थलचर नहयरा–नभचर बोधव्वा–जानने तेसिं–उनके भेए–भेदों को मे–मुझसे सुणेह–श्रवण करो।

मूलार्थ—आचार्य कहते हैं कि दो प्रकार के भी वे तिर्यंच जीव, तीन प्रकार के होते हैं—जलचर, स्थलचर और नभचर। अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो।

टीका—संमूर्छिम और गर्भज तिर्यंचों के भी प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं। (१) जलचर—जल में विचरने वाले, (२) स्थलचर—स्थल—भूमि आदि—

में चरने—विचरने वाले, तथा (३) नभचर—नभ—आकाश में विचरने—उड़ने वाले । इनमें प्रत्येक के गर्भज और संमूर्छिम ये दो भेद करने पर ये ६ प्रकार के हो जाते हैं । संमूर्छिम—जलचर, स्थलचर और खेचर । गर्भज—जलचर, स्थलचर और खेचर । अब शास्त्रकार इनके भेदों के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं ।

अब जलचरों के भेद बतलाते हैं । यथा—

मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा ।
सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया ॥१७२॥
मत्स्याश्च कच्छपाश्च, ग्राहाश्च मकरास्तथा ।
सुंसुमाराश्च बोद्धव्याः, पञ्चधा जलचरा आख्याताः ॥१७२॥

पदार्थान्वयः—मच्छा—मत्स्य य—पुनः कच्छभा—कच्छप—कछुए य—पुनः गाहा—ग्राह—तंदवा तहा—तथा मगरा—मगरमच्छ य—और सुंसुमारा—सुंसुमार बोधव्वा—जानना पंचहा—पाँच प्रकार के जलयरा—जलचर जीव आहिया—कहे हैं ।

मूलार्थ—जलचर जीव पाँच प्रकार से वर्णन किये गये हैं—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर और सुंसुमार ।

टीका—जल में रहने वाले जीवों के यद्यपि अनेक भेद हैं, तथापि उन सब का इन पाँचों में ही समावेश हो जाता है । तात्पर्य यह है कि जलचर जीवों की मुख्य जातियाँ पाँच ही हैं, अन्य सब का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है । अन्यत्र यह भी कहा है कि जितने स्थलचर जीव हैं उतने ही जलचर हैं । चकार यहाँ पर समुच्चयार्थक है ।

अब इनकी क्षेत्रस्थिति और चतुर्विध कालविभाग का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१७३॥
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१७३॥

पदार्थान्वयः—लोएगदेसे—लोक के एकदेश में ते सव्वे—वे सब वियाहिया—कथन किये गये हैं न सव्वत्थ—सर्वत्र नहीं इत्तो—इसके अनन्तर तेसिं—उनके चउव्विहं—चतुर्विध कालविभागं—कालविभाग को वोच्छं—कहूँगा।

मूलार्थ—वे जलचर जीव, लोक के एकदेश में रहते हैं, सर्व लोक में नहीं। अब इसके अनन्तर मैं उन जीवों के चार प्रकार के कालविभाग को कहूँगा।

टीका—ऊपर बतलाये गये जलचर जीवों के क्षेत्रविभाग का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है। वे जलचर जीव सर्व-लोक-व्यापी नहीं किन्तु लोक के अमुक एक विभाग में रहते हैं। अवशिष्ट अर्ध गाथा में इनका कालसापेक्ष-विभाग बतलाया गया है।

अब कालविभाग का वर्णन करते हैं। यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१७४॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१७४॥

पदार्थान्वयः—संतइं—संतति की पप्प—अपेक्षा से अणाईया—अनादि य—और अपज्जवसियावि—अपर्यवसित भी हैं ठिइं—स्थिति की पडुच्च—प्रतीति से साईया—सादि य—और सपज्जवसियावि—सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—ये जीव, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित हैं।

टीका—जलचर जीव, प्रवाह की दृष्टि से तो अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त हैं।

अब इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं।

एगा य पुव्वकोडीओ, उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१७५॥

एका च पूर्वकोटी, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुःस्थितिर्जलचराणाम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१७५॥

पदार्थान्वयः—एगा—एक पुव्वकोडीओ—पूर्व करोड़ की जलयराणं—जलचरों की आउठिई—आयुस्थिति उक्कोसेण—उत्कृष्टरूप से वियाहिया—कथन की है य—और जहन्निया—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त की मानी है।

मूलार्थ—जलचर जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की कथन की है।

टीका—इस गाथा में जलचर जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की मानी है। परन्तु मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं, अर्थात् वह अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक और एक करोड़ पूर्व से न्यून किसी समय में भी पूरी हो सकती है। ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे एक करोड़ पूर्वों की उत्कृष्ट आयु जलचर जीवों की है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

पुव्वकोडिपुहुत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया।
कायठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥१७६॥
पूर्वकोटिपृथक्त्वन्तु , उत्कर्षेण व्याख्याता।
कायस्थितिर्जलचराणाम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१७६॥

पदार्थान्वयः—जलयराणं—जलचरों की कायठिई—कायस्थिति जहन्नयं—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त की है तु—और उक्कोसेण—उत्कृष्टता से पुव्वकोडिपुहुत्तं—पृथक्त्व पूर्व करोड़ की वियाहिया—कही है।

मूलार्थ—जलचरों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पृथक्त्व पूर्व करोड़ की प्रतिपादन की है।

टीका—जलचर पञ्चेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति—निरन्तर एक ही जाति का शरीर धारण करना रूप—न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और अधिक से

अधिक पृथक् पूर्व कोटि का वर्णन किया गया है । २ से लेकर ९ तक की पृथक् संज्ञा है । तात्पर्य यह है कि यदि कोई जलचर जीव मरकर अपनी जाति मे ही उत्पन्न होता रहे तो अधिक से अधिक करोड़ २ पूर्व के आठ भव कर सकता है। इसके अतिरिक्त एक उसका अपना पहला भव होता है । इस प्रकार कुल ९ भव हो जाते हैं । 'पृथक् पूर्व' यह पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार जानना ।

अब इनके अन्तरकाल के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, जलयराणं अंतरं ॥१७७॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, जलचराणामन्तरम् ॥१७७॥

पदार्थान्वयः—जलयराणं-जलचर जीवों का सए काए-स्वकाय के विजढम्मि-त्यागने पर जहन्नयं-जघन्य अंतोमुहुत्तं-अन्तर्मुहूर्त्त उक्कोसं-उत्कृष्ट अणंतकालं-अनन्तकाल का अंतरं-अन्तर होता है ।

मूलार्थ—जलचर जीवों का—अपनी काया को छोड़कर फिर उसी काया को धारण करने तक का—जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का माना है ।

टीका—जलचर जीव मरकर अन्य स्थान में गया हुआ, वहाँ से मरकर फिर वह जलचर मे यदि आवे तो उसके लिए जघन्य अथच उत्कृष्ट कितना काल अपेक्षित है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का समय लग जाता है। तात्पर्य यह है कि न्यून से न्यून वह अन्तर्मुहूर्त्त के बाद आ सकता है और अधिक से अधिक उसको अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाता है ।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों का वर्णन करते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१७८॥
एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१७८॥

पदार्थान्वयः—एएसिं—इन जलचर जीवों के वण्णओ—वर्ण से च—और गंधओ—गन्ध से रसफासओ—रस और स्पर्श से वा—तथा संठाणादेसओवि—संस्थान के आदेश से भी सहस्ससो—हज़ारों विहाणाइं—भेद होते हैं एव—पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—उक्त जलचरों के—वर्ण से, गन्ध से, रस और स्पर्श से तथा संस्थान से हज़ारों भेद होते हैं ।

टीका—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि के तरतमभाव से जलचर जीवों के असंख्य भेद हो जाते हैं ।

अब स्थलचर जीवों का निरूपण करते हैं । यथा—

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउविहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥१७९॥
चतुष्पदाश्च परिसर्पाः, द्विविधाः स्थलचरा भवेयुः ।
चतुष्पदाश्चतुर्विधाः , तान् मे कीर्तयतः शृणु ॥१७९॥

पदार्थान्वयः—थलयरा—स्थलचर दुविहा—दो प्रकार के भवे—होते हैं चउप्पया—चतुष्पाद य—और परिसप्पा—परिसर्प चउप्पया—चतुष्पाद चउविहा—चार प्रकार के हैं ते—उनको कित्तयओ—कथन करते हुए मे—मुझसे सुण—सुनो ।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं—चतुष्पाद और परिसर्प । इनमें जो चतुष्पाद हैं वे चार प्रकार के हैं । अब तुम मुझसे उनके भेदों को श्रवण करो !

टीका—चतुष्पाद और परिसर्प ये दो भेद स्थलचर जीवों के हैं । इनमें चतुष्पाद चार प्रकार के हैं । आचार्य अपने शिष्यों से कहते हैं कि उनके भेदों

को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो। चतुष्पाद—चार पैरों वाले। परिसर्प—रेंगकर चलने वाले सर्पादि। 'परि समन्तात् सर्पन्तीति परिसर्पाः' अर्थात् जो सर्व प्रकार से सारे शरीर का संचालन करते हुए चलते हैं उनको परिसर्प कहते हैं।

अब चतुष्पदों के चार भेद बतलाते हैं। यथा—

एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपय सणप्पया।
हयमाई गोणमाई , गयमाई सीहमाइणो ॥१८०॥

एकखुरा द्विखुराश्चैव, गण्डीपदाः सनखपदाः।
हयादयो गोणादयः, गजादयः सिंहादयः ॥१८०॥

पदार्थान्वयः—**एगखुरा**-एक खुर वाले च-और **दुखुरा**-दो खुर वाले **गंडीपय**-गंडीपद वाले **सणप्पया**-सनख पद वाले **हयमाई**-हय—अश्व—घोड़े—आदि **गोणमाई**-गोण आदि—बलीवर्दादि **गयमाई**-गज—हस्ती—आदि, और **सीहमाइणो**-सिंह आदि।

मूलार्थ—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गंडीपद और सनखपद वाले, ये चार प्रकार के स्थलचर जीव हैं। एक खुर वाले—अश्वादि। दो खुर वाले, गो-महिषी आदि। गंडीपद वाले—हस्ती आदि। सनखपद—नखों वाले—सिंह-श्वान आदि।

टीका—स्थल मे रहने वाले पञ्चेन्द्रिय जीवों के निरूपण मे चतुष्पाद के चार भेद वर्णन किये हैं। (१) एकखुरा—एक खुर वाले—अश्वादि, (२) द्विखुरा—दो खुर वाले—गोमहिषी आदि, (३) गंडीपदा—गंडीपद वाले—हस्ती आदि, (४) सनखपदा—नखसहित पैरों वाले—सिंह आदि। इस प्रकार पहले भेद में—अश्वगर्दभादि, दूसरे में—गोमहिषी आदि, तीसरे भेद में—हस्ती आदि, और चौथे में—सिंह-व्याघ्र आदि का समावेश है। जिनके पैर में एक ही खुर होता है; अर्थात् चरण के नीचे एक स्थूल अस्थिविशेष होता है वे एक खुर वाले (अश्वादि पशु) चतुष्पाद हैं। तथा दो खुर वाले जीव गवादि पशु हैं। वर्तुलाकार—गोल—जिनके पैर हैं ऐसे हस्ती आदि पशु 'गंडीपद' कहलाते हैं। और

जिनके पैर नखों से युक्त हैं वे सनखपद कहे जाते हैं । यहाँ पर सनखपद का—'सणप्पय' यह प्राकृत रूप है । तथाच—'नखैर्नखात्मकैर्वर्तन्त इति सनखानि, तथाविधानि पदानि येषां ते सनखपदाः सिंहादयः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सिंहादि चतुष्पाद जीव सनखपद कहे जाते हैं ।

अब परिसर्पों के भेद बतलाते हैं । यथा—

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे ।
गोहाई अहिमाई य, एक्केक्का णेगहा भवे ॥१८१॥

भुजपरिसर्पा उरःपरिसर्पाश्च, परिसर्पा द्विविधा भवेयुः ।
गोधादयोऽह्यादयश्च , एकैकका अनेकधा भवेयुः ॥१८१॥

पदार्थान्वयः—भुअ-भुजपरिसर्प उरगपरिसप्पा-उरःपरिसर्प परिसप्पा-परिसर्प दुविहा-दो प्रकार के भवे-होते हैं गोहाई-गोधा आदि अहिमाई-अहि—सर्प—आदि य-पुनः एक्केक्का-एक एक अणेगहा-अनेक प्रकार के भवे-होते हैं ।

मूलार्थ—परिसर्प के दो भेद हैं—भुजपरिसर्प और उरःपरिसर्प । भुजपरिसर्प—गोधा आदि हैं और उरःपरिसर्प—सर्प आदि कहे गये हैं । फिर इनके प्रत्येक के अनेक भेद हैं ।

टीका—जो भुजाओं के बल चलते हैं उनको भुजपरिसर्प कहते हैं तथा जो जीव छाती के बल चलते हैं उन्हें उरःपरिसर्प कहा जाता है । तथाच, गोधा, नकुल और मूषक आदि जीव तो भुजपरिसर्प हैं और सर्प आदि जीवों को उरःपरिसर्प कहते हैं । इन दोनों के और भी अनेक भेद हैं । नकुल, मूषक आदि मे अनेक जातियाँ पाई जाती हैं, तथा सर्पों की भी—दर्वीकर, मकुलीकर, उग्रविष और कालविष आदि अनेक जातियाँ हैं । यद्यपि जल में भी सर्पादि का सद्भाव है, तथापि छाती के बल से चलने के कारण उनको स्थलचर ही माना गया है ।

अब इनका क्षेत्रविभाग बतलाते हैं । यथा—

लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१८२॥

को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ! चतुष्पाद—चार पैरों वाले। परिसर्प—रेंगकर चलने वाले सर्पादि। 'परि समन्तात् सर्पन्तीति परिसर्पाः' अर्थात् जो सर्व प्रकार से सारे शरीर का संचालन करते हुए चलते हैं उनको परिसर्प कहते हैं।

अब चतुष्पदों के चार भेद बतलाते हैं। यथा—

एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपय सणप्पया ।
हयमाई गोणमाई , गयमाई सीहमाइणो ॥१८०॥

एकखुरा द्विखुराश्चैव, गण्डीपदाः सनखपदाः ।
हयादयो गोणादयः, गजादयः सिंहादयः ॥१८०॥

पदार्थान्वयः—**एगखुरा**-एक खुर वाले **च**-और **दुखुरा**-दो खुर वाले **गंडीपय**-गंडीपद वाले **सणप्पया**-सनख पद वाले **हयमाई**-हय—अश्व—घोड़े—आदि **गोणमाई**-गोण आदि—बलीवर्दादि **गयमाई**-गज—हस्ती—आदि, और **सीहमाइणो**-सिंह आदि।

मूलार्थ—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गंडीपद और सनखपद वाले, ये चार प्रकार के स्थलचर जीव हैं। एक खुर वाले—अश्वादि। दो खुर वाले, गो-महिषी आदि। गंडीपद वाले—हस्ती आदि। सनखपद—नखों वाले—सिंह-श्वान आदि।

टीका—स्थल मे रहने वाले पञ्चेन्द्रिय जीवों के निरूपण में चतुष्पाद के चार भेद वर्णन किये हैं। (१) एकखुरा—एक खुर वाले—अश्वादि, (२) द्विखुरा—दो खुर वाले—गोमहिषी आदि, (३) गंडीपदा—गंडीपद वाले—हस्ती आदि, (४) सनखपदा—नखसहित पैरों वाले—सिंह आदि। इस प्रकार पहले भेद में—अश्वगर्दभादि, दूसरे में—गोमहिषी आदि, तीसरे भेद में—हस्ती आदि, और चौथे में—सिंह-व्याघ्र आदि का समावेश है। जिनके पैर मे एक ही खुर होता है, अर्थात् चरण के नीचे एक स्थूल अस्थिविशेष होता है वे एक खुर वाले (अश्वादि पशु) चतुष्पाद हैं। तथा दो खुर वाले जीव गवादि पशु हैं। वर्तुलाकार—गोल—जिनके पैर हैं ऐसे हस्ती आदि पशु 'गंडीपद' कहलाते हैं। और

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१८४॥

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुःस्थितिः स्थलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१८४॥

पदार्थान्वयः—**तिन्नि**—तीन **पलिओवमाइं**—पल्योपम की **आउठिई**—आयु-स्थिति **उ**—तो **थलयराणं**—स्थलचरों की **उक्कोसेण**—उत्कृष्टरूप से **वियाहिया**—प्रतिपादन की है **जहन्निया**—जघन्य स्थिति **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है ।

मूलार्थ—**स्थलचर जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की प्रतिपादन की गई है ।**

टीका—स्थलचर जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम तक हो जाती है । क्योंकि जो अकर्म-भूमिज स्थलचर तिर्यंच हैं उनकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की होती है, परन्तु यह कथन सूषम-सूषम वा देवकुरु और उत्तरकुरु की अपेक्षा से ही किया गया है । मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं है ।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं । यथा—

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ॥१८५॥

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिः स्थलचराणाम्, अन्तरं तेषामिदं भवेत् ॥१८५॥

पदार्थान्वयः—**तिन्नि**—तीन **पलिओवमाइं**—पल्योपम **पुव्वकोडिपुहुत्तेणं**—पूर्व कोटि पृथक्—अधिक **उक्कोसेण**—उत्कृष्टरूप से **कायठिई**—कायस्थिति **थलयराणं**—स्थलचरों की **वियाहिया**—वर्णन की है **जहन्निया**—जघन्य **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की है **उ**—प्राग्वत् **तेसिमं**—उनका यह **अंतरं**—अन्तर **भवे**—होता है ।

मूलार्थ—तीन पल्योपम सहित पृथक् कोटि—[२ से लेकर ९ पूर्व कोटि तक]—की उत्कृष्ट, और अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण जघन्य कायस्थिति स्थलचर जीवों की प्रतिपादन की गई है। उनका यह निम्नलिखित अन्तर है।

टीका—यदि यह जीव निरन्तर स्थलचरों में ही जन्मता और मरता रहे तो कम से कम तो वह अन्तर्मुहूर्त्त मे स्वकाया से जन्म-मरण धारण कर सकता है और अधिक से अधिक पृथक् कोटि पूर्व, अर्थात् करोड़ २ पूर्व सात व आठ भव करके फिर तीन कल्प की आयु वाला स्थलचर पंचेंद्रिय तिर्यंच बन जाता है। तदनन्तर वह देवलोक मे चला जाता है, अतः तीन पल्योपम अधिक पृथक् कोटि पूर्व की कायस्थिति स्थलचर जीवों की कथन की गई है। इससे अधिक काल तक वह निरंतर स्थलचरों में जन्म-मरण नहीं कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि करोड़ २ पूर्व के सात भव करके आठवें भव में स्थलचर जीव युगलियों से उत्पन्न होकर फिर वह देवलोक में चला जाता है, अन्य योनि में नहीं जाता। इसी लिए पृथक् कोटि पूर्व अधिक तीन पल्योपम की उत्कृष्ट कायस्थिति स्थलचर जीवों की प्रतिपादन की गई है।

अब इनका अन्तर बतलाते हैं। यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, थलयराणं तु अंतरं ॥१८६॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, स्थलचराणां त्वन्तरम् ॥१८६॥

पदार्थान्वयः—उक्कोसं—उत्कृष्ट अणंतकालं—अनन्तकाल जहन्नयं—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त सए काए—स्वकाय के विजढम्मि—त्यागने पर थलयराणं—स्थलचरों का अंतरं—अन्तराल होता है।

मूलार्थ—स्थलचर जीवों का—अपना प्रथम शरीर छोड़कर दूसरी बार फिर वही शरीर धारण करें उसके बीच का—जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का होता है।

टीका—अपने त्यागे हुए पूर्व शरीर को फिर से ग्रहण करने तक का अन्तर कम से कम एक मुहूर्त्त का और अधिक से अधिक अनन्तकाल का माना है ।

अब पक्षियों के सम्बन्ध में कहते हैं—

चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया ।
विययपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ॥१८७॥

चर्मपक्षिणस्तु रोमपक्षिणश्च, तृतीयभेदः समुद्गपक्षिणः ।
विततपक्षिणश्च बोद्धव्याः, पक्षिणश्च चतुर्विधाः ॥१८७॥

पदार्थान्वयः—चम्मे–चर्म-पक्षी उ–पुनः लोमपक्खी य–रोम-पक्षी तइया–तृतीय समुग्गपक्खिया–समुद्ग-पक्षी य–और विययपक्खी–वितत-पक्षी बोधव्वा–जानना य–पुनः पक्खिणो–पक्षी-गण चउव्विहा–चार प्रकार के हैं ।

मूलार्थ—चर्म-पक्षी, रोम-पक्षी, समुद्ग-पक्षी और वितत-पक्षी, इस प्रकार पक्षियों के चार भेद कहे जाते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में खेचर जीवों के भेदों का वर्णन किया गया है । खेचर—आकाश में उड़ने वाले—पक्षियों के भी—चर्म-पक्षी, रोम-पक्षी, समुद्र-पक्षी और वितत-पक्षी, ऐसे चार भेद वर्णन किये हैं । (१) चर्म-पक्षी—चमड़े के परों वाले चमगादड़ आदि, (२) रोम-पक्षी—हंस चकवा आदि; (३) समुद्र-पक्षी—जिनके पक्ष सदा अविकसित रहें तथा डव्वे के आकारसदृश जिनके पक्ष सदा ढके रहते हैं उनको समुद्र-पक्षी कहते हैं, परन्तु ये पक्षी मनुष्यक्षेत्र से सदा बाहर ही होते हैं, (४) वितत-पक्षी—जिन पक्षियों के पर सदैव खुले या विस्तृत रहते हैं उनको वितत पक्षी कहा गया है । ये पक्षी भी मनुष्यक्षेत्र से बाहर के द्वीप-समुद्रों में होते हैं । तात्पर्य यह है कि सार्द्ध द्वीप-समुद्रों से बाहर के क्षेत्रों में ही इन दोनों प्रकार के पक्षियों का निवास है ।

अब इनके क्षेत्रविभाग और कालविभाग के विषय में कहते हैं । यथा—

लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१८८॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥१८८॥

पदार्थान्वयः—लोगेगदेसे—लोक के एकदेश में ते सव्वे—वे सब स्थित हैं न—नहीं सव्वत्थ—सर्वत्र वियाहिया—कथन किये गये हैं इत्तो—इसके बाद तेसिं—उनके चउव्विहं—चतुर्विध कालविभागं—कालविभाग को वोच्छं—कहूँगा तु—पुनः ।

मूलार्थ—ये सब पक्षीगण समस्त-लोक-व्यापी नहीं, किन्तु लोक के एकदेश में अमुक भाग में ही रहते हैं । अब मैं उनका चार प्रकार से काल-विभाग कहता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करें !

तथाहि—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१८९॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१८९॥

पदार्थान्वयः—संतइं—सन्तान की पप्प—अपेक्षा से अणाईया—अनादि य—और अपज्जवसियावि—अपर्यवसित भी हैं ठिइं—स्थिति की पडुच्च—प्रतीति से साईया—सादि य—और सपज्जवसियावि—सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—प्रवाह की अपेक्षा से ये खेचर जीव अनादि और अनंत हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से आदि और अन्त वाले हैं ।

टीका—जब हम सन्तान की अपेक्षा से विचार करते हैं तब तो ये खेचरादि जीव अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं; क्योंकि इनका सद्भाव सदैव बना रहता है, और यदि इनकी आयु और कायस्थिति आदि की ओर ध्यान देते हैं तब ये सादि-सान्त सिद्ध होते हैं, इसलिए अपेक्षाभेद से ये चार प्रकार से प्रमाणित होते हैं ।

अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं—

पलिओवमस्स भागो, असंखेज्जइमो भवे ।
आउठिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९०॥

पल्योपमस्य भागः, असङ्ख्येयतमो भवेत् ।
आयुःस्थितिः खेचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१९०॥

पदार्थान्वयः—पलिओवमस्स—पल्योपम के असंखेज्जइमो—असंख्येयतम भागो—भाग जितनी आउठिई—आयुस्थिति खहयराणं—खेचरों की भवे—होती है जहन्निया—जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ।

मूलार्थ—खेचर जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति, पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में खेचरों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन किया गया है । इनकी उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असंख्येय भाग जितनी है, तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की मानी है । यह स्थिति ५६ अन्तर-द्वीपों में युगलियों के भव में जो जीव उत्पन्न होते हैं उनकी अपेक्षा से वर्णन की गई है ।

अब इनकी कायस्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं—

असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहिया ।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९१॥
कायठिई खहयराणं,

असङ्ख्यभागः पल्योपमस्य, उत्कर्षेण तु साधिका ।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१९१॥
कायस्थितिः खेचराणाम्,

पदार्थान्वयः—पलियस्स—पल्योपम का असंखभागो—असंख्यातवाँ भाग साहिया—अधिक पुव्वकोडिपुहुत्तेणं—पृथक् पूर्वकोटि की उक्कोसेणं—उत्कृष्टता से कायठिई—कायस्थिति खहयराणं—खेचरों की वर्णन की है, और जहन्निया—जघन्य स्थिति अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त की है उ—प्राग्वत् ।

मूलार्थ—खेचर जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट, पल्योपम के असंख्येय भाग अधिक पृथक् पूर्व कोटि की कथन की है।

टीका—यदि खेचर मरकर खेचर में ही जन्मता-मरता रहे तो कम से कम वह अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण अपनी काया में स्थिति कर सकता है और अधिक से अधिक पल्योपम के असंख्येय भाग सहित पृथक् (२ से ९) पूर्व कोटि तक अपनी काया में स्थिति कर सकता है। तात्पर्य यह है कि करोड़ २ पूर्व के सात भव करके आठवां भव पल्योपम के असंख्येय भाग का खेचर युगलियों का कर लेता है। तदनन्तर वह खेचरभाव को छोड़कर देवगति को प्राप्त करता है।

अब इनका अन्तराल बतलाते हैं। यथा—

अंतरं तेसिमं भवे।
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥१९२॥

अन्तरं तेषामिदं भवेत्।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥१९२॥

पदार्थान्वयः—तेसिमं—उन जीवों का यह अंतरं—अन्तराल भवे—है उक्कोसं—उत्कृष्ट अणंतकालं—अनन्तकाल जहन्नयं—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त का है।

मूलार्थ—खेचर जीवों का उत्कृष्ट अन्तरकाल अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पीछे अनेक वार आ चुकी है।

अब अन्य प्रकार से इनके भेद बतलाते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१९३॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥१९३॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन जीवों के वरणओ–वर्ण से च–और गंधओ–गंध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओवि–संस्थानादेश से भी सहस्ससो–हज़ारों विहाणाइं–भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन खेचर जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान आदि की अपेक्षा से हज़ारों भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण-गन्धादि के तरतमभाव को लेकर खेचर जीवों के असंख्य भाग हो जाते हैं इत्यादि पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए।

अब मनुष्यों के विषय में कहते हैं। यथा—

मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ॥१९४॥

मनुजा द्विविधभेदास्तु, तान् मे कीर्तयतः शृणु।
संमूर्च्छिमाश्च मनुजाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा ॥१९४॥

पदार्थान्वयः—मणुया–मनुष्य दुविहभेया–दो भेद वाले हैं उ–फिर ते–उन भेदों को कित्तयओ–कथन करते हुए मे–मुझसे सुण–श्रवण करो संमुच्छिमा–संमूर्च्छिम मणुया–मनुष्य तहा–तथा—उसी प्रकार गब्भवक्कंतिया–गर्भव्युत्क्रान्त—मनुष्य।

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! मनुष्यों के दो भेद हैं—संमूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक—गर्भज। सो इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो!

टीका—संमूर्च्छिम मनुष्य और गर्भज मनुष्य इस प्रकार मनुष्यों के दो भेद हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य चतुर्दश अशुचिस्थानों—अपवित्र मलमूत्रादि—मे उत्पन्न होते हैं। वे विना मन के होते हैं तथा मनुष्य के अवयवों में उत्पन्न होने से ही उनकी मनुष्य संज्ञा होती है, और उनकी अवगाहना अंगुल के असंख्येय भाग जितनी होती है। इनको असंज्ञी मनुष्य भी कहते हैं। द्वितीय मनुष्य, गर्भज अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होने वाले हैं। इन में मनःपर्याप्ति का सद्भाव होता है, इसलिए ये संज्ञी मनुष्य कहलाते हैं।

अब प्रथम गर्भज मनुष्य के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया।
कम्मअकम्मभूमा य, अंतरद्दीवया तहा ॥१९५॥

गर्भव्युत्क्रान्तिका ये तु, त्रिविधास्ते व्याख्याताः।
कर्माकर्मभूमाश्च , अन्तरद्वीपकास्तथा ॥१९५॥

पदार्थान्वयः—जे-जो उ-पुनः गब्भवक्कंतिया-गर्भज मनुष्य हैं ते-वे तिविहा-तीन प्रकार के वियाहिया-वर्णन किये गये हैं कम्म-कर्मभूमिक य-और अकम्मभूमा-अकर्मभूमिक तहा-तथा अंतरद्दीवया-अन्तरद्वीपक।

मूलार्थ—गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के हैं—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपक।

टीका—गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य तीन प्रकार से वर्णन किये गये हैं। (१) कर्मभूमिक—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और शिल्पकलादि के द्वारा जहाँ पर जीवननिर्वाह किया जावे वह कर्मभूमि कहलाती है। उसमें रहने वाले मनुष्य कर्मभूमिक कहे जाते हैं। (२) अकर्मभूमिक—जहाँ पर असि, मसि आदि कर्मों का अभाव है, किन्तु कल्पवृक्षों पर ही जहाँ के जीवन निर्भर हों उसे अकर्मभूमि कहा है। उस भूमि के जीव अकर्मभूमिक कहलाते हैं। (३) अन्तरद्वीपक—जो समुद्रीय द्वीपों के मध्य में उत्पन्न होने वाले हैं उनको अन्तरद्वीपक मनुष्य कहते हैं।

अब इनके संख्यागत भेदों का उल्लेख करते हैं। यथा—

पन्नरसतीसविहा , भेया अट्ठवीसइं।
संखा उ कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया ॥१९६॥

पञ्चदशत्रिंशद्विधाः , भेदा अष्टाविंशतिः।
सङ्ख्या तु क्रमशस्तेषाम्, इत्येषा व्याख्याता ॥१९६॥

पदार्थान्वयः—पन्नरस-पन्द्रह भेद तीसविहा-तीस भेद अट्ठवीसइं-अठाईस भेया-भेद उ-पुनः संखा-संख्या तेसिं-उनकी कमसो-क्रम से इइ-इस प्रकार एसा-यह वियाहिया-कथन की गई है।

मूलार्थ—१५ भेद, ३० भेद और २८ भेद, इस प्रकार यह क्रमपूर्वक इनकी संख्या का विधान किया गया है; अर्थात् कर्मभूमि के १५, अकर्मभूमि के ३० और अन्तरद्वीप के २८ भेद हैं।

टीका—इस गाथा में मनुष्यों के संख्यागत भेदों का वर्णन किया गया है। वह संख्या अनुक्रम से—१५,३० और २८ हैं। (१) एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह, ये तीनों क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं; तथा—दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह, ये छः क्षेत्र घातकी-खंडद्वीप में हैं; और इसी प्रकार ये छओं क्षेत्र पुष्करार्द्ध नामक द्वीप में हैं। इस रीति से—पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह, ऐसे १५ भेद कर्मभूमि के प्रतिपादन किये हैं। (२) अकर्मभूमि के ३० भेद हैं; अर्थात् अकर्मभूमि में ३० क्षेत्र हैं। तथाहि—हैमवत, हैरण्यवत, हरिवास—हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु, उत्तरकुरु, ये छओं क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं। तथा ये ही दो दो घातकी-खंड में और दो ही दो पुष्करार्द्धद्वीप में हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप के ६ और घातकी-खंड के १२ तथा पुष्करार्द्धद्वीप के १२, ऐसे ३० भेद अकर्मभूमि—भोगभूमि—के हैं। इनमें केवल युगलियों की ही उत्पत्ति होती है और वे अपनी सम्पूर्ण अभिलाषाओं को कल्पवृक्षों से पूर्ण कर लेते हैं। अन्तरद्वीपक-क्षेत्रों का विधान इस प्रकार से है:—हिमवंत पर्वत के पूर्वापर और विदिशा में प्रसरित कोटियों (दाढ़ाओं) की सीमा पर लवण-समुद्र में तीन-तीन सौ योजन पर इतने ही विस्तार वाले द्वीप हैं। तात्पर्य यह है कि क्षुल्लक हिमवंत पर्वत के पूर्व और पश्चिम के अन्त में दो दो दाढ़ें—दोनों पर्वत की चार दाढ़ें—हैं, और प्रत्येक दाढ़ में सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार ७×४=२८ अन्तरद्वीप होते हैं। इसी भाँति शिखरिणी पर्वत के सम्बन्ध में भी जान लेना, अर्थात् उसकी भी चार दाढ़े हैं और प्रत्येक दाढ़ पर सातद्वीप हैं, जो कि वे भी संकलना से २८ होते हैं, इस प्रकार कुल २८+२८=५६ भेद अन्तरद्वीप के होते हैं। इन द्वीपों की नामावलि इस प्रकार है:—(१-भेद) १. एकोरुक, २. आभाषिक,

३. लांगूलिक और ४. वैपाणिक, ये चारों द्वीप लवण-समुद्र की जगतिकोट से तीन सौ योजन के अन्तर पर वसते हैं। इसी प्रकार आगे सौ-सौ योजन समुद्र का अन्तर और द्वीपों का विस्तार कर लेना यह प्रथम भेद हुआ। (२-भेद) १. हयकर्ण, २. गजकर्ण, ३. गोकर्ण और ४. शष्कुलीकर्ण। (३-भेद) १. आदर्शमुख, २. मेषमुख, ३. हयमुख और ४. गजमुख। (४-भेद) १. अश्वमुख, २. हस्तीमुख, ३. सिंहमुख और ४. व्याघ्रमुख। (५-भेद) १. अश्वकर्ण, २. सिंहकर्ण, ३. गजकर्ण और ४. कर्णप्रावरण। (६-भेद) १. उल्कामुख, २. विद्युन्मुख, ३. जिह्वामुख और ४. मेघमुख। (७-भेद) १. घनदन्त, २. गूढदन्त, ३. श्रेष्ठदन्त और ४. शुद्धदन्त। ये सात भेद हुए। सातवां युगल सात सौ योजन का जगतिकोट से समुद्र के अन्तर में सात सौ योजन विस्तार वाले अन्तरद्वीप हैं। इन्हीं के नामों पर युगलिय मनुष्यों का निवास है। इस विषय का सविस्तर वर्णन जीवाभिगम-सूत्र में किया है, अतः अधिक जानने की इच्छा रखने वाले वहाँ से देख लेवें।

अब संमूर्छिम मनुष्यों के विषय में कहते हैं—

संमुच्छिमाण एसेव, भेओ होइ वियाहिओ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ॥१९७॥

सम्मूर्छिमाणामेष एव, भेदो भवति व्याख्यातः।
लोकस्यैकदेशे , ते सर्वेऽपि व्याख्याताः ॥१९७॥

पदार्थान्वयः—संमुच्छिमाण—संमूर्छिम मनुष्यों के एसेव—यही भेओ—भेद होइ—होते हैं वियाहिओ—तीर्थंकरों से कहा गया ते—वे सव्वे वि—सब ही लोगस्स—लोक के एगदेसम्मि—एकदेश में वियाहिया—वर्णन किये हैं।

मूलार्थ—जो भेद गर्भज मनुष्यों के वर्णन किये हैं वे ही सब संमूर्छिम मनुष्यों के होते हैं। अपिच, वे सभी मनुष्यलोक के एकदेश में व्याप्त हैं।

टीका—जिस प्रकार गर्भज मनुष्यों के सामान्यरूप से १०१ भेद कथन किये हैं, उसी प्रकार संमूर्छिम मनुष्यों के भी १०१ ही भेद माने गये हैं। तात्पर्य

कि, जैसे—१५ कर्मभूमिक, ३० अकर्मभूमिक और ५६ अन्तरद्वीपक, इस प्रकार कुल १०१ भेद होते हैं, उसी भाँति मनुष्यों के अवयवों में उत्पन्न होने वाले संमूर्छिम मनुष्यों के भी उतने अर्थात् १०१ ही भेद हैं। गर्भज मनुष्यों के जिन २ अवयवों में अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी अवगाहना वाले संमूर्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है उन सब स्थानों का उल्लेख आगम में इस प्रकार किया है:—"उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा, खेलेसु वा, सिंघाणेसु वा, वंतेसु वा, पित्तेसु वा, पूएसु वा, सोणिएसु वा, सुक्केसु वा, सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा, विगयकडेसु वा, थीपुरिससंजोएसु वा, गामनिद्धमाणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइठाणेसु" [प्रज्ञाप० पद १. सूत्र ३६.]। अर्थात्—(१) विष्ठा में, (२) मूत्र में, (३) श्लेष्मा में, (४) नासिका के मल में, (५) वमन में, (६) पित्त में, (७) पूय में, (८) रुधिर में, (९) शुक्र में, (१०) शुक्रपुद्गल के परिशाट में, (११) विगतक्लेवर में, (१२) स्त्री-पुरुष के संयोग में, (१३) ग्राम के निर्धमन में, और (१४) सब प्रकार के अपवित्र स्थानों में—संमूर्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी होती है। ये सभी जीव, लोक के एकदेश में निवास करते हैं और इन दोनों के भेदों की संख्या समान ही है।

अब इनकी कालसापेक्ष अनादिता और सादिता का वर्णन करते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥१९८॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥१९८॥

पदार्थान्वयः—संतइं–सन्तति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं ठिइं–स्थिति की पडुच्च–प्रतीति से साईया–सादि य–और सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—प्रवाह की अपेक्षा से मनुष्य-जाति अनादि और अनन्त है, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से वह आदि और अन्त से युक्त है।

टीका—सन्तति की अपेक्षा से देखा जावे तो मनुष्य-जाति अनादि और अनन्त है, परन्तु इसकी भवस्थिति और कायस्थिति का विचार करने से यह सादि-सान्त सिद्ध होती है। यद्यपि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूपकाल-चक्र का विचार करने से मनुष्य-जाति की न्यूनाधिकता तो अवश्य होती रहती है, परन्तु इसका सर्वथा अभाव किसी समय पर भी नहीं होता। सारांश यह है कि अपेक्षाभेद से मनुष्य-जाति में अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता दोनों ही धर्म उपलब्ध होते हैं।

अब इनकी आयुस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

पलिओवमाइं तिन्नि य, उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९९॥

पल्योपमानि त्रीणि च, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुःस्थितिर्मनुजानाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१९९॥

पदार्थान्वयः—मणुयाणं—मनुष्यों की आउठिई—आयुस्थिति जहन्निया—जघन्य अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त्त य—पुनः उक्कोसेण—उत्कर्ष से तिन्नि—तीन पलिओवमाइं—पल्योपम की वियाहिया—कही है।

मूलार्थ—मनुष्यों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की कही गई है।

अब इनकी कायस्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२००॥
कायठिई मणुयाणं,

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥२००॥
कायस्थितिर्मनुजानाम्,

पदार्थान्वयः—तिन्नि–तीन पलिओवमाइं–पल्योपम उ–और पुव्वकोडि-पुहुत्तेणं–पृथक् पूर्व कोटि अधिक उक्कोसेण–उत्कृष्टता से, तथा जहन्निया–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त की वियाहिया–कथन की है कायठिई–कायस्थिति मणुयाणं–मनुष्यों की है।

मूलार्थ—मनुष्यों की कायस्थिति, जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्य सहित पृथक् पूर्व कोटि की है।

टीका—यदि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता रहे तो न्यून से न्यून तो वह अन्तर्मुहूर्त्त तक ही अपनी मनुष्यकाया में स्थिति कर सकता है और अधिक से अधिक वह करोड़ करोड़ पूर्व के निरंतर सात मनुष्य-भव करके आठवें भव में तीन पल्योपम की आयु वाला युगलिया बनता है। तदनन्तर वह मनुष्य-भव को छोड़कर देवगति में जन्म लेता है, अर्थात् देवता बन जाता है।

अब इनके अन्तरकाल का विचार करते हैं। यथा—

अंतरं तेसिमं भवे।
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥२०१॥
अन्तरं तेषामिदं भवेत्।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥२०१॥

पदार्थान्वयः—उक्कोसं–उत्कृष्ट अणंतकालं–अनन्तकाल जहन्नयं–जघन्य अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त्त तेसिमं–यह उन मनुष्यों का अंतरं–अन्तरकाल भवे–होता है।

मूलार्थ—मनुष्यों का जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनंत-काल का है।

टीका—मनुष्य अपनी योनि को छोड़कर फिर उसी योनि को धारण करे तो इन दोनों के बीच के समय का प्रमाण कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक है। तात्पर्य यह है कि जघन्य दशा में तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही मनुष्य मरकर अन्य योनि में जाकर फिर मनुष्य बन जाता है और उत्कृष्टता में अनन्तकाल लग जाता है। कारण कि, यदि कदाचित् मनुष्य मरकर

वनस्पति में चला गया और वहाँ पर उसकी उत्कृष्ट आयु अनन्तकाल की है, तब तो अनन्तकाल का समय अवश्य व्यतीत करना होगा, इसलिये मनुष्यों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल तक का माना गया है।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों को कहते हैं। यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२०२॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥२०२॥

पदार्थान्वयः—एएसिं—इन मनुष्यों के वरणओ—वर्ण से च—और गंधओ—गन्ध से रसफासओ—रस और स्पर्श से वा—तथा संठाणादेसओवि—संस्थान के आदेश से भी सहस्ससो—हजारों विहाणाइं—भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से मनुष्यों के हजारों उपभेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण-गन्धादि के तरतमभाव से मनुष्यों के असंख्य भेद बन जाते हैं।

अब देवों के विषय में कहते हैं। यथा—

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ॥२०३॥

देवाश्चतुर्विधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः शृणु।
भौमेया व्यन्तराः, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥२०३॥

पदार्थान्वयः—देवा—देवता चउव्विहा—चार प्रकार के वुत्ता—कहे गये हैं ते—उन भेदों को कित्तयओ—कहते हुए मे—मुझसे सुण—श्रवण कर भोमिज्ज—भौमेय वाणमंतर—व्यन्तर जोइस—ज्योतिषी तहा—तथा वेमाणिया—वैमानिक।

मूलार्थ—हे शिष्य ! देवों के चार भेद हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक । अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो !

टीका—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! भौमेय, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, ये चार प्रकार के देव कहे जाते हैं । अब मैं इनके भेदों का वर्णन करता हूँ, तुम उनको सुनो यह उक्त गाथा का भाव है । (१) भवनपति—इनका निवास-स्थान रत्नप्रभा पृथिवी है । रत्नप्रभा का पृथिवी-पिंड १ लाख ८० हज़ार योजन स्थूल है । उसमें से एक सहस्र योजन ऊपर और एक सहस्र योजन नीचे छोड़ दिया जावे तो मध्य के १ लाख ७८ हज़ार योजन में भवनपति देवों के ७ करोड़ ७२ लाख भवन प्रतिपादन किये हैं, जिनमें कि प्रायः भवनपति देवों की उत्पत्ति मानी गई है । (२) व्यन्तर—जिनके उत्कर्ष और अपकर्षमय रूपविशेष हैं, तथा गिरिकन्दरा और वृक्ष के विवरादि में जिनका निवास है उनको व्यन्तरदेव कहते हैं; अर्थात् जो अधः, तिर्यक् और ऊर्ध्व, तीनों लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार भ्रमण करते हुए शैलकन्दरान्तर, वन, विवरादि में निवास करते हैं वे व्यन्तर कहलाते हैं । तिर्यक्-लोक में इनकी असंख्यात राजधानियाँ हैं । (३) ज्योतिषी—जो तीनों लोक में प्रकाश करने वाले विमानों में निवास करते हैं उनको ज्योतिषी कहा है । यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि जैसे 'ग्राम आ गया' इस वाक्य में आया हुआ ग्राम शब्द ग्रामनिवासी जनों का बोधक है, उसी प्रकार ज्योति वाले विमानों में निवास करने से उन देवों का नाम ज्योतिषी है । (४) वैमानिक—जो विशेषरूप से माननीय हैं तथा किये हुए शुभ कर्म के फल को विमानों में उत्पन्न होकर यथेच्छ भोगते हैं उनका नाम वैमानिक है ।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं । यथा—

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥२०४॥

दशधा तु भवनवासिनः, अष्टधा वनचारिणः ।
पञ्चविधा ज्योतिष्का, द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥२०४॥

पदार्थान्वयः—दसहा उ—दश प्रकार के तो भवणवासी—भवनवासी देव हैं अट्ठहा—आठ प्रकार के वणचारिणो—व्यन्तर देव हैं, तथा पंचविहा—पांच प्रकार के जोइसिया—ज्योतिषी देव हैं तहा—तथा दुविहा—दो प्रकार के वेमाणिया—वैमानिक देव हैं।

मूलार्थ—दश प्रकार के भवनपति, आठ प्रकार के व्यन्तर, पाँच प्रकार के ज्योतिषी और दो प्रकार के वैमानिक देव कहे गये हैं।

टीका—भवनों में उत्पन्न होने वाले देवों की दश जातियाँ हैं, इसलिए दश ही प्रकार के भवनवासी कथन किये गये हैं। इसी प्रकार वनों में या विचित्र उपवनों में या अन्यस्थानों में जो क्रीड़ा के रस में निमग्न हैं, उन्हीं का नाम वनचारी है। वे आठ प्रकार के माने गये हैं। ज्योतिरूप विमानों में उत्पन्न होने वाले ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं, एवं वैमानिकों के केवल दो ही भेद हैं।

अब इनके नामों का निर्देश किया जाता है। यथा—

असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया।
दीवोदहिदिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥२०५॥

असुरा नागसुपर्णाः, विद्युदग्निश्च आख्याताः।
द्वीपोदधिदिशो वायवः, स्तनिता भवनवासिनः ॥२०५॥

पदार्थान्वयः—असुरा—असुरकुमार नाग—नागकुमार सुवण्णा—सुपर्णकुमार विज्जू—विद्युत्कुमार य—पुनः अग्गी—अग्निकुमार दीव—द्वीपकुमार उदहि—उदधिकुमार दिसा—दिक्कुमार वाया—वायुकुमार थणिया—स्तनितकुमार भवणवासिणो—भवनवासियों के—दश भेद हैं।

मूलार्थ—भवनपति-देवों की दश जातियाँ कथन की गई हैं—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार।

टीका—यहाँ पर गाथा के मूलार्थ में जो हर एक नाम के अन्त में कुमार शब्द का उल्लेख किया है उसका आशय यह है कि वे देव, कुमारवत् कान्तदर्शन

वाले हैं, सुकुमार हैं और मृदु-ललित गति वाले हैं । इसके अतिरिक्त वे शृंगारादि अभिजात-रूप-क्रिया भी कुमार की तरह ही करते हैं । तथा वेष, भाषा, आभरण, प्रहरणावरण, यान, वाहन इत्यादि प्रकार का सब व्यवहार उनका कुमार की भाँति ही होता है, इसलिए उनको कुमार कहा गया है ।

अब व्यन्तर देवों के सम्बन्ध में कहते हैं । यथा—

पिसायभूया जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥२०६॥

पिशाचभूता यक्षाश्च, राक्षसाः किन्नराः किंपुरुषाः ।
महोरगाश्च गन्धर्वाः, अष्टविधा व्यन्तराः ॥२०६॥

पदार्थान्वयः—**पिसाय**–पिशाच **भूया**–भूत **य**–और **जक्खा**–यक्ष **रक्खसा**–राक्षस **किन्नरा**–किन्नर **किंपुरिसा**–किंपुरुष **महोरगा**–महोरग **य**–और **गंधव्वा**–गन्धर्व **अट्ठविहा**–आठ प्रकार के **वाणमंतरा**–व्यन्तर देव हैं ।

सूलार्थ—आठ प्रकार के व्यन्तर देव कहे हैं । यथा—(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किंपुरुष, (७) महोरग और (८) गन्धर्व, ये आठ भेद हैं ।

टीका—रत्नप्रभा पृथिवी का जो प्रथम सहस्र योजन का रत्नकांड है उसमें से सौ योजन नीचे छोड़कर और सौ योजन ऊपर छोड़कर मध्य के आठ सौ योजन में असंख्यात व्यन्तरों के नगर प्रतिपादन किये हैं । तथा द्वीप-समुद्रों में इनकी असंख्य राजधानियाँ हैं । इनकी उत्पत्ति भी इन्हीं स्थानों में मानी गई है । यद्यपि व्यन्तर देव १६ जाति के माने गये हैं, तथापि यहाँ पर महर्द्धिक की अपेक्षा आठ ही प्रकार के व्यन्तरों का ग्रहण किया है ।

अब ज्योतिषियों के विषय में कहते हैं—

चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
ठियाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥२०७॥

चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि, ग्रहास्तारागणास्तथा ।
स्थिताऽपि चारिणश्चैव, पञ्चधा ज्योतिषालयाः ॥२०७॥

पदार्थान्वयः—चंदा–चन्द्र य–और सूरा–सूर्य नक्खत्ता–नक्षत्र गहा–ग्रह तहा–तथा तारागणा–तारागण ठियावि–स्थित भी च–और चारिणो–चलने वाले पंचहा–पाँच प्रकार के जोइसालया–ज्योतिषी देवों के आलय—स्थान—हैं एव–पादपूर्ति में ।

मूलार्थ—ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं—चंद्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह तथा तारागण । ये पाँच मनुष्यक्षेत्र के बाहर तो स्थिर हैं और अभ्यन्तर चर हैं ।

टीका—ज्योतिषी देवों के पाँच आलय—स्थान—हैं; अर्थात् पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव कहे जाते हैं । यथा—चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारागण, ये पाँचों ही सार्द्ध द्वीप-समुद्र के अभ्यन्तर तो चर हैं अर्थात् गति वाले हैं और सार्द्ध द्वीप-समुद्र के बाहर उक्त पाँचों प्रकार के ज्योतिषी देव स्थिर हैं । चरों के कारण ही काल का विभाग किया जाता है और इसी से आयु का परिमाण किया जाता है । मनुष्यक्षेत्र का सारा ही ज्योतिष चक्र—मंडल—मेरु की प्रदक्षिणा करता है । यहाँ पर 'जोइसालय—ज्योतिषालय' से ज्योतिषी देव अभिप्रेत हैं ।

अब वैमानिक देवों के विषय में कहते हैं । यथा—

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥२०८॥

वैमानिकास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः, कल्पातीतास्तथैव च ॥२०८॥

पदार्थान्वयः—वेमाणिया–वैमानिक जे–जो देवा–देव हैं ते–वे दुविहा–दो प्रकार के वियाहिया–कथन किये गये हैं कप्पोवगा–कल्पोत्पन्न य–और तहेव–उसी प्रकार कप्पाईया–कल्पातीत बोधव्वा–जानने उ–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—कल्पोत्पन्न और कल्पातीत—कल्प से रहित—इस प्रकार वैमानिक देव दो प्रकार के कथन किये गये हैं ।

टीका—तीर्थंकरादि देवों ने दो प्रकार के वैमानिक देव कहे हैं। उनमें एक कल्पोत्पन्न है और दूसरा कल्पातीत कहा जाता है। तथा—कल्प-देवलोक में सामानिक त्रयस्त्रिंशत् लोकपाल, सेनापति आदि देवों के द्वारा भली प्रकार से राज्य-प्रबन्ध हो रहा है और वे मर्यादापूर्वक क्रियानुष्ठान में रत रहते हैं। द्वितीय कल्पातीत देवलोक हैं, जो कि नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर देव विमान हैं। इन देवलोकों में कल्प-मर्यादा नहीं है। कारण कि वहाँ पर स्वामी और सेवक का भाव ही नहीं होता, अतः वहाँ पर उक्त कल्प की आवश्यकता नहीं है। जैसे कि योगियों वा निर्ग्रन्थों के लिए राजपुरुषों की कोई आवश्यकता नहीं होती।

अब शास्त्रकार कल्प-देवलोक के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमारमाहिंदा, बम्भलोगा य लंतगा ॥२०९॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१०॥

कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मेशानगास्तथा।
सनत्कुमारा माहेन्द्राः, ब्रह्मलोकाश्च लान्तकाः ॥२०९॥
महाशुक्राः सहस्राराः, आनताः प्राणतास्तथा।
आरणा अच्युताश्चैव, इति कल्पोपगाः सुराः ॥२१०॥

पदार्थान्वयः—**कप्पोवगा**—कल्पोत्पन्न देव **बारसहा**—द्वादश प्रकार के हैं **सोहम्म**—सौधर्म देवलोक **तहा**—तथा **ईसाणगा**—ईशान देवलोक **सणंकुमार**—सनत्कुमार देवलोक **माहिंदा**—माहेन्द्र देवलोक **बम्भलोगा**—ब्रह्म देवलोक **य**—और **लंतगा**—लान्तक देवलोक **महासुक्का**—महाशुक्र देवलोक **सहस्सारा**—सहस्रार देवलोक **आणया**—आनत देवलोक **तहा**—तथा **पाणया**—प्राणत देवलोक **आरणा**—आरण देवलोक **च**—और **अच्चुया**—अच्युत देवलोक **इइ**—इस प्रकार **कप्पोवगा**—कल्पोत्पन्न **सुरा**—देव हैं।

मूलार्थ—कल्पवासी देवों के १२ भेद हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। इस प्रकार कल्प-देवलोकों में रहने वाले देव कल्पोत्पन्न या कल्पवासी कहे जाते हैं।

टीका—उक्त संज्ञा वाले कल्प-देवलोक १२ प्रकार के हैं। उनमें उत्पन्न होने वाले देव भी उन्हीं कल्पों के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे कि—सुधर्म देवलोक में उत्पन्न होने वाले सौधर्म और ईशान देवलोक में उत्पन्न होने वाले ऐशान। इसी प्रकार आगे भी जान लेना। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष जिस देश वा जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है वह उस देश वा क्षेत्र के सम्बन्ध से उसी नाम पर बुलाया जाता है। जैसे—गुजरात में उत्पन्न होने वाले को 'गुजराती', पंजाब में पैदा होने वाले को 'पंजाबी', और इसी प्रकार मारवाड़ में उत्पन्न होने वाले को 'मारवाड़ी' तथा मालव देश के पुरुष को 'मालवी' कहा जाता है, इसी प्रकार जिस देवलोक में वह जीव उत्पन्न होता है उसी के नाम से उसकी संज्ञा पड़ जाती है इत्यादि।

अब कल्पातीत देवों के विषय में कहते हैं। यथा—

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं॥२११॥

कल्पातीतास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र॥२११॥

पदार्थान्वयः—कप्पाईया-कल्पातीत जे-जो देवा-देव हैं ते-वे दुविहा-दो प्रकार के वियाहिया-वर्णन किये हैं गेविज्जा-ग्रैवेयक च-और अणुत्तरा-अनुत्तर तहिं-उनमें गेविज्जा-ग्रैवेयक नवविहा-नौ प्रकार के हैं उ-एव-प्राग्वत् जानने।

मूलार्थ—कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर-विमानवासी। इनमें ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं।

टीका—ग्रैवेयक और अनुत्तर-विमानवासी ये दो भेद कल्पातीत देवों के कहे हैं। इनमें ग्रैवेयक ९ प्रकार के हैं। (१) ग्रैवेयक—जो लोक, पुरुष की

ग्रीवा के समान है, तथा जैसे ग्रीवा में अधिक सुन्दर भूषण डाला जाता है और सारे शरीर में उसकी शोभा अधिक होती है, उसी प्रकार त्रयोदशरज्जूप्रमाण लोक के उपरिवर्ती प्रदेश में स्थित होने से उसका नाम ग्रैवेयक है। (२) अनुत्तर—जिससे उत्तर—अधिक प्रधान—स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति और लेश्यादि अन्यत्र नहीं हैं उसे अनुत्तर कहते हैं।

अब ग्रैवेयक के नव भेदों का वर्णन करते हैं। यथा—

हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमामज्झिमा तहा।
हेट्ठिमाउवरिमा चेव, मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ॥२१२॥
मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा।
उवरिमाहेट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ॥२१३॥
उवरिमाउवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा।

अधस्तनाऽधस्तनाश्चैव, अधस्तनामध्यमास्तथा।
अधस्तनोपरितनाश्चैव, मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥२१२॥
मध्यममध्यमाश्चैव, मध्यमोपरितनास्तथा।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव, उपरितनमध्यमास्तथा ॥२१३॥
उपरितनोपरितनाश्चैव, इति ग्रैवेयकाः सुराः।

पदार्थान्वयः—हेट्ठिमाहेट्ठिमा—नीचे का नीचा तहा—तथा हेट्ठिमामज्झिमा—नीचे का मध्यम हेट्ठिमाउवरिमा—नीचे का ऊपर चेव—पादपूर्ति के लिए है मज्झिमा-हेट्ठिमा—मध्यम का नीचा मज्झिमामज्झिमा—मध्यम का मध्यम तहा—तथा मज्झिमा-उवरिमा—मध्यम का उपरितन च—और उवरिमाहेट्ठिमा—ऊपर का निचला तहा—तथा उवरिमामज्झिमा—ऊपर का मध्यम एव—पादपूर्ति में है उवरिमाउवरिमा—ऊपर के ऊपर का इय—इस प्रकार से गेविज्जगा—ग्रैवेयक सुरा—देव—कथन किये गये हैं।

मूलार्थ—नवग्रैवेयक विमानों की तीन श्रेणियाँ हैं। एक ऊपर की, दूसरी मध्य की और तीसरी नीचे की। तथा प्रत्येक त्रिक के भी—ऊपर,

मध्य और नीचे, ये तीन तीन भेद हैं। यथा—(१) निचले त्रिक के नीचे के देवलोक (भद्र), २—निचले त्रिक के मध्य के देवलोक (सुभद्र), ३—निचले त्रिक के ऊपर के देवलोक (सुजात), ४—मध्य त्रिक के नीचे के देवलोक (सुमानस), ५—मध्य त्रिक के मध्य के देवलोक (सुदर्शन), ६—मध्य त्रिक के ऊपर के देवलोक (प्रियदर्शन), ७—ऊपर के त्रिक के नीचे के देवलोक (अमोघ), ८—ऊपर के त्रिक के मध्य के देवलोक (प्रतिभद्र), ९—ऊपर के त्रिक के ऊपर के देवलोक (यशोधर), इस प्रकार ग्रैवेयक देवों के ९ भेद हैं।

टीका—नव ग्रैवेयक विमानों के तीन त्रिक हैं। उनमें प्रत्येक त्रिक में तीन २ देवलोक हैं। उन्हीं मे रहने वाले ग्रैवेयक कहलाते हैं। उनके—भद्र, सुभद्र, सुजात, सुमानस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, अमोघ, प्रतिभद्र और यशोधर, ये क्रमशः नव भेद बतलाये गये हैं।

अब अनुत्तर विमानों के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥२१४॥
सव्वत्थसिद्धिगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा।
इय वेमाणिया एए, णेगहा एवमायओ ॥२१५॥

विजया वैजयन्ताश्च, जयन्ता अपराजिताः ॥२१४॥
सर्वार्थसिद्धिकाश्चैव, पञ्चधाऽनुत्तराः सुराः।
इति वैमानिका एते, अनेकधा एवमादयः ॥२१५॥

पदार्थान्वयः—विजया-विजय य-और वेजयंता-वैजयन्त जयंता-जयन्त अपराजिया-अपराजित च-और सव्वत्थसिद्धिगा-सर्वार्थसिद्धि पंचहा-पाँच प्रकार के अणुत्तरा-अनुत्तर सुरा-देव हैं इइ-इस प्रकार एए-ये वेमाणिया-वैमानिक देव अणेगहा-अनेक प्रकार के एवमायओ-इत्यादि।

मूलार्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार इन वैमानिक देवों के अनेक भेद वर्णन किये गये हैं।

टीका—अनुत्तर विमानों के पाँच भेद हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि। ये वैमानिक देव प्रायः एकान्त सातावेदी होते हैं। सर्वार्थसिद्धि में केवल एक भवावतारी देवों का निवास है। तथाच, द्वादश कल्प देवलोक, नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान, इन २६ देवलोकों में ८४ लाख ९७ हजार २३ विमान हैं[1]। इनमें असंख्य देवों का निवास है। तथा—कल्प देवलोकों में—सम्यक्-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्र-दृष्टि, ये तीनों प्रकार के देव निवास करते हैं। नवग्रैवेयक में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दो दृष्टि वाले देवों का निवास है, और पाँच अनुत्तर विमानों में सम्यग्दृष्टि ही रहते हैं। इस विषय का सविस्तर वर्णन भगवती और प्रज्ञापना आदि सूत्रों में किया है।

अब इनके क्षेत्र और कालविभाग के विषय में कहते हैं—

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वेवि वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥२१६॥
लोकस्यैकदेशे , ते सर्वेऽपि व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥२१६॥

पदार्थान्वयः—**लोगस्स**—लोक के **एगदेसम्मि**—एकदेश में **ते**—वे **सव्वेवि**—सभी **वियाहिया**—कथन किये गये हैं **तु**—पुनः **इत्तो**—इसके आगे **तेसिं**—इनके **चउव्विहं**—चतुर्विध **कालविभागं**—कालविभाग को **वुच्छं**—कहूँगा।

मूलार्थ—इन देवलोकों का निवास लोक के एक भाग में है; अर्थात् ये लोक के किसी अमुक भाग में अवस्थित हैं। अब इसके अनन्तर इन देवों के चतुर्विध कालविभाग को मैं कहता हूँ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि इन सारे देवलोकों की स्थिति लोक के किसी एकदेश-विभागमात्र में है, सर्वत्र नहीं। तथा इसके आगे अब इनके चार प्रकार के कालविभाग का वर्णन किया जाता है।

---

१ एएसि णं विमाणियाण देवाणं सुहम्मी साणसणं कुमारमाहिंदबंभलंतगसुक्कसहस्सार आणय पाणय आरण अच्चुएसु गेवेज्जमणुत्तरेसु य चउरासीइं विमाणा वाससयसहस्सा सत्ताणउई च सहस्सा तेवीसं च विमाणा भवंतीति मक्खाया [समवायांग सू० भवनादिवर्णन सू० १५०]

तथाहि—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥२१७॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥२१७॥

पदार्थान्वयः—संतइं–सन्तति की पप्प–अपेक्षा से अणाईया–अनादि य–और अपज्जवसियावि–अपर्यवसित भी हैं ठिइं–स्थिति की पडुच्च–प्रतीति से साईया–सादि य–तथा सपज्जवसियावि–सपर्यवसित भी हैं ।

मूलार्थ—वे देव, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित हैं ।

टीका—सन्तान—परम्परा—प्रवाह—की अपेक्षा से ये अनादि-अनन्त अर्थात् सदैव विद्यमान रहने वाले हैं और इनकी भव तथा काय स्थिति की मर्यादा को देखते हुए ये सादि और सान्त प्रतीत होते हैं, इसलिए अपेक्षाभेद से ये अनादि-अनन्त और सादि-सान्त उभय प्रकार के सिद्ध होते हैं ।

यह इनका चार प्रकार से कालविभाग का वर्णन किया गया । अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं—

साहियं सागरं एक्कं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥२१८॥

साधिकं सागरमेकम्, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
भौमेयानां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका ॥२१८॥

पदार्थान्वयः—भोमेज्जाणं–भवनपति देवों की जहन्नेणं–जघन्यरूप से ठिई–स्थिति दसवाससहस्सिया–दश हजार वर्ष की भवे–होती है उक्कोसेण–उत्कृष्टता से साहियं सागरं एक्कं–कुछ अधिक एक सागरोपम की है ।

मूलार्थ—भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट कुछ अधिक एक सागरोपम की होती है।

टीका—यद्यपि यहाँ पर सामान्यरूप से सभी भवनपति देवों की स्थिति का वर्णन किया गया है, तथापि इसका मुख्य सम्बन्ध असुरकुमारों से है। जैसे कि, प्रत्येक भवनवासी देव की जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष की होती है, परन्तु चमरेन्द्र और वलि-इन्द्र इनकी उत्कृष्ट स्थिति में इतना विशेष है कि चमरेंद्र की एक सागर और वलि-इन्द्र की कुछ अधिक एक सागरोपम की मानी गई है। तथा जघन्य से अधिक और उत्कृष्ट से न्यून यह मध्यम स्थिति है।

अव व्यन्तरों की भवस्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
वंतराणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥२१९॥

पल्योपममेकन्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
व्यन्तराणां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका ॥२१९॥

पदार्थान्वयः—वंतराणं–व्यन्तरों की ठिई–स्थिति उक्कोसेण–उत्कृष्टरूप से एगं–एक पलिओवमं–पल्योपम-प्रमाण तु–और जहन्नेणं–जघन्यता से दसवास-सहस्सिया–दस हज़ार वर्ष की भवे–होती है।

मूलार्थ—व्यन्तरों की जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष की और उत्कृष्ट एक पल्योपम की होती है।

टीका—इस गाथा में षोडश जाति के व्यन्तर देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है, अर्थात् व्यन्तर-जाति के देवों की भवस्थिति, कम से कम दस हज़ार वर्ष की और अधिक से अधिक एक पल्योपम की होती है, तथा इन दोनों के बीच का समय मध्यस्थिति का है।

अब ज्योतिषी देवों की भवस्थिति का वर्णन करते हैं—

पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहन्निया ॥२२०॥

पल्योपममेकन्तु , वर्षलक्षेण साधिकम् ।
पल्योपमाष्टमभागः , ज्योतिष्केषु जघन्यका ॥२२०॥

पदार्थान्वयः—जोइसेसु-ज्योतिषी देवों की जहन्निया-जघन्य स्थिति पलिओवमट्ठभागो-पल्योपम का आठवाँ भाग तु-पुनः, उत्कृष्ट स्थिति वासलक्खेण साहियं-लाख वर्ष अधिक एगं-एक पलिओवमं-पल्योपम की होती है ।

मूलार्थ—ज्योतिषी देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम के आठवें भाग जितनी और उत्कृष्ट लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है ।

टीका—इस गाथा में ज्योतिषी देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का जो वर्णन किया है उसमें जघन्य स्थिति तो तारों की अपेक्षा से कथन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन सूर्य और चन्द्रमा की अपेक्षा से किया है । क्योंकि चन्द्रमा की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की, तथा सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम की, और ग्रहों की केवल एक पल्योपम की स्थिति कही गई है; परन्तु उक्त गाथा में जो वर्णन है वह जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का सामान्यतया वर्णन है, इसलिए किसी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए ।

अब वैमानिकों की स्थिति के विषय में कहते हैं—

दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया ।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥२२१॥

द्वे चैव सागरोपमे, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
सौधर्मे जघन्येन, एकञ्च पल्योपमम् ॥२२१॥

पदार्थान्वयः—सोहम्मम्मि-सौधर्म देवलोक में जहन्नेणं-जघन्यरूप से एगं-एक पलिओवमं-पल्योपम की च-और उक्कोसेण-उत्कृष्टरूप से दो-दो सागराइं-दो सागर की स्थिति वियाहिया-कथन की है च-एव-पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—सौधर्म देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की और उत्कृष्ट दो सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—सौधर्म देवलोक में ३२ लाख विमान हैं, जो कि आयाम और विष्कंभ में संख्यात और असंख्यात योजनों के तुल्य हैं। उनमें रहने वाले देवों की आयु का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है, अर्थात् उनकी जघन्य आयु एक पल्योपम की और उत्कृष्ट दो सागर की प्रतिपादन की गई है। मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं।

अब ईशान देवलोक के देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं—

सागरा साहिया दुन्नि, उक्कोसेण वियाहिया।
ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥२२२॥

सागरे साधिके द्वे, उत्कर्षेण व्याख्याता।
ईशाने जघन्येन, साधिकं पल्योपमम् ॥२२२॥

पदार्थान्वयः—**ईसाणम्मि**—ईशान देवलोक में **जहन्नेणं**—जघन्यरूप से **साहियं**—साधिक **पलिओवमं**—पल्योपम की **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से **साहिया**—कुछ अधिक **दुन्नि**—दो **सागरा**—सागरोपम की स्थिति **वियाहिया**—प्रतिपादन की है।

मूलार्थ—ईशान देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—ईशान देवलोक में २८ लाख विमान हैं। उनका विस्तार संख्यात और असंख्यात योजनों का है। उन विमानों में रहने वाले देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयुस्थिति का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है। वह स्थिति जघन्य तो कुछ अधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम की मानी गई है। इससे प्रथम की अपेक्षा दूसरे देवलोक में स्थिति की यत्किंचित् विशेषता बतलाई गई है।

अब सनत्कुमार देवों की स्थिति के विषय मे कहते हैं—

सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे।
सणंकुमारे जहन्नेणं, दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥२२३॥

सागराणि च सप्तैव, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
सनत्कुमारे जघन्येन, द्वे तु सागरोपमे ॥२२३॥

पदार्थान्वयः—सणंकुमारे-सनत्कुमार देवलोक में जहन्नेणं-जघन्यरूप से दुन्नि ऊ-दो सागरोवमा-सागरोपम की ठिई-स्थिति य-पुनः उक्कोसेण-उत्कृष्टरूप से सत्तेव-सात ही सागराणि-सागरोपम की भवे-होती है ।

मूलार्थ—सनत्कुमार देवलोक में देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की और जघन्य दो सागरोपम की होती है ।

टीका—सनत्कुमार देवलोक में १२ लाख विमान हैं, जो कि द्वितीय स्वर्ग से वर्णादि की अपेक्षा अनन्तगुणा शुभ हैं । उन विमानों में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर की और जघन्य दो सागर की प्रतिपादन की है; क्योंकि जिन भावों के द्वारा शुभ कर्मों का संचय किया जाता है, उन्हीं के अनुसार उसी प्रकार की स्थिति उपलब्ध होती है ।

अब माहेन्द्र देवों की स्थिति के विषय में कहते हैं—

साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे ।
माहिंदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥२२४॥

साधिकानि सागराणि सप्त, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
माहेन्द्रे जघन्येन, साधिके द्वे सागरे ॥२२४॥

पदार्थान्वयः—माहिंदम्मि-माहेन्द्र देवलोक में जहन्नेणं-जघन्यरूप से साहिया-कुछ अधिक दुन्नि सागरा-दो सागर उक्कोसेण-उत्कृष्टरूप से साहिया-कुछ अधिक सत्त सागरा-सात सागर की ठिई-स्थिति भवे-होती है ।

मूलार्थ—माहेन्द्र देवलोक में देवताओं की जघन्य स्थिति, कुछ अधिक दो सागरोपम की और उत्कृष्ट, कुछ अधिक सात सागरोपम की मानी गई है ।

टीका—माहेन्द्र देवलोक में [illegible] विमान हैं [illegible] ।[illegible] में रहने वाले देवों की यह आयुस्थिति वर्णन

अब ब्रह्म देवलोक की स्थिति का वर्णन करते हैं—

दस चेव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
बंभलोए जहन्नेणं, सत्त उ सागरोवमा ॥२२५॥

दश चैव सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
ब्रह्मलोके जघन्येन, सप्त तु सागरोपमाणि ॥२२५॥

पदार्थान्वयः—**बंभलोए**—ब्रह्मलोक में **जहन्नेणं**—जघन्यरूप से **सत्त**—सात **सागरोवमा**—सागरोपम की **उ**—पुनः **उक्कोसेण**—उत्कृष्टरूप से **दस**—दश **सागराइं**—सागरोपम की **ठिई**—स्थिति **भवे**—होती है **च-एव**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—**ब्रह्मलोक में जघन्य स्थिति सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दश सागरोपम की होती है।**

टीका—ब्रह्मलोक में ४ लाख विमान है, जो कि अत्यन्त रमणीय हैं। इन विमानों मे रहने वाले देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का इस गाथा में वर्णन किया गया है। इस स्वर्ग में संन्यास-वृत्ति वाली आत्मा भी जा सकती है। परन्तु आत्मा में आराधकता उसी समय आ सकती है, जब कि उसने सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र का भलीभाँति आराधन किया हो, अन्यथा नही।

अब लान्तक देवों की आयुस्थिति के विषय में कहते हैं—

चउद्दस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
लंतगम्मि जहन्नेणं, दस उ सागरोवमा ॥२२६॥

चतुर्दश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
लान्तके जघन्येन, दश तु सागरोपमाणि ॥२२६॥

पदार्थान्वयः—**लंतगम्मि**—लान्तक देवलोक मे **जहन्नेणं**—जघन्यरूप से **दस**—दश **सागरोवमा**—सागरोपम **उ**—पुनः **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से **चउद्दस**—चतुर्दश **सागराइं**—सागरोपम की **ठिई**—स्थिति **भवे**—होती है।

मूलार्थ—लान्तक देवलोक में जघन्य आयुस्थिति दश सागरोपम की और उत्कृष्ट चतुर्दश सागरोपम की होती है।

टीका—लान्तक देवलोक में ५० सहस्र विमान हैं, जो कि अत्यन्त उज्ज्वल और मनोरम हैं। उनमें निवास करने वाले देवों की यह आयुस्थिति वर्णन की गई है।

अब सातवें देवलोक की स्थिति का वर्णन करते हैं। यथा—

सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं, चउद्दस सागरोवमा ॥२२७॥

सप्तदश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
महाशुक्रे जघन्येन, चतुर्दश सागरोपमाणि ॥२२७॥

पदार्थान्वयः—महासुक्के-महाशुक्र देवलोक मे जहन्नेणं-जघन्यतया चउद्दस सागरोवमा-चतुर्दश सागरोपम की ठिई-स्थिति भवे-होती है उक्कोसेण-उत्कृष्टतया सत्तरस सागराइं-सप्तदश सागरोपम की है।

मूलार्थ—महाशुक्रनामा सातवें देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य आयुस्थिति १४ सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट १७ सागरोपम की प्रतिपादन की है।

टीका—सातवाँ महाशुक्रनामा देवलोक है। उसमें ४० हजार विमान हैं। उन विमानों की लम्बाई-चौड़ाई संख्यात और असंख्यात योजन की है। उनमें निवास करने वाले देवों की जघन्य आयु १४ सागर की और उत्कृष्ट १७ सागर की मानी है।

अब आठवें स्वर्ग के देवों की स्थिति बतलाते हैं। यथा—

अट्ठारस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारम्मि जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥२२८॥

अष्टादश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सहस्रारे जघन्येन, सप्तदश सागरोपमाणि ॥२२८॥

पदार्थान्वयः—सहस्सारम्मि–सहस्रार देवलोक में उक्कोसेण–उत्कृष्टतया अट्ठारस सागराइं–अष्टादश सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है जहन्नेणं–जघन्यतया सत्तरस सागरोवमा–सप्तदश सागरोपम की है।

मूलार्थ—सहस्रार देवलोक में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट भवस्थिति १८ सागरोपम की और जघन्य १७ सागरोपम की कही है।

टीका—सहस्रार देवलोक में ६ हजार विमान हैं। उनमें निवास करने वाले देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रमशः १८ और १७ सागरोपम की मानी है। व्रतधारी तिर्यञ्च अपने व्रतों के प्रभाव से इस आठवें देवलोक तक ही जा सकता है, इससे आगे नहीं।

अब आनतनामा नवमें देवलोक के देवों की आयु का प्रमाण कहते हैं। यथा—

सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं, अट्ठारस सागरोवमा ॥२२९॥

सागराणि एकोनविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
आनते जघन्येन, अष्टादश सागरोपमाणि ॥२२९॥

पदार्थान्वयः—आणयम्मि–आनत देवलोक में जहन्नेणं–जघन्यतया अट्ठारस–अठारह सागरोवमा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से अउणवीसं–एकोनविंशति (१९) सागरा–सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है।

मूलार्थ—आनत देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य १८ सागरोपम की और उत्कृष्ट १९ सागरोपम की स्थिति कथन की है।

टीका—नवमें आनत देवलोक में २०० विमान हैं, जो कि विस्तार में संख्यात और असंख्यात योजन प्रमाण हैं। उनमें रहने वाले देवों की जघन्य आयु १८ सागर की और उत्कृष्ट १९ सागर की होती है।

अब दसवें स्वर्ग के देवों की आयु का वर्णन करते हैं। यथा—

वीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥२३०॥

विंशतिस्तु सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
प्राणते जघन्येन, सागराणि एकोनविंशतिः ॥२३०॥

पदार्थान्वयः—पाणयम्मि–प्राणत देवलोक में जहन्नेणं–जघन्यता से अउणवीसई–उन्नीस सागरा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से वीसं–वीस सागराई–सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है तु–प्राग्वत् ।

मूलार्थ—प्राणत देवलोक में जघन्य आयु १९ सागरोपम की और उत्कृष्ट २० सागरोपम की मानी है ।

टीका—प्राणत देवलोक में भी २०० विमान हैं । उनमें निवास करने वाले देवों का उत्कृष्ट और जघन्य आयुमान इस गाथा में वर्णन किया गया है ।

अब ग्यारहवें स्वर्ग मे रहने वाले देवों की आयुस्थिति को कहते हैं—

सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा ॥२३१॥

सागराणि एकविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
आरणे जघन्येन, विंशतिः सागरोपमाणि ॥२३१॥

पदार्थान्वयः—आरणम्मि–आरण देवलोक मे जहन्नेणं–जघन्यतया वीसई–वीस सागरोवमा–सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है तु–और उक्कोसेण–उत्कृष्टतया इक्कवीसं–इक्कीस सागरा–सागरोपम की है ।

मूलार्थ—आरण नामक एकादशवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति २० सागरोपम की और उत्कृष्ट २१ सागरोपम की होती है ।

टीका—आरण देवलोक में १५० विमान हैं । उन विमानों मे उत्पन्न होने वाले देवों की यह जघन्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई गई है ।

अब बारहवें स्वर्ग के देवों की आयु का प्रमाण बतलाते हैं । यथा—

बावीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ॥२३२॥

द्वाविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
अच्युते जघन्येन, सागराणि एकविंशतिः ॥२३२॥

पदार्थान्वयः—अच्चुयम्मि–अच्युत देवलोक में जहन्नेणं–जघन्यरूप से इक्कवीसई–इक्कीस सागरा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से बावीसं सागराइं–बाईस सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है।

मूलार्थ—अच्युत नामक बारहवें स्वर्ग में रहने वाले देवों की जघन्य आयु २१ सागर की और उत्कृष्ट २२ सागर की होती है।

टीका—बारहवें देवलोक में १५० विमान हैं। उनमें निवास करने वाले देवों की यह आयु बतलाई गई है। आराधक श्रावक, अधिक से अधिक इस बारहवें देवलोक तक पहुँच सकता है। व्रतधारी देशविरति की इससे आगे गति नहीं है। इन १२ देवलोकों की कल्प संज्ञा है। इनमें सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि, इन तीनों प्रकार के देवों का निवास है।

अब ग्रैवेयक देवों की आयु के विषय में कहते हैं—

तेवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
पढमम्मि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥२३३॥

त्रयोविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
प्रथमे जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥२३३॥

पदार्थान्वयः—पढमम्मि–प्रथम त्रिक के प्रथम देवलोक में जहन्नेणं–जघन्यरूप से बावीसं–बाईस सागरोवमा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से तेवीस सागराइं–तेईस सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है।

मूलार्थ—तेरहवें स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु २२ सागरोपम की और उत्कृष्ट २३ सागरोपम की होती है।

टीका—कल्प देवलोकों की आयु का वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत गाथा से लेकर अब शास्त्रकार ने नवग्रैवेयक देवों की आयु का वर्णन आरम्भ किया है।

नवग्रैवेयक देवलोकों की तीन श्रेणियाँ हैं। उनमें प्रत्येक श्रेणी के भी तीन २ त्रिक कहे गये हैं। उनमें प्रथम श्रेणी के प्रथम देवलोक में उत्पन्न होने वाले देवों का आयुमान प्रस्तुत गाथा में बतलाया गया है।

अब चौदहवें देवलोक के देवों की आयु का प्रमाण बतलाते हैं—

चउवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
बिइयम्मि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥२३४॥
चतुर्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
द्वितीये जघन्येन, त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि ॥२३४॥

पदार्थान्वयः—बिइयम्मि–प्रथम के द्वितीय त्रिक में जहन्नेणं–जघन्यतया तेवीसं सागरोवमा–तेईस सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से चउवीस सागराइं–चौवीस सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है।

मूलार्थ—चौदहवें देवलोक अर्थात् प्रथम त्रिक के दूसरे देवलोक के देवों की जघन्य आयु २३ सागरोपम की और उत्कृष्ट २४ सागरोपम की होती है।

टीका—प्रथम त्रिक के द्वितीय देवलोक में निवास करने वाले देवों का आयुमान इस गाथा में वर्णन किया गया है। यह स्वर्ग, त्रिक की अपेक्षा से दूसरा और गणना अर्थात् अन्य स्वर्गों की अपेक्षा से चौदहवाँ है।

अब पन्द्रहवें स्वर्ग के देवों की स्थिति के विषय में कहते हैं—

पणवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
तइयम्मि जहन्नेणं, चउवीसं सागरोवमा ॥२३५॥
पञ्चविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
तृतीये जघन्येन, चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि ॥२३५॥

पदार्थान्वयः—तइयम्मि–प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक में जहन्नेणं–जघन्यरूप से चउवीसं–चौवीस सागरोवमा–सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्टता से पणवीस सागराइं–पचीस सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है।

मूलार्थ—प्रथम त्रिक के तीसरे अर्थात् पन्द्रहवें देवलोक में देवों की जघन्य आयु २४ सागरोपम की और उत्कृष्ट २५ सागरोपम की कही है।

टीका—इस गाथा में प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक में रहने वाले देवों की आयु का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह प्रथम त्रिक का वर्णन हुआ।

अब दूसरे त्रिक के विषय में कहते हैं। यथा—

छव्वीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणुवीसई ॥२३६॥

षड्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
चतुर्थे जघन्येन, सागराणि पञ्चविंशतिः ॥२३६॥

पदार्थान्वयः—**चउत्थम्मि**–चतुर्थ ग्रैवेयक में **जहन्नेणं**–जघन्यता से **पणुवीसई**–पच्चीस **सागरा**–सागरोपम की **उक्कोसेणं**–उत्कृष्टता से **छव्वीस सागराइं**–छव्वीस सागरोपम की **ठिई**–स्थिति—आयुप्रमाण **भवे**–होती है।

मूलार्थ—चतुर्थ ग्रैवेयक अर्थात् द्वितीय त्रिक के प्रथम देवलोक के देवों की जघन्य आयु तो २५ सागरोपम की है और उत्कृष्ट २६ सागरोपम की कही है।

टीका—दूसरे त्रिक के प्रथम देवलोक में रहने वाले देवों के जघन्य और उत्कृष्ट आयुमान का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया है। इस स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के देवों का निवास है, परन्तु ये सभी शुक्लेश्या वाले होते हैं।

अब पाँचवें ग्रैवेयक के विषय में कहते हैं—

सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
पंचमम्मि जहन्नेणं, सागरा उ छवीसई ॥२३७॥

सागराणि सप्तविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
पञ्चमे जघन्येन, सागराणि तु षड्विंशतिः ॥२३७॥

पदार्थान्वयः—पंचमम्मि–पाँचवे ग्रैवेयक में जहन्नेणं–जघन्यता से छव्वीसई–छव्वीस सागरा–सागरोपम की तु–पुनः उक्कोसेण–उत्कृष्टता से सत्तवीसं–सताईस सागरा–सागरोपम की ठिई–स्थिति भवे–होती है।

मूलार्थ—पाँचवें ग्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति २६ सागरोपम की और उत्कृष्ट २७ सागरोपम की कही है।

टीका—पाँचवे ग्रैवेयक अर्थात् दूसरे त्रिक के दूसरे देवलोक के देवों का जघन्य और उत्कृष्ट आयुप्रमाण इस गाथा में कहा गया है।

अब छठे ग्रैवेयक के विषय में कहते हैं—

सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ॥२३८॥

सागराण्यष्टाविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
षष्ठे जघन्येन, सागराणि सप्तविंशतिः ॥२३८॥

पदार्थान्वयः—छट्ठम्मि–छठे ग्रैवेयक में जहन्नेणं–जघन्य ठिई–स्थिति सत्तवीसई–सताईस सागरा–सागरोपम की तु–और उक्कोसेण–उत्कृष्ट अट्ठवीसं–अठाईस सागरा–सागरोपम की भवे–होती है।

मूलार्थ—छठे ग्रैवेयक में रहने वाले देवों की जघन्य स्थिति २७ सागर की और उत्कृष्ट स्थिति २८ सागर की होती है।

टीका—इस गाथा में द्वितीय त्रिक के तीसरे देवलोक अर्थात् अठारहवें देवलोक के देवों की आयु का वर्णन है। इस देवलोक के विमान केवल शुक्ल वर्ण के ही होते हैं।

अब सातवे ग्रैवेयक के सम्बन्ध मे कहते हैं—

सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्ठवीसई ॥२३९॥

सागराण्येकोनत्रिंशत्तु , उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
सप्तमे जघन्येन, सागराण्यष्टाविंशतिः ॥२३९॥

पदार्थान्वयः—**सत्तमम्मि**—सातवे ग्रैवेयक में **जहन्नेणं**—जघन्य **ठिई**—स्थिति **अट्ठवीसई**—अठाईस **सागरा**—सागरोपम की **तु**—पुनः **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट स्थिति **अउणतीसं**—ऊनतीस **सागरा**—सागरोपम की **भवे**—होती है।

मूलार्थ—**सातवें ग्रैवेयक में निवास करने वाले देवों की जघन्य आयु २८ सागर की और उत्कृष्ट आयु २९ सागर की होती है।**

टीका—तृतीय त्रिक के प्रथम अर्थात् सातवे ग्रैवेयक और उन्नीसवे देवलोक में रहने वाले देवों की आयु न्यून से न्यून २८ सागर की और अधिक से अधिक २९ सागर की कथन की गई है।

अब आठवे ग्रैवेयक के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

तीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई ॥२४०॥

त्रिंशत्तु सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
अष्टमे जघन्येन, सागराणि एकोनत्रिंशत् ॥२४०॥

पदार्थान्वयः—**अट्ठमम्मि**—अष्टम ग्रैवेयक मे **जहन्नेणं**—जघन्य **ठिई**—स्थिति **अउणतीसई**—ऊनतीस **सागरा**—सागरोपम की **तु**—पुनः **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट स्थिति **तीसं**—तीस **सागराइं**—सागर की **भवे**—होती है।

मूलार्थ—**आठवें ग्रैवेयक में जघन्य स्थिति २९ सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति ३० सागरोपम की कही है।**

टीका—इस गाथा में तीसरे त्रिक के दूसरे देवलोक में अर्थात् आठवे ग्रैवेयक मे उत्पन्न होने वाले देवों की आयु का प्रमाण बतलाया गया है।

अब नवमें ग्रैवेयक के विषय मे कहते हैं—

सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥२४१॥

सागराणि एकत्रिंशत्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
नवमे जघन्येन, त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥२४१॥

पदार्थान्वयः—नवमम्मि–नवम ग्रैवेयक में उक्कोसेण–उत्कृष्ट ठिई–स्थिति इक्कतीसं–एकतीस सागरा–सागर की भवे–होती है जहन्नेणं–जघन्य स्थिति तीसई सागरोवमा–तीस सागरोपम की होती है ।

मूलार्थ—नवमे ग्रैवेयक में देवों की जघन्य आयु ३० सागरोपम की और उत्कृष्ट ३१ सागरोपम की होती है ।

टीका—इस गाथा में तीसरे त्रिक के तीसरे देवलोक में अर्थात् नवमे ग्रैवेयक और इक्कीसवें देवलोक में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का वर्णन किया गया है । प्रथम त्रिक मे १११, दूसरे त्रिक में १०७ और तीसरे में १०० विमान हैं । अव्यवहार-राशि की अपेक्षा व्यवहार-राशि वाले जीव २१वें देवलोक तक अनन्त वार जा आये हैं, इसलिए देवलोक की प्राप्ति कोई दुर्लभ नहीं, किन्तु सम्यक्त्व का प्राप्त होना दुर्लभ है ।

अब चारों अनुत्तर विमानों के विषय में कहते हैं—

तेत्तीसा सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
चउसुंपि विजयाईसु, जहन्नेणेक्कतीसई ॥२४२॥

त्रयस्त्रिंशत् सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
चतुर्ष्वपि विजयादिषु, जघन्येनैकत्रिंशत् ॥२४२॥

पदार्थान्वयः—चउसुंपि–चारों ही विजयाईसु–विजयादि विमानों में जहन्नेण–जघन्य इक्कतीसई–एकतीस सागरोपम की उक्कोसेण–उत्कृष्ट ठिई–स्थिति तेत्तीसा सागराइं–तेतीस सागरोपम की भवे–होती है ।

मूलार्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चारों ही विमानों के देवों की जघन्य आयु ३१ सागरोपम की और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विजयादि चारों अनुत्तर विमानों में रहने वाले देवों की आयु का वर्णन किया गया है । इन विमानों में रहने वाले सभी देव, एकान्त सम्यक्-दृष्टि होते हैं, और अधिक से अधिक १५ भव लेकर मोक्ष में चले जाने वाले होते हैं ।

अब सर्वार्थसिद्धि के देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं—

अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा ।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥२४३॥
अजघन्याऽनुत्कृष्टा, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।
महाविमाने सर्वार्थे, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥२४३॥

पदार्थान्वयः—**सव्वट्ठे महाविमाणे**—सर्वार्थसिद्धि महाविमान में **अजहन्नमणुक्कोसा**—अजघन्य अनुत्कृष्ट **तेत्तीसं**—तेंतीस **सागरोवमा**—सागरोपम की **एसा**—यह **ठिई**—स्थिति—आयुमान **वियाहिया**—प्रतिपादन की है ।

मूलार्थ—सर्वार्थसिद्धि महाविमान में वसने वाले देवों की अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की कथन की गई है ।

टीका—सर्वार्थसिद्धि विमान अर्थात् २६ वे देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु एक ही जैसी है । तात्पर्य यह है कि उनकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम की है । इस स्वर्ग के देव शुद्ध अवधिज्ञान से युक्त हुए सर्व प्रधान सुखों का अनुभव करके फिर एक ही जन्म मे अर्थात् एक ही भव करके मोक्ष जाने वाले होते हैं ।

अव इनकी कायस्थिति के विपय मे कहते हैं—

जा चेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥२४४॥

या चैव तु आयुःस्थितिः, देवानान्तु व्याख्याता ।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्योत्कृष्टा भवेत् ॥२४४॥

पदार्थान्वयः—देवाणं-देवों की जा-जो उ-पुनः आउठिई-आयुस्थिति वियाहिया-कथन की गई है तु-पुनः सा-वही तेसिं-उनकी कायठिई-कायस्थिति जहन्नुकोसिया-जघन्य और उत्कृष्ट भवे-होती है ।

मूलार्थ—देवों की जो जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति वर्णन की गई है वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति होती है ।

टीका—इन देवों की जिस २ प्रकार की आयुस्थिति बतलाई गई है वही इनकी कायस्थिति समझ लेनी चाहिए । तात्पर्य यह है कि इनकी आयुस्थिति और कायस्थिति एक जैसी ही है, क्योंकि देवता मरकर फिर देवता नहीं होता, इसलिए आयुस्थिति के अतिरिक्त उनकी और किसी प्रकार कायस्थिति नहीं होती ।

अब इनके अन्तरकाल के विषय में कहते हैं । यथा—

अणंतकालमुक्कोसं , अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं ॥२४५॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम् , अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, देवानां भवेदन्तरम् ॥२४५॥

पदार्थान्वयः—देवाणं-देवों के सए काए-स्वकाय के विजढम्मि-छोड़ने पर जहन्नयं-जघन्य अंतोमुहुत्तं-अन्तर्मुहूर्त्त, और उक्कोसं-उत्कृष्ट अणंतकालं-अनन्तकाल का अंतरं-अन्तर हुज्ज-होता है ।

मूलार्थ—देवों के स्वकाय को छोड़ने पर जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है ।

टीका—जिस समय देवता देवलोक से च्यवकर मनुष्य वा तिर्यक् लोक में आता है, तब वहाँ से फिर उसी देवलोक में जाने के लिए उसे कितना समय लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त

और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय लग जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि वह कम से कम समय में वापिस आवे तब तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् आ जाता है, और अधिक से अधिक वह अनन्तकाल के पश्चात् आकर जन्म ले सकता है।

तथा—इस विषय में जो विशेष है, अब उसका वर्णन करते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं , वासपुहुत्तं जहन्नयं।
आणयाईण देवाणं, गेविज्जाणं तु अंतरं ॥२४६॥

अनन्तकालमुत्कृष्टं , वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम्।
आनतादीनां देवानां, ग्रैवेयकानान्तु अन्तरम् ॥२४६॥

पदार्थान्वयः—**आणयाईण**–आनतादि **गेविज्जाणं**–नवग्रैवेयक **देवाणं**–देवों का **जहन्नयं**–जघन्य **अंतरं**–अन्तर **वासपुहुत्तं**–पृथक् वर्ष **तु**–और **उक्कोसं**–उत्कृष्ट **अणंतकालं**–अनन्तकाल का होता है।

मूलार्थ—आनतादि नवग्रैवेयक देवों का जघन्य अन्तरकाल पृथक् वर्ष और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है।

टीका—नवमें स्वर्ग से लेकर इक्कीसवे स्वर्ग तक के देवों का जघन्य अन्तरकाल तो पृथक् वर्ष है और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई देव इन उक्त देवलोकों से च्यवकर मनुष्यलोक में जन्म धारण करता है, तब जघन्य पृथक् वर्ष के पश्चात् फिर उक्त स्वर्गों में जा उत्पन्न होता है, क्योंकि यदि वह निगोद मे चला गया तो वहाँ पर वह अनन्तकाल तक जन्म-मरण करता रहेगा। इतना और भी ध्यान रहे कि नवमें देवलोक से लेकर ऊपर के देवलोकों में मनुष्ययोनि से ही जीव जाकर उत्पन्न होते हैं और वहाँ से च्यवकर मनुष्ययोनि में ही जन्म धारण करते हैं।

अब अनुत्तर विमानवासी देवों के अन्तरमान का वर्णन करते हैं—

संखेज्जसागरुक्कोसं , वासपुहुत्तं जहन्नयं।
अणुत्तराणं देवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥२४७॥

सङ्ख्येयसागरोत्कृष्टं , वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम् ।
अनुत्तराणां देवानाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम् ॥२४७॥

पदार्थान्वयः—अणुत्तराणं–अनुत्तर विमानवासी देवाणं–देवों का जहन्नयं–जघन्य वासपुहुत्तं–पृथक् वर्ष, और उक्कोसं–उत्कृष्ट संखेज्जसागरं–संख्येय सागरों का अंतरेयं–यह अन्तरकाल वियाहियं–वर्णन किया गया है ।

मूलार्थ—अनुत्तर विमाननिवासी देवों का जघन्य अन्तरकाल पृथक् वर्ष और उत्कृष्ट संख्येय सागरों का कथन किया है ।

टीका—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चार विमानों में रहने वाले देवों के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया है । वह उत्कृष्ट, अधिक से अधिक तो संख्येय सागरों का माना है और जघन्य, न्यून से न्यून पृथक् वर्ष का प्रतिपादन किया है । जैन-परिभाषा में २ से ९ तक के अंकों की पृथक् संज्ञा है । तथा च—जघन्यतया, २ से ९ वर्षों की आयु वाला चारो अनुत्तर विमानों में जा सकता है और उत्कृष्टता मे, संख्यात सागरों के पश्चात् जा सकता है यह इसका फलितार्थ है । तथा छब्बीसवे सर्वार्थसिद्धि-नामा देवलोक मे जिन देवों का निवास होता है वे सब एकावतारी—केवल एक वार मनुष्य-जन्म धारण करके मोक्ष में जाने वाले—होते हैं ।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों का वर्णन करते हैं । यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२४८॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥२४८॥

पदार्थान्वयः—एएसिं–इन देवों के वण्णओ–वर्ण से च–और गंधओ–गन्ध से रसफासओ–रस और स्पर्श से वा–तथा संठाणादेसओ–संस्थान के आदेश से वि–भी सहस्ससो–हजारों विहाणाइं–भेद—हो जाते हैं एव–पादपूर्त्ति में है ।

मूलार्थ—इन देवों के—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि की अपेक्षा से हज़ारों अवान्तर भेद हो जाते हैं।

टीका—उक्त चारों प्रकार के देवों के—वर्ण, गन्ध और रसादि के तरतम-भाव से भी अनेकानेक अर्थात् असंख्य भेद हो जाते हैं।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहावि य ॥२४९॥

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च, इति जीवा व्याख्याताः।
रूपिणश्चैवारूपिणश्च, अजीवा द्विविधा अपि च ॥२४९॥

पदार्थान्वयः—**संसारत्था**—संसारी **य**—और **सिद्धा**—सिद्ध **इय**—इस प्रकार से **जीवा**—जीव **वियाहिया**—कथन किये गये हैं **च**—फिर **रूविणो**—रूपी **य**—और **अरूवी**—अरूपी **अजीवा**—अजीव **अवि**—भी **दुविहा**—दोनों प्रकार से वर्णन किये गये हैं।

मूलार्थ—इस प्रकार से संसारी और सिद्ध जीवों का वर्णन किया है, तथा रूपी और अरूपी भेद से दो प्रकार के अजीव पदार्थ का भी कथन किया गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आरम्भ किये गये विषय का उपसंहार करते हुए संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। जैसे कि—जीवतत्त्व के संसारी और सिद्ध ये दो भेद हैं, जिनका कि ऊपर विस्तार से वर्णन किया गया है, तथा रूपी और अरूपी भेद से अजीवतत्त्व भी दो प्रकार का माना है, जिसका कि प्रथम अच्छी तरह से वर्णन आ चुका है। तात्पर्य यह है कि अध्ययन के आरम्भ में शिष्यों को सम्बोधन करके कहा गया था कि तुम जीव और अजीव तत्त्व के विभाग को श्रवण करो, सो उसी के अनुसार इस अध्ययन में उस विषय का वर्णन कर दिया गया है, यह इस गाथा का भाव है।

क्या, श्रवणमात्र से ही यह जीव कृतार्थ हो जाता है या इसके लिए कोई और कर्तव्य भी है? अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

इय जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य।
सव्वनयाणमणुमए , रमेज्ज संजमे मुणी ॥२५०॥

इति जीवानजीवांश्च, श्रुत्वा श्रद्धाय च।
सर्वनयानामनुमते , रमेत संयमे मुनिः ॥२५०॥

पदार्थान्वयः—इय-इस प्रकार जीवं-जीव य-और अजीवे-अजीव के स्वरूप को सोच्चा-सुनकर य-तथा सद्दहिऊण-श्रद्धान करके सव्वनयाणं-सर्व नयों के अणुमए-अनुकूल होकर मुणी-मुनि संजमे-संयम में रमेज्ज-रमण करे।

मूलार्थ—इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर तथा हृदय में दृढ़ निश्चयकर सर्व नैगमादि-नयों के अनुसार होकर, भिक्षु संयम में रमण करे।

टीका—इस गाथा में जीवादि पदार्थों का श्रवण करके उन पर सम्यक् श्रद्धान लाते हुए स्याद्वाद और नयश्रुत के अनुसार संयम के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। यदि संक्षेप से कहें तो ज्ञान और दर्शन पूर्वक चारित्र की आराधना करने का आदेश किया गया है, अर्थात् सम्यक्-दर्शन और ज्ञान पूर्वक ही चारित्र का पालन करना चाहिए, तथा उत्सर्ग, अपवाद और विधिवाद आदि का अनुसरण करना भी नितान्त आवश्यक है। इसी के लिए नय शब्द का उल्लेख किया गया है।

अब संयमरत मुनि के अन्य कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं। यथा—

तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिय।
इमेण कम्मजोगेण, अप्पाणं संलिहे मुणी ॥२५१॥

ततो बहूनि वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य।
अनेन क्रमयोगेन, आत्मानं संलिखेन्मुनिः ॥२५१॥

पदार्थान्वयः—तओ-तदनन्तर बहूणि-बहुत वासाणि-वर्षों तक सामण्णं-श्रमणधर्म को अणुपालिय-अनुपालन करके इमेण-इस कम्मजोगेण-क्रमयोग से मुणी-साधु अप्पाणं-अपनी आत्मा को संलिहे-द्रव्य और भाव से कृश करने का यत्न करे।

मूलार्थ—तदनन्तर बहुत वर्षों तक संयम का पालन करके इस क्रम-योग से मुनि अपनी आत्मा को द्रव्य और भाव से कृश करे ।

टीका—इस गाथा में संलेखना और उसके काल का विधान किया गया है । तात्पर्य यह है कि जब मुनि को दीक्षित हुए बहुत वर्ष व्यतीत हो जावे, तथा श्रुत-वाचना आदि के द्वारा उसने श्रीसंघ का भूरि २ उपकार भी कर दिया हो और अपने शिष्यवर्ग को भी उपकार के लिए तैयार कर दिया हो, तब वह संलेखना में प्रवृत्त होने का यत्न करे अर्थात् तप के द्वारा अपनी आत्मा को कृश करने का उद्योग करे । इस कथन से यह भली-भाँति प्रमाणित होता है कि साधु, संलेखना तो करे परन्तु दीक्षित होने के साथ ही नहीं, किन्तु बहुत वर्षों के बाद, अर्थात् श्रुतादि के द्वारा धर्म की प्रभावना करने के पश्चात् संलेखना में प्रवृत्ति करे । इसी आशय से 'बहूणि वासाणि' यह पद दिया गया है । अतः जब निरतिचार संयम की आराधना करते २ वर्षों का समय व्यतीत हो गया हो तब संलेखना के लिए उद्यत होना चाहिए, यह इसका निष्कर्ष है । परन्तु यह कोई एकान्त नहीं है, क्योंकि स्वल्प वय के मुनि में अर्थात् जिसका आयुकाल बहुत कम शेष रह गया हो उसमें इसका अपवाद है ।

अब संलेखना के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य स्वरूपों का वर्णन करते हैं—

बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे ।
संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया ॥२५२॥

द्वादशैव तु वर्षाणि, संलेखोत्कृष्टा भवेत् ।
संवत्सरं मध्यमिका, षण्मासा च जघन्यका ॥२५२॥

पदार्थान्वयः—बारसेव-बारह ही वासाइं-वर्षों की संलेहा-संलेखना उक्कोसिया-उत्कृष्ट भवे-होती है संवच्छरं-वर्ष-प्रमाण मज्झिमिया-मध्यम य-और छम्मासा-छः महीनों की जहन्निया-जघन्य होती है ।

मूलार्थ—उत्कृष्ट संलेखना १२ वर्ष की, मध्यम १ वर्ष की और जघन्य ६ महीने की होती है ।

टीका—जिसके अनुष्ठान से, द्रव्य से तो शरीर कृश हो जावे और भाव से कषाय कृश हो जावे, उसी का नाम संलेखना है। उसके उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट, ये तीन भेद हैं। इनमें उत्कृष्ट १२ वर्ष की, मध्यम १ वर्ष की और निकृष्ट छः मास की है। तथा जिस समय शेष आयु का निश्चय हो जावे उस समय अनशनादि के द्वारा शरीर को और उपशमादि के द्वारा कषायों को कृश बनाने का प्रयत्न करे। इसी के लिये संलेखना का विधान है।

अब उत्कृष्ट संलेखना के सम्बन्ध में कहते हैं। यथा—

पढमे वासचउक्कम्मि, विगई-निज्जूहणं करे।
बिइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ॥२५३॥

प्रथमे वर्षचतुष्के, विकृतिनिर्यूहणं कुर्यात्।
द्वितीये वर्षचतुष्के, विचित्रं तु तपश्चरेत् ॥२५३॥

पदार्थान्वयः—**पढमे**—प्रथम **वास**—वर्ष **चउक्कम्मि**—चतुष्क में **विगई**—विकृति-पदार्थों का **निज्जूहणं**—परित्याग **करे**—करे **तु**—फिर **बिइए**—द्वितीय **वासचउक्कम्मि**—वर्षचतुष्क मे **विचित्तं**—विचित्र—नाना प्रकार के **तवं चरे**—तप का आचरण करे।

मूलार्थ—प्रथम के चार वर्षों में विकृति-पदार्थों का त्याग करे, और दूसरे चार वर्षों में नाना प्रकार की तपश्चर्या का अनुष्ठान करे।

टीका—उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की कही गई है। उसके चार २ वर्ष के तीन विभाग करके पहले और दूसरे चतुष्क—विभाग—में आचरणीय विषय का इस गाथा मे वर्णन किया है। यथा—प्रथम के चार वर्षों में—विकृति-पदार्थ—घृत, दुग्ध और दधि आदि—का परित्याग कर देवे, और दूसरे चार वर्षों मे विविध प्रकार के उपवास आदि तपों का आचरण करना चाहिए। तथा उपवास के पारने मे भी विकृति-पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। कारण कि, सम्प्रदाय में ऐसी प्रथा चली आती है कि पारने के दिन उद्गम-विशुद्ध सर्व प्रकार का आहार उसे कल्पनीय होता है। अतएव संलेखना मे प्रवृत्त हुए मुनि को विकृत पदार्थों का निषेध किया गया है।

उक्त प्रकार से आठ वर्ष पूरे करने के अनन्तर अब तीसरे चार वर्षों के तप का उल्लेख करते हैं। यथा—

एगंतरमायामं , कट्टु संवच्छरे दुवे।
तओ संवच्छरद्धं तु, नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥२५४॥

एकान्तरमायामं , कृत्वा संवत्सरौ द्वौ ।
ततः संवत्सरार्द्धन्तु, नातिविकृष्टं तपश्चरेत् ॥२५४॥

पदार्थान्वयः—एगंतरं–एकान्त तप आयामं–आचाम्लयुक्त दुवे–दो संवच्छरे–वर्ष पर्यन्त कट्टु–करके तओ–तदनन्तर तु–फिर संवच्छरद्धं–छः मास तक नाइविगिट्ठं–न अति विकट तवं–तप का चरे–आचरण करे ।

मूलार्थ—आचाम्ल (आँयविल) के पारणे से, दो वर्ष पर्यन्त एकान्तर तप का आचरण करे। फिर छः मास तक कोई विकट तपस्या न करे।

टीका—तीसरे वर्ष-चतुष्क मे दो वर्ष पर्यन्त एकान्तर तप करे, अर्थात् एक दिन उपवास और एक दिन आचाम्ल । तात्पर्य यह है कि उपवास की पारणा आचाम्ल से करे । इस प्रकार जब दस वर्ष पूरे हो जावे तब उसके अनन्तर छः मास तक साधारण तपस्या करे, अर्थात् किसी विकट तप का अनुष्ठान न करे ।

अब फिर कहते है—

तओ संवच्छरद्धं तु, विगिट्ठं तु तवं चरे।
परिमियं चेव आयामं, तम्मि संवच्छरे करे ॥२५५॥

ततः संवत्सरार्द्धन्तु, विकृष्टन्तु तपश्चरेत् ।
परिमितश्चैवायामं , तस्मिन् संवत्सरे कुर्यात् ॥२५५॥

पदार्थान्वयः—तओ–तदनन्तर तु–पुनः संवच्छरद्धं–आधे वर्ष तक विगिट्ठं–विकट तवं चरे–तप का आचरण करे तु–और परिमियं–परिमित आयामं–आचाम्ल तम्मि–उस ग्यारहवे संवच्छरे–वर्ष मे करे–करे च-एव–पादपूर्णार्थक है ।

मूलार्थ—फिर छः मास तक विकट तप का आचरण करे, परन्तु उस तप के पारणे में आचाम्ल तप ही करे ।

टीका—दस वर्ष छः मास के अनन्तर और ग्यारहवें वर्ष के अवशिष्ट छः मास में विकट तपस्या करे, परन्तु पारणे में आचाम्ल तप ही करे । तात्पर्य यह है कि ग्यारहवें वर्ष के पहले छः मास में तो साधारण तपस्या करे और दूसरे छः मास मे कठिन तपस्या का आरम्भ कर देवे, परन्तु पारणे में तो आचाम्ल ही करे अर्थात् आचाम्ल से ही उपवासादि की पारणा करे ।

अब बारहवें वर्ष में आचरण करने योग्य तपस्या का वर्णन करते हैं—

कोडीसहियमायामं , कट्टु संवच्छरे मुणी ।
मासद्धमासिएणं तु, आहारेणं तवं चरे ॥२५६॥

कोटीसहितमायामं , कृत्वा संवत्सरे मुनिः ।
मासिकेनार्द्धमासिकेन तु, आहारेण तपश्चरेत् ॥२५६॥

पदार्थान्वयः—**कोडीसहियं**—कोटी-सहित **आयामं**—आचाम्लतप **संवच्छरे**—बारहवें वर्ष पर्यन्त **मुणी**—मुनि **कट्टु**—करके **तु**—पुनः **मासद्ध**—मासार्द्ध—अर्द्धमास **मासिएणं**—मास पर्यन्त **आहारेणं**—आहार के त्याग से **तवं चरे**—तप का आचरण करे।

मूलार्थ—मुनि, बारहवें वर्ष में एक वर्ष पर्यन्त कोटी-सहित तप करे और आचाम्ल की पारणा करे । फिर पक्ष वा मास के आहार-त्याग से अनशन-व्रत धारण कर लेवे ।

टीका—जब ग्यारह वर्ष समाप्त हो जावें तब बारहवें वर्ष में एक वर्ष पर्यन्त मुनि, कोटी-सहित तपस्या करे । जिस प्रत्याख्यान का आदि और अन्त एक मिलता हो उस प्रत्याख्यान को—सकोटी—कोटी-सहित—तप कहते हैं । यथा—किसी ने आज आचाम्ल किया, और दूसरे दिन भी आचाम्ल ही किया हो, तब प्रथम और द्वितीय दिन की कोटि एक मिल गई, बस, इसी को कोटी-सहित तप कहा है तथा किसी २ आचार्य का मत है कि—आज किसी एक व्यक्ति ने आचाम्ल तप धारण कर लिया और दूसरे दिन उसने किसी अन्य तप का ग्रहण कर लिया,

परन्तु तीसरे दिन उसने फिर आचाम्ल तप को ग्रहण कर लिया, तो यह तप सकोटी—कोटीसहित—तप कहलाता है । कहा भी है—"प्रस्थापको दिवसः, प्रत्याख्यानस्य निष्ठापकश्च यत्र समितः द्वौ तु । तद् भण्यते कोटीसहितमेव" इस प्रकार बारहवें वर्ष मे सकोटी तप का आचरण करने के अनन्तर यदि आयु शेष रहे तो एक पक्ष वा एक मास के आहार-त्याग के द्वारा भक्त-प्रत्याख्यान आदि अनशन व्रत को धारण कर लेवे । सारांश कि एक वर्ष पर्यन्त सकोटि तप का अनुष्ठान करके फिर एक पक्ष या एक मास के भक्त-प्रत्याख्यान से इस पार्थिव शरीर का त्याग करके शुभ गति को प्राप्त होने का प्रयत्न करे, यह इस गाथा का अभिप्राय है । परन्तु इतना ध्यान रहे कि जिस प्रकार की शक्ति हो उसके अनुरूप ही भक्त-प्रत्याख्यान आदि तप का ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् जब तप के द्वारा शरीर कृश हो जावे और उपशम के द्वारा कषाय कृश हो जावें तब अनशन व्रत धारण कर लेना चाहिए ।

अब त्यागने योग्य अशुभ भावनाओं का वर्णन करते हैं—

कंदप्पमाभिओगं च, किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च ।
एयाउ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ॥२५७॥

कन्दर्प आभियोग्यश्च, किल्विषिकं मोह आसुरत्वश्च ।
एतास्तु दुर्गतयः, मरणे विराधिका भवन्ति ॥२५७॥

पदार्थान्वयः—कंदप्पं—कंदर्प-भावना आभिओगं—अभियोग-भावना किब्बिसियं—किल्विष-भावना मोहं—मोह-भावना च—और आसुरत्तं—आसुरत्व-भावना एयाउ—ये भावनाएँ दुग्गईओ—दुर्गति की हेतु होने से दुर्गतिरूप हैं, इनके प्रभाव से जीव मरणम्मि—मरण के समय विराहिया—विराधक होंति—होते है ।

मूलार्थ—कन्दर्प-भावना, अभियोग-भावना, किल्विष-भावना, मोह-भावना और आसुरत्व-भावना, ये भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत होने से दुर्गतिरूप ही कही जाती हैं, तथा मरण के समय इन भावनाओं से जीव विराधक हो जाते हैं ।

टीका—जिन भावनाओं से यह जीव सुगति का नाश करके दुर्गति के हेतुभूत कर्मों का संचय कर लेता है उन भावनाओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में

कराया गया है। तथा इनके प्रभाव से संयम का विराधक होता हुआ जीव, दुर्गति का भाजन बन जाता है, इसलिये ये भावनाएँ भी दुर्गतिरूप हैं। (१) कन्दर्प-भावना—कामचेष्टा की भावना, (२) अभियोग-भावना—मंत्र-तंत्रादि करने की भावना, (३) किल्विष-भावना—निन्दा करने की भावना, (४) मोह-भावना—विषयों की भावना, (५) आसुरत्व-भावना—क्रोध करने की भावना, ये पाँचों ही भावनाएँ वास्तव में दुर्भावनाएँ हैं, क्योंकि इनसे दुर्गति की प्राप्ति होती है। मरण-समय में यदि इन भावनाओं का सद्भाव रहे तो जीव विराधक हो जाता है, और जिस भावना में वह काल करता है उसी के अनुसार आगामी गति में जाकर वह उत्पन्न होता है, अतः मरण के पहले इन भावनाओं की विधिपूर्वक आलोचना और प्रायश्चित्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे कि मृत्यु-समय में रही हुई ये भावनाएँ इस जीव को दुर्गति में न ले जावे। इसी आशय से प्रस्तुत गाथा में 'मरणम्मि' पाठ दिया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

मिच्छादंसणरत्ता , सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥२५८॥

मिथ्यादर्शनरक्ताः , सनिदानाः खलु हिंसकाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ॥२५८॥

पदार्थान्वयः—मिच्छादंसण-मिथ्यादर्शन में रत्ता-अनुरक्त सनियाणा-निदानसहित हिंसगा-हिंसक इय-इस प्रकार के जे-जो जीवा-जीव मरंति-मरते हैं हु-निश्चय में पुण-फिर तेसिं-उनको दुल्लहा-दुर्लभ है बोही-सम्यक्त्व की प्राप्ति।

मूलार्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्व—में अनुरक्त हैं, तथा निदानपूर्वक क्रियानुष्ठान करते हैं और हिंसा में प्रवृत्त हैं, इस प्रकार के मनुष्यों को मृत्यु के पश्चात् बोधिलाभ—सम्यक्त्व की प्राप्ति—का होना अत्यन्त कठिन है।

टीका—अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि रखने का नाम मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है, तथा फल की आशा से किया गया क्रियानुष्ठान सनिदान कहलाता है, और हिंसा करने वाले जीवों को हिंसक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो जीव मिथ्यादर्शन में रुचि रखते हैं, तथा जिनका धार्मिक क्रियानुष्ठान निदानपूर्वक है, और जो हिंसा में प्रवृत्त हैं उनको मृत्यु के पश्चात् परलोक में बोधि का लाभ होना—सद्धर्म की प्राप्ति होनी—अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि सद्धर्म—जिन-धर्म—की प्राप्ति क्षयोपशमभाव पर अवलंबित है, और मिथ्यादर्शनादि उसके प्रतिबन्धक हैं, इसलिए विचारशील पुरुष मिथ्यादर्शन, सनिदान-क्रिया और हिंसक-प्रवृत्ति से सर्वथा अलग रहने का ही यत्न करें।

अब मिथ्यादर्शन के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के विषय में कहते हैं। यथा—

सम्मद्दंसणरत्ता , अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥२५९॥

सम्यग्दर्शनरक्ताः , अनिदानाः शुक्ललेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां सुलभा भवेद् बोधिः ॥२५९॥

पदार्थान्वयः—जे—जो जीवा—जीव सम्मद्दंसणरत्ता—सम्यग्दर्शन में अनुरक्त हैं अनियाणा—निदानरहित हैं, और सुक्कलेसं—शुक्ललेश्या में ओगाढा—प्रतिष्ठित हैं इय—इस प्रकार के जो जीव मरंति—मरते हैं तेसिं—उनको परलोक में बोही—बोधिलाभ—जिनधर्म की प्राप्ति सुलहा—सुलभ भवे—होती है।

मूलार्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान कर्म से रहित और शुक्ललेश्या में प्रतिष्ठित हैं, इस प्रकार के जीवों को परलोक में सद्धर्म की प्राप्ति सुलभ है।

टीका—तत्त्व में तत्त्वबुद्धि वा तत्त्व में अभिरुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। किसी प्रकार के फल की इच्छा न रखकर धार्मिक क्रियाओं का आचरण करना अनिदान—निदानरहित—कर्म कहलाता है। आत्मा का शुद्ध परिणाम-

विशेष शुक्लेश्या है, तथा च जो आत्मा सम्यग्-दर्शन में अनुरक्त, निदानरहित क्रियानुष्ठान करने वाली और शुक्लेश्या से युक्त हैं उनको मृत्यु के पश्चात् परलोक मे बोधिलाभ—जिन-धर्म की प्राप्ति—अनायास में ही हो जाती है। तात्पर्य यह है कि पिछले जन्म के शुभ संस्कारों से आगामी जन्म में उनको सद्धर्म की प्राप्ति होते देरी नहीं लगती। केवल प्राचीन संस्कारों की उद्बोधक-सामग्रीमात्र मिलने की आवश्यकता रहती है।

अब फिर दुर्लभ-बोधि जीव के विषय में कहते हैं। यथा—

मिच्छादंसणरत्ता , सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥२६०॥

मिथ्यादर्शनरक्ताः , सनिदानाः कृष्णलेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ॥२६०॥

पदार्थान्वयः—जे—जो जीवा—जीव मिच्छादंसणरत्ता—मिथ्यादर्शन में रक्त हैं सनियाणा—निदानसहित, और कण्हलेसमोगाढा—कृष्णलेश्या मे प्रतिष्ठित हैं इय—इस प्रकार से जो जीव मरंति—मरते हैं तेसिं—उनको पुण—फिर बोही—बोधिलाभ दुल्लहा—दुर्लभ है।

मूलार्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदानसहित कर्म करने वाले और कृष्णलेश्या से युक्त हैं उनको मृत्यु के पश्चात् अन्य जन्म में बोधि की प्राप्ति होनी अत्यन्त कठिन है।

टीका—इस गाथा मे दुर्लभ-बोधि जीव के लक्षण वर्णन किये गये हैं। यद्यपि यह गाथा पहले भी आ चुकी है, तथापि उसमें कृष्णलेश्या का उल्लेख नहीं किया गया। अतः कृष्णलेश्या वाला जीव भी मृत्यु के बाद बोधि अर्थात् सद्धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता, एतदर्थ ही पृथक्रूप से इस गाथा का उल्लेख किया गया है।

अब सद्दर्शनादि के महत्त्व का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥२६१॥
जिनवचनेऽनुरक्ताः , जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन।
अमला असंक्लिष्टाः, ते भवन्ति परीतसंसारिणः ॥२६१॥

पदार्थान्वयः—**जिणवयणे**–जिन-वचन में **अणुरत्ता**–अनुरक्त **जिणवयणं**–जिनेन्द्र भगवान् के वचन का **जे**–जो **भावेण**–भाव से **करेंति**–अनुष्ठान करते हैं **ते**–वे **अमला**–मिथ्यात्वादिभाव-मल से रहित **असंकिलिट्ठा**–रागादि क्लेश से रहित **परित्तसंसारी**–अल्पसंसारी **होंति**–होते हैं।

मूलार्थ—जो पुरुष जिन-वचन में अनुरक्त हैं और जिन भगवान् के कथनानुसार क्रियानुष्ठान करते हैं वे मिथ्यात्वादि मल से और रागादि क्लेशों से रहित होने से अल्पसंसारी होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जिन-वचन—आगम—पर श्रद्धा और विश्वास रखने वाले और आगमानुसार क्रियानुष्ठान करने वाले जीवों को अल्पसंसारी बतलाया गया है, अर्थात् उनका संसार-भ्रमण बहुत कम हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वे शीघ्र ही मोक्ष में जाने वाले होते हैं, क्योंकि आगम पर श्रद्धा और तदनुसार आचरण करने वाले जीवों का मिथ्यात्वरूप मल दूर हो जाता है। और राग-द्वेष के कारण से उत्पन्न होने वाले क्लेशादि भी उनसे दूर भाग जाते हैं, अतः ये मल और क्लेश से रहित होते हुए नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करते, तथा सत्तागत कर्मों की निर्जरा एवं उदय में आये हुए कर्मों का फल भोगकर सद्यः ही मोक्ष को चले जाते हैं, यह इस गाथा का तात्पर्यार्थ है।

अब जिन-वचनविषयक अज्ञानता का फल बतलाते हुए कहते हैं कि—

बालमरणाणि बहुसो,
अकाममरणाणि चेव य बहुयाणि।
मरिहंति ते वराया,
जिणवयणं जे न जाणंति ॥२६२॥

बालमरणानि बहुशः,
अकाममरणानि चैव च बहुकानि ।
मरिष्यन्ति ते वराकाः,
जिनवचनं ये न जानन्ति ॥२६२॥

पदार्थान्वयः—जे—जो जिणवयणं—जिन-वचनों को न—नहीं जाणंति—जानते ते—वे वराया—वराक बहुसो—बहुत प्रकार से बालमरणाणि—बालमरण से च—पुनः अकाममरणाणि—अकाममरण बहुयाणि—बहुत प्रकार से मरिहंति—प्राप्त करेंगे एव—पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—जो जीव जिन वचन को नहीं जानते अर्थात् ज्ञानपूर्वक क्रियानुष्ठान में अबोध हैं वे वराक अनेक बार बालमृत्यु और अकाममृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

टीका—सामान्यतया मृत्यु के—बालमरण, पंडितमरण, अकाममरण और सकाममरण, इस प्रकार चार भेद होते हैं । इनमें बालमरण और अकाममरण ये दो तो अप्रशस्त हैं, तथा पंडितमरण और सकाममरण ये दो प्रशस्त माने गये हैं । क्योंकि अप्रशस्त मृत्यु का फल निकृष्ट है और प्रशस्त का उत्कृष्ट होता है, अतः जो जीव, बाल और अकाम मृत्यु से मरते हैं अर्थात् जिनको बाल और अकाम मृत्यु की प्राप्ति होती है वे वराक—दीन—रंक हैं । कारण यह है कि उनको परलोक में शुभ गति की प्राप्ति नहीं होती । इसका कारण उनका जिन-वचनविषयक अज्ञान है जिससे कि वे निरन्तर शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करते रहते हैं, यह इस गाथा का निर्गलितार्थ है ।

अब आलोचना की आवश्यकता और उसके सुनने के अधिकार का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

बहुआगमविन्नाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।
एएणं कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ॥२६३॥

बह्वागमविज्ञानाः , समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः ।
एतेन कारणेन, अर्हा आलोचनां श्रोतुम् ॥२६३॥

पदार्थान्वयः—बहु–बहुत से आगमविन्नाणा–आगमों के जानने वाले समाहिउप्पायगा–समाधि के उत्पादक य–और गुणगाही–गुणों के ग्रहण करने वाले एएणं–इस कारणेणं–कारण से आलोयणं–आलोचना के सोउं–सुनने के अरिहा–योग्य होते हैं ।

मूलार्थ—जो आत्मा बहुत से आगमों के वेत्ता, समाधि के उत्पादक और गुणों के ग्राहक हैं, इन उक्त कारणों से वे ही आत्मा आलोचना सुनने के योग्य मानी जाती हैं ।

टीका—आलोचना चारित्र-शुद्धि की उत्तम कसौटी है । उसी मे चारित्र का सार निहित है । कारण यह है कि जब तक पापों की आलोचना न की जावे तब तक चारित्र का संशोधन नहीं हो सकता, इसलिए आलोचना की अत्यन्त आवश्यकता है । परन्तु आलोचना किस के समक्ष करनी अर्थात् प्रमादवशात् लगे हुए पापों का प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए किसके पास जाना ? बस, इसी विषय का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है । शास्त्रकार कहते हैं कि आलोचना सुनने के योग्य वे पुरुष हैं, जो कि आगमों के विषय में पर्याप्त ज्ञान रखते हैं; अर्थात् श्रुत के विषय में पूरे निष्णात हैं । तथा समाधि के उत्पादक अर्थात् देश, काल और व्यक्ति के आशय को जानते हुए मधुर अथच सारगर्भित बोलने वाले हैं; तात्पर्य यह है कि जिनके संभाषण से समाधि की उत्पत्ति हो । इसके अतिरिक्त उनमें गुण-ग्राहकता भी होनी चाहिए, अन्यथा समाधि का उत्पादक होना दुर्घट है । सारांश यह है कि इस प्रकार के विशिष्ट गुण रखने वाली आत्मा से ग्रहण की हुई आलोचना फलवती अर्थात् कर्म-निर्जरा द्वारा चारित्र-शुद्धि का सम्पादन करने वाली होती है । इस प्रकार प्रस्तुत गाथा में आलोचना देने के अधिकार का वर्णन किया गया है ।

अब पूर्वोक्त कन्दर्पादि-भावनाओं का अर्थतः स्वरूप वर्णन करते हुए प्रथम कन्दर्प-भावना के विषय में कहते हैं । यथा—

कंदप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविगहाहिं ।
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥२६४॥

कन्दर्पकौत्कुच्ये तथा, शीलस्वभावहास्यविकथाभिः ।
विस्मापयन् च परं, कान्दर्पी भावनां कुरुते ॥२६४॥

पदार्थान्वयः—कंदप्प–कन्दर्प, और कुक्कुयाइं–कौत्कुच्य—जिससे दूसरा हँसे, इस प्रकार का अभिनय तह–तथा सील–शील सहाव–स्वभाव हास–हास्य, और विगहाहिं–विकथाओं से य–पुनः परं–दूसरे को विम्हावेंतो–विस्मय उत्पन्न करता हुआ कंदप्पं–कन्दर्पसम्बन्धि भावणं–भावना को कुणइ–करता है।

मूलार्थ—कन्दर्प (बार २ हँसना) और मुख-विकारादि तथा हास्य और विकथा आदि के द्वारा अन्य आत्माओं को विस्मय उत्पन्न करता हुआ कन्दर्प-भावना का आचरण करता है।

टीका—पूर्व [२५७वीं गाथा में] जो कन्दर्पादि-भावनाओं का उद्देश किया गया है, प्रस्तुत तथा अग्रिम ३ गाथाओं में उन्हीं का सविस्तर स्वरूप बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि व्रतादि के ग्रहण करने पर भी जो साधु कन्दर्प, कौत्कुच्य, शील, स्वभाव और हास्यादि के द्वारा दूसरों को विस्मय में डालता है वह कन्दर्प-भावना का आचरण करता है, अर्थात् इस प्रकार का आचरण करना कन्दर्प-भावना कहलाती है। कन्दर्प—बार २ हँसना अथवा काम-कथा का संलाप करना। कौत्कुच्य—जिससे दूसरे हँसे, इस प्रकार का अभिनय करना कौत्कुच्य है। इसके भी दो भेद हैं—(१) मुख-नेत्रादि का विलक्षण आकार बनाकर दूसरों को हँसाना, और (२) विदूषक की भाँति दूसरों को हँसाने वाले वचनों का प्रयोग करना। शील—बिना फल की प्रवृत्ति का नाम यहाँ पर शील है, अर्थात् ऐसी प्रवृत्ति कि जिसका फल तो कुछ भी नहीं, परन्तु उपस्थित जनों में हास्य उत्पन्न करती है। स्वभाव—प्रसिद्ध ही है। विकथा—जिस कथा में कुछ भी सार न हो तथा लाभ के बदले आत्मा में ग्लानि पैदा करने वाली हो वह विकथा कहलाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि देवलोक में एक कन्दर्पी नाम के देव हैं जो कि वहाँ पर इन्द्रादि देवों के समक्ष भाँडों की तरह आचरण

करते हैं; अर्थात् जैसे भाँड लोग अपनी नानाविध चेष्टाओं से मनुष्यों के कुतूहल को बढ़ाने वाले होते हैं, उसी प्रकार कन्दर्पी देवों का काम स्वर्ग में रहने वाले देवों को अपनी भाँड की-सी चेष्टा से प्रसन्न करना है। तात्पर्य यह है कि स्वर्ग में उनकी वही स्थिति है जो कि इस लोक में भाँडों की है। इसी लिए देवलोक मे उनको बड़ी हलकी कक्षा में स्थान दिया जाता है। तब, सारांश यह निकला कि जो साधु, चारित्र ग्रहण करने के अनन्तर उक्त प्रकार की चेष्टाओं द्वारा कन्दर्प-भावना का पोषण करता है, अथच अलोचना करने पर भी दृढ़तर अभ्यास के कारण फिर उन्ही चेष्टाओं में प्रवृत्त होता है वह स्वर्ग में जाकर कन्दर्पी देव वनता है, अर्थात् देवों की कुतूहल-वृद्धि के लिए उसे देवों का विदूषक वनना पड़ता है, जो कि देवलोक की व्यवस्था में अतीव जघन्य—बहुत कम दर्जे का—समझा जाता है। इसलिए संयमशील मुमुक्षुजनों को इस कन्दर्प-भावना को कभी भी अपने हृदय में स्थान देने की भूल न करनी चाहिए।

अव अभियोग-भावना के विषय में कहते हैं—

मंताजोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजंति।
साय-रस-इड्ढि-हेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥२६५॥

मन्त्रयोगं कृत्वा, भूतिकर्म च यः प्रयुङ्क्ते।
सातरसर्द्धिहेतुः, आभियोगीं भावनां कुरुते ॥२६५॥

पदार्थान्वयः—**मंताजोगं**—मंत्र-योग **काउं**—करके **च**—तथा **जे**—जो **भूईकम्मं**—भूति-कर्म का **पउंजंति**—प्रयोग करते हैं, जो **सायरसइड्ढिहेउं**—सातारस और ऐश्वर्य का हेतु है, वह **अभिओगं**—अभियोगी **भावणं**—भावना को **कुणइ**—करता है।

मूलार्थ—जो पुरुष साता, रस और समृद्धि के लिए मंत्र और भूतिकर्म का प्रयोग करता है वह अभियोगी-भावना का सम्पादन करता है।

टीका—इस गाथा में अभियोगी-भावना का स्वरूप वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति अपने सुख-ऐश्वर्यादि की वृद्धि के निमित्त मंत्रों से और अभिमंत्रित किये हुए भस्मादि द्रव्यों से वशीकरणादि कर्मों का सम्पादन करता है वह अभियोगी-

भावना का आचरण करता है। तात्पर्य यह है कि ऐहिक सुख और समृद्धि के लिए मंत्र तंत्रादि का प्रयोग करना अभियोगी-भावना है। मंत्रप्रयोग—अमुक विधि के अनुसार किसी मंत्र का जप—अनुष्ठान—करना मंत्रप्रयोग है। भूतकर्म—अमुक विधि के अनुसार अभिमंत्र किये हुए भस्म, मृत्तिका और सर्षपादि पदार्थों को उपयोग में लाने का नाम भूतिकर्म है। चकार से अन्य कौतुकजनक क्रियाओं का भी इसी मे समावेश कर लेना चाहिए। स्वर्गीय जीवों में एक अभियोगी संज्ञा वाले देव होते हैं, जिनका काम सदा अन्य देवों की सेवा में उपस्थित रहना अर्थात् उनकी निरन्तर सेवा-शुश्रूषा करनी है। सो, जो साधु इन मंत्रादि-क्रियाओं का प्रयोग करके अभियोगी-भावना का सम्पादन करता है; अर्थात् ऐहिक सुख-समृद्धि के लिए उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान करता है वह अभियोगी-भावना से भावित हुआ, आलोचना के विना, मृत्यु के पश्चात् इन पूर्वोक्त अभियोगी देवों में जाकर उत्पन्न होता है, जो कि पल्योपम या सागरोपम तक देवों की सेवा ही करता रहता है। इस गाथा में अभियोगी-भावना का स्वरूप और फल-प्रदर्शन तथा उसके त्याग का साधु के लिए अर्थतः विधान किया गया है, क्योंकि इन क्रियाओं के अनुष्ठान से संयम की निस्सारता और असमाधि की वृद्धि होती है, अतः संयमशील मुनि के लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं[1]।

अब किल्विष-भावना के विषय में कहते हैं। यथा—

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥२६६॥

ज्ञानस्य केवलिनां, धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनाम्।
मायी अवर्णवादी, किल्बिषिकीं भावनां कुरुते ॥२६६॥

१ यहाँ पर बृहद्वृत्तिकार का कथन है कि—अपवाद-मार्ग में सुख, रस और समृद्धि की इच्छा के विना यदि सभूति-कर्म का प्रयोग किया जावे तो दोषावह नहीं, किन्तु गुणों का सम्पादक है—[इह च सातरसर्द्धिहेतोरित्यभिधानं निस्पृहस्यापवादत एतत्प्रयोगे प्रत्युत गुण इति ख्यापनार्थम्]—परन्तु विचारपूर्वक देखा जावे तो यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब संघाचारणादि भी विना आलोचना के संयम की पूर्ण शुद्धि नहीं कर सकते तो साधारण व्यक्ति का कहना ही क्या है! हाँ, यदि उसकी आलोचना कर ली जावे तो चारित्र का आराधक हो जाता है।

पदार्थान्वयः—**केवलीणं**—केवल-ज्ञानियों का **नाणस्स**—ज्ञान का **धम्मायरियस्स**—धर्माचार्य का **संघसाहूणं**—संघ और साधुओं का **अवण्णवाई**—अवर्णवाद बोलने वाला **माई**—मायावान् **किब्बिसियं**—किल्विषिकी **भावणं**—भावना का **कुणइ**—सम्पादन करता है।

मूलार्थ—ज्ञान, केवली भगवान्, धर्माचार्य, संघ और साधुओं का **अवर्णवाद बोलने वाला मायावी पुरुष किल्विषिकी भावना को उत्पन्न करता है।**

टीका—प्रस्तुत गाथा में किल्विषिकी भावना के स्वरूप का अर्थतः वर्णन किया गया है। श्रुत की निन्दा करनी ज्ञान का अवर्णवाद है। केवली का अवर्णवाद उनके सर्वज्ञतादि गुणों में दोषों का उद्भावन करना है, तथा धर्माचार्यों में अवगुण निकालना, संघ को अपवादित करना और साधुओं को दोषी ठहराना यह सर्व धर्माचार्य, संघ और साधुओं का अवर्णवाद है। तथाच, जो व्यक्ति श्रुत, केवली, धर्माचार्य, संघ और साधुओं की अवहेलना करता है—उनमे नाना प्रकार के दोषों की उद्भावना करता है—वह किल्विषिकी भावना से भावित होता है। कारण यह है कि दूसरों के दोषों का उद्भावन करने से उसकी आत्मा गुणों के बदले अवगुणों का स्थान बन जाती है, उसकी आत्मा में केवल अवगुण ही चक्र लगाते रहते हैं, और माया—कपट—युक्त होने से उसकी आत्मा में सरलता भी नहीं होती। सारांश कि, इस प्रकार श्रुत की निन्दा करने वाला, केवली की वाणी द्वारा अवज्ञा करने वाला, धर्म-आचार्यों को दम्भी और जातिविहीन कहने वाला तथा संघ और साधुओं को ढोंगी एवं निर्माल्य बतलाने वाला पुरुष, उक्त अवर्णवाद के प्रभाव से मृत्यु के पश्चात् किल्विष-भावना से भावित हुआ स्वर्ग में जाकर किल्विष-देवों में उत्पन्न होता है। ये किल्विषजाति के देव अन्य स्वर्गीय देवों के समक्ष निंद्य अथच चांडाल के समान समझे जाते हैं। और इनका निवास देवलोकों से बाह्यवर्त्ती स्थानों में होता है। तथा वहाँ से च्यवकर ये अज वा अन्य मूक प्राणियों की श्रेणी में जन्म लेते हैं। यह किल्विष-भावना का फल है, इसलिए विचारशील पुरुष को और खासकर साधु को इस किल्विष-भावना को अपने हृदय में कभी स्थान नहीं देना चाहिए।

अब शास्त्रकार आसुरी भावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

अणुबद्धरोसपसरो ,
तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी ।
एएहिं कारणेहिं,
आसुरियं भावणं कुणइ ॥२६७॥

अनुबद्धरोषप्रसरः ,
तथा च निमित्ते भवति प्रतिसेवी ।
एताभ्यां कारणाभ्याम्,
आसुरीं भावनां कुरुते ॥२६७॥

पदार्थान्वयः—**अणुबद्धरोसपसरो**—निरन्तर रोष का प्रसार करने वाला—अत्यन्त क्रोधी तह—तथा य—समुच्चयार्थक है **निमित्तम्मि**—निमित्तविषयक पडिसेवी—प्रतिसेवना करने वाला **होइ**—होता है **एएहिं**—इन **कारणेहिं**—कारणों से आसुरियं—आसुरी भावणं—भावना का कुणइ—सम्पादन करता है ।

मूलार्थ—**निरन्तर रोष का विस्तार करने वाला और त्रिकाल निमित्त का सेवन करने वाला जीव, इन कारणों से आसुरी-भावना को उत्पन्न करता है।**

टीका—यद्यपि क्रमप्राप्त प्रथम मोह-भावना का उल्लेख करना चाहिये था, तथापि सूत्र की विचित्र गति होने से प्रथम आसुरी भावना का उल्लेख किया गया है। जो जीव निरन्तर रोष का विस्तार करता है, अर्थात् सदा क्रोधयुक्त रहता है और ज्योतिःशास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि-निमित्तों के द्वारा जो शुभाशुभ फल का कथन करता है वह आसुरी भावना का सम्पादन करता है। तात्पर्य यह है कि निरन्तर क्रोधयुक्त रहना और शुभाशुभ फल के उपदेश में प्रवृत्ति करना आसुरी भावना है। इस भावना से भावित पुरुष मृत्यु के पश्चात् असुरकुमारों में जाकर उत्पन्न होता है। ये देव, वैमानिकों की अपेक्षा बहुत कम सुख और समृद्धि वाले होते हैं, तथा परमाधर्मी देव इन्हीं की जाति में से होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आलोचना किये विना आसुरी भावना में मृत्यु को प्राप्त

हुआ जीव, विराधक होता है। इसलिए आसुरी भावना से सदा पृथक् रहने का ह यत्न करना चाहिए। और यदि किसी समय उक्त आसुरी भावों का हृदय में किस निमित्त के वश से प्रादुर्भाव हो भी जावे तो उनकी आलोचना कर लेनी चाहिए, तावि आत्मा में आराधकता बनी रहे; क्योंकि आराधक आत्मा हीन गति को प्राप्त नहीं होती

अब मोह-भावना के विषय में कहते हैं—

सत्थगहणं विसभक्खणं च,
जलणं च जलपवेसो य।
अणायारभंडसेवी,
जम्मणमरणाणि बंधंति ॥२६८॥

शस्त्रग्रहणं विषभक्षणञ्च,
ज्वलनश्च जलप्रवेशश्च।
अनाचारभाण्डसेवी,
जन्ममरणानि बध्नन्ति ॥२६८॥

पदार्थान्वयः—**सत्थगहणं**—शस्त्र का ग्रहण च—और **विसभक्खणं**—विष क भक्षण **जलणं**—अग्नि में झंपापात य—और **जलपवेसो**—जल में प्रवेश **अणायारभंडसेवी**- अनाचारभांड-परिसेवन से **जम्मणमरणाणि**—जन्म और मृत्यु की **बंधंति**—वृद्धि होती है

मूलार्थ—शस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण, अग्नि में झंपापात और जल में प्रवेश तथा आचार-भ्रष्टता और उपहास्यादि के द्वारा जो जीव मृत्यु को प्राप्त करते हैं वे जन्म-मरण की वृद्धि करते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मोह-भावना के स्वरूप का अर्थतः दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—जो जीव, शस्त्र के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं, अर्थात् खड्गादि के द्वारा आत्मघात कर लेते हैं, अथवा अग्नि मे जलकर मरते हैं, वा जल में डूबकर प्राण-त्याग करते हैं, तथा अनाचार के सेवन से मृत्यु को प्राप्त करते हैं, और हास्यादि के कारण से मरते हैं, वे जीव जन्म-मरणरूप संसार की

वृद्धि करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि शस्त्र, अग्नि, जल, अनाचार और हास्य-मोहादि के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना मोह-भावना है। इस भावना को लेकर मरने वाला जीव निरन्तर जन्म-मरण देने वाले कर्मों को ही विशेपरूप से बाँधता है, क्योंकि कर्म-बन्ध में मोह की मात्रा ही विशिष्ट कारण है। तथा उक्त प्रकार से जो मृत्यु होती है उसमें मोह की ही अधिक प्रधानता है। इसलिए संयमशील पुरुष को मोह के वशीभूत होकर इन उक्त प्रयोगों के द्वारा मृत्यु प्राप्त करने के संकल्प को सर्वत्र त्याग देना चाहिए। कारण यह है कि ये सब लक्षण बाल-मरण के हैं और बाल-मरण का अनिष्ट परिणाम सुनिश्चित ही है। तथाच, कहा भी है—'एता भावना भावयित्वा देवदुर्गतिं यान्ति, ततश्च च्युताः सन्तः पर्यटन्ति भवसागरमनन्तम्' अर्थात् इन भावनाओं से भावित हुए जीव, देव-दुर्गति को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चलकर वे चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः इन उक्त अशुभ भावनाओं का परित्याग करके विधिपूर्वक संलेखनादि शुभ प्रवृत्ति में रहकर आराधकभाव से शरीर का त्याग करना ही मुमुक्षु के लिए समुचित और शास्त्रसम्मत कार्य है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं कि—

इय पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए ॥२६९॥

त्ति बेमि।

इति जीवाजीवविभत्ती समत्ता ॥३६॥

इति प्रादुष्कृत्य बुद्धः, ज्ञातजः परिनिर्वृतः।
षट्त्रिंशदुत्तराध्यायान्, भव्यसिद्धिकसम्मतान् ॥२६९॥

इति ब्रवीमि।

इति जीवाजीवविभक्तिः समाप्ता ॥३६॥

इति उत्तरज्झयणं सुत्तं समत्तं

इत्युत्तराध्ययनं सूत्रं समाप्तम्

पदार्थान्वयः—इय-इस प्रकार पाउकरे-प्रकट करके बुद्धे-बुद्ध नायए-ज्ञातपुत्र—वर्द्धमानस्वामी परिनिव्वुए-निर्वाण को प्राप्त हो गये छत्तीसं-छत्तीस उत्तरज्झाए-उत्तराध्ययनसूत्र-अध्यायों को भवसिद्धीयसंमए-जो भव्यसिद्धिक जीवों को सम्मत हैं त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस प्रकार, जो भव्य जीवों को सम्मत हैं ऐसे उत्तराध्ययन-सूत्र के ३६ अध्ययनों को प्रकट करके ज्ञातपुत्र भगवान् श्रीमहावीरस्वामी निर्वाण को प्राप्त हो गये, इस प्रकार मैं—सुधर्मास्वामी—कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उत्तराध्ययनसूत्र की प्रामाणिकता, उपयोगिता और अध्ययनों की संख्या का वर्णन किया गया है। 'केवलज्ञानी—(सर्वज्ञ और सर्वदर्शी) श्रमण भगवान् महावीरस्वामी—ने उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ अध्ययनों का अर्थतः प्रकाश किया' इस कथन से इसकी प्रामाणिकता ध्वनित की गई है, और 'भव्य जीवों को सर्व प्रकार से सम्मत है' यह कथन इसकी उपयोगिता को बतला रहा है। इसके अतिरिक्त इसके अध्ययनों की संख्या का निर्देश इसलिए किया गया है कि अन्य कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के स्वार्थ के वशीभूत होकर इसमे न्यूनाधिकता न कर सके। तथा 'भगवान् महावीरस्वामी इसके ३६ अध्ययनों को प्रकट करके मोक्ष को चले गये' इस कथन से इस सूत्र को उनका अन्तिम उपदेश प्रमाणित किया गया है, जिससे कि आत्मार्थी जीवों को इसके विषय मे विशेष आदरबुद्धि और विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हो सके। यह सूत्र कितना सारगर्भित तथा आत्मार्थी जीवों के लिए कितना उपयोगी है इस बात को तो इसके स्वाध्याय करने वाले भली-भाँति जान सकते हैं। इसके प्रत्येक अध्ययन में उत्तरोत्तर कितनी सरसता, कितना गाम्भीर्य और कितनी मार्मिकता है इसके लिए भी किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। इसमें धर्मकथानुयोग का वर्णन भली-भाँति किया गया है, तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की व्याख्या और फलश्रुति भी पर्याप्तरूप से विद्यमान है, एवं धर्म, नीति और आचार सम्बन्धी विषयों की मीमांसा करने मे भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रखी। सारांश यह है कि ये सूत्र हर एक दृष्टि से उपादेय हैं।

इसके अतिरक्त गाथा में आये हुए 'नायए' पद के—'ज्ञातकः, ज्ञातजः' ये दोनों ही प्रतिरूप माने जाते हैं। और किसी २ प्रति में 'भवसिद्धियसंवुडे—भव्य-

सिद्धिकसंवृतः' ऐसा पाठ भी देखने में आता है। इस पाठ में उक्त पद 'नायए—ज्ञातज' का विशेषण हो जाता है। इस अवस्था में 'आश्रवों का विरोध करके उसी जन्म में सिद्धि को प्राप्त करने वाला' यह उसका अर्थ होगा। तथा 'पाउकरे का प्रादुरकार्षीत्—प्रकाशितवान्' यह प्रतिरूप भी होता है। और परिनिर्वृत्त का अर्थ है—क्रोधादि कषायों के सर्वथा क्षय हो जाने से परम शान्त दशा को प्राप्त होने वाला। इसके अतिरिक्त यहाँ पर इतना और भी अवश्य स्मरण रहे कि—शास्त्रों में सत्य, असत्य, मिश्र और व्यावहारिक, ये चार प्रकार के वचनयोग—वाणी के व्यापार—माने गये हैं। इन चार में से भगवान् की वाणी में तो सत्य और व्यावहारिक वचन का ही प्रयोग होता है। उसमें भी व्यावहारिक वचन का प्रयोग तो किसी आदेशविशेष के आश्रित होकर ही किया जाता है और सत्य वचन का प्रयोग तो सर्वत्र ही होता है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन और उसके महत्त्व का वर्णन करते हुए श्री सुधर्मास्वामी अपने विनीत शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं कि मैंने जिस प्रकार से श्रमण भगवान् श्री वर्द्धमान (महावीर) स्वामी से इस जीवाजीवविभक्तिनामा अध्ययन का श्रवण किया है, उसी प्रकार मैंने तुमको श्रवण कराया है। इसमें मेरी निज की कल्पना कुछ नहीं यह 'त्ति बेमि' पद का भावार्थ है।

श्री सुधर्मास्वामी के कथन का आशय यह है कि—उत्तराध्ययन का मूल-स्रोत तो भगवान् महावीर स्वामी हैं। वहीं से यह प्रवाहित हुआ है। इसमें मेरा कार्य तो उस प्रवाह का केवल निर्देशमात्र कर देना है। तथा सुधर्मास्वामी के इस कथन से इस सूत्र की निरवच्छिन्नपरम्परा भी स्पष्ट शब्दों में ध्वनित होती है जो कि समुचित है।

षट्त्रिंशत्तमाध्ययन समाप्त

समाप्तमुत्तराध्ययनसूत्रम्

उत्तराध्ययनसूत्रम्

तृतीयभागस्य

पदानुक्रमणिका

जैन-साहित्य में यज्ञ का स्थान

जैन साहित्य में यज्ञ का क्या स्थान है ? यह प्रश्न बड़ा ही महत्त्व पूर्ण है; साथ ही विचारणीय भी है। जैन-धर्म का प्राण अहिंसा है, अतः बहुत से प्रश्नों का समाधान अहिंसा के द्वारा ही हो जाता है। प्रश्न-व्याकरण-सूत्र के संवर-द्वार में अहिंसा का वर्णन किया गया है। वहाँ अहिंसा के साठ ६० नाम बतलाये हैं, जिनमें ४६ वाँ नाम यज्ञ भी है। अतः सिद्ध है कि जिन कार्यों के द्वारा जीवों की रक्षा होती हो, उनको सुख पहुँचता हो, वे सब अहिंसा-प्रधान कर्तव्य यज्ञ में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्रम्



शब्दार्थ-कोषः

अणुभागा=अनुभाग (रसविशेष) को १५५०,
अणुभावे=अनुभावों को १५५१
अणुमए=अनुकूल होकर १५५२
अणुमुयंते=न छोड़ता हुआ १७६४
अणुरत्ता=अनुरक्त १३६८
अणुसज्जणाए=अनुवर्तन १८०३
अणुसासम्मी=अनुशासन करूँ १२७६
अणुस्सियत्तं=अनुत्सुकता का १२०५
अणुस्सियत्तेण=अनुत्सुकता से १३१५
अणुस्सुयत्तं=अनुत्सुकता का १३१५
अणुस्सुयाए=अनुत्सुक (निस्पृह) १२६०
अणेगरूवधुणा=अनेक रूप से वस्त्र को धुनना १२६१
अणेगरूवे=अनेक प्रकार के जीवों की, अनेक रूपों को इत्यादि ११७२ १४४०, १४५५, १४६७, १४७८, १४८६, १५०१, १५१२
अणेगविहा=अनेक प्रकार के १६५७
अणेगाइं=अनेक १२३२, १३०५
अतक्केमाणे=तर्कणा न करता हुआ १२६६
अतवो=तपश्चर्या से रहित १५७१
अतालिसे=असुन्दर रूप में, अमनोहर शब्द में, अरुचिर गंध में, अमनोहर रस में, अमनोहर स्पर्श में, अमनोहर भाव मे १४३६, १४५४, १४६६, १४७७, १४८८, १५००
अतित्तलाभे=अतृप्तलाभ ही रहता है, तृप्ति का लाभ न होने से १४४१, १४५६, १४६८, १४७६, १४६०, १५०८
अतित्तस्स=अतृप्त १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४६२, १५०४
अतित्ते=अतृप्त १४४३, १४५२, १४५७, १४६६, १४६१, १५०३
अतित्तो=अतृप्त १४४५, १४५६, १४७०, १४८२, १४६३, १५०५
अतुट्ठिदोसेण=अतुष्टि (असन्तोष) के दोष से १४४३, १४५७, १४६६, १४८०, १४६१, १५०३
अतुरियं=शीघ्रता से रहित ११६८
अत्तट्ठ=आत्मा का अर्थ १५४०
अत्तट्ठगुरू=स्वार्थपरायण, अपने स्वार्थ के लिए, अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के वास्ते १४५५, १४६८, १४८६, १५०१
अत्तट्ठगुरूकिलिट्ठे=अपने स्वार्थ में अत्यन्त आसक्त और राग से आकर्षित हुआ १४६७
अत्थ=इस अधिकार में, इस कार्य के लिए, यहाँ पर १२०४, १२०७, १२४१
अत्थओ=अर्थ से १२३३
अत्थलोलाणं=अर्थ के लोभी १३१३
अत्था=अर्थ १५०८
अत्थि=है, होती १४२६, १५६६, १६००
अत्थिकायधम्मं=अस्तिकाय धर्म १२३६
अत्थे=इन्द्रियों के रूपादि अर्थों को १५१७
अत्थेगइए=है कोई एक भव्य जीव १२५५
अदत्तहारिणो=अदत्त का ग्रहण (अपहरण) करने वाला (चोर) १४४४, १४५८, १४७०, १४८१, १४६२, १५०४
अदत्तं=अदत्त (चोरी) को १३५०, १४४३, १४५७, १४६६, १४८०, १४६१, १५०३
अदत्ताणि=अदत्त (वस्तुओं) को १४४५, १४५६, १४७०, १४८२, १४६३, १५०५
अदंसणं=न देखना १४२६
अदंसणिस्स=दर्शनरहित को १२३६

अब्भहिया=अधिक १५८३, १५९३, १५९४, १५९६, १५९७

अब्भंतरो=आभ्यन्तर (तप) १२४५, १३५४

अब्भंतरो तवो=आभ्यन्तर तप छः प्रकार का है १३५४

अब्भिंतरं=आभ्यन्तर १३७४

अब्भिंतरो=आभ्यन्तर १३७५

अब्भुट्ठाणं=अभ्युत्थान करना ११४७, ११४९, १३७७

अब्भुट्ठित्ता=उत्थित होकर १३१६

अब्भुट्ठेइ=उद्यत होता है, उद्योग करता है १२९५, १३३९

अभिओगं=अभियोग १८०७

अभिक्खणं=वार वार, पुनः पुनः १२००, १२०६

अभिगम=अभिगमरुचि १२२७

अभिगमरुई=अभिगमरुचि १२३३

अभिग्गहा=अभिग्रह हैं १३७१

अभिरोयए=अभिरुचि करे १६०९

अमणुन्नयं=अमनोज्ञता को १५१६

अमणुन्नं=अमनोज्ञ, (को), अमनोज्ञ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श''' आदि १४३४, १४३५, १४५०, १४५१, १४६२, १४६३, १४७४, १४७५, १४८५, १४८६, १४९६, १४९७

अमणुन्नेसु=अमनोज्ञ विषयों में १४३३

अमरिस=अमर्ष (कदाग्रहयुक्त) १५७१

अमला=मलरहित १८०३

अमाई=माया से रहित १२६२, १५७३

अमियप्पयारे=अमित प्रकार के हैं उनको १५१३

अमुच्छिए=आहारविषयक मूर्च्छा से रहित १६१८

अमुंचओ=न छोड़ते हुए १६८५, १६९०, १७००, १७०८, १७१४, १७२०, १७२५, १७३०

अमूढदिट्ठी=अमूढदृष्टि १२४०

अमोक्खस्स=अमुक्त को १२३६

अमोसलि=मोसलि न होवे ११६६

अमोहणे=मोहरहित १५२०

अय=लोहरूप मिट्टी १६७६

अयसीपुप्फ=अलसीपुष्प के १५५६

अयं=यह १५२४

अरई=अरति १५११

अरण्णे=वन में १४८७

अरहंतपन्नत्तस्स=अर्हन्त के प्रतिपादन किये हुए १३१६

अरिहा=योग्य होते हैं १८०४

अरूविणो=अरूपी १६७२

अरूवी=अरूपी (द्रव्य) १६२७, १६२८, १७९३

अलसा=अलसिया १७१८

अलंकिओ=अलंकृत १३६८

अलियं=असत्य १६०६

अलोए=अलोक (में) १६२५, १६६५

अलोले=अलोलुपी १६१८

अवगयं=अपगत (दूर) १२३०

अवज्जभीरू=पापभीरु (पाप से डरने वाला) १५७३

अवण्णवाई=अवर्णवाद बोलने वाला १८०८

अवलंबमाणे=अवलम्बन करने से १२७६

अवलियं=वस्त्र को मोटन न करे ११९९

अवसीयई=ग्लानि को प्राप्त होता है १२१०

अवसेसं=अवशेष ११८१

अवि=अपि—सम्भावना में, परस्पर अपेक्षा में, समुच्चय में, पादपूर्त्ति

अहिगया=अधिगत किया है १२२८
अहिज्जंतो=पढ़ता हुआ १२३१
अहिट्ठिए=अंगीकार करे १६०२
अहिमडस्स=मरे हुए सर्प की गन्ध होती है १५६४
अहिमाई=अहि, सर्पादि १७४६
अहिया=अधिक १५६५
अहीरिया=लज्जा से रहित १५७२
अहे=अधोलोक में १६६०, १६६३
अहोरत्ता=अहोरात्र की १७०७
अंक=अंक (मणिविशेष) १५५८, १६६६
अंके=अंक रत्न १६७६
अंगाइं=अंग १२३३
अंगुलं=एक अंगुल ११५७
अंगुलेहिं=अंगुलों से ११५६
अंगेण=अंग से १२३१
अंजण=अंजन १६७६
अंजलिकरणं=हाथ जोड़ना १३७७
अंडप्पभवा=अंड से उत्पन्न होती है १४१५
अंडं=अंडा १४१५
अंतकरे=अन्त करने वाला १६०४
अंतकिरियं=अन्तक्रिया १२७३
अंतरद्दीवया=अंतरद्वीपक १७५८
अंतरभासिल्लो=मध्य में बोलने वाला १२०६
अंतरं=अन्तरकाल कथन किया गया है, अंतर होता है, अन्तर, अन्तरकाल १६८६, १६६१, १७०१, १७०८, १७१४, १७२१, १७२६, १७३१, १७४०, १७४६, १७५१, १७५२, १७५६, १७६३, १७६०, १७६१
अंतराइयं=अन्तराय कर्म १३३६
अंतराए=अन्तराय १५४७
अंतरायं=अन्तराय कर्म (विघ्न) १५१६, १५२६, १५४१

अंतरेयं=यह अन्तर १६३६
अंतं करेइ=(सर्व दुःखों का) अन्त कर देता है १२८६, १३०६, १३२४, १३२६, १३४६
अंतं करेंति=अन्त करते हैं १२४६
अंतो=अन्तर्वर्त्ति १५४४
अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए=अन्तर्मुहूर्त्त कालप्रमाण अवशेष आयु में १३४४
अंतोमुहुत्तं=अन्तर्मुहूर्त्त की (स्थिति होती है), अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण, अन्तर्मुहूर्त्त···आदि १५४६, १५४८, १५८६, १६०१, १६८४, १६८५, १६८६, १६६०, १६६१, १६६६, १७००, १७०१, १७०७, १७०८, १७१३, १७१४, १७२०, १७२१, १७२५, १७२६, १७३०, १७३१, १७४०, १७४४, १७४५, १७४६, १७५१, १७५२, १७५५, १७५६, १७६२, १७६३
अंधयार=अन्धकार १२२३
अंधिया=अधिक १७२७
अंविला=खट्टा १६३६
अंविले=आम्ल (खट्टा) है १६४८

आ

आइच्चम्मि=आदित्य के ११५१
आइण्णे=गुणों से व्याप्त ११६७
आई=आदि (गृहशाला आदि) १३६३, १३७२
आईया=आदि १७२३
आउकम्मस्स=आयुकर्म की १५४८
आउकम्मं=आयुकर्म १५२५, १५३८
आउकाय=अप्काय ११७५
आउक्खए=आयुकर्म के क्षय होने पर १५२०
आउजीवा=जलरूप जीव, अप्काय के जीव १६७६, १६८७

इ

१४३८, १४३९, १४४७, १४५२, १४५३, १४५४, १४६०, १४६४, १४६५, १४६६, १४७२, १४७५, १४७७, १४८३, १४८७, १४८८, १४९४, १४९८, १४९९, १५००, १५०७, १५१०, १५२०

उवेंति=प्राप्त होते हैं (विकृति के हेतु हैं) १५१०

उसे=खारी मृत्तिका १६७९

उस्सप्पिणीण=उत्सर्पिणियों के १५७७

उस्सिंचणाए=उलीचने से १३५३

उस्से=अवश्याय १६८८

उस्सेहो=ऊँचाई १६७१

उहिंजलिया=उपधिजलक १७२८

उंछं=स्तोकमात्र की १६१८

ऊ

ऊ=पूर्णार्थक है १३६३, १३६७

ऊणा=न्यून १५९०

ऊणाए=ऊनी में १३६७

ऊणोयरिया=ऊनोदरी (प्रमाण से न्यून आहार करना) १३५५

ए

एए=ये, इन पूर्वोक्त…आदि १२२५, १२२६, १३३६, १३४४, १४३०, १६३०, १६४०, १६८२, १७१८, १७२८, १७३३, १७७२

एएण=इस १४४८, १४६१, १४७३, १४८४, १४९५, १५०७

एएणं=इस १८०४

एएसिं=इनके, इन जीवों के १३५२, १५५१, १६८७, १६९२, १७०२, १७०६, १७१५, १७२२, १७२६, १७३२, १७४१, १७४७, १७५६, १७६४, १७९२

एएसु=इन १४०७

एएहिं=इन भावों से, इन १३६६, १८१०

एओवमा=यही उपमा १४३२

एकविहं=एक ही प्रकार १६८२

एक्कं=एक १७७४

एक्कारस=ग्यारह १२३३

एक्केका=एक एक १७४९

एगओ=एक स्थान में, से १३८४

एगखुरा=एक खुर वाले १७४८

एगग्गचित्ते=एकाग्रचित्त होकर १२९२

एगग्गचित्तेणं=एकाग्रचित्त से १३१८

एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं=एकाग्रमनःसन्निवेशना से, मन की एकाग्रता से १२८७

एगग्गमणा=एकाग्रमन होकर १६०४

एगग्गमणो=एकाग्रमन होकर १३४९

एगग्गं=एकाग्रता की १३०४, १३१८, १३२२

एगग्गं जणइत्ता=एकाग्रता को प्राप्त करके १३२२

एगत्तं=एकत्व १२२४

एगत्तेण=परमाणुओं के एकत्व से—मिलने से, एक सिद्ध की अपेक्षा से १६३३, १६७२

एगदव्वस्सिया=एक द्रव्य के आश्रित १२१७

एगदेसम्मि=एकदेश मे स्थित हैं १७२८, १७३४, १७६०, १७७३

एगदेसे=लोक के एकदेश में स्थित हैं १७१२

एगमणा=एकमन होकर १६२४

एगमणो=एकमन होकर १३५२

एगविहं=एक ही प्रकार के १६८६, १६९८, १७०६, १७११

एगवीसाए=इक्कीस १३६७

एगसमएणं=एक समय में १३४६

एगसित्थाई=एक सिक्थिक (एक कवल) १३६२

काउलेसाए=कापोतलेश्या की १५८१
काउस्सग्गं=कायोत्सर्ग ११८३, ११८६, ११९०, ११९२, ११९३
काउस्सग्गेणं=कायोत्सर्ग से १२७०
काउस्सग्गो=कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग को ११८७, ११९१, ११९४
काउं=करके १८०७
काऊ=कापोतलेश्या १५५४, १५९८
काऊए=कापोतलेश्या का, की १५६१, १५८५, १५९४
काऊण=करके १२५५, १२७७
काऊणं=करके ११८७
काऊलेसं=कापोतलेश्या के १५७२
काऊलेसा=कापोतलेश्या १५५६
काए=काय में १६८६
कामगुणा=कामगुणों की है १४३२
कामगुणेसु=कामगुणों में १५१२, १५१७
कामगुणेसु गिद्धे=कामगुणों से मूर्च्छित १४९८
कामभोगा=कामभोग १५१०
कामभोगेसु=कामभोगों में १२५६
कामराग=कामराग के १६०८
कामं=अति वा अनुमत १४२७
कामा=कामादि १४२०
कामाणुगिद्धि=काम की सतत अभिलाषा से १४३१
कामेसु=कामभोगों में १४१४
कायकिलेसं=कायक्लेश १३७२
कायकिलेसो=कायक्लेश १३५५
कायगुत्तयाए=कायगुप्ति से १३२०
कायगुत्तयाएणं=कायगुप्ति से १३२०
कायगुत्ते=कायगुप्ति वाला जीव १३२०
कायचिट्ठं पई=काय की चेष्टा के प्रति १३५८
कायजोगं=काययोग का १३४४
कायठिई=कायस्थिति १६८५, १६९०, १७००, १७०८, १७१४, १७२०, १७२५, १७३०, १७४०, १७४५, १७५१, १७५५, १७६२, १७८६
कायवोस्सग्गे=कायव्युत्सर्ग के समय के ११९०
कायव्वं=करना चाहिए ११५३
कायसमाहारणयाएणं=कायसमाधारणा से १३२४
कायस्स=काया की चेष्टा का, काया का १३८१, १४८५, १४८६
कायं=काया को १४८६, १६८५, १६९०, १७००, १७०८, १७१४, १७२०, १७२५, १७३०
कारए=बनवावे १६११
कारणम्मि=कारण के ११७६
कारणेणं=कारण से १८०४
कारणेहि=कारणों से १२०५
कारणेहिं=कारणों से १८१०
कारुण्ण=करुणा के योग्य १५१२
कालओ=काल से १६२६
कालधम्मे=कालधर्म के १६२१
कालपडिलेहणयाएणं=कालप्रतिलेखना से १२७४
कालविभागं=कालविभाग के विषय में, कालविभाग को १६३३, १६८३, १७०६, १७१२, १७३४, १७४३, १७४६, १७५३, १७७३
कालस्स=काल को, समय को, काल ११६६, ११८२, ११८६, १४०६, १६२०
कालं=काल की, प्रभातकाल की ११६४, ११८७, ११८८, ११८९
काले=काल में, काल १३६६, १५४३
कालेण=काल से १३६७

कुदंसण=कुदर्शनी का १२३७
कुद्धे=क्रोधयुक्त होता हुआ १२०२
कुसुम=पुष्पों की १५६५
कुहगा=कुहककन्द १६६६
कुहणा=भूमि में से निकलने वाले खुंब आदि १६६५
कुहुव्वए=कुहुव्रतकन्द १६६६
कुंकणे=कुंकण १७२७
कुंथु=कुंथुआ १७२३
कुंद=कुन्दपुष्प १५५८, १६६६
केवल=सहायरहित १३३६
केवलं=शुद्ध, केवलज्ञान १२१६, १५२८, १५८६
केवलं नाणं=केवलज्ञान को १६२२
केवलीणं=केवलज्ञानियों का १८०८
केवले=केवलज्ञान में १५३१
कोइलच्छदसंनिभा=कोयल के परों के समान १५५६
कोट्टे=कोट मे १३६३
कोडिकोडीयो=कोटाकोटि सागरोपम १५४६, १५४८
कोडीसहियं=कोटीसहित १७६८
कोसस्स=कोस के १६७०
कोसो=कोस १६७०
कोहमाणमायालोभे=क्रोध, मान, माया और लोभ को १२५५
कोहमाणे य=क्रोध और मान हैं जिसके १५७५
कोहविजएणं=क्रोध की विजय से १३३४
कोहवेयणिज्जं=क्रोधवेदनीय १३३४
कोहं=क्रोध १५११

ख

खज्जूर=खजूर १५६३
खणेणं=क्षण भर में १५१६
खत्ते=क्षेत्र में १३६६
खमावणयाए णं=क्षमापना से १२७७
खर=कठिन १६८२
खरा=कठिन (पृथिवी) १६७७, १६७८
खलु=निश्चय में, वाक्यालङ्कार में १२३०, १२३५, १२३६, १२४६, १२४८, १२६६, १३६८, १५८४, १५६३, १५६६, १५६७
खलुंके=दुष्ट वृषभों को ११६६
खलुंका=दुष्ट वृषभादि १२०३
खलुंकेहिं=दुष्टों के द्वारा १२१०
खवणे=क्षय करने में १५५१
खवेइ=क्षय करता है १२५५, १२६५, १२६८, १२७४, १२७८, १२८६, १२६१, १२६६, १३०६, १३२४, १३२६, १३३६, १३४४, १३४६, १३५२, १५१६
खवेत्ता=क्षय करके १२४७
खहयराण=खेचरों की १७५५
खंजांजण=शकट के अंजन वा काजल १५५५
खंडसक्कररसो=खांड और शर्करा का रस (जैसा होता है) १५६३
खंतिं जणयइ=क्षमा को प्राप्त करता है १३३४
खंतीए णं=क्षमा से १३१२
खंधदेसा=स्कन्ध का देश १६३२
खंधा=स्कन्ध, स्कन्ध होता है १६३२, १६३३
खंधारे=स्कन्धावार मे १३६३
खिप्पं=शीघ्र (ही) १३८२, १४०७
खिप्पामेव=शीघ्र ही १२८३
खीर=क्षीर १३७२
खीरपूर=दुग्ध की धारा के १५५८
खीररसो=क्षीर का रस १५६३
खु=निश्चय ही १४१५, १४३१
खुड्डए=विनाश कर देते हैं १४३२
खुद्दो=क्षुद्र, क्षुद्रबुद्धि १५७०, १५७१
खेडे=खेड़े मे १३६३

खेत्त=क्षेत्र १५४३
खेत्तओ=क्षेत्र से १६२६, १६३३
खेत्तकालेणं=क्षेत्र और काल से १३६१
खेत्तं=क्षेत्र १३६३
खेत्तेण=क्षेत्र से १३६३
खोडा=खोटका (प्रस्फोटनरूप) ११६६
खोभइउं=क्षुभित करने को—संयम से गिराने को १४२७

ग

गइलक्खणो=गतिलक्षण १२२०
गइं=गति, गति को १५५३, १६७४
गईसु=गतियों मे १५८४
गए=जाने पर १६०१
गओ=प्राप्त हुआ १४४७, १४६०, १४७२, १४८३, १४९४, १५०७
गग्गो=गर्गगोत्रीय ११९७
गच्छइ=भाग जाता है, प्राप्त करता है १२०२, १४३१
गच्छंति=चले जाते हैं १२१५, १६०१
गणणोवगं=गणना के उपयोग को ११७२
गणहरे=गणधर ११९७
गणिभावम्मि=गणिभाव में स्थित ११९७
गब्भवक्कंतिया=गर्भव्युत्क्रांत, गर्भज १७४१, १७५७, १७५८
गमणे=गमन करने के समय ११४९
गयण=गगन में ११६४
गयमाई=गजादि १७४८
गया=प्राप्त हुए १६७०, १६७४
गरहणयाएणं=गर्हा से १२६५
गरुआ=गुरु १६४०
गलिगद्दहा=गलि-गर्दभ हैं १२११
गलिगद्दहे=गलि-गर्दभ को १२११
गवलरिट्ठगसंनिभा=महिषशृंग, रिष्ट, काक वा फलविशेष (अरीठा) के सदृश १५५५
गवेसए=गवेषणा करे ११७६
गहणं=ग्रहण करने वाला, ग्राहक, ग्राह्य १४३४, १४३५, १४५०, १४५१, १४६२, १४६३, १४७४, १४७५, १४८५, १४८६, १४९६, १४९७
गहा=ग्रह १७६७
गंगासमाणा=गंगा के समान १४३०
गंठिय=ग्रन्थिक १५४४
गंडीपय=गंडीपद १७४८
गंता=जाकर १३४६
गंतूण=जाकर १६६४, १६६५
गंध=गन्ध १२२३, १५५३
गंधओ=गन्ध से १६३७, १६३८, १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४९, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५, १६८७, १६९२, १७०२, १७०९, १७१५, १७२२, १७२६, १७३२, १७४१, १७४७, १७५६, १७६४
गंधम्मि=गन्ध के विषय में १४७२
गंधवासाण=सुगन्धयुक्त पदार्थों की जैसी गन्ध होती है १५६५
गंधव्वा=गंधर्व १७६७
गंधस्स=गन्ध का १४६३
गंधं=गन्ध का, गन्ध को, गन्ध १४६२, १४६३, १४६५
गंधाणुगासाणुगए=सुगन्ध की आशा के अनुगत हुआ १४६७
गंधाणुरत्तस्स=गंध के विषय मे अनुरक्त १४७१
गंधाणुवाएण=गन्ध के अनुराग से १४६८
गंधे=गन्ध में, गन्ध के विषय में १४६६, १४६९, १४७०, १४७३

घ

घणं=घनवायु—रत्नप्रभा आदि के नीचे की १७१०
घणो=घनतप १३५७
घरेसु=घरों में १३६३
घाणस्स=घ्राण को, घ्राण-इन्द्रिय का १४६२, १४६३
घाणं=घ्राण-इन्द्रिय को १४६३
घाणिंदियनिग्गहेणं=घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से १३३२
घासं=ग्रास को १३६७
घोसे=घोष में १३६३

च

च=तथा, और, पुनः, समुच्चय, पाद-पूर्ति में ··इत्यादि ११४७, ११५७, ११६८, ११६६, ११८२, ११८४, ११८७, ११६१, ११६६, १२०८, १२१४, १२१५, १२१६, १२२१, १२२२, १२२४, १२२८, १२३०, १२३६, १२४१, १२५५, १२५८, १२६०, १२६२, १२६८, १२७६, १२८१, १२८३, १३०४, १३११, १३२२, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १३३५, १३३६, १३४०, १३६५, १३७५, १३७६, १३८४, १३८६, १४०१, १४०२, १४१५, १४१६, १४१६, १४२०, १४२६, १४३०, १४३१, १५११, १५१६, १५२५, १५२६, १५२८, १५३२, १५३६, १५३६, १५४०, १५४३, १५४४, १५५०, १५५१, १५५३, १५८५, १५६३, १५६४, १६०१, १६०६, १६११, १६१५, १६१६, १६२५, १६२६, १६२७, १६३०, १६३७, १६४०, १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४६, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५, १६६०, १६६३, १६६६, १६८७, १६६२
चइऊण=छोड़कर १६२१
चइत्ताणं=छोड़कर, त्यागकर १६६४, १६६५
चउकारण=चार कारण से १२१३
चउक्कम्मि=चतुष्क में १७६६
चउण्हंपि=चार ही १३६६
चउत्थम्मि=चतुर्थ ग्रैवेयक में १७८५
चउत्थं=चतुर्थ १५३८
चउत्थी=चतुर्थी, चौथी में ११४७, ११६२, ११७०
चउत्थीइ=चौथी पौरुषी में ११५५
चउत्थीए=चतुर्थी, चतुर्थ में ११८२, ११८८, १७३७
चउत्थे=चतुर्थ त्रिक में ११५६
चउद्दस=चौदह १७७६, १७८०
चउप्पया=चार पाद से, चतुष्पाद ११५६, १७४७
चउब्भाए=चतुर्थ भाग में ११५१, ११६५, ११६६, ११८६
चउब्भाग=चतुर्थ भाग ११६४
चउभाए=चतुर्थ भाग में ११८२
चउभागूणाए=चतुर्थ भाग न्यून तृतीय पौरुषी में १३६७
चउरंगुलं=चार अंगुल प्रमाण ११५७
चउरंसं=चतुष्कोण १६४१
चउरंसे=चतुष्कोण है १६५४
चउरिंदिय=चार इंद्रिय वाले १७३०
चउरिंदिया=चार इंद्रिय वाले १७२७, १७२८
चउरुड्ढलोए=ऊर्ध्व लोक से चार १६६३
चउरो=चार ११५४, १७१६
चउरो भागे=चार भाग ११६१
चउवीस=२४ १७८४
चउव्वीसं=२४ १७८४

जणवयं=जनपद की ११७४
जत्तिओ=यावन्मात्र १३६६
जम्मणमरणाणि=जन्म और मृत्यु की १८११
जयई=यत्न करता है १३८८, १३८६, १३६०, १३६१, १३६२, १३६३, १३६५, १३६६, १३६७, १३६६, १४०१, १४०४, १४०७, १६२४
जयं=यत्न वाला ११८३
जयंता=जयन्त १७७२
जया=जिस समय ११६३
जलकंते=जलकांत मणि १६७६
जलकारी=जलकारी १७२८
जलणं=अग्नि में झंपापात १८११
जलधन्न=जल और धान्य के १६१३
जलपवेसो=जल में प्रवेश १८११
जलम्मि=जल में—नदी आदि जलाशयों में १६६०
जलयरा=जलचर १७४२, १७४३
जलयराणं=जलचरों की १७४४, १७४५, १७४६
जलरुहा=कमल आदि १६६५
जलागमे=जल के आने के मार्ग का १३५३
जलूगा=जोंक १७१८
जले=शेष जलों में १६६३
जलेण=जल से १४६१, १४७३, १४८४, १४६५, १५०७
जलेण वा=जल में जैसे १४४६
जवणट्ठाए=संयमयात्रा के निर्वाहार्थ आहार करे १६१८
जवमज्झे=मध्यम अवगाहना में १६६२
जस्स=जिसको आदि १२३०, १२३४, १३६२, १४१७, १४१८, १४४६, १४७१, १६७१, १६७२

जस्स कए=जिसके लिए १४६०, १४६४, १५०६
जह=जैसे, यथा १४२६, १४३७, १५५६, १५६०, १५६१, १५६२, १५६४, १५६५, १५६६, १५६७
जहकमं=यथाक्रम से, अनुक्रम से ११८५, ११६१, १५५२, १५५४
जहन्न=जघन्य अवगाहना में सिद्ध हुए १६६०
जहन्नयं=जघन्य १६३५, १६३६, १६८६, १६६०, १६६१, १६६६, १७०१, १७०८, १७१४, १७२१, १७२६, १७३०, १७३१, १७४०, १७४५, १७४६, १७५२, १७५६, १७६३, १७६०, १७६१
जहन्ना=जघन्य, जघन्य स्थिति १५७६, १५८०, १५८१, १५८२, १५८३, १५६०, १५६५
जहन्नाए=जघन्य अवगाहना में १६६२
जहन्निया=जघन्य, जघन्य स्थिति १५४६, १५४८, १५४६, १५८५, १५८७, १५६२, १५६५, १६८४, १६८५, १६६०, १७००, १७०७, १७०८, १७१३, १७१४, १७२०, १७२५, १७३०, १७४४, १७५१, १७५५, १७६२, १७७५, १७६५
जहन्नुकोसिया=जघन्य और उत्कृष्ट १७४० १७८[...]
जहन्नेण=न्यून से न्यून, जघन्य १३६[...] १५८६, १७[...]
जहन्नेणं=जघन्यरूप से, जघन्य, जघन्य स्थिति, जघन्यता से १५६३, १५६[...] १५६६, १५६७, १७३६, १७३७, १७३[...] १७३६, १७७४, १७७५, १७७६, १७[...] १७७८, १७७६, १७८०, १७८१, १७[...] १७८३, १७८४, १७८५, १७[...] १७८७, १७[...]

१७३२, १७६३, १८००, १८०१, १८०२
जीवाजीव=जीव और अजीव १८१२
जीवाजीवविभत्तिं=जीव और अजीव की विभक्ति १६२४
जीवाणं=जीवों (का, की, के) १५४५, १६२६, १७२१, १७२६
जीविय=जीवन का १४३२
जीवियासंसप्पओगं=जीविताशंसा-संप्रयोग को अर्थात् जीवन की लालसा को १२९९
जीवे=जीव १२५४, १२५६, १२५८, १२६०, १२६२, १२६४, १२६५, १२६६, १२६७, १२६८, १२६९, १२७०, १२७२, १२७३, १२७४, १२७६, १२७७, १२७८, १२७९, १२८०, १२८१, १२८३, १२८५, १२८६, १२८७, १२८८, १२८९, १२९०, १२९१, १२९२, १२९३, १२९५, १२९६, १२९८, १२९९, १३००, १३०१, १३०२, १३०४, १३०५, १३०६, १३०८, १३०९, १३१०, १३११, १३१२, १३१३, १३१४, १३१५, १३१७, १३१८, १३१९, १३२०, १३२३, १३२४, १३२६, १३२७, १३२९, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १३३५, १३३६, १३३७, १३३९, १४४०, १४५५, १४६७, १४७८, १४८९, १५०१
जीवो=जीव १२२१, १३५०, १३५१, १५२४, १५९८
जुगवं=युगपत् (एक समय में) १२३८, १३३९, १३४४, १६६२
जुगं=जुए को १२०२
जुग्गं=योग (जोड़ना) १४२६
जे=जो, जो कोई, जो पुद्गल ··· आदि १३६९, १३७१, १३८१, १३८२, १३८५, १३८६, १३८७, १३८८, १३८९, १३९०, १३९३, १३९७, १३९९, १४०१, १४०७, १४३३, १४३८, १४५३, १५१०, १५७७, १६३८, १६३९, १६४०, १६४१, १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४९, १६५०, १६५१, १६५२, १६५४, १६५५, १६७५, १६७७, १६८८, १६९३, १७०५, १७१०, १७१६, १७१७, १७२०, १७२२, १७३२, १७५८, १७६८, १८००, १८०१, १८०२, १८०३, १८०७
जे जे=जो जो १४१९
जेट्ठामुले=ज्येष्ठमूल ११५९
जेण=जिसने १२३३
जे भिक्खू=जो साधु, जो भिक्षु १३९१, १३९२, १३९५, १३९६, १४०४
जे भिक्खू जयई निच्चं=जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है १४०२
जे यावि=जो कोई भी १४७७, १४८८, १४९९
जेहिं=जिन कर्मों से, जिनमें १५२४, १६०५
जो=जो, जो कोई आदि ११९९, १२२८, १२२९, १२३१, १२३२, १२३४, १२३६, १३५७, १३६२, १४०९, १४३४, १४३७, १४५०, १४५२, १४६२, १४६४, १४७४, १४७५, १४८५, १४८७, १४९६, १४९८, १६७०, १६७१
जोइया=जोते हुए १२०३
जोइस=ज्योतिषी १५९४, १७६४
जोइसमे=अग्नि के समान १६१४
जोइसालया=ज्योतिषी देवों के आलय—स्थान—हैं १७६७
जोइसिया=ज्योतिषी देव १७६५
जोइसेसु=ज्योतिषी देवों की १७७५
जोइं=अग्नि को १६१४
जोए=योग मे ११६८

तम्हा=इसलिए १५५१, १६०२, १६१२, १६१३, १६१४

तयम्मि=त्रिक में ११५६

तरुणअंबगरसो=तरुण आम्रफल का रस होता है १५६१

तरुणाइच्च=तरुण सूर्य के १५५७

तव=तप १२३४

तवणाए=सूर्य के ताप से १३५३

तवप्पभावं=तप के प्रभाव की भी (इच्छा न करे) १५१३

तवसा=तप से १३५३

तवस्सी=तपस्वी १४१३, १४२५, १४३३

तवहेउं=तप के निमित्त ११७६

तवं=तप, तप को ११६३, ११६४, १२११, १३७४, १३८२, १७६७, १७६८

तवंमि=तप में (तथा वीर्य में) ११६१

तवेण=तप से १२४५, १२४७

तवेणं=तप से १२८८

तवो=तप (है) १२१४, १२१५, १२२२, १२४४, १२४५, १३५४, १३५५, १३५७, १३७४, १३७५

तसा=त्रस १६७५, १७०३, १७१६

तसाणं=त्रसकाय, त्रस जीवों का ११७५, १६११

तसे=त्रसों के भेदों को १७०२

तस्स=उस मोक्ष का, उसका···आदि १४११, १५१६, १५२१, १६२८, १६७०

तस्संतगं=उसके अंत को १४३१

तस्सेव=उसी की १६६७

तह=तथा, उसी प्रकार ११७७, १२४१, १३५७, १३६३, १८०६, १८१०

तहक्कारो=तथाकार (करना) ११४७, ११४६

तहा=तथा, उसी प्रकार आदि १२१४, १२१५, १२२२, १२२५, १२४५, १३२६, १३५४, १३७०, १३७७, १३८६, १३८७, १३६५, १५२५, १५३३, १५४१, १५७५, १६०६, १६१६, १६२६, १६३७, १६३८, १६३६, १६४०, १६७६, १६८७, १६६३, १६६४, १६६६, १७०४, १७१०, १७१८, १७२३, १७२७, १७३३, १७४१, १७४२, १७४३, १७५७, १७५८, १७६५, १७६६, १७६६, १७७१

तहाकारी=उसी प्रकार करने वाला १३१७

तहावि=तो भी १४२७

तहिया=तथ्य पदार्थ १२२५

तहियाणं=तथ्य १२२६

तहिं=वहाँ, उनमें १६७५, १६७७, १७७०

तहेव=उसी प्रकार ११७३, ११८४, १३७५, १३७६, १४०१, १४११, १४१६, १५१६, १५२५, १५२६, १५२६, १५३६, १५३८, १५५४, १६१२, १६३२, १६३८, १६५८, १६६३, १६७६, १६६३, १६६६, १६६७, १७०५, १७१८, १७६८

तं=उस, उसको, उनको, वह···आदि १२०६, १२२६, १३३६, १३४६, १३५२, १३७२, १३७३, १३७८, १३८०, १४०६, १४३४, १४५०, १४६२, १४७४, १४८५, १४६६, १६५७, १६८५, १६६०, १७००, १७०८, १७१४, १७२०, १७२५, १७३०

तंजहा=जैसे कि १३०६, १३३६

तंब=ताम्ररूप १६७६

तंबगाइया=ताम्रकादि १७२८

तंसा=त्रिकोणाकार १६४१

तंसि क्खणे=उसी क्षण में १४३८, १४५३, १४६५, १४७७, १४८८, १४८६

तंसे=त्रिकोण १६५४

तारागणा=तारागण १७६७

तारिसम्मि=इस प्रकार के १६०८

दंसणंमि=दर्शन में ११६१
दंसणाराहए=दर्शन का आराधक १२५५
दंसणावरणं=दर्शनावरणीय १५२५, १५३१
दंसणावरणिज्जं=दर्शनावरणीय कर्म १३३६
दंसणे=दर्शन में ११८४, १२३८, १५३१,
१५३३, १५३४
दंसणेण=दर्शन से १२४५
दंसणेणं=दर्शन से १२२१, १३२७
दंसिए=दिखलाया १३४८
दंसियं=उपदेशित किया है १२१७
दाणे=दान में १५४१
दायणं=देना १३७७
दाहिई=देगी १२०६
दाहिणभावं=दक्षिणाभाव को १२६८
दिट्ठं=देखा है १२३३
दिट्ठिवाओ=दृष्टिवाद १२३३
दिणभागेसु=दिनभागों में ११५४
दित्तं=दीप्त को १४२०
दित्तिकरा=दीप्त करने वाले हैं १४२०
दिया=दिन में १२६२
दिवसस्स=दिन के ११५४, १३६६
दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु=देव,
मनुष्य और तिर्यक् सम्बन्धी १२५६
दिव्वे=देवतासम्बन्धी १३८६
दिसा=दिक्कुमार १७६६
दिसो दिसिं=दशों दिशाओं में १२०६
दिस्सए=देखा जाता है १६११
दीणे=अत्यन्त दीन १५१२
दीव=द्वीपकुमार देव १७६६
दीहकाल=दीर्घकाल १२८३
दीहमद्धं=दीर्घ मार्ग वाला १२८३
दीहामयंविप्पमुक्को=दीर्घ रोग से
विप्रमुक्त १५२१
दुक्कराइं=दुष्कर हैं १६०८

दुक्ख=दुःखों से ११५३, ११८२
दुक्खविणोयणट्ठा=दुःखों को दूर
करने के लिए १५१५
दुक्खविमोक्खणं=दुःखों से मुक्त
करने वाले ११६५
दुक्खस्स=दुःख के १४०६, १४३६, १४५४,
१४७७, १५००, १५०८, १५२३
दुक्खस्स संपीलं=दुःखसम्बन्धी
पीड़ा को १४६६, १४८८
दुक्खं=दुःख का, दुःख, दुःख का
हेतु इत्यादि १४१६, १४१७, १४३१,
१४३८, १४४६, १४५३, १४६५, १४७१,
१४७७, १४८८, १४६४, १४६६, १५०६,
१५०६
दुक्खा=दुःख से १४४४, १४५८, १४७०,
१४८१, १४६२, १५०४, १६२१
दुक्खाण=दुःखों का १६०४
दुक्खाणं=दुःखों का १२५८, १३१०
दुक्खोह=दुःखसमूह की १४६०, १४६१,
१४७२
दुक्खोहपरंपराओ=दुःखसमूह की
परम्परा को १४४७, १४८३, १४६४,
१५०७
दुक्खोहपरंपरेण=दुःखसमूह की
परम्परा से १४४८, १४७३, १४८४,
१४६५, १५०७
दुखुरा=दो खुर वाले १७४८
दुगुच्छं=जुगुप्सा १५११
दुग्गइं=दुर्गति को १५६८
दुग्गईओ=दुर्गति को, दुर्गतिरूप १२६०,
१७६६
दुच्चं=दूसरी १२६६
दुट्ठवाई=दुष्ट वचन बोलने वाला १५७२
दुट्ठसीसेहिं=दुष्ट शिष्यों से १२१०

निओइउं=नियुक्त करने को ११५२
निकेयं=स्थान को १४१३
निक्कंखिय=आकांक्षारहित १२४०
निकंखी=आकांक्षा से रहित १२६८
निक्खमंते=निकलता हुआ (विनाश को पाता है) १४६४
निक्खिवित्ताण=निक्षेपण करके ११८२
निगमे=निगम में १३६३
निगिण्हाई=आस्रवों का निरोध करता है १२४५
निग्गया=घर से बाहर गई १२०६
निग्गंथा=निर्ग्रन्थ ११४५
निग्गंथी=साध्वी ११७८
निग्गंथो=निर्ग्रन्थ साधु ११७८
निच्चं=सदैव, नित्य, निरन्तर १३८५, १३८६, १३८७, १३८८, १३८६, १३६०, १३६१, १३६३, १३६५, १३६६, १३६७, १३६६, १४०१, १४०४, १४३८
निज्जरणयाए=निर्जरा करने से १२६५
निज्जरं=निर्जरा का, की १२७६, १२८५
निज्जरा=निर्जरा १२२५
निज्जरिज्जइ=जीर्ण किया जाता है १३५३
निज्जरेइ=निर्जरा कर देता है, नाश कर देता है १२६२, १२६३, १३०१, १३२२, १३२३, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १३३५, १३३६, १३३७
निज्जिण्णं=क्षय हो जाता है, निर्जर किया हुआ १३३६
निज्जूहणं=परित्याग १७६६
निज्जूहिऊण=छोड़कर १६२१
निट्ठावेइ=विनाश कर देता है १३१५
निद्दंसिए=दृष्टांतों से वर्णन किया १३४८
निद्दमोक्खं=निद्रा से मुक्त होवे ११६२
निद्दा=निद्रा १५२६
निद्दानिद्दा=निद्रानिद्रा १५२६
निद्ध=स्निग्ध १५५५, १५५६
निद्धए=स्निग्ध १६५२
निद्धंसपरिणामो=निर्दयता के भावों वाला (निर्दयी) १५७०
निद्धा=स्निग्ध १६४०
निबंधइ=बाँधता है १२६०, १२६८, १३०६, १३३६
निब्भए=निर्भय १२७७
निभा=समान, तुल्य, सदृश १५५५, १५५६, १५५७, १५५८
निमज्जिउं=डूबने के लिए १४१५
निमित्तम्मि=निमित्तविषयक १८१०
निम्ममे=ममत्व से रहित १६२२
निम्मला=निर्मल (है) १६६८, १६६६
नियडिल्ले=छल करने वाला १५७२
नियत्तिं=निवृत्ति करे १३८४
नियत्तेइ=निवृत्त हो जाता है १२६५, १२६५
नियाण=निदान १२६२
नियुत्तेणं=नियुक्त करने से ११५३
निरइयारे आवि=निरतिचार भी १२७६
निरवकंखा=आकांक्षा से रहित होता है १३५६
निरहङ्कारे=अहंकार से रहित १६२२
निरंतराए=अन्तरायरहित १५२०
निरालंबणस्स=स्वावलम्बी जीव के १२६६
निरावरणं=आवरणरहित १३३६
निरुद्धासवे=निरोध किया है आस्रव जिसने १२६६
निरुवहिए=उपधिरहित १२६८
निरुंभइ=रोकता है, निरोध करता है १२६०, १२७२, १३०५, १३४४
निवज्जई=सो जाता है १२०१
निवारेउं=निवारण करना १६०८

प

पवत्तणं=प्रवृत्ति करे १३८४
पवयणपभावेणं=प्रवचन की प्रभावना से १२८५
पवयणमायासु=प्रवचनमाताओं में १२६६
पवयणं=प्रवचन की १२८५
पवयणे=प्रवचन में १२३५
पवाले=प्रवाल १६७६
पवेइए=प्रतिपादन किया है १२४६
पवेइया=प्रतिपादन की है ११४७, ११४६
पव्वगा=पर्व से उत्पन्न होने वाले ईखादि १६६५
पव्वजं=दीक्षा का १६०५
पसत्थ=प्रशस्त १५६७
पसत्थजोगपडिवन्ने=प्रशस्त योगों को प्राप्त हुआ १२६५
पसत्थज्झाणोवगए=प्रशस्त ध्यान-युक्त १२७१
पसत्थलिंगे=प्रशस्तलिंग १३०८
पसत्थलेसाण=प्रशस्त लेश्याओं की होती है १५६६
पसत्थं=प्रशस्त है ११७३
पसत्थाई=प्रशस्त १२६०
पसत्थाओ=प्रशस्त लेश्याओं को १६०२
पसत्थे=प्रशस्त योगों को १२६५
पसत्थो=प्रशस्त (है) १४२७, १५२१
पसरई=फैलता है १२३२
पसंतचित्ते=प्रसन्नचित्त, प्रशांत-चित्त १५७५, १५७६
पसिढिल=शिथिल वस्त्र पकड़ना ११७२
पसु=पशु १३७३
पहावई=दौड़ता है १२०२
पहीयए=नष्ट हो जाती है १५१७
पहू=प्रभु—सामर्थ्यवान् १६२१
पंकाभा=पंकाभा १७३३

पंच=पाँच १३४९
पंचमम्मि=पाँचवें ग्रैवेयक में १८८५
पंचमा=पाँचवीं १५३०
पंचमाए=पाँचवीं नरक में १७३८
पंचमी=पाँचवीं ११४०
पंचमो=पाँचवां है १३५७
पंचविहं=पाँच प्रकार का (है) १२१६, १२१७, १३३६, १५२८, १५४१
पंचविहा=पाँच प्रकार के १७६५
पंचसमिओ=पाँच समितियों से युक्त १३५१
पंचहा=पाँच प्रकार से, के १३३६, १३६१, १३७६, १६३७, १६३८, १६४०, १६८८, १७१०, १७४३, १७६७, १७८२
पंचासवप्पवत्तो=पाँचों आस्रवों में प्रवृत्त (प्रमादयुक्त) १५५०
पंचिंदिय=पंचेन्द्रिय १७४१
पंचिंदिया=पंचेन्द्रिय १७१६, १७३२
पंजलिउडो=हाथ जोड़कर ११५२
पंडिओ=पंडित १३८२, १४०७
पंडु=पांडु १६७८
पंडुरा=श्वेत १६६६
पंडुरुल्लोयं=श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित (गृह को) १६०७
पाउकरे=प्रकट करके १८१२
पागडलिंगे=प्रकटलिंग १३०८
पाणभूय=प्राणियों की १६१२
पाणभोयणं=पानी और भोजन १३७२
पाणयम्मि=प्राणत देवलोक में १८८१
पाणया=प्राणत देवलोक १८६६
पाणवत्तियाए=प्राणरक्षा के लिए ११७०
पाणं=पानीय को ११७६
पाणिदया=प्राणियों की दया के लिए ११७६
पाणिवह=प्राणिवध १२५०

फ

वावीसाए=वाईस १३६७
वासाणि=वर्षों तक १७६४
वाहई=पीड़ा देता है १५२१
वाहिर=वाह्य, वाह्य तप १२४४, १३५४
वाहिरगं=वाह्य १३७४
वाहिरो=वाह्य, वाह्य तप १२४५, १३५४
वाहुल्ला=स्थूलता वाली १६६७
विइयम्मि=प्रथम के द्वितीय त्रिक में १७८४
विइयं=द्वितीय ११६८
विइया=द्वितीय ११४७
विरालावसहस्स=विडाल-वसती के १४२४
विलाओ=बिल से १४६४
वीय=द्वितीय ११५६
वीयरुइ=वीजरुचि १२२७, १२३२
वीयं=दूसरी पौरुषी में, द्वितीय चारित्र ११५५, ११६२, १२४१
वुज्झइ=वुद्ध हो जाता है १२८६, १३०६, १३२४, १३२६, १३४६
वुज्झंति=वुद्ध होते हैं १२४६
वुद्धे=वुद्ध १८१२
वुद्धेहि=वुद्धों ने (जो मार्ग) १६०४
वुहा=वुध लोग १३८०
वुहो=तत्त्व को जानने वाला १५५१
वूरस्स=वूर नाम की वनस्पति का १५६७
वेइंदिय=द्वीन्द्रिय १७२०, १७२१
वेइंदिया=द्वीन्द्रिय १७१६, १७१७, १७१८
वेमि=मैं कहता हूँ १२४७, १८१२
वोच्छिंदित्ता=व्यवच्छेद कर देने से १२६६
वोधव्वा=जानो १६७७, १६६५, १६६७, १७०३, १७०५, १७२३, १७४२, १७४३, १७५३, १७६८
वोधव्वे=जानना चाहिए १६७६
वोद्धव्वा=जानने चाहिएँ १६३२
वोही=सम्यक्त्व की प्राप्ति १८००, १८०१, १८०२
वोंदिं=शरीर को १६२१, १६६४, १६६५

भ

भइए=भाज्य है १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४६, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५
भइयव्वं=चारित्र का भजना है १२३८
भइयव्वा=भजनापूर्वक रहते हैं १६३३
भगवया=भगवान् (ने) १२४६, १३४८
भज्जई=टूट जाता है ११६६
भज्जंती=सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति नहीं करते १२०३
भणियं=कहा गया है १३७२
भणिया=कहा है १६६८
भत्तपच्चक्खाणेणं=भक्त-प्रत्याख्यान से १३०५
भत्तपाणेण=भक्तपान से १२०६
भत्तपाणेसु=भक्तपान के विषय में (जानना) १६१२
भत्तं=भक्त ११७६
भत्ति=भक्ति १२६०
भद्दत्ताए=भद्रता के १२८५
भद्दवए=भाद्रपद में ११५८
भमरे=भ्रमर १७२७
भयट्ठाणेसु=भयस्थानों में १३६०
भयं=भय १५११
भवइ=होता है, हो जाता है १२५५, १२६०, १२७६, १२७७, १३००, १३०३, १३०४, १३०८, १३१३, १३१४, १३१६, १३१७, १३१८, १३१६, १३२६, १३३६, १३४०, १३५०

भवकोडी=करोड़ भवों का १३५३
भवग्गहणं=भवग्रहण को १२५५
भवग्गहणेणं=भवग्रहण से १२५५
भवणवइ=भवनपति १५९४
भवणवासिणो=भवनवासियों के १७६६
भवणवासी=भवनवासी देव १७६५
भवप्पवंच=जन्मादि के प्रपंच से १६७०
भवमज्झे=संसार में १४६१, १४८४, १४९५, १५०७
भवमज्झे वि=संसार के मध्य में भी १४४९
भवमज्झे वि संतो=संसार में रहता हुआ भी १४७३
भवमिच्छत्तछेयणं=भव का हेतु जो मिथ्यात्व उसका छेदन १३२७
भवम्मि=भव में १६७१
भवसयाइं=सैकड़ों जन्मों को १३०५
भवसिद्धीयसंमए=भव्यसिद्धिक जीवों को सम्मत हैं १८१२
भवंति=होते हैं १२९६, १४३०, १५२३
भवे=होता है, है...आदि १२१७, १२४१, १३५३, १३५५, १३५८, १३६२, १३६३, १३६६, १३६७, १३७०, १३७९, १४३०, १५३३, १६०४, १६२६, १६२७, १६२८, १६४२, १६४३, १६४६, १६५३, १६५४, १६६६, १६७०, १६७१, १५८४, १६९०, १६९९, १७१३, १७३३, १७४०, १७४२, १७४७, १७४९, १७५१, १७५५, १७५६, १७६३, १७७४, १७७५, १७७७, १७७८, १७७९, १७८०, १७८१, १७८२, १७८३, १७८४, १७८५, १७८६, १७८७, १७८८, १७८९, १७९५, १८०१
भंजइ=तोड़ देता है १२००
भंजए=तोड़ देता है १२०२
भंडगं=भांडोपकरण को ११८१
भंडयं=भाण्डोपकरण को ११५१, ११६५
भंते=हे भगवन् ! ११५२, १२५४, १२५६, १२५८, १२६०, १२६२, १२६४, १२६५, १२६६, १२६७, १२६८, १२६९, १२७०, १२७२, १२७३, १२७४, १२७६, १२७७, १२७८, १२७९, १२८०, १२८१, १२८३, १२८५, १२८६, १२८७, १२८८, १२८९, १२९०, १२९२, १२९३, १२९५, १२९६, १२९८, १२९९, १३००, १३०१, १३०२, १३०४, १३०५, १३०६, १३०८, १३०९, १३१०, १३११, १३१२, १३१३, १३१४, १३१५, १३१६, १३१७, १३१८, १३१९, १३२०, १३२१, १३२३, १३२४, १३२६, १३२७, १३२९, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १३३५, १३३६, १३३७, १३३९
भागी=भोगने वाला १३१०
भागे=भागों को ११५४
भागेण=भाग से १५९५
भागो=भाग १७५५
भायणं=भाजनों की ११६६, ११८२, १२२०
भावओ=भाव से १६२६
भावणं=भावना को १८०६, १८०७, १८०८, १८१०
भावणासु=भावनाओं में १३९९
भावम्मि=भाव में, भावविषयक १३६९, १५०७
भावरुई=भावरुचि है १२३५
भावविसोहिं=भावविशुद्धि का १२७७, १३१६
भावविसोहीए=भावविशुद्धि में १३१६
भावसच्चेणं=भावसत्य से १३१६
भावसुस्सूसा=भावशुश्रूषा करना १३७७
भावस्स=भाव का १४९७
भावं=रागभाव १३६८, १४३३, १४९६, १४९७, १४९९, १५४३

म

मग्गं=मार्ग को　१२१५, १६०४
मग्गावहिए=मार्गापहृत　१४९८
मग्गु त्ति=मार्ग इस प्रकार　१२१४
मग्गो=मार्ग है　१४११, १५२३
मच्चुं=मृत्यु को　१४३७, १४५२
मच्छरी=मत्सरी (पराई सम्पत्ति को सहन न करने वाला)　१५७२
मच्छा=मत्स्य　१७४३
मच्छियपत्ताउ=मक्षिकापत्र से भी　१६६७
मच्छिया=मक्षिका　१७२७
मच्छे=मत्स्य　१४७५
मज्झ=मुझे　१२०६, १२१०
मज्झम्मि=मध्य भाग में　१६६७
मज्झिमाइ=मध्यम अवगाहना में सिद्ध हुए　१६६०
मज्झिमाउवरिमा=मध्यम के ऊपर　१७७१
मज्झिमामज्झिमा=मध्यम का मध्यम　१७७१
मज्झिमाहेट्ठिमा=मध्यम का नीचा　१७७१
मज्झिमिया=मध्यम　१७९५
मज्झे=मध्य में　१४२४
मट्टिया=मृत्तिका　१६७८
मणइच्छिय=मनोवाञ्छित　१३५७
मणगुत्तयाए णं=मनोगुप्ति से　१३१८
मणगुत्ते=गुप्त मन वाला　१३१८
मणजोगं=मनोयोग का　१३४४
मणनाणं=मन:पर्यवज्ञान　१२१६, १५२८
मणसमाहारणयाए णं=मन के समाधारणा से　१३२१
मणसावि=मन से भी　१६०७, १६१५, १६१९
मणसो=मन का　१४९७
मणस्स=मन का　१४९६, १५०८
मणं=मन को　१४९७
मणं पि=मन से भी (द्वेष)　१४३३

मणिविहाणा=मणियों के भेद जानने　१६७९
मणुओ=मनुष्य, मनुज　१४४८, १४६१, १४७३, १४८४, १४९५, १५०७
मणुन्नयं=मनोज्ञता　१५१६
मणुन्नं=मनोज्ञ, मनोज्ञ स्पर्श को⋯आदि　१४३४, १४५०, १४७४, १४८५, १४९६
मणुन्ना=मनोज्ञ हैं　१४३३
मणुन्नामणुन्नेसु=मनोज्ञामनोज्ञ, प्रिय वा अप्रिय　१३११, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३
मणुयस्स=मनुष्य को　१५०९
मणुया=मनुष्य　१७३२, १७५७
मणुयाणं=मनुष्यों की　१७६२
मणुस्स=मानुष　१२६०
मणुस्सदेवसुगईओ=मनुष्यगति और देवगति को　१२६०
मणुस्साउं=मनुष्य की आयु　१५३८
मणुस्साण=मनुष्यों की　१५८८
मणोरमा=मन को आनन्द देने वाले　१४३२
मणोसिला=मनसिल　१६७९
मणोहरं=मन को हरने वाला　१६०७
मद्दव=मार्दव से　१२१२, १३१५
मद्दवयाए णं=मृदुभाव से　१३१५
मद्दवं=मृदुता को　१३३५
मन्नंता=मानते हुए　१२०७
मन्ने=ऐसा मैं मानता हूँ　१२०७
मम=मेरे　१२११
ममं=मुझको　१२०६
मयट्ठाणाइं=मदस्थानों को　१३१५
मयलक्खेण=मृगलक्षण में　१२०२
मरगय=मरकत मणि　१६७९
मरणकाला=मरणकालपर्यन्त　१३४५
मरणम्मि=मरण के समय　१५८८
मरणस्स=मृत्यु का　[illegible]

मोहा=मोह से १५१०

मोहाययणं=मोह की उत्पत्ति का स्थान है १४१५

मोहो=मोह, मोह का १२३०, १४१७

य

य=और, तथा, फिर, पुनः, समुच्चय··· इत्यादि ११४७, ११४६, ११५१, ११५८, ११७०, ११७३, ११७७, ११७६, ११८४, ११६१, ११६६, १२०२, १२१७, १२१६, १२२१, १२२२, १२२४, १२२५, १२२८, १२२६, १२३३, १२३५, १२३७, १२४०, १२४५, १२४७, १२५५, १२५७, १२६०, १२६५, १२७१, १२७२, १२७६, १२८६, १२६२, १२६३, १२६५, १२६६, १२६८, १३००, १३०३, १३०४, १३०६, १३१०, १३११, १३१३, १३२६, १३४०, १३४४, १३५१, १३५५, १३५७, १३६०, १३६१, १३६३, १३६५, १३६६, १३७१, १३८४, १३८५, १३८८, १३६२, १३६३, १३६६, १४०२, १४०४, १४११, १४१५, १४१६, १४३०, १४३२, १४३३, १४३४, १४३८, १४४१, १४४३, १४४४, १४४५, १४४७, १४५०, १४५५, १४५६, १४५७, १४५८, १४५६, १४६८, १४६६, १४७०, १४७२, १४७६, १४८०, १४८१, १४८२, १४८६, १४६१, १४६२, १४६३, १५०२, १५०३, १५०४, १५०५, १५०८, १५१०, १५११, १५१२, १५१६, १५१७, १५२०, १५२५, १५२६, १५२६, १५३१, १५३४, १५३६, १५३८, १५४१, १५४३, १५४७, १५५४, १५५६, १५६०, १५७०, १५७१, १५७२, १५७५, १६११, १६१२, १६१६, १६२५, १६२६, १६२७, १६२८, १६३२, १६३३, १६३४, १६३५, १६३७, १६३८, १६४०, १६४१, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४६, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५, १६५७, १६५८, १६६०, १६६१, १६६३, १६६५, १६६६, १६७१, १६७५, १६७६, १६७७, १६७८, १६७६, १६८३, १६८८, १६८६, १६६४, १६६६, १७०७, १७१३, १७१६, १७२४, १७२६, १७३५, १७४४, १७५०, १७५४, १७६१

यावि=भी १३१७, १३१६

ये यावि=जो कोई-(अप्रिय गंध में) १४६५

र

रई=रति १५११

रक्खणसंनिओगे=रक्षण और संनियोग में १४६८, १४७६, १४६०, १५०२

रक्खणे=रक्षण में १४४१, १४५६

रक्खसा=राक्षस १७६७

रज्जमाणे=राग करता हुआ १२५८

रत्तिं पि=रात्रि के भी ११६१

रत्ता=अनुरक्त १८००, १८०२

रत्ताओ=अहोरात्र ११५८

रत्तिं=रात्रि को ११६३

रत्थासु=गलियों में १३६३

रमेज्ज=रमण करे १७६४

रयण=स्वस्तिकादि की रचना १६१६

रयणाभ=रत्नाभा १७३३

रययहार=चाँदी के हार के १५५८

रयाणं=रत्नों को १४२६

रस=रस १२२३, १५५३, १८०७

रसओ=रस से १६३७, १६३६, १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४६, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५

१४६६, १४८०, १४९१, १५०३
लोभे=लोभ १५७५
लोमपक्खी=रोमपक्षी १७५३
लोयग्गो=लोक के अग्रभाग में १६६५
लोयंतो=लोकान्तभाग १६६९
लोला=वस्त्र को भूमि पर रोलना ११७२
लोहं=लोभ को १५११, १६०६
लोहिए=रक्तवर्ण १६४३
लोहिणी=लोहिनीकन्द १६९६
लोहियक्खे=लोहिताक्ष रत्न १६७६
लोहिया=लाल १६३८
लोहो=लोभ १४१८
लोहो हओ=लोभ का नाश कर दिया १४१८

व

व=अथवा, जैसे, समुच्चय में···आदि ११५२, ११७४, १२२६, १२३१, १२३८, १३६८, १४२०, १४८७, १४९८, १५६२, १५६४, १५६७, १५६८, १६०९
वइगुत्ते=वचनगुप्त १३१९
वइजोगं=वचनयोग का १३४४
वइरे=वज्ररूप १६७६
वइसाहेसु=वैशाख में ११५८
वइस्से=अप्रीति को उत्पन्न करने वाला १५१२
वए=भागता है, कहते हैं, उसके विनाश होने पर···आदि १२०१, १३८०, १४४१, १४५६, १४६८, १४७६, १४९०, १५०२
वएसु=व्रतों में १३८८
वग्गवग्गो=वर्गवर्ग तप १३५७
वग्गो=वर्ग तप १३५७
वच्छल=वात्सल्य १२४०
वज्जइ=वर्जता है १३८७
वज्जउ=चला जावे १२०७
वज्जकंदे=वज्रकन्द १६९६
वज्जणा=त्याग करना १२३७
वज्जित्ता=वर्जकर, त्यागकर १३८०, १५७६, १५८६, १६०२
वज्जेयव्वा=वर्जना चाहिए ११७०
वट्टमाणे=वर्तता हुआ १२७६, १३१५, १३१७
वट्टंतो=वर्तता हुआ १६१६
वट्टा=वृत्ताकार १६४१
वट्टे=वृत्ताकार १६५३
वड्ढइ=वृद्धि करता है, बढ़ाता है, बढ़ जाता है १४४४, १४५८, १४७०, १४९२, १५०४
वड्ढए=वृद्धि होती है ११५७
वणचारिणो=व्यन्तरदेव १७६५
वणस्सइ=वनस्पतिकाय ११७५
वणस्सई=वनस्पतिरूप, वनस्पतिकाय के १६७६, १६९३
वणस्सईणं=वनस्पति के जीवों की १६९९
वणे=वन में १४२१
वण्ण=वर्ण, श्लाघा १२२३, १२६०, १५५३
वण्णओ=वर्ण से १५५५, १५५६, १५५७, १५५८, १६३८, १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४९, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५, १६८७, १६९२, १७०२, १७०९, १७१५, १७२२, १७२६, १७३२, १७४१, १७४७, १७५६, १७६४, १७९२
वण्णिया=वर्णन की गई १५८४, १५८८, १५९१
वण्णेण=वर्ण से १४३२
वण्णेणं=वर्ण से १३६८
वत्तणालक्खणो=वर्त्तनालक्षण १२२१
वत्थमेव=वस्त्र की ही ११६८

विविहे=नाना प्रकार के १५११
विवेगजोग्गं=स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित १४१३
विसएसु=विषयों में १२५७
विसप्पे=फैलती हुई १६१४
विसभक्खणं=विष का भक्षण १८११
विसया=विषय १४३३
वि संतो=रहता हुआ भी १४६१, १४८४, १४६५, १५०७
विसारए=विशारद ११६७, १३२३
विसुद्धपायच्छित्ते=प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ १२७१
विसुद्धसम्मत्ते=विशुद्ध सम्यक्त्व वाला १३०८
विसुद्धं=विशुद्ध १३३६
विसुद्धाए=विशुद्ध होने पर १२५५
विसेसे=विशेष नरकादि के दुःख १५१२
विसेसेण=विशेष से १३६८
विसोगो=शोकरहित (होता है) १४४८, १४६१, १४७३, १४८४, १४६५, १५०७
विसोहणं=विशोधन करना ११६६
विसोहित्ता=विशुद्ध करके १३२३, १३२४
विसोहीए=दर्शन की विशुद्धि से १२५५
विसोहेइ=विशुद्धि करता है १२६०, १२७१, १२७६, १२८१, १३२२, १३२३, १३२४
विहम्माणो=लड़ता हुआ ११६६
विहरइ=विचरता है १२१२, १२६६, १२७१, १२७२, १२६२, १२६६, १३२७
विहरए=विचरे ११८१
विहरेज्ज=विचरे १४१४
विहरेज्जा=विचरे १६२०
विहा=प्रकार के १६७८, १७५८
विहाणाइं=भेद होते हैं १६८७, १६६२, १७०२, १७०६, १७१५, १७२२, १७२६, १७३२, १७४१, १७४७, १७५६, १७६४, १७६२
विहारं=विहार करके ११८१
विहारे=विहार में १३६३
विंधइ=तोत्रादि से बींधता है १२००
वीइवयइ=व्यतिक्रम कर जाता है, लाँघ जाता है १२८३, १२६५
वीयरागभावपडिवन्ने=वीतरागभाव को प्राप्त हुआ १३००
वीयरागभावं=वीतरागता का १३००
वीयरागयाए णं=वीतरागता से १३११
वीयरागस्स=वीतराग को १५०६
वीयरागो=वीतराग पुरुष, राग-द्वेष से रहित १४३१, १४३४, १४५०, १४६२, १४७४, १४८५, १४६६, १५१६, १६२२
वीरासणाईया=वीर-आसन आदि १३७२
वीरिए=वीर्य में १५४१
वीरियं=वीर्य १२२२
वीसई=बीस १७८२
वीसईकोडिकोडीओ=बीस कोटाकोटि सागरोपम की १५४६
वीससणिज्जरूवे=विश्वसनीय रूप १३०८
वीसं=बीस १६६१, १६६३, १७८१
वुच्छं=कहूँगा १६३३, १६८३, १७०६, १७१२, १७७३
वुच्छामि=कहूँगा १३७४, १६५६, १७०२
वुत्तं=कहा है १५३३
वुत्ता=कहे गये हैं १६२७, १६५७, १७६४
वुत्तो=कहा है १२४४, १२४५, १३५४
वेइयं=वेदन किया १३३६
वेइया=वेदिका ११७०
वेएइ=भोगता है ११६६
वेगेण=वेग से १२०२
वेजयंता=वैजयन्त १७७२

संवरे=सम्वर में (निरोध में) १५५१
संवरेणं=संवर के द्वारा १३२०
संवरो=संवर १२२५, १२२८
संवेगं=संवेग १२५४
संवेगेणं=संवेग से १२५४
संसारकंतारं=संसाररूप कान्तार (जंगल) को १२८३, १२६५
संसारकंतारे=संसारकान्तार में १३२६
संसारत्था=संसार में रहने वाले, संसारी १६५७, १६७५, १७६३
संसारपारनित्थिण्णा=संसार से पार निस्तीर्ण होकर १६७४
संसारभीरुस्स=संसार से डरने वाले को १४२६
संसारमग्गं=संसारमार्ग को १२५७
संसारसागरं=संसारसागर को ११४५, ११६५, १३८३
संसारे=संसार में १३२६, १५२४
संसारो=संसार से ११६८
सा=वह (श्राविका, पृथिवी आदि) १२०६, १२५८, १६६७, १६६८, १७४०, १७८६
साइया=सादि १६७२
साईए=सादि १६३०
साईया=सादि १६३४, १६८३, १६८६, १६६६, १७०७, १७१३, १७१६, १७२४, १७२६, १७३५, १७४४, १७५०, १७५४, १७६१, १७७४
सा उ=वही १५६३, १५६४, १५६६, १५६७
साउफलं=स्वादु फल वाले १४२०
सागपत्ताणं=शाकपत्रों का स्पर्श होता है १५६६
सागरं=सागरोपम की १७७४
सागरा=सागरोपम, सागर १५८३, १५६५, १७७७, १७७८, १७८१, १७८२, १७८५, १७८६, १७८७, १७८८
सागराइं=सागर की १७७६, १७७६, १७८०, १७८१, १७८२, १७८३, १७८४, १७८५, १७८७, १७८८
सागराऊ=सागर की आयु १७३६, १७३७, १७३८, १७३६
सागराणि=सागरोपम की १७७७
सागरोवमं=सागरोपम की १७३६
सागरोवमा=सागरोपम की १७३७, १७३८, १७३६, १७७७, १७७६, १७८०, १७८१, १७८२, १७८३, १७८४, १७८८, १७८६
सागारोवउत्ते=साकारोपयुक्त १३४१
सामण्णं=श्रमणधर्म को १७६४
सामाइएणं=सामायिक से १२६६
सामाइय=सामायिक १२४१
सामायारिं=सामाचारी को ११४५
सामायारी=सामाचारी ११४७, ११४६, ११६५
साय=साता १८०७
सायगवेसए=सुख की गवेषणा करने वाला १५७१
सायस्स=साता के १५३२
सायं=सातारूप १५३२
सायागारविए=साता में मूर्च्छित है १२०४
सायासोक्खेसु=साता-सुख में १२५८
सारणे=अपने और पर के कार्य के विषय में ११४६
सारही=सारथी १२१०
सारीर=शारीरिक १२५८
सारीरमाणसाणं=शारीरिक और मानसिक १३१०
सावकंखा=आकांक्षासहित है १३५६
सावज्जजोगविरइं=सावद्ययोग-विरति को १२६६

सुकाए=शुक्ललेश्या का, शुक्ललेश्या की स्थिति होती है १५६४, १५६७
सुक्किला=शुक्ल १६३८, १६७८
सुक्किले=शुक्ल वर्ण १६४४
सुग्गई=सुगति में १५६८
सुचिरकोहणे=चिरकाल तक क्रोध रखने वाला है १२०४
सुण=सुनो, श्रवण करो···आदि १३४६, १३५२, १५४३, १६५७, १७४७, १७५७, १७६४
सुणगमडस्स=मृतक श्वान की गंध होती है १५६४
सुणेह=सुनो, श्रवण करो १२१३, १४०६, १५५२, १५५३, १६०४, १६२४, १६७६, १७०३, १७१७, १७२२, १७२७, १७४२
सुत्त=सूत्ररुचि १२२७
सुत्तत्थतदुभयाइं=सूत्र और अर्थ दोनों की १२८१
सुत्तत्थसंचिंतणया=सूत्रार्थ का सम्यक् चिन्तन करना १४११
सुत्तरुई=सूत्ररुचि १२३१
सुत्तं=सूत्र को १२३१
सुदिट्ठ=भली प्रकार से देखा है १२३७
सुदुत्तरा=सुखोत्तर १४३०
सुद्धवाया=शुद्ध वायु १७१०
सुद्धे=शुद्ध होकर १५२०
सुद्धोदए=शुद्धोदक १६८८
सुन्नगारे=शून्य गृह मे १६०६
सुप्पणिहिए=भली प्रकार से समाधि-युक्त होकर (संयममार्ग में) १२६६
सुब्भिगंध=सुगन्धि में १६३८
सुब्भी=सुगन्धि वाला १६४५
सुयतुंड=शुक की नासिका १५५७
सुयधम्मं=श्रुतधर्म १२३६
सुयनाणं=श्रुतज्ञान १२३३
सुयस्स=श्रुत के १२७६
सुयस्स आराहणयाए णं=श्रुत की आराधना से १२८९
सुयं=श्रुतज्ञान, श्रुत, सुना है १२१६, १२४६, १५२८
सुरगणाणं=देवगणों की १५६५
सुरहि=सुगन्धि वाले १५६५
सुरा=देवता १७६६, १७७१, १७७२
सुरेसु=सुरों में १३६६
सुलहबोहियत्तं=सुलभबोधिपन को १३२३
सुलहा=सुलभ १८०१
सुवण्णगमई=सुवर्णमयी १६६८
सुवण्णा=सुवर्णकुमार देव १७६६
सुवण्णे=सोना १६७६
सुसमाहिए=समाधि से युक्त १३८०
सुसमाहिओ=समाधियुक्त १२१२
सुसाणे=श्मशान में १६०६
सुस्सुयाइत्ता=सूँ सूँ करके १२०२
सुहफरिसं=सुखरूप स्पर्श १३३६
सुहसाएणं=सुखशयन से १२६०
सुहसेज्जं=सुखशय्या को १२६६
सुहस्स उ=शुभ नामकर्म के भी १५३६
सुहं=सुख को, सुख है, शुभ·· इत्यादि १२५८, १४४१, १४४६, १४५६, १४६०, १४६८, १४७१, १४७६, १४८२, १४६०, १४६३, १५०२, १५०६, १५३६, १६६७
सुहं सुहेण=सुखपूर्वक १२७१
सुहा=शुभ १६६६
सुहावहं=सुख देने वाली १३८३
सुहावहा=सुख को देने वाले १२७२, १६१७
सुही=सुखी १५२१, १५२३
सुहुमकिरियं=सूक्ष्मक्रिया १३४४

सुहुमं संपरायं=सूक्ष्म-सम्पराय १२४१
सुहुमा=सूक्ष्म १६७६, १६८२, १६८३, १६८७, १६८६, १६६३, १६६८, १७०४, १७०६, १७१०, १७११, १७१२
सुहुमाणं=सूक्ष्म जीवों का १६११
सुहेण=सुख से १२२१
सुहेसिणो=सुख की इच्छा करने वाले १५१५
सुंसुमारा=सुंसुमार १७४३
सूई=सूची १३२६
सूरकंते=सूर्यकांत मणि १६७६
सूरणए=सूरणकन्द १६६६
सूरा=सूर्य १७६७
से=उसका, उसको, वह'''इत्यादि ११७६, ११६६, १३८५, १३८६, १३८७, १३८८, १३८६, १३६०, १३६६, १४०४, १४०७, १४३७, १४३८, १४३६, १४४१, १४४४, १४४७, १४५२, १४५३, १४५६, १४५८, १४६०, १४६४, १४६५, १४६६, १४६८, १४७०, १४७२, १४७४, १४७५, १४७७, १४७६, १४८१, १४८३, १४८७, १४८८, १४६०, १४६२, १४६४, १४६८, १४६६, १५००, १५०२, १५०४, १५०७, १५१५, १५१७, १६२५, १६४२, १६४३, १६४४, १६४५, १६४६, १६४७, १६४८, १६४६, १६५०, १६५१, १६५२, १६५३, १६५४, १६५५
सेज्जासण=शय्या और आसन से १४२२
सेढितवो=श्रेणितप १३५७
सेणा=सेना में १३६३
से न अच्छइ=वह नहीं ठहरता १३६५
से न अच्छइ मंडले=वह संसार में नहीं ठहरता १३६१, १३६२, १३६३, १३६७, १३६६, १४०१, १४०२
सेयाले=भविष्यत् काल में १३४०
सेलेसिं=शैलेशीभाव को १३२६
सेलेसीभावं=मेरु के समान स्थिरता को १३२६
सेल्लिं=रश्मि को १२०२
सेवणया=सेवन करना १३७३
सेवणं=सेवा करनी १२३७
सेवि य=वह भी १२०२
सेसए=शेष रहने पर १६०१
सेसा=शेष पदार्थ १४३०
सेसाणि=शेष पद ११७३
सेसेसु=शेष कपिलादिमतों में १२३५
सो=वह १२०६, १२३०, १२३१, १२३२, १२३३, १२३५, १२३६, १३५४, १३५७, १३८१, १३८२ १५१०, १५२१
सोइंदियनिग्गहेणं=श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से १३३०
सोउं=सुनने के १८०४
सोगं=शोक १५११
सोगंधिए=सौगन्धिक १६७६
सोग्गइं=सुगति को १२१५
सोच्चा=सुनकर १७६४
सोमंगला=सुमंगल १७१८
सोयस्स=श्रोत्र का १४५०, १४५१
सोयं=श्रोत्र को १४५१
सोलसएहिं=सोलहवें अध्ययन में १३६५
सोलसविहं=सोलह प्रकार के १५३७
सोसणा=सुखाया जाना १३५३
सोहइत्ता=शुद्ध करके १२४६
सोहग्गं=सौभाग्य १२६८
सोहम्म=सौधर्म १७६६
सोहम्मम्मि=सौधर्म देवलोक में १७७६